

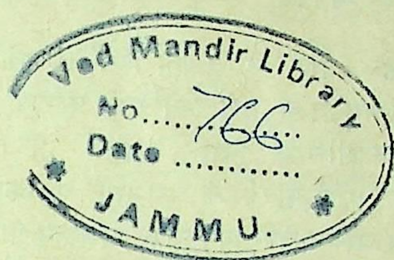

Ved Mandir Library
No. 766/14
Date ....
JAMMU.

श्रीकृष्ण-सन्देश



श्रीकृष्णजन्मस्थान सेवासंघ, मथुरा

पार्थ-सारथि



पार्थ-सारथिके प्रणमिय पुण्य चरण,
माया, चिन्ता, भव-भय, ताप-हरण।
भावना जिनके पादपद्ममें पलती,
जिससे चेतनमें भासमान जड़ जगती॥



अपनी बात

सच बात यह है कि इस खण्डके साथ यह श्रीकृष्ण-चरित जो 'भगवान-वसुदेव'के मथुरा-चरितसे प्रारम्भ हुआ था और जिसका परिपाक 'श्रीद्वारिकाधीश'में हुआ, समाप्त होजाता है। होना यह चाहिए था कि इस 'पार्थ-सारथि'के अध्याय यथाक्रम 'श्रीद्वारिकाधीश' में आते रहते और तब जीवन-चरितको ठीक कालक्रम प्राप्त होता ; किन्तु इससे चरितका दूसरा भाग बहुत बड़ा होजाता और जो बात मैं स्पष्ट करना चाहता था, वह रह जाती।

श्रीकृष्णावतार पूर्णावतार है। इसमें सम्पूर्ण भगवत्ता व्यक्त हुई है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
(विष्णुपुराण ६-५-७४)

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः सम्यक् पूर्ण होनेपर 'भग' कहे जाते हैं और इन छःकी जिसमें पूर्णता है वह भगवान है। श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं कहते हैं—

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'
(गीता १०. ८)

भगवान व्यासने महाभारतमें स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया है—

'जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्।'
(अनुशासन पर्वके अन्तर्गत विष्णुसहस्रनाम–१३५)

मथुराचरित 'भगवान वासुदेव'का ऐश्वर्यचरित है। कंस-वधसे प्रारम्भ होकर मरे हुए गुरुपुत्रको यमलोकसे ले आना प्रभृति सब अतिमानवी ऐश्वर्यलीला है।

'श्रीद्वारकाधीश'में इस ऐश्वर्यका सम्पूर्ण परिपाक होगया। कल्पवृक्ष-हरण ईश्वरत्वकी धरापर अभिव्यक्तिको प्रकट करनेके लिए पर्याप्त है। बलपूर्वक ही सुधर्मा सभा लायी गयी द्वारिकामें—

'अधिक्रमन्त्यंघ्रिभिराहृतां बलात् सभां सुधर्मां सुरसत्वमोचिताम्।'
(भागवत १. १४. ३८)

सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाह और अपार परिवार जहाँ यश-श्रीकी पराकाष्ठा है—ईश्वरका अनन्त भोग, अनन्त सामर्थ्य सूचित करता है, वहाँ धर्मकी—गार्हस्थ्य धर्मकी पराकाष्ठा है और वैराग्यकी ज्ञानकी भी पराकाष्ठा है—यदुकुलको अपने हाथों ही समाप्त करके स्वधाम गमनसे पूर्व उस विषम स्थितिमें उद्धवको ज्ञानोपदेश करनेमें।

मथुरासे अन्त तक श्रीकृष्णचन्द्र प्रायः चतुर्भुज हैं, उनका कहीं स्पष्ट द्विभुज रूपका उल्लेख नहीं है। उन्होंने गरुड़वाहन तथा चक्रका उपयोग करनेमें कहीं संकोच नहीं किया है।

इस ऐश्वर्य रूपसे समन्वित उनका इन्द्रप्रस्थ-हस्तिनापुरका रूप जगद्गुरु—नरका सखा रूप है। जहाँ द्वारिकामें महाराज उग्रसेनके सिंहासनासीन रहते हुए तथा उनका सम्यक् सम्मान करते हुए भी श्रीकृष्ण श्रीद्वारिकाधीश हैं, वहीं पाण्डवोंके पूर्ण समर्थक होते हुए तथा पाण्डवोंके समस्त कार्य-विधायक होते हुए भी श्रीकृष्ण सखा हैं—नर सखा। यहाँ वे ऐसे सुहृद् हैं जो अपने मित्रको बड़ा करके ही नहीं रखता, उसकी इच्छा, उसके संकेतका स्वयं पालन करता है और उस मित्रकी सुरक्षा, हित तथा श्रेयका दायित्व भी स्वयं वहन करता है।

भक्तिशास्त्रकी विशेषता ही है जगदीश्वरका साधारणीकरण कर देना। जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक है, वह अपना ऐश्वर्य भूलकर अपने सुहृद्का वशवर्ती सखा, सेवक, आज्ञाकारी होकर रहता है। अपना—सर्वथा अपना और अपने जैसा सामान्य बन जाता है। श्रीकृष्णचन्द्रका यह रूप ऐश्वर्य समन्वित इन्द्रप्रस्थमें प्रकट हुआ है। अतः इन्द्रप्रस्थका उनका चरित पृथक ही दिया जाना चाहिए, यह बात मनमें आई।

जहाँ तक ब्रजकी बात है, वहाँ ऐश्वर्य कम नहीं है। अपार ऐश्वर्य है वहाँ। ऐसा ऐश्वर्य कि इन्द्र और ब्रह्मा वहाँ किसी गणनामें नहीं आते; किन्तु वह ऐश्वर्य माधुर्यसे आच्छादित है। वहाँ श्रीकृष्णचन्द्र नित्य द्विभुज है और कभी ऐश्वर्य प्रकट भी होजाय तो जैसे स्वयं संकुचित-लज्जित होकर सिकुड़ जाता है। सर्वथा साधारणीकरण ब्रजमें होगया सर्वेश्वरका। इतना वशंवद वह निखिलब्रह्माण्ड नायक वहाँ सबका है कि वह ईश्वर भी है, इसपर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। गर्गाचार्यजी जैसे कोई कुछ बतलावें भी तो कोई उसे वहाँ मानो महत्ता ही नहीं देता।

व्रजका चरित अपने आपमें पूर्ण है और शेष समस्त चरितोंसे पृथक है, अतः उसे पृथक रखनेमें तो कोई युक्ति बाधक नहीं थी; किन्तु द्वारिका एवं इन्द्रप्रस्थके चरित इतने घुले-मिले हैं कि इन्हें पृथक करनेमें कठिनाई हुई है। इनमें-से कई चरित ऐसे हैं जिनका कुछ भाग एक खण्डमें और कुछ भाग दूसरे खण्डमें देना पड़ा है। जैसे 'स्यमन्तक-मणि'की पूरी कथा 'श्रीद्वारिकाधीश'में गयी है, किन्तु पिताके वधसे संतप्त सत्यभामाके हस्तिनापुर पहुँचनेका अध्याय इस 'पार्थ-सारथि'में दिया गया। राजसूययज्ञकी प्रस्तावना तथा द्वारिकासे उसके लिए प्रस्थान 'श्रीद्वारिकाधीश'में गया और शेष सब कथा इस खण्डमें है।

'पार्थ-सारथि' नरका सखा नारायण—यह स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रका इतना महत्वपूर्ण है कि इसे पृथक ही देनेका लोभ मैं नहीं छोड़ सका और तब चरितोंके खण्ड स्थानकी सीमामें रखकर करनेका विचार हुआ। इस प्रकार कलाके आग्रहने कुछ चरितोंको दो खण्डोंमें विभक्त करनेको बाध्य किया।

इस खण्डके पूरे चरितका आधार प्रायः महाभारत है। कुछ थोड़ा अंश ही अन्यत्रसे लिया गया है—जैसे श्रीकृष्णार्जुन-युद्ध, सुधन्वा-चरित आदि। महाभारतमें भगवान व्यासका वर्णन इतना पूर्ण है कि मैंने अनेक स्थानोंपर शब्दावली भी वही ले ली है।

किसी भी ग्रन्थको दुःखान्त समाप्त करना भारतीय परम्पराके प्रतिकूल होता है। हमारी संस्कृति 'दुःखं दुःखं'की उपासिका नहीं है। हमें श्रुति कहती है—

'आनन्दा द्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'

(तैत्तिरीयोप० ३. ६. १)

भारतमें मृत्यु-दिवस केवल श्राद्ध करनेका है। हमारे यहाँ जयन्ती-उत्सव मनाया जाता है। हमारे पर्व-उत्सव सब आनन्दके उद्बोधक हैं। विषाद, दुःख, मृत्यु स्मरण करने-करानेकी वस्तु नहीं है। यह भूल जानेकी वस्तु है; क्योंकि मृत्यु और दुःख तथ्य नहीं हैं। ये आगन्तुक हैं, प्रतीतिमात्र हैं। जीवन अनन्त है, नित्य है। परमात्मा आनन्दस्वरूप है और वही सर्व स्वरूप—शाश्वत सत्य है।

यह सच होनेपर भी जब कोई चरित लिखने लगता है तो एक दूसरा सत्य हिमालयके समान आकर सम्मुख खड़ा होजाता है—

'संयोगाः वियोगान्ताः मरणान्तं हि जीवितम् ।'
(वा. रा. २ . १०५ . १६)

अभिव्यक्ति-व्यक्ति नित्य नहीं हो सकता । श्रीकृष्णचन्द्र व्यक्ति नहीं हैं। वे सर्वात्मा, सर्वेश्वर, सर्वरूप हैं; किन्तु जब अवतार-लीलाका आविर्भाव करते हैं तो उसका तिरोभाव भी अनिवार्य है और लीला-वर्णनमें तिरोभावका वर्णन छोड़ा नहीं जा सकता । इस अनिवार्य बाधाके कारण 'श्रीद्वारिकाधीश'की समाप्ति दुःखान्त हुई और 'पार्थ-सारथि'के साथ भी यही होरहा है । वैसे 'भगवान वासुदेव'की समाप्ति भी सुखान्त तो नहीं कही जा सकती ; किन्तु वहाँ श्रीकृष्णचन्द्र रणछोड़राय बनकर भी विनोद ही देते हैं ।

एक सन्तोष करनेके लिए युक्ति दी जा सकती है—ग्रन्थका सचमुच अन्त 'नन्दनन्दन'पर होता है और उसकी समाप्ति दिव्यतामें होती है। लेकिन मन समझानेके लिए यह तर्क देना अनावश्यक है। जो व्यक्ति-जीवनका चरम सत्य है, जगद्गुरु—पूर्णपुरुषके जीवनकी पूर्णता ही उसे भी स्वीकार करके सफल कर देनेमें है । इस तथ्यको अस्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं दीखती ।

'एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥
(भागवत २ . १ . ६)

सांख्य-तत्वज्ञान, योग-समस्त आध्यात्मिक साधन तथा स्वधर्ममें सुस्थिर निष्ठाके द्वारा प्राप्य मनुष्य-जीवनका इतना ही परम लाभ है कि उसे मरते समय श्रीनारायणका स्मरण हो ।

जो परमाभीष्ट है, जन्मका परमलाभ है, समस्त साधनोंका, ज्ञानका, भक्तिका साध्य है, उसे पूर्ण पुरुषोत्तमको भी तो अपनी लीलामें व्यक्त करना ही चाहिए था और वह स्थिति प्राप्त होती है तो उसे दुःखान्त कहा भी कैसे जा सकता है । जो अत्यन्त अभीष्ट अवस्था है, उसीकी प्राप्ति यदि सुखद नहीं मानी जायगी तो सुखकी परिभाषा भी क्या होगी ।

मैं अपनी बात कहूँ ; क्योंकि यह चरित तो मैंने अपने लिए लिखा है—केवल अपने लिए । अतः अपनी ओर देखकर मुझे संतोष है। लीलाके तिरोभावका वर्णन करनेमें—पाण्डवोंके महाप्रयाणकी चर्चामें जहाँ

अन्तःकरणमें व्यथाकी बाढ़ आती है, वहीं अन्तमें एक निस्तरंग शान्त स्थिति भी आ जाती है, जैसे अन्धड़के निकल जानेपर गगन स्वच्छ निर्मल होगया हो। अतः अन्धड़ भी अभीष्ट है; क्योंकि वह कूड़ा-करकट, धूलिको उड़ा ले जाता है।

नरके सखा—नित्य-सखा नारायणका यह पुण्य-स्मरण। जीवकी दृष्टिसे वह सर्वेश्वर स्वामी है और जीव दास है—नित्य-दास उसका। इतनेसे सन्तोष नहीं हुआ तो भावुकोंने जीवको पशु कहा। यह परतन्त्र पाशबद्ध पशु है और इसका संचालक, संरक्षक, पालक है पशुपति—परमेश्वर।

घृणा लज्जा भयं शोको जुगुप्सा चेति पञ्चमम्।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टो पाशाः प्रकीर्तिता॥
पाशबद्धः पशुर्ज्ञेयः पाशमुक्तो महेश्वरः॥
(कुलार्णवतन्त्र १३. ६९-७०)

काम-क्रोध अर्थात् राग-द्वेष, भय, लज्जा अर्थात् देहाभिनिवेश और इस अभिनिवेशका स्थूलरूप कुल, शील एवं जातिका गर्व, इनके साथ जुगुप्सा—दूसरोंसे घृणा अर्थात् अपनेमें अहंकार, इन आठ पाशोंसे जो बँधा है, वह पशु है—परतन्त्रता ही पशुत्व है।

लेकिन उस सर्वेश्वरकी ओरसे देखें तो वह कहता है, उसकी वाणी श्रुतिकी घोषणा है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ।'

वह जीवका सखा और उसे सखा स्वीकार कर लेनेमें जीवका पशुत्व—सब पाश समाप्त होजाते हैं, अतः उस नर सखाका यह स्मरण अपना कार्य नहीं करेगा, अपने सम्बन्धमें ही मैं ऐसा क्यों मानूँ। कोई भी भला क्यों माने।

वृन्दावन
श्रावण शु० २, रविवार, २०३१ वि० —सुदर्शन

प्रस्तावना

सभी प्राणियोंमें दो इच्छाएँ पायी जाती हैं—जिजीविषा और बुभुत्सा। ये दोनों इच्छाएँ उद्भिजोंमें भी देखी जा सकती हैं। विकसित प्राणियोंमें, विशेषत: मनुष्योंमें एक तीसरी इच्छा भी सार्वभौम है जिज्ञासा।

शरीरके लिए जिजीविषा—जीवित रखनेकी इच्छा। यह इस बातकी सूचना है कि जीवन नित्य है—किन्तु देहसे तादात्म्यके कारण वह केवल जिजीविषा बनकर रह गया है।

बुभुत्सा—भोग प्राप्त करनेकी इच्छा। मूलत: सुखकी—आनन्दकी इच्छा है; क्योंकि भोग प्राप्त ही करना है सुखके लिए, तृप्तिके लिए और भोग देह या इन्द्रियोंको नहीं प्राप्त होता। भोग प्राप्त होता है मनको। देह और इन्द्रियाँ तो मनके करण मात्र हैं।

जिज्ञासा—जाननेकी इच्छा। बुद्धिके लिए और बुद्धिके माध्यमसे। यह इच्छा जिसकी जितनी अधिक विकसित है, उसकी उतनी तीव्र होती है। अल्प विकसितमें यह केवल कुतूहल बनकर रह जाती है; किन्तु इसीका सम्यक विकास मानवको वैज्ञानिक तथा दार्शनिक बना देता है।

जिजीविषाका निकृष्टतम रूप है हिंसा, युद्ध—दूसरोंको मारकर स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा। इसमें भय, आक्रमण, संघर्ष है और यह अपने शरीर, परिवार, ग्राम, जाति, देश, संस्कृति आदिका जितना बड़ा आधार बनाती है, इसका रूप उतना विकराल होता जाता है। इसका उत्कृष्टतम रूप है दूसरेके हितके लिए अपना उत्सर्ग कर देना—आत्म बलिदान। यह रूप धर्म भावनासे परिमार्जित है, किन्तु इसमें भी नामको बनाये रखनेकी इच्छा—लोकेषणा रहती है। यहाँ जिजीविषा देहसे उठकर देहके नाममें समाहित होजाती है और व्यक्ति नामको अमर करनेके लिए जीवनका भी उत्सर्ग कर देता है।

बुभुत्सा—भोग प्राप्त करने की इच्छाका निकृष्टतम रूप है दूसरेका भोग छीनकर, नष्ट करके स्वयं सुखी होनेकी इच्छा। विषय-सुख प्राप्त

करनेकी इच्छा इसका राजसिक रूप है और इसका उत्कृष्टतम रूप है निरपेक्ष सुख। विषय-बाह्य पदार्थोंसे निरपेक्ष अपने आपमें ही आनन्द।

जिज्ञासाका भी निकृष्टतम रूप है और वह है साहसिक अभियान। पर्वत शिखरोंपर, ज्वालामुखीके गर्भमें उतरनेकी बलवती इच्छा—केवल यह जाननेकी इच्छा कि वहाँ है क्या। इसका पैशाचिक रूप है कि कोई मरते समय कैसे तड़पता है, यह देखनेके लिए मनुष्य दूसरे प्राणी या मनुष्यको मार देता है। लेकिन इसका उत्कृष्टतम रूप व्यक्तिको दार्शनिक बनाता है। व्यक्ति चेतनकी, सृष्टिके मूल कारणकी खोजमें लगता है।

जिजीविषा इसलिए आपमें है क्योंकि आपका जीवन नित्य है। आप सत्य हैं। अतः उचित यह है कि आप किसीके भी जीवनके लिए आतंक उपस्थित न करें। 'जियो और जीने दो'का नारा जितना रोचक लगता है, उतना ही कठिन भी है। यह सम्पूर्ण अहिंसाकी माँग करता है और यही हिन्दू-धर्मके संन्यासका संकल्प है। सब प्राणियोंको अभय तभी दिया जा सकता है जब आप स्वयं अपने शरीरसे, सम्मानसे, सुखसे निरपेक्ष हो जायें। देहकी क्षुद्रतासे तादात्म्य बनाए रखकर सब प्राणियोंको अभय देना, सबकी जिजीविषाका सम्मान सम्भव नहीं है। यहाँ आकर जिजीविषा साधन बन जाती है और विचार करनेको बाध्य करती है कि जब सब जीवित रहना चाहते हैं और दैहिक जीवन बिना दूसरोंके जीवनको भय उपस्थित किए चल नहीं पाता, तो इस जीवनेच्छाका सन्देश ही है कि देहसे ऊपर उठो।

देहसे आप ऊपर न भी उठो तो क्या देह सदा बना रहेगा? देहका अणु-अणु प्रतिक्षण मर रहा है और नूतन अणु उत्पन्न होरहे हैं। ऐसे मरण-धर्मा देहको 'मैं' मानकर—इसमें अभिनिवेश करके जिजीविषा विकृत और व्यर्थ होगयी है। अतः व्यक्तिमें विवेक हो तो देहका मोह उसे छोड़ना चाहिए।

जिजीविषा अनन्त जीवनसे एकत्व प्राप्त करनेके लिए है और इसकी सार्थकता है कर्मयोगमें। यहाँ यह स्पष्ट समझ लें कि कर्म, निष्काम कर्म तथा कर्मयोगमें बहुत अन्तर है। शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ भी होता है, उसका नाम कर्म नहीं है। वह सब क्रिया है। जैसे श्वास चलना, रक्ता-भिसरण, मल-मूत्रोत्सर्ग तथा दूसरी भी देह, इन्द्रियोंकी नैसर्गिक क्रियाएं

केवल क्रिया हैं, जब क्रिया किसी उद्देश्यके लिए की जाती है, तब उसका नाम कर्म होता है। यह कर्म ही शुभ या अशुभ होता है और पाप अथवा पुण्य-संस्कार उत्पन्न करता है। इसी संस्कारसे सुख अथवा दुःखकी प्राप्ति होती है।

कर्मसे संस्कार, संस्कारसे फिर कर्म तथा सुख-दुःख, यह अनन्त क्रम चलता रहता है। कोई कर्मफल सर्वथा अपने आपमें पूर्ण नहीं होजाता। वह नवीन संस्कार उत्पन्न करता ही है। जैसे भोजनकी प्राप्ति शुभ कर्मका फल है; किन्तु भोजन खाद्य-अखाद्य, समय-असमय, उचित विधि या विधि-हीन आदि भेदसे नवीन शुभाशुभ संस्कार भी उत्पन्न करता है।

'देहवानह्यकर्मकृत् ॥' (भागवत ६ . १ . ४४)

शरीरधारी केवल क्रिया तक ही अपनेको सीमित नहीं रख सकता। उससे कर्म भी होगा ही और तब वह अपने संस्कार भी उत्पन्न करेगा। ऐसी अवस्थामें कर्म-बन्धनसे छुटकारा कैसे हो ?

निष्काम कर्म अर्थात् कर्म करके भी उसका फल स्वयं न चाहना, अपने स्वार्थके लिए कर्म न करके परोपकारके लिए कर्म करना कर्मयोग नहीं है। निष्काम कर्म भी शुभकर्म ही है—बहुत शुभ कर्म है और आप चाहें या न चाहें, वह अपना फल तो उत्पन्न करेगा ही। जैसे जो सबको तृप्त करना चाहता है, वह कभी वायु, जल या पृथ्वी बन सकता है। जो सबको रोगहीन करना चाहता है वह कभी अश्विनीकुमार होजायगा। जो न्यायका बहुत समर्थक है, वह धर्मराजका पद पा सकता है; किन्तु निष्काम होनेसे ही कर्म निर्बीज नहीं होजाता।

योगका अर्थ है ईश्वरसे एकत्व। जब कर्म ईश्वरार्पण होता है तो उसका नाम कर्मयोग होता है। ऐसे ही लौकिक प्रेमका नाम प्रेमयोग नहीं है। सर्वेश्वरके प्रति प्रेम प्रेमयोग अथवा भक्ति है। लौकिक ज्ञानको ज्ञानयोग नहीं कहते। आत्मा परमात्माके तत्वका ज्ञान ज्ञानयोग है।

यह कर्मयोग—ईश्वरार्पित समस्त कर्म कर्मयोग है और यह कर्मको निर्बीज कर देता है। क्योंकि कर्म सकाम तो है नहीं और निष्काम होकर निरवलम्ब भी नहीं है कि वह कर्ताकी ओर लौट आवेगा। वह जब सर्वेश्वरको समर्पित होगया तो उसने अन्तःकरणको निर्मल कर दिया। सर्वेश्वरकी कृपाका अवतरण होगा उसके प्रति और वह कर्म-बन्धनसे विमुक्त होजायगा।

जिजीविषा ईश्वरार्पित होकर धन्य होती है, क्योंकि वह सत्यपर आश्रित होती है। देहकी भी सुरक्षा व्यक्तिके अपने हाथमें तो है नहीं। शरीर समष्टिका ही एक अंग है और इसका भी संचालक समष्टिका ही संचालक है। अतः उसके हाथमें इसे समर्पित कर सके वह सत्यमें स्थित हो गया। तब सत—अनन्त जीवन उसका स्वत्व होगया।

बुभुत्सा—भोग प्राप्त करनेकी इच्छा भी वैसा ही अज्ञान है, जैसा जिजीविषा। जैसे जीवन अपने हाथमें नहीं, देह नश्वर है, वैसे ही भोगकी प्राप्ति भी अपने हाथमें नहीं है। भोग भी नश्वर हैं और यदि बराबर बने रहें तो अपना स्वाद खो देते हैं। भोगोंको उपलब्ध करनेकी इन्द्रिय-शक्ति अल्प है और अधिक भोग लोलुपता उन्हें नष्ट कर देती है।

बुभुत्सा—भोगकी इच्छाका सन्देश है कि आप अपूर्ण नहीं हैं। आप परिपूर्ण हैं, आनन्द स्वरूप हैं। लेकिन अपूर्ण देहमें बैठकर अपूर्ण बन गये हैं और तब उस अपूर्णताको दूर करनेके लिए बेचैन हैं। एकके बाद दूसरे भोगसे उसे दूर करना चाहते हैं, लेकिन अनुभव यह है कि तृप्ति—आनन्द पानेका यह मार्ग नहीं है।

'भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः।'

(योगदर्शन व्यास भाष्य २.१५)

भोगसे तो उनमें राग—तृष्णा बढ़ती है। यह भोगकी—कामकी अग्नि विषय रूप घृताहुतिसे तो बुझनेवाली नहीं है, क्योंकि किसी भोगमें रस-तृप्ति है ही नहीं। भोगकी उपलब्धिके क्षणमें जो एकाग्रता होती है, उससे अपने भीतरका आनन्द—अपना ही रस अनुभूत होता है और भ्रमवश उसे विषयसे आता मान लिया जाता है।

दूसरी बात, भोगकी उपलब्धि मात्र ज्ञान मात्र होता है। आपको निद्रामें, मूर्च्छामें अथवा जागते भी रबड़की नलीसे स्वादिष्ट आम्र-रस गलेसे नीचे उतार दिया जाय तो उससे आम्ररस पीनेकी इच्छा तृप्त होगी। भोग शरीर या इन्द्रियोंको नहीं चाहिए। भोग चाहिए मनको, अर्थात् मनको यह ज्ञान चाहिए कि मुझे अमुक भोग मिला।

मनकी भोगेच्छा अनन्त है—कभी तृप्त होने वाली नहीं। इन्द्रियोंकी शक्ति अल्प है और भोग भी अल्प हैं। उनकी उपलब्धि भी प्रारब्धाधीन है।

रस-तृप्ति उन भोगोंसे न निकलकर अपने भीतरसे आनी है। अतः बुभुत्सा-का सन्देश है कि अपने भीतरसे तृप्ति प्राप्त करो। तुम आनन्द स्वरूप हो।

बुभुत्सा मनका धर्म है और यह धर्म परिमार्जित होकर प्रेमयोग बनता है। भोगोंमें जो सहज प्रवृत्ति है, वह राग है। उसके विपरीतसे—उसमें जो बाधक हो उससे द्वेष, अरुचि, उपरति होती है। ये राग-द्वेष, कर्म-प्रवृत्तिके मूल प्रेरक हैं। इन्हींके वशवर्ती होकर सामान्य मनुष्य व्यवहार करता है।

राग और द्वेष दोनों अज्ञानमूलक आविधक हैं। बुद्धिमानसे बुद्धिमान मनुष्य उस विषयमें मूर्ख होता है, ठीक विचार करनेमें असमर्थ होता है, जिस विषयमें उसका राग अथवा द्वेष हो। जहाँ राग है, उसके दोष तथा जहाँ द्वेष है, उसके गुण दीखते ही नहीं हैं।

सर्वेश्वर अन्तर्यामी अधोक्षजमें राग—इस रागका ही नाम प्रेमयोग—भक्ति है। संसारमें कहीं भी, किसीसे भी राग हो तो वह प्रेम तो हो सकता है—निष्काम राग प्रेम है, इससे अस्वीकार नहीं किया जा सकता और ऐसे जाति, देश, धर्मके प्रेमी अनेक हुए हैं—लोकोत्तर पुरुष हुए हैं; किन्तु यह प्रेम भी निर्बीज नहीं होता। इसमें भी पुनर्जन्म देनेका बीज विद्यमान रहता है। भले वह फिर तीर्थंकर, पगम्बर अथवा देशोद्धारके रूपमें जन्म ले। राग केवल ईश्वरमें लगकर प्रेमयोग बनता है। तब द्वेष स्वतः वैराग्य बन जाता है और प्रेमयोगीको संसारकी ओरसे हटाकर अन्तर्मुख कर देता है।

जहाँ तक शरीरके निर्वाहकी—बुभुत्साके व्यावहारिक पक्षकी बात है, वह व्यक्तिके हाथमें तो है नहीं। उसकी पूर्ति प्रारब्धपर निर्भर है और ईश्वरार्पित व्यक्तिके लिए तो उस सर्वेश्वरने प्रतिज्ञा कर रखी है—

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

(गीता ९. २२)

अब बात रहती है जिज्ञासाकी। जिज्ञासा—जाननेकी इच्छाका सन्देश है कि आप ज्ञान स्वरूप हैं। जहाँ तक सविशेष ज्ञानकी बात है—भिन्न-भिन्न विषयोंका ज्ञान अनन्त है और मनुष्यका जीवन, मनुष्यके साधन अत्यल्प हैं। एक विषयका ज्ञान एक व्यक्ति अपने जीवनमें बहुत थोड़ा पा सकता है। हमें दूसरोंके अनुभव—दूसरोंके अन्वेषणोंसे ही काम चलाना

पड़ता है और दूसरोंने भी जितना ज्ञान पाया है, उस ज्ञानराशिमें-से अत्यल्पका परिचय अपने जीवनमें हम प्राप्त कर सकते हैं। आप इतिहास, भूगोल, चिकित्सा, रसायनादि सहस्रों विषयोंमें-से किसी एक विषयकी केवल एक शाखाके उद्‌भट ज्ञाता हो सकते हैं। अतः सविशेष ज्ञान सबका सदा अपूर्ण रहेगा और निर्विशेष ज्ञानमें तारतम्य सम्भव नहीं है। वहाँ तो स्व-रूपज्ञान है अथवा नहीं है।

ज्ञान-स्वरूप ज्ञान भी होगा सूक्ष्म बुद्धिसे, निर्मल बुद्धिसे और व्यक्तिकी बुद्धि समष्टि संचालकके नियन्त्रणमें रहेगी अथवा उससे बाहर? अतः ज्ञानमार्गके परमाचार्योंको भी स्वीकार करना पड़ा है कि ईश्वरके अनुग्रहके बिना पुरुषमें तत्वज्ञानकी रुचि ही नहीं जागा करती।

सत्ता नित्य है और वह आनन्द स्वरूप है एवं उसका बोध होता है। बोध न हो तो उसका होना ही सिद्ध न हो। सत्ता ही न हो तो बोध किसका? और वह आनन्द-स्वरूप न हो तो निष्प्रयोजन होगी। अतः श्रुति-संत कहते हैं कि परमतत्व सच्चिदानन्द हैं। उसके सत्तांश-जीवनको लेकर शरीरके माध्यमसे कर्मयोगका साधन चलता है। उसके रसरूप आनन्दांशको लेकर मनके भावके माध्यमसे प्रेमयोग प्रवृत्त होता है और उसके ज्ञानांशको लेकर बुद्धिके माध्यमसे ज्ञानयोग प्रकाशित होता है।

कर्मयोगका लक्ष्य है—देहका मोह मूर्खता है। देहके नाम तथा सम्बन्धको लेकर राग-द्वेषका सर्वथा उन्मूलन एवं सर्वेश्वरके प्रति सर्वकर्म समर्पण; क्योंकि वही वस्तुतः कर्म-नियन्ता एवं कारयिता है। कर्तापनका अहंकार ही अज्ञान मूलक है।

प्रेमयोगकी प्रकृति भी यही है कि शरीरके नाम-रूप तथा इसके सम्बन्धोंके राग-द्वेषका सर्वथा उन्मूलन होना चाहिए। रागास्पद वह रस-स्वरूप ही है। यह देहादि सब उसके हैं और इनका दायित्व भी वही सम्हाले। हम सब प्रकार उसके और केवल वह हमारा। यहाँ आकर वह कह देता है—

'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०,११)

ज्ञानयोगकी प्रवृत्ति तो व्यक्तित्वके उच्छेदके लिए है ही। यदि देहासक्ति, भोगासक्ति, लोकासक्तिका लेश भी बचा है तो अविद्याका नाश हुआ ही नहीं। ऐसा ज्ञानाभास किसीको मुक्त करनेमें समर्थ नहीं हुआ करता। मुक्त स्वरूप है और उसमें व्यक्तित्वकी गन्ध-छाया भी नहीं है।

कर्मयोग ईश्वरार्पित होता है। भक्तियोग ईश्वरसे प्रेमका ही नाम है और ज्ञानयोग सम्प्रवृत्त ही ईश्वरानुग्रहसे होता है। व्यक्ति समष्टिका अंग है। अतः समष्टि सञ्चालककी कृपाकी उसे सदा आवश्यकता है। व्यक्तित्वके उच्छेदके लिए—कर्म-बन्धनसे छुटकारेके लिए तो उसे सर्वेश्वरके अनुग्रहपर निर्भर करना ही है। अतः आजके महामनीषियोंकी बात छोड़ दें; क्योंकि कलियुगके प्रतापसे आजकल शतशः अवतार और अकल्पनीय ज्ञानियोंका बाहुल्य होगया है; किन्तु पुराण-इतिहासादिमें ऐसे किसी ऋषि-मुनि, महापुरुषका उल्लेख नहीं है जो केवल कर्मयोगी अथवा ज्ञानयोगी रहे हों और भक्त न हों। जैसे सच्चिदानन्द तत्व है। सत् चित् आनन्द अभिन्न हैं, वैसे ही जीवनमें कर्म, भावना, ज्ञान तीनों समन्वित ही हैं और तीनोंके सम्यक् समन्वयका नाम ही पूर्णजीवन है।

कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोगमें ईश्वराश्रयकी बात तो ठीक। ईश्वर आराध्य है और उसकी कृपा सबको अपेक्षित है, यह भी ठीक; किन्तु कर्मको योग, प्रेमको योग तथा ज्ञानको योग कौन बनायेगा?

साधारण प्राणीकी जिजीविषा उससे अनर्थ न करावे, यही बहुत है। अनेक अनेक जन्मोंका वह पुण्यात्मा हुआ तो स्वार्थ उसे सकाम कर्ममें लगानेमें असमर्थ रहेगा; किन्तु उसका निष्काम कर्म कर्मयोग कैसे बनेगा? इस ओर उसका मार्गदर्शन कौन करेगा? यह तो उसकी सहज प्रवृत्तिका विषय नहीं है।

हमारे राग-द्वेष मन-इन्द्रियों में जमे बैठे हैं। बुद्धि भी इनके ही द्वारा प्रभावित है। कहीं बहुत भावनाप्रवण व्यक्ति हुआ तो उसका राग काम न बनकर प्रेम बन जा सकता है; किन्तु प्रेमयोगका रूप कौन देगा उसे? प्रेम तो परायेसे होता नहीं—भले वह अनदेखा हो, पर अपना ही और ईश्वर अपना है, यह अनुभूति तो हमारी है नहीं। यह आस्था कौन जगावेगा? हमारी बुभुत्साको भक्तिका रूप कौन देगा?

कुतूहल स्वाभाविक है और जिज्ञासा भी जागती है ; किन्तु सविशेष जगतमें रहनेवाले सविशेष व्यक्तिके अन्तःकरणमें निर्विशेषके प्रति जिज्ञासा और उसमें आस्था ?

इस सबके लिए अदृश्य ईश्वर सहायक नहीं हो सकता । इसीलिए सभी धर्मों—सम्प्रदायोंमें प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शक गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता मानी गयी है । इस मार्गदर्शनकी परम्पराको प्रचलित करनेके लिए वह सर्वेश्वर परमपुरुष पुरुषोत्तम धरापर समय-समयपर अवतीर्ण होता है । वही जगद्गुरु है , वही प्राप्य है और वही अपनी प्राप्तिके साधनोंका स्वयं निर्देष्टा भी है । उस नरके सखा एवं परमोपदेष्टाका हम चिन्तन करें ।



गुरुतत्व

गुरु शब्दका ठीक अर्थ है प्रकाशक ।

(गुः=अन्धकार+रु=रुणति—छिन्दन्ति) और—

सबकर परम प्रकासक जोई ।
राम अनादि अवधपति सोई ।।

(रा. च. मा. १.११.६.)

परमप्रकाशक , सर्वावभासक , स्वयंप्रकाश कौन है , यह कुछ कहने-समझनेकी बात नहीं है । प्रकाशस्वरूप सत्ता दो नहीं हो सकती ।

'गौरवाद्गुरुः' जो गौरवशाली है, भारी है वह गुरु है । सबसे भारी, सबसे महान 'महतो महीयान' और सबसे महत्तम भी वही है जो सर्वावभासक है । लेकिन वह लक्ष्य है, प्राप्य है । उसे प्राप्त कराने वाला कोई चाहिए ।

जैसे मूर्तिपूजाका खण्डन अनेक सम्प्रदाय बड़े उत्साहसे करते हैं—बिना यह समझे करते हैं कि पूजा सदा मूर्तिकी ही होती है और मनुष्यके स्वभावमें पूजा करना है । मनुष्यको पूजा करनेसे ही रोकनेका अर्थ है उसे श्रद्धा , सम्मानदानादि सद्गुणोंसे वंचित कर देना । चेतनकी पूजा सम्भव नहीं है । साधु-संत , महापुरुष आदि किसी श्रद्धेयकी पूजा की जायगी तो पूजा

भले उसके चिन्ह या प्रतिमाकी न होकर उसके शरीरकी की जाय, शरीर क्या मूर्ति नहीं है ? शरीर चेतन है या शरीरमें शरीराभिमानी चेतन है ? शरीरमें जो शरीराभिमानी चेतन है, उसकी पूजा कैसे सम्भव है ? वह कहाँ प्राप्य है पूजाके लिए। पूजा तो शरीरकी ही होगी और शरीर पांचभौतिक है—मूर्ति है।

शरीरमें जो शरीराभिमानी चेतन है, वह शरीरकी पूजा-सत्कारको अपनी पूजा-सत्कार जानता है और इससे प्रसन्न होता है, यह सत्य है; किन्तु तब जो सर्वव्यापक चेतन है, वह मूर्तिमें है या नहीं ? वह सर्वज्ञ है या नहीं ? जैसे देहमें स्थित देही समझता है कि देहकी पूजा करने वाला हड्डी, माँसादिकी पूजा नहीं कर रहा, उसकी पूजा कर रहा है, उसी प्रकार जो सर्वव्यापक है, मूर्तिमें भी है, वह क्या नहीं समझता कि पूजक पत्थर, काष्ठादिकी पूजा नहीं कर रहा, उसकी पूजा कर रहा है ?

पूजा चेतनकी होती है—जड़की नहीं होती; किन्तु जड़को माध्यम बनाए बिना चेतनकी पूजा सम्भव ही नहीं है। सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वज्ञकी पूजा मूर्तिके माध्यमसे न करके संतादिके शरीरके माध्यम द्वारा करनेमें एक दोष है। शरीरमें उस अन्तर्यामीके अतिरिक्त देहाभिमानी जीव भी है। वह जीव देहकी पूजाको अपनी पूजा मानकर स्वीकार कर लेता है और पूजककी दृष्टि भी उस देहीपर ही रुकी रह सकती है—रुकी रहती है। पाषाण—काष्ठादि मूर्तिके माध्यमसे पूजा होती है तो पूजककी दृष्टिमें न काष्ठ-पाषाणादि होता है, न कोई जीव। वह सीधे ईश्वरको—आराध्यको ही पूजता है और उसकी पूजाको मध्यमें अपनी मानने वाला जीव वहाँ कोई है नहीं; अतः वह पूजा सीधे ईश्वरको प्राप्त होती है।

'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (शुक्ल यजुर्वेद ३२.२) श्रुतिका यह अंश अत्यंत स्वागतार्ह है; क्योंकि उस आराध्यकी कोई प्रतिमा होती तो उसका साक्षात्कार किये बिना कोई मूर्ति बन ही नहीं पाती। वह भी दूसरी मूर्तिको अपनी नहीं मान पाता। तब तो पूजनका ही उच्छेद होजाता। उसकी कोई मूर्ति नहीं है, इसीलिए कोई भी मूर्ति उसकी पूजाका माध्यम बन सकती है। वह सभी मूर्तियोंमें है और सर्वज्ञ होनेसे जानता है कि पूजा उसकी होरही है। चेतनको पूजाकी प्राप्ति नहीं; पूजाका ज्ञान होता है और वह ज्ञान ही

उसे सन्तुष्ट करता है। जब आप किसी श्रद्धेयकी पूजा करते हैं तो पूजाके सब पदार्थ उनके शरीरको—पंच भौतिक मूर्तिको ही प्राप्त होते हैं। उनके चेतनको अपनी पूजाका ज्ञानमात्र ही होता है और यह ज्ञान ही उन्हें सन्तुष्ट करता है।

पूजा की ही क्यों जाय ? यह इसलिए की जाय क्योंकि भावनाका परिपाक बिना क्रिया और वस्तुको अर्पित किये होता नहीं है। हमारे जीवन-में वस्तुकी आवश्यकता और क्रियाकी महत्ता जमकर बैठी है। अतः जहाँ हम न वस्तु अर्पित करते, न क्रिया करते, वहाँ हमारे मनमें भाव भी ठीक नहीं बन पाता। श्रद्धाको व्यक्त होनेका, भावको प्रकट करने तथा पुष्ट करनेका माध्यम है वस्तुका अर्पण तथा क्रियाके द्वारा सेवा।

जिसके जीवनमें-से क्रियाकी महत्ता और पदार्थकी आवश्यकता समाप्त होगयी है, वही बिना वस्तु एवं दैहिक क्रियाको माध्यम बनाये मानसिक पूजाका अधिकारी है। अन्यथा मानसिक भाव मात्र बहुत ओछे बने रहेंगे और हृदयमें उनकी प्रगाढ़ता नहीं आवेगी। आप अपने लिए वस्तुएँ चाहते-जुटाते हैं और कर्म करते, दूसरोंसे चाहते हैं। आपका राग तो पदार्थमें, क्रियामें है। अब यह राग परमात्मामें, देवतामें, गुरुमें, संतमें किस माध्यमसे जायगा ? जहाँ आपका राग है, वे वस्तुएं, देहकी सेवा देंगे वहाँ तो राग वहाँ जायगा। केवल कल्पनासे नहीं जायगा।

जैसे मूर्ति-पूजाका खण्डन पूजाके इस रहस्यको समझे बिना किया जाता है, बहुत बड़े लोगोंने, बहुत देशोंमें, बहुत व्यापक क्षेत्रमें, बहुत समयसे किया है, करते आये हैं, कर रहे हैं; वैसे ही किसीको गुरु बनानेका खण्डन भी बहुत बड़े लोगोंने व्यापक स्तरपर किया है, अब भी करते हैं। लेकिन सत्य खण्डन करने वालोंकी संख्या, गरिमासे म्लान नहीं हुआ करता।

ईश्वरको—परमेश्वरके किसी रूप शिव, विष्णु, राम कृष्णादिको, किसी अप्रत्यक्ष महापुरुषको—नारदजी, भगवान व्यास, हनुमानजी अथवा किसी दिवंगत संतको या किसी ग्रन्थको—गीता, भागवत, रामचरित मानस आदिको गुरु बना लेने, मान लेनेकी बात लोग कहते या सोचते हैं; किन्तु इन सबमें व्यक्तिको केवल स्वयं चुनना होता है। वह किसीको भी इनमें-से गुरु मान लें उसको मान ही लेना है। उसकी बुद्धिका ही निर्णय प्रधान बना

है और उसकी बुद्धिको भ्रान्त होनेपर मार्ग-दर्शन देनेवाला तथा उसपर अंकुश रखने वाला कोई मिला नहीं है। कुल मिलाकर वह गुरु हीन ही रहा है।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें जहाँ भगवान श्रीकृष्णने उद्धवको कामादि दोषोंको जीतनेके साधन बतलाये हैं, वहीं एक-एक दोषको जीतनेके एक-एक साधन बतलाकर अन्तमें कह दिया--

'एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषोह्यञ्जसा जयेत्।'

(भागवत ७.१५.२५)

इन सब मनोदोषोंको गुरु-भक्तिके द्वारा पुरुष सरलतासे जीत लेता है। गुरुभक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोहादिको दूर कर देती है। व्यक्तिमें श्रद्धा, नम्रता, सेवा, सहनशीलता, त्याग, तितीक्षादि सद्गुणोंका आधान होता है गुरुभक्तिसे। गुरु असंयमपर अंकुश रखता है। सबसे बड़ी बात— दायित्व गुरुका होजाता है। स्वयं साधक निश्चिन्त होजाता है।

शास्त्रोंमें सभी साधनोंकी, मन्त्रोंकी, ईश्वरके स्वरूपोंकी प्रशंसा है। संत—सत्पुरुष, साधक अपने-अपने साधनकी, सम्प्रदायकी प्रशंसा करते ही हैं, उसे सरलतम और सर्वश्रेष्ठ भी कहते हैं। अब यदि साधन स्वयं चुना गया है, गुरु नहीं है और उसमें सन्देह उठा मनमें तो निष्ठा विचलित न हो, इसका कोई उपाय है?

समस्त साधनोंमें अहंकारको सबसे बड़ा प्रतिबन्ध माना गया है। जिसने गुरु नहीं बनाया किसीको, उसके इस अहंकारको कौन दूर करेगा कि 'यह मैंने स्वयं किया।' और इसके दूर हुए बिना प्रगति होगी?

प्रत्यक्ष किसी व्यक्तिको गुरु बनानेमें जो बाधाएँ हैं, वे भी उपेक्षणीय नहीं हैं। शास्त्र कहते हैं कि गुरुमें दो विशेषताएँ अवश्य होनी चाहिए—

'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' (मुण्डक. १.२.१२)।

जो शास्त्रज्ञान सम्पन्न नहीं है, वह केवल उस साधनको जानता है, जिसे उसने स्वयं किया है। फलतः वह सबको उसीका उपदेश करेगा। उसीको सर्वश्रेष्ठ बतलावेगा। वह अधिकारीके अनुसार साधन नहीं बतला सकेगा। लेकिन जो शास्त्रज्ञ है, परन्तु अनुभवी नहीं है, वह केवल सिद्धान्त बतला सकता है, व्यावहारिक मार्ग-दर्शन नहीं दे सकता।

कोई अनुभवी-तत्वज्ञ है या नहीं, यह जानना बहुत कठिन है—लगभग असम्भवप्राय क्योंकि नियम यह है कि अपने समान या उससे नीचेकी योग्यता वालेकी योग्यता ही जानी जा सकती है। अपनेसे अधिक योग्यतामें कितनी अधिक है, जाना नहीं जा सकता। अतः कोई शास्त्रज्ञ है या नहीं, यह अनुमान तो पूछताछसे हो भी सकता है; किन्तु महापुरुष कोई है या नहीं, यह जानना अशक्यप्राय है।

इस समय साधुवेश सामान्य होगया है। अब तो लोग सामयिक (चार–छः महीने या दिनोंके लिए भी) साधुवेश स्वीकार करने लगे हैं। अपनेको अनुभवी संत ही नहीं, ईश्वरका अवतार तक घोषित करने वालोंकी बहुत बड़ी संख्या है। जो ठीक संस्कृत भी नहीं जानते वे अपनेको वेदों, दर्शनोंका पारंगत घोषित करते हैं। ऐसे लोगोंका प्रचारतन्त्र बहुत प्रबल है। इनमें बहुत लोग बड़े बुद्धिमान, प्रभावशाली वक्ता हैं। इस प्रकार एक बहुत बड़ा समुदाय अपनेको ईश्वर अथवा महापुरुष घोषित कर रहा है। इनके शिष्यों—प्रचारकोंकी संख्या लाखोंमें है। जब यह व्यवसाय सुनियोजित ढंगसे चल रहा है, गुरु पाना या बनाना कितना कठिन है, समझा जा सकता है। गुरु बनाना निरापद नहीं है, इसमें ठगे जानेकी सम्भावना बहुत है, इस तर्कको कोई आज अस्वीकार कर नहीं सकता।

'किसीको गुरु मत बनाओ! ईश्वर ही सबका वास्तविक गुरु है। उसीको गुरु मान लो।' यह बात जहाँ एक ओर निरापद लगती है, दूसरी ओर मनुष्यके आजके निरंकुश, उच्छृंखल अहंकारको सन्तुष्ट भी करती है। लेकिन गुरु न बनानेके सम्बन्धमें जितने भी कारण दिये अथवा सोचे जाते हैं, उनमें दो बातोंकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाती है। पहिली बात शिष्यकी योग्यता और दूसरी बात परमगुरुका दायित्व एवं शक्ति-सामर्थ्य।

गुरु कैसा चाहिए, यह बात पीछे। पहिली बात यह कि गुरु किसे चाहिए? यदि शिष्य अधिकारी नहीं है तो वह चाहे जितनी खोज-बीन करे, उसे उचित गुरु मिल नहीं सकता। जो बिना परिश्रम किये नोट दुगुना कराना या सोना बनवाना चाहता है, उसे ठगे जानेसे कोई बचा सकता है? ऐसे लोगोंको ठगने वालोंका अभाव समाजमें न कभी रहा, न रहेगा।

जब कोई धनके द्वारा परमार्थ खरीदना चाहता है, जब पैसा देकर 'ज्ञानी, भक्तराज' आदिकी उपाधि किसी प्रसिद्ध महापुरुषसे चाहता है, जब

चाहता है कि मुझे कुछ करना न पड़े और कोई समाधि लगवा दे अथवा ईश्वरको सामने खड़ा कर दे, जब कोई चाहता है कि मैं अपनेको इतने प्रसिद्ध संतका शिष्य कह सकूँ, जब सत्संगके साथ सम्मान तथा ठहरने आदि-की सुख-सुविधा भी चाहता है तो ऐसा व्यक्ति ठगा नहीं जायगा ? ऐसे लोग जो परमार्थके अतिरिक्त संसारकी कोई सुख-सुविधा, सम्मान चाहते हैं या बिना साधनके परमार्थमें सफल होना चाहते हैं, ठगे जाते हैं। इन्हें ठगे जानेसे कोई कभी बचा नहीं सकता।

जिज्ञासुको, साधकको चार गुण सम्पन्न होना चाहिए—'अर्थी समर्थो विद्वान शास्त्रेणामर्भुदस्त:'। १. समुत्सुक, २. दृढ़निष्ठ, ३. शास्त्रमें श्रद्धालु। जिसमें जाननेकी, पानेकी इच्छा ही नहीं है अथवा शिथिलेच्छा है, जो संसार परमार्थ एक साथ पाना चाहते हैं, उनको उचित गुरु नहीं मिल सकता।

अर्थी—समुत्सुकका लक्षण है कि उसमें विवेक जागृत है। वह वैराग्य-वान है। परमार्थकी दीक्षासे पूर्व व्यक्ति धर्मात्मा हो चुका होता है। संयम-सदाचारके पालनसे, सद्ग्रन्थोंके अध्ययनसे, भगवच्चरितोंके पठन-श्रवणसे विवेक जगकर जब विषयोंसे वैराग्य होकर केवल भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा जागती है तब व्यक्ति उसके लिए साधन करनेको प्रस्तुत होता है। यह समुत्सुक अधिकारी है।

समर्थो—जो कुछ कहा जाय उसपर दृढ़ निष्ठा रखनेकी उसमें क्षमता हो। जो दस गुरु और पन्द्रह साधन परिवर्तित करता आया है, वह अधिकारी नहीं हो सकता।

विद्वान—जो कुछ कहा जाय, उसको समझने जितनी विद्या-बुद्धि उसमें होनी चाहिए।

शास्त्र जिसे जिस साधनका अधिकारी कहता है, उसपर आस्था हो। अपने अहंको ही प्रधानता न देता हो। जैसे लोगोंका प्रणव या गायत्री-जपमें ही आग्रह होता है अथवा मन वशमें नहीं और अजपा जप या मानसिक जपसे नीचे आना अपने लिए कनिष्ठ-साधन अपनाना मानते हैं। इस प्रकारके लोग भी उचित गुरु नहीं प्राप्त कर पाते।

साधनका निश्चय, प्रकार गुरु निर्देश करेंगे। यह शिष्यको निश्चय नहीं करना है। साधन श्रेष्ठ या कनिष्ठ अधिकारीके अनुसार होता है। जैसे

शिशुकक्षा और विश्वविद्यालय दोनोंकी समान महत्ता उनके लिए—उपयुक्त विद्यार्थियोंके लिए है।

यहीं एक बात यह भी कि गुरु परिर्वातित किया जा सकता है अथवा नहीं ? इस विषयमें यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि गुरुदीक्षासे जन्म माना जाता है। पुत्र जैसे पिताकी बिन्दु-सन्तति है, शिष्य वैसे ही गुरुकी नाद सन्तति है। यदि किसी कन्याका विवाह धोखेसे किसी स्त्री या हिजड़ेसे हो-जाय तो उसका पुनर्विवाह होना चाहिए या नहीं ? होना चाहिए। लेकिन उसका विवाह पुरुषसे हुआ हो तो शास्त्र पुनर्विवाहकी आज्ञा नहीं देता है। इसी प्रकार जो गुरु होने योग्य नहीं या नाद-सन्तान उत्पन्न करनेमें असमर्थ था, उसे गुरु बनाया गया हो तो दूसरा गुरु बनाया जा सकता है, अन्यथा गुरु परिर्वातित नहीं किया जा सकता।

नाद-सन्तानकी उत्पत्ति क्या ? शास्त्रीय विवेचनमें न जाकर सीधे ढंगसे कहें तो यह कि गुरु-दीक्षाके उपरान्त कमसे कम एक प्रहर वह गुरुप्रदत्त साधन बहुत प्रबलतासे चलता रहा और आपको अपनेमें लगाये रखा तो दीक्षा ठीक हुई। साधन-शरीरका जन्म होगया। अब कोई भी अवस्था हो, यह साधन देह अमर है। अब जागृत न भी हो तो भी जन्मान्तरमें जागकर आपको लक्ष्य तक पहुँचा देगा। ऐसी दीक्षा-प्राप्त होनेपर गुरु परिर्वातित नहीं किया जा सकता।

केवल कानमें मन्त्र सुन लिया और कोई विशेष भाव, तन्मयता नहीं आयी तो दीक्षा हुई ही नहीं। शिष्य तो दीक्षा लेने आया ही था—गुरुके पास बीज नहीं था। ऐसी साधना—बीजसे हीन दीक्षा, दीक्षा नहीं है। ऐसा गुरु बदला जा सकता है और परमार्थके जिज्ञासुको बदल देना चाहिए।

गुरु जीवित न हों, बहुत दूर रहते हों, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। गुरुका दैहिक सामीप्य प्राप्त न हो तो दूसरे किसी सत्पुरुषसे आप सलाह ले सकते हैं। इसे वैष्णव शिक्षा-गुरु बनाना कहते हैं, किन्तु दीक्षा-गुरु दीक्षा ठीक हुई तो बदला नहीं जाना चाहिए।

मन्त्र-जपमें तो गुरुका ध्यान होता है और गुरुकी मानसिक आज्ञा लेकर जप प्रारम्भ किया जाता है। ऋष्यादि न्यासमें ऋषिका न्यास मस्तकमें करनेकी विधि है। मन्त्रका उपदेष्टा गुरु ही उसका ऋषि है। आराध्यका

स्थान-ध्यान हृदयमें और गुरुका ध्यान मस्तकमें—आज्ञाचक्रमें किया जाता है। इस चक्रका नाम आज्ञाचक्र ही इसलिए है कि यहींसे साधकको गुरुकी आज्ञा प्राप्त होती है और कुण्डलिनी इस चक्रका बेध साधकके प्रयाससे नहीं कर पाती। गुरुकी आज्ञासे ही इस चक्रका बेध होता है।

'पार्थ-सारथि' श्रीकृष्णचन्द्रका जगद्गुरु स्वरूप है। उस स्वरूपको हृदयंगम करनेके लिए गुरुकी आवश्यकता, उसका स्वरूपादि कुछ समझ लेना आवश्यक था। जिन्हें स्वप्न-दीक्षा प्राप्त हुई अथवा किसी देवता या सिद्ध पुरुषने प्रत्यक्ष होकर दीक्षा दी, उनका साधन अनेक जन्मोंसे आ रहा है और उन्हें नवीन प्रत्यक्ष गुरुकी आवश्यकता नहीं है; किन्तु जो सामान्य साधक है, उनके लिए तो प्रत्यक्ष गुरुकी आवश्यकता अनिवार्य है।

साध्य परोक्ष है। ईश्वर अप्राप्त है। अब यदि उपदेष्टा, मार्गदर्शक, प्रकाशक भी परोक्ष हो जायगा, वह भी बुद्धिसे किसीको मान लिया जायगा तो लक्ष्य तक पहुँचना अनिश्चित ही हो जायगा। अतः शास्त्रकी यह निर्विवाद सम्मति है कि साधकको प्रत्यक्ष गुरु प्राप्त ही करना चाहिए।

आप अपनी ओर देखें कि आप सचमुच ही परमात्माको पाना चाहते हैं? उसके साथ और भी कुछ तो पाना नहीं चाहते? और कुछ पाना चाहते हों अभी तो अभी उचित गुरु मिलना कठिन है। शरीर, संसार, सम्मान, सुख, स्वास्थ्यादि रहे या नष्ट होजाय; किन्तु परमात्माको पाना ही है। इसी जीवनमें पाना है। उसे प्राप्त करनेके लिए जो कुछ छोड़ना पड़े, जो कुछ करना पड़े, उसके लिए प्रस्तुत है। यह व्यक्ति गुरु पानेका अधिकारी है।

जो गुरु पानेका अधिकारी है, उसे उचित गुरु अवश्य मिलेगा। यह दायित्व उसका नहीं है। यह दायित्व परमगुरुका—जगद्गुरुका है।

नारद भक्तिसूत्र कहता है—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।' ३९

'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।' ४०

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।' ४१

उस परम गुरुसे जो अभिन्न हो चुके हैं, उनका सान्निध्य किसीको प्राप्त हो तो वह उस जगद्गुरुकी कृपासे ही प्राप्त होता है और उचित अधिकारी उसकी कृपासे वंचित नहीं रहा करता। ●

जगद्गुरु

मुझे यहाँ एक घटना देना ठीक लगता है। मैं उस समय गोरखपुरके 'कल्याण'के सम्पादकीय-विभागसे अवकाश लेकर मानसरोवर-कैलासकी यात्रा करने निकला था। रेलवे स्टेशन टनकपुरसे पिथौरागढ़ धारचूला होते हम भारतीय सीमाके अन्तिम गाँव गर्व्याङ्ग पहुँचे तो पता लगा कि दो यात्री दल और रुके पड़े हैं। तिब्बत जानेका मार्ग खुला नहीं है। थोड़ी पूछताछ करनेपर पता लगा कि बकरियाँ लेकर उनके चरवाहे जा चुके हैं। घोड़े-खच्चर तो नहीं जा सकते; किन्तु पैदल जाया जा सकता है। हमने चोटी (शिखर) के नीचे तकके लिए घोड़े किये और आगेके लिए कुली लिये। दूसरे दिन प्रातः चलकर शिखरके नीचे शामको पड़ाव डाला।

प्रातः साढ़े तीन बजे ही शिखर चढ़ना प्रारम्भ किया। इस मार्गमें एक ही शिखर पार करके तिब्बतमें तकलाकोट पहुँचते हैं। तकलाकोटमें ही उस समय चीनी सैनाकी अग्रिम चौकी थी और तब वे तीर्थयात्रीको तलाशी लेकर जाने देते थे।

शिखरपर पहुँचते-पहुँचते हिमपात प्रारम्भ होगया। सब साथी और मार्गदर्शक पीछे छूट गये थे। मैं अकेला ऊपर पहुँचा था! अपनी बरसातीको बैठनेका आधार बनाकर मैं शिखरसे दूसरी ओर फिसलने लगा। अचानक स्मरण आया कि मार्गदर्शकने ऐसा करनेसे रोका है। नरम हिममें हाथकी छड़ी गड़ाकर उठ खड़े होनेमें सफल होगया; किन्तु तब तक दो फर्लांग नीचे अवश्य फिसल चुका होऊँगा।

जैसे कद्दूकसपर कसी नारियलकी गिरी बोरोंमें भरकर उँडेली जाय ऐसे हिमके हल्के छोटे टुकड़े इतने सघन गिर रहे थे कि अपना हाथ भी फैलानेपर नहीं दीखता था। अपने ही पैर स्पष्ट नहीं दीखते थे। शीत इतनी कि अपनी श्वासकी नमी मूँछोंपर जम रही थी। मैं इस शीतके कारण वेगसे नीचे उतरता जारहा था।

सहसा जोरसे गम्भीर स्वरमें दाहिनी ओरसे किसीने कहा—'तिष्ठ'।

सहसा मेरे पैर रुक गये। मैं उस सफेद अन्धकारमें कुछ देख नहीं सकता था। केवल इतना लगा कि दाहिनी ओर कोई छाया लगभग दस

हाथ दूर आकर खड़ी होगयी है। अकल्पनीय ऊँची छाया—पता नहीं वह आकार उतना ऊँचा था या हिमपातके कारण वैसा दीख रहा था। यहाँ यह स्पष्ट कर दूं कि छायाने जो कुछ कहा, सरल संस्कृतमें कहा और मैं हिन्दी बोलता रहा।

मेरे खड़े होते ही छायासे शब्द आया—'अपने डंडेसे सामने देखो। (लगुडेन पुरतो पश्य)।

मैंने अपनी छड़ी हाथसे कुछ आगे करके हिममें धँसाई तो वह पूरी धँसती चली गयी। भयके कारण मैं छड़ी निकालकर दो पद पीछे हट गया। मैं कोमल आइसक्रीम जैसी हिमसे ढके किसी बहुत गहरे खड्ड के कगार तक पहुँच चुका था। यदि एक पद और उठा होता तो उस हिमकी दलदलमें पता नहीं कितने सौ फीट नीचे शरीर चला जाता और फिर किसीके पास मेरा पता लगानेका कोई उपाय नहीं था।

एक बार शरीर रोमांचित होगया। दो पद हटनेपर क्षण-भर लगा स्वस्थ होनेमें। तब मैंने पूछा—'आप कौन हैं?'

अपने प्राण-रक्षकका परिचय पानेका यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका। हिमपातमें आकृति दीखती ही नहीं थी। मात्र हल्की छायाका आभास था। उत्तर आया—'तुम्हें इससे कोई प्रयोजन नहीं है। मुझे तुहारी रक्षा करनेके लिंए भेजा गया है।'

मैं आश्चर्य चकित रह गया। मेरी—मेरे नगण्य शरीरकी रक्षाके लिए यहाँ हिमालयके निर्जन प्रदेशमें, इस हिमपातमें किसे इतनी चिन्ता है? मैंने पूछा—'किसने भेजा है?'

'महाबुद्धने।'

बहुत संक्षिप्त उत्तर आया ऐसा कि मैं कुछ समझ नहीं सका। मैंने फिर पूछा—'महाबुद्ध कौन?'

'यह बतला देनेका आदेश है।' छायाने इस बार मुझसे पूछा—'नीचे भारतमें तुम लोग बहुतसे मन्दिरोंमें शिवमूर्ति रखकर पूजा करते हो। शिव एक हैं या उतने हैं जितनी मूर्तियाँ?'

'एक है।' मैंने इतना ही कहा।

छायाने अब कहा—'इसी प्रकार गुरुतत्व एक है। जितने गुरु हैं—उतनी उसकी मूर्तियाँहैं। उस गुरुतत्वको तुम परमगुरु कहकर शिव, संकर्षण, श्री आदि कहते हो। हम उसे महाबुद्ध कहते हैं।'

मैं कुछ पूछूँ इससे पहले ही छायाने कहा—'तुम यहाँसे वाम ओर मुड़ो और सीधे जाओ। जहाँ पर्वतके आगे झुकनेसे नीचे बिना हिमके शिला मिले, उसपर खड़े होजाना। तुम्हारे साथी तुम्हें वहाँ मिल जायँगे।'

इतना कहकर छाया अदृश्य होगयी। लगा कि जो आये थे, चले गये। पुकारनेपर उत्तर नहीं आया। अब मैं छड़ीसे टटोलते हुए चला। एक फर्लांगके लगभग जानेपर वैसी शिला मिल गयी। मैं उसपर खड़ा ही हुआ था कि हिमपात बन्द होगया। धूप निकल आयी और साथी उतरते सामने दीख पड़े।

मेरा जन्म वाराणसी जिलेमें हुआ है, अतः मैं अपनेको बाबा विश्वनाथके घरका बालक मानता हूँ। लगा कि उन हिमवानके अनादि तापसको ही इस बालककी सुधि आगयी थी। वे ही तो परमगुरु हैं। उनको कोई महाबुद्ध कहें, मेरे तो वे बाबा हैं, भोले बाबा।

'आचार्य चैत्य वपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' यह वाक्य श्रीमद्भागवत (११. २९. ६) का है और वे महाबुद्ध-प्रेषित अदृश्य जो कोई भी रहे हों, दोनोंकी बात एक ही है। गुरु-आचार्यका शरीर तो मन्दिर है और उस देहमें जो व्यक्ति-चैतन्य है, वह मूर्ति है। इन मूर्तियोंके माध्यमसे वह एक ही परमगुरु नाना रूपोंमें नाना प्रकारके अधिकारियोंको उनके अधिकारके अनुरूप साधनका उपदेश करनेके लिए व्यक्त होरहा है।

मन्दिरमें प्रतिष्ठित मूर्ति सुन्दर है या नहीं है, सज्जित है या नहीं है और वहाँ कैसे लोग जाते हैं, इन बातोंका कोई महत्व नहीं है। श्रीकेदारनाथजीकी श्रीमूर्ति केवल त्रिकोणप्राय पाषाणखण्ड है और वहां कोई सजावट, स्वच्छता नहीं है। सब लोग—सब प्रकारके लोग वहाँ जाते हैं और अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं। देशमें बहुत सुन्दर मन्दिर एवं शिव मूर्तियाँ-शिवलिंग भी अनेक हैं; किन्तु श्रीकेदारनाथ ज्योतिर्लिङ्ग है—द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंमें-से एक। उसकी महत्ता उसके आकार, मन्दिर, स्वच्छतादिमें नहीं है।

इसी प्रकार आपके जो गुरुदेव हैं, उनका शरीर कैसा है, उनमें क्या विशेषताएँ हैं—इनका महत्व नहीं है। सद्गुण भी मानव स्वभावके भूषण ही हैं, इसे मत भूलिये और गुरु मनुष्य नहीं है, वे साक्षात् परमात्मा हैं—वैसे ही जैसे मन्दिरमें प्रतिष्ठित मूर्ति पाषाण, काष्ठ, धातु आदिकी होनेपर भी साक्षात् परमात्मा है।

आप नेत्र बन्द करके किसीको गुरु बना लें, यह कोई नहीं कहेगा और न ऐसा उचित है। यदि ऐसी कोई भूल हो भी गयी है तो दीक्षा मात्रसे साधन-शरीरका जन्म नहीं होगा, जैसा कि पहले अध्यायमें कहा गया है। तब वे गुरु गुरु नहीं हैं और दीक्षा दीक्षा नहीं है; किन्तु यदि दीक्षा ठीक थी तो अब उसे प्रदान करनेवाले गुरुदेव सबके लिए—मनुष्य होनेपर भी शिष्यके लिए साक्षात् भगवान हैं।

नियम यह है कि दो परस्पर-विरोधी तत्वोंका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। जो सच्चिदानन्द है, उसे माया अथवा मायिक-तत्व कैसे जान सकता है। अतः साध्य, साधन, साधक तथा उपदेष्टा एक ही कोटिके होने चाहिएं, तभी साधनकी पूर्णता सम्भव है।

साध्य तो सच्चिदानन्द परमतत्व हैं ही। साधक उससे अभिन्न है। वह उसी अंशीका अंश है। अविद्याके कारण वह उससे अपनेको पृथक मानकर कर्म-पाशमें फँस गया है। इससे उसके निकलनेके जो भी उपाय हैं, वे उस परमतत्वसे अभिन्न हैं। ज्ञान, भक्ति, योग, एकाग्रता, भगवन्नाम आदि सब साधन भगवान्‌से अभिन्न—उनके ही स्वरूप हैं। इसी प्रकार साधनोपदेष्टा गुरुके रूपमें भी वही नाना रूपोंमें व्यक्त होरहा है। वही जगद्गुरु हैं।

परमात्मा प्रकृतिसे परे, त्रिगुणातीत है। यह बात आपकी समझमें आती है। तब यह भी आना ही चाहिए कि वह आपके प्रदान किये गुणोंको स्वीकार करके सगुण बनता है। आप उसे जैसा मानते हैं, आपके लिए वह वैसा ही है। क्योंकि उसने कहा है--

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४. ११)

इसका फलितार्थ है और यही तथ्य है कि परमात्मा स्वयं किसीका रक्षक-उद्धारक नहीं है। उसकी स्मृति रक्षक-उद्धारक है। वह वृत्यारूढ़ होकर ही सक्रिय बनता है। अतः—

'अन्तर्बहिः पुरुषकालरूपैः प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च।'

(भागवत १०. १. ७)

सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच परमात्मा ही है; किन्तु बाहर वह कालरूपमें स्थित होकर मृत्यू बाँट रहा है। बहिर्मुख होनेपर—वाह्य जगतमें आसक्त

होनेपर वह मृत्युसे मृत्युकी ओर—जन्म-मरणके चक्रमें डालता है। वह अन्तर्यामी पुरुषरूपमें स्थित है और वहाँ अमृतदान करता है। उस अन्तर्यामीके पास अन्तर्मुख होकर पहुँचना है यदि अमृतत्वकी वाञ्छा है।

उसके समीप कैसे पहुँचा जाय? यही उपदेश करनेको उसका गुरु रूप है और यदि सच्ची उत्कण्ठा है उस तक पहुँचनेकी, गुरु रूपमें वह मार्ग-दर्शक बनकर आये बिना नहीं रह सकता।

जो उस सर्वज्ञ, सर्वसमर्थको ही प्राप्त करने चला है, उसकी रक्षाका दायित्व उसपर है जो निखिल लोक-नियन्ता है। उसीपर मार्गदर्शनका भी दायित्व है और वह करुणावरुणालय है। तब उसे कोई ठग सकनेमें समर्थ है? सच्चे अभीप्सुको ठगनेवाला न उत्पन्न हुआ, न कभी होगा और उसे मार्गदर्शक न मिले, यह असम्भव है।

वही जो आराध्य है, अनन्त शक्ति है, भक्तके प्रेमपरवश उसके हृदयमें और बाहर भी प्रकट होता है, वही गुरु रूपमें भी अवतीर्ण होता रहता है। जैसे धरापर बहुत अधिक भक्तोंके प्रेमसे विवश वह अवतीर्ण हुआ, वैसे ही बहुत अधिक अधिकारी अभीप्सुओंके हेतु भी अवतीर्ण हुआ। उसका यह द्वापरान्तमें अवतरण केवल किसी एक रूपका ही अवतरण नहीं है। श्रीकृष्णा-वतार पूर्णावतार है अर्थात् परमात्मा जिन रूपोंमें भी प्राणियोंके साथ व्यवहार करता है, उन सब रूपोंकी पूर्णता इस अवतारमें धरापर अभिव्यक्त हुई।

रसराज स्वरूप श्रीव्रजराज तनयकी चर्चा अगले खण्डमें करनी है। भगवान वासुदेवकी चर्चा हो चुकी और श्रीद्वारिकाधीश स्वरूपमें उनके ऐश्वर्य, शील आदिका भी वर्णन हुआ। वही जगद्गुरु हैं, परमगुरु स्वरूपकी उनकी पूर्णता है जब पार्थके रूपमें वे नर रथकी रश्मि अपने करोंमें लेकर विराजमान होते हैं।

नरके जीवन-रथकी रश्मि जब तक उन अपने परम सखाके हाथमें नहीं दी गयी है, तभी तक ये इन्द्रिय अश्व अनर्थक मार्गमें दौड़ते हैं। इनका प्रग्रह (मन) उनको पकड़ा दिया और फिर निश्चिन्त होगये। पार्थ-सारथिका परमगुरुरूप यह जगतको ज्ञानलोक प्रदान करनेके लिए ही है। अतः हम अब उन जगद्गुरुका चिन्तन करें।

अक्रूर आये

अक्रूर हस्तिनापुर आये—श्रीकृष्णके दूत अक्रूर—उनको पाण्डु-पुत्रोंकी अवस्थाका पता लगानेको भेजा भगवानने ।

पाण्डु—सह-असहकी निर्णायिका बुद्धि पण्डा, यह जिसके पास है, वह पाण्डु, अर्थात् विवेक, और उनकी पत्नी कुन्ती—अत्यन्त सूक्ष्मदर्शिका बुद्धि। बुद्धि तीक्ष्ण, सूक्ष्मदर्शिका और वह विवेक सम्पन्ना। इसके पाँच पुत्र युधिष्ठिर—धर्म, भीम-बल, अर्जुन-सरलता, नकुल-ममत्व राहित्य, सहदेव-देवता, ईश्वरके साथ ही रहनेकी आस्था, ईश्वर विश्वास। सूक्ष्मदर्शिका बुद्धिमें विवेक हो तो ये पाँच गुण उसमें अवश्य आवेंगे। इतना अपनी ओरसे करना है और तब यह भी अनिवार्य है कि धृतराष्ट्र—विवेकरूपी नेत्र रहित ममत्वके पुत्र—दोष, दुर्गुण, कलिदोष इनको निर्मूल करना चाहेंगे। ऐसे अवसरपर जो सृष्टिका सञ्चालक है, स्वयं स्मरण कर लेता है। उसे पुकारना नहीं पड़ता। उसके चर होकर आते हैं अक्रूर और उन्हें पाण्डवोंको कोई सन्देश नहीं देना। उन्हें तो पाण्डवोंकी स्थितिका पता लगाना है और सन्देश धृतराष्ट्रको देना है। उनका सन्देश क्या—अक्रूरका सन्देश, यही कि क्रूर मत बनो। ममताके पोषणके लिए सद्गुणोंको क्षीण मत बनाओ। समदर्शी रहो !

श्रीकृष्णचन्द्रने कंसवध करके महाराज उग्रसेनको मथुरामें सिंहासनपर पुनः प्रतिष्ठित किया और स्वयं अग्रजके साथ अध्ययन करने महर्षि सान्दीपनिके यहाँ चले गये। वहाँसे लौटे तो स्वयं मथुरासे जो कंसके द्वारा उत्पीड़ित होकर देश-देशान्तरोंमें चले गये थे, उन्हें बुला-बुलाकर बसाना प्रारम्भ किया और अक्रूरको बुआ कुन्तीके पितृहीन पुत्रोंकी स्थितिका पता लगाने हस्तिनापुर भेजा।

श्रीकृष्णचन्द्र ग्यारह वर्षकी अवस्था तक व्रजमें रहे थे। क्योंकि शिवरात्रिको कंसवध हुआ, उस समय उनकी अवस्था ग्यारह वर्षसे लगभग ६ महीने अधिक थी। वैशाख-ज्येष्ठ गुरुगृहमें रहकर वे लौट आये थे मथुरा। अक्रूर वर्षा ऋतु बीत जानेपर हस्तिनापुर भेजे गये। उस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी वयका तेरहवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ था।

हस्तिनापुर पहुँचकर अक्रूरने धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, दुर्योधन, अश्वत्थामा तथा पाण्डव—इन सबसे भेंट की। वे महाराज उग्रसेनके पुराने दानाध्यक्ष थे। इतने धार्मिक, स्थिर चित्त और नीतिकुशल कि कंस भी उन्हें दानाध्यक्ष ही बनाये रहा था। हस्तिनापुरमें उन्हें सब पहिचानते थे और सब उनका सम्मान करते थे।

अक्रूरने वहाँ अपना आवास विदुरके यहाँ रखा। उन्हें धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंका पाण्डवोंके प्रति व्यवहारका पता लगाना था, अतः हस्तिनापुरमें वे लगभग पाँच महीने रहे।

विदुरने और देवी कुन्तीने भी जो कुछ कौरवोंने कुटिलता की थी, सब सुनाई। देवी कुन्तीकी तो वह अपनी विपत्ति थी और अक्रूरजी उनके भाई ही लगते थे; क्योंकि वसुदेवजीकी सगी बहिन थीं देवी कुन्ती और अक्रूरजी वसुदेवजीके चचेरे भाई थे। अतः कुन्तीदेवीने अक्रूरको बतलाया कि धृतराष्ट्रके पुत्र कैसे उनके पुत्रोंको बराबर पीड़ित करनेका प्रयत्न करते रहते हैं। उन लोगोंने तो भीमसेनको विष खिलाकर मार ही दिया था— मूर्च्छित दशामें बाँधकर फेंक दिया था गंगामें; किन्तु ईश्वरको रक्षा करना था। भीम बहते हुए समुद्रमें गये और वहाँसे नागलोकके विषैले सर्पोंके काटनेसे खाये हुए विषका प्रभाव नष्ट होगया।

देवी कुन्ती माता थीं। अपने पितृहीन पुत्रोंपर उनका वात्सल्य बहुत था। अतः उनके वर्णनमें पर्याप्त अतिशयोक्ति होनी सम्भव थी। अक्रूरने विदुरसे भी पूछा। विदुर धर्मात्मा थे और धृतराष्ट्र तथा पाण्डुके पुत्र उनके लिए समान थे। उनके वर्णनपर विश्वास किया जा सकता था।

विदुरने देवी पृथाके वर्णनका समर्थन करके बतलाया—'पाण्डुके पुत्रोंमें तेजस्विता है, ओज है, बल है, पराक्रम है, नम्रतादि सद्गुण हैं और प्रजाका इनमें अनुराग है। दुर्योधन तथा उसके भाई सहन नहीं कर पाते, अतः उनके मनमें तेजोद्वेष बद्धमूल होगया है।'

देवी कुन्तीने पूछा—'मेरे पिता-माता, भाई मुझ हतभागिनीका स्मरण करते हैं? किसी बहिनने मेरा कभी स्मरण किया है? मेरे भाईके पुत्र कमल-लोचन श्रीसंकर्षण और श्रीकृष्ण जो शरणागत वत्सल, परमपुरुष, भक्तप्रतिपालक हैं, कभी अपनी बुआके इन पितृहीन पुत्रोंका भी स्मरण करते हैं? मैं तो अपने जेठके पुत्रोंमें घिरी यहाँ ऐसी होरही हूँ जैसे अपने

शावकोंके साथ कोई मृगी भेड़ियोंके द्वारा घिर गयी हो। मुझे और इन अनाथ बालकोंको यहाँ आकर वे कोई और सहायता न भी करते तो अपने वाक्योंसे सान्त्वना तो दे सकते हैं। मुझे उनका आश्वासन ही बहुत है।'

इतना कहते कहते देवी पृथाके नेत्र झरने लगे। विह्वल होगयीं और गद्‌गद् स्वरमें बोलीं, 'विश्वात्मा ! विश्वभावन महायोगेश्वर कृष्ण ! तुम तो सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ हो। गोविन्द ! मैं अपने शिशुओंके साथ क्लेश पाती हुई तुम्हारी शरण हूँ। तुम मेरी रक्षा करो ! श्रीकृष्ण ! तुम्हारे चरण-कमलोंको छोड़कर मृत्युके भयसे भीत मनुष्यके लिए अभय देनेवाला आश्रय मुझे और नहीं दीखता। विशुद्ध परमब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ! योगेश्वर, योगस्वरूप ! मैं आपकी शरण हूँ।'

देवी पृथा व्याकुल होकर फूट-फूटकर रोने लगीं, विदुर और अक्रूर दोनोंने उन्हें समझाकर शान्त किया। इस प्रकार अक्रूर हस्तिनापुरमें रहे। जब उन्होंने मथुरा लौटनेका निश्चय किया तब जाते समय फिर धृतराष्ट्रसे मिले और उन्हें अपनी ओरसे समझाया।

अक्रूरने कहा, 'राजन्, आपको कुरुवंशकी कीर्तिको बढ़ानेवाला होना चाहिए। यह सिंहासन आपके भाई पाण्डुका है। उनके परलोकवासी होनेसे यह आपको प्राप्त हुआ। राजाको धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करना चाहिए। उसको अपना चरित ऐसा रखना चाहिए कि प्रजा उसका अनुकरण करके श्रेष्ठ बने। अपनोंके प्रति पक्षपात न करके समत्वका व्यवहार करनेसे वह उत्तम कीर्ति पाता है। इसके विपरीत आचरण करनेपर वह अधोगति प्राप्त करता है। अतः अपने पुत्रों और पाण्डवोंके प्रति आप समत्वका व्यवहार करें।'

इतना उलाहना पर्याप्त था। स्पष्ट कर दिया गया कि पाण्डु-पुत्रोंके प्रति आपका व्यवहार उचित नहीं है और इससे आपकी अपकीर्ति हो रही है।

'यहाँ किसीका किसीके साथ भी नित्य-संयोग नहीं रहा करता।' अक्रूरने समझाया। 'स्त्री-पुत्रादिकी तो बात ही क्या है, अपना यह शरीर भी साथ नहीं देता। इसे भी छोड़ना पड़ता है। जीव अकेला संसारमें आता है और यहाँसे अकेला ही जाता है। उसे अपने पुण्य और पापका फल अकेले ही भोगना पड़ता है। अधर्मसे उपार्जित उस अल्प बुद्धिका धन दूसरे छीन लेते हैं, जैसे जलाशयमें एक मछलीको दूसरी खा जाती है।'

'अविवेकी पुरुष अपनी शक्ति, बुद्धि लगाकर जिन पुत्र, पत्नी तथा शरीरको अधर्म पूर्वक पोषित करता है, वे उसे सन्तुष्ट किये बिना ही त्याग देते हैं। उनके द्वारा परित्यक्त होकर वह अपने धर्मसे विमुख अपने सच्चे हितको न समझनेवाला अपने पापोंको लेकर तमस्में—नरकोंमें प्रवेश करता है। इसलिए इस लोकको स्वप्नके समान, कल्पनाके समान मायिक समझकर आप अपने आप ही अन्तःकरणको नियन्त्रित करके शान्त तथा समत्वको प्राप्त करें।'

इस उपदेशमें मृत्यु और उसके पश्चात्के परिणामकी स्पष्ट चेतावनी दी अक्रूरने। धृतराष्ट्रने इस चेतावनीका बुरा नहीं माना। उन्होंने अपने व्यवहारको उचित सिद्ध करनेका भी प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने इसे अपनी दुर्बलता स्वीकार किया।

धृतराष्ट्रने कहा, 'दानाध्यक्षजी! आप जो कहते हैं, वह आपकी वाणी कल्याणकारिणी है। इस अमृतोपदेशको सुननेसे मेरी तृप्ति नहीं हो रही है, किन्तु सौम्य! मेरा चित्त चंचल है और अपने पुत्रोंके अनुरागसे युक्त है। उसमें यह उपदेश टिकता नहीं है। इसलिए मैं आपको कोई आश्वासन देनेकी स्थितिमें नहीं हूँ।

धृतराष्ट्रने परिणामके सम्बन्धमें भी कह दिया—'मैं जानता हूँ कि भूमिका भार दूर करनेके लिए यदुवंशमें भगवान पुरुषोत्तम अवतीर्ण हुए हैं। वे जो कुछ करना चाहते हैं, उसे अन्यथा कौन कर सकता है। इस कुलके सम्बन्धमें उनका जो विधान होगा, उसे मैं टालनेमें असमर्थ हूँ। उनकी मायाकी गति अचिन्त्य है। अपनी मायासे त्रिगुणमय जगतकी सृष्टि करके इसमें प्रविष्ट होकर वे स्वयं इस संसार-चक्रका सञ्चालन कर रहे हैं। उन दुर्बोध गति परमेश्वरको मेरी प्रणति।'

धृतराष्ट्रकी इस स्पष्ट स्वीकृतिके पश्चात् अक्रूरके लिए कहने—समझनेको कुछ रह गया ही नहीं था। हस्तिनापुरसे उन्होंने विदुरजी, देवी पृथा, पाण्डुपुत्र, भीष्मादि सबसे मिलकर विदा ली।

अक्रूरके आगमनका एक परिणाम हुआ—कुन्तीदेवी और उनके पुत्रोंके हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्रका सौहार्द पुष्ट होगया। उनकी आत्मीयता जागृत हुई और वे निरवलम्ब हैं, अनाश्रय हैं, यह निराशा मिट गयी। प्रतिपक्षने भी इसे समझ लिया कि पाण्डवोंका श्रीकृष्णचन्द्र समर्थन करते हैं, करेंगे।

—*—

पाण्डव ही क्यों

श्रीकृष्णचन्द्रने पाण्डवोंको ही क्यों चुना अपनी कृपाका पात्र बनानेके लिए। उनकी अनेक बुआ थीं और उनमें-से कईके पुत्र बहुत प्रतापी थे। शिशुपाल, दन्तवक्र, विन्द-अनुविन्द उनकी बुआके ही पुत्र थे और वृद्धशर्माके पुत्र सन्तर्दन तो उनके भक्त भी थे।

जहाँ तक पराक्रमकी बात थी जरासन्ध राजाओंका अग्रणी था और अन्तमें तो उसने वासुदेवका प्रभाव लगभग स्वीकार कर लिया था। शिशुपालको वह अपना पुत्र मानता था। श्रीकृष्णचन्द्र चाहते तो मगधराजसे सन्धि कर लेना उनके लिए कठिन नहीं था।

बाहरके व्यक्तियोंको न भी देखा जाय तो द्वारिकामें ही क्या कम शक्तिशाली थे। उनके अग्रज श्रीसंकर्षण थे और दिग्विजयी प्रद्युम्न उनके ज्येष्ठ पुत्र थे। उनके पौत्र अनिरुद्धने भी दिग्विजय की थी। इन दोनोंमें कोई भी पुनः दिग्विजय कर सकता था। युधिष्ठिरके द्वारा राजसूय यज्ञ कराके उन्हें सम्राट बनाया श्रीकृष्णचन्द्रने। यह सम्राट पद वे महाराज उग्रसेनको भी तो दे सकते थे।

गीताके ज्ञानका अधिकारी अर्जुन ही था, उद्धवमें कुछ न्यूनता थी अर्जुनसे ? उद्धव सर्वथा आत्मार्पण करनेवाले भृत्य नहीं थे ? उद्धवको उन जगद्गुरुने ज्ञान दिया ; किन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अर्जुनको उनका सख्य, स्नेह, सानुकूलता अधिक प्राप्त हुई।

यहाँ उन पुरुषोत्तमका स्वभाव समझनेकी आवश्यकता है। उनके लिए अपना-पराया तो कोई है नहीं। सब उनकी सृष्टि हैं। सब उनकी सन्तति हैं। सब उनके अपने ही स्वरूप हैं। उनका अवतार हुआ था भूभार-हरणके लिए, धर्मकी स्थापनाके लिए और सत्पुरुषोंपर अनुग्रहके लिए। उस समय पृथ्वीपर धर्मराजका दो रूपोंमें अवतरण हुआ था—विदुर और युधिष्ठिर। इसमें-से विदुर न राज्याधिकारी थे, न इसमें उनकी प्रवृत्ति थी। धर्मराज्यकी स्थापना युधिष्ठिरको सिंहासनासीन करके ही की जा सकती थी और महाभारतका युद्ध भूभार-हरणका प्रधान माध्यम बना।

भगवान भक्तवत्सल हैं और उसके हैं जो उनपर ही सर्वथा निर्भर हो। जो सब ओरसे अनाश्रय, असहाय होगया हो और उन अनाथनाथके हाथोंमें अपनेको पूर्णतः छोड़ दे, उसीको वे अपना बना लेते हैं और स्वयं उसके अपने होजाते हैं।

पिता तपोवनमें परलोकवासी होगये। अकेली माता पाँच बालकोंको लेकर हस्तिनापुर आयी तो उसे स्वागत-सम्मानके स्थानपर उत्कट स्पर्धा प्राप्त हुई। धृतराष्ट्रके पुत्रोंको पाण्डवोंका आना बहुत अप्रिय लगा। धृतराष्ट्र राजा थे और अपने पुत्रोंके वशमें होकर उनकी कुटिलताओंके समर्थक बन गये थे। पाण्डवोंमें सबसे बलवान भीमसेनको मार देनेके लिए विष दे दिया कौरवोंने। अन्तमें तो उन्हें लाक्षागृह भेजकर उस घरमें अग्नि ही लगा दी।

स्थिति इतनी विकट थी कि धर्मात्मा विदुरजी सब कुछ जानते हुए भी स्पष्ट सूचना पाण्डवोंको नहीं दे सकते थे। उन्होंने भी उनकी रक्षाका प्रयत्न स्वयं उनसे भी छिपकर ही किया। भीष्म पितामह भी धृतराष्ट्रका विरोध करनेमें असमर्थ थे और दुर्योधन उनका अपमान न कर बैठे, इससे आशंकित रहते थे।

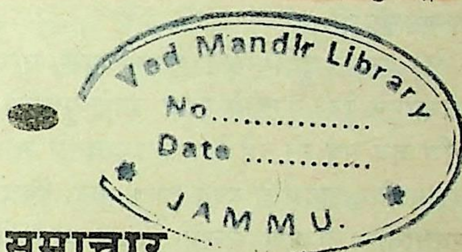
देवी कुन्ती तथा उनके पुत्रोंके लिए कहीं कोई सहायक, कोई आश्वासन नहीं था और वे विरोधियोंसे—प्राणघातपर उतारू विरोधियोंसे घिरे थे। ऐसी असहायावस्थामें उन्होंने श्रीकृष्णकी शरण ली। देवी कुन्तीने अक्रूरके द्वारा अपनी प्रणतिका सन्देश भेजा और उन सर्वात्माको सन्देश तो नहीं भेजना पड़ता।

पाण्डव सर्वात्मना श्रीकृष्णपर निर्भर थे। उन्होंने अपनेको पूर्णतः भगवान वासुदेवपर छोड़ दिया था। एक अक्षौहिणी शस्त्र-सज्ज सेनाका त्याग करके अर्जुनने बिना हिचक शस्त्रहीन श्रीकृष्णको चुना महाभारत जैसे युद्धके अवसरपर और प्रसन्न हुआ कि उसे इस चुनावका सुयोग प्राप्त हुआ।

श्रीकृष्णका स्वभाव है कि वे अधूरा समर्पण नहीं लेते, न अधूरी कृपा किसीपर करते। वे जब लेते हैं, सम्पूर्ण समर्पण ही स्वीकार करते हैं और फिर पूर्णतः उसके होजाते हैं। पाण्डवोंने अपनेको पूर्णतः उनका आश्रित बना लिया और तब यह स्वाभाविक होगया कि श्रीकृष्ण पूर्णतः पाण्डवोंके होजाते। वे भक्तवत्सल खुले रूपमें भक्त-पक्षपाती हैं, यह बात तो सभी शास्त्र, संत स्वीकार करते हैं।

पाण्डव भूभार-हरणके लिए उपयुक्त थे, पाण्डव धर्म-स्थापनके उपयुक्त पात्र थे और ज्ञान पानेके अधिकारी नरके अवतार अर्जुन ही थे जो सम्पूर्ण जीवोंके प्रतिनिधि माने जासकें, यह सब बातें सत्य हैं। अपने स्थानपर ठीक हैं; किन्तु सबसे बड़ी बात कि पाण्डव सर्वात्मा मधुसूदनाश्रित थे। उन्होंने सम्यक् समर्पण कर रखा था और इसीलिए उन सर्वेश्वरके वे सर्वाधिक अनुग्रह भाजन बन सके। श्रीकृष्ण सर्वथा उनके होगये।

श्रीकृष्णचन्द्रने अक्रूरको हस्तिनापुर भेजकर मानो यह स्पष्ट कर दिया कि वे अपनोंसे, अपने आश्रितोंसे उदासीन नहीं रहा करते। उनको पुकारने, उन तक सन्देश भेजनेकी आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता इतनी होती है कि जीव अपनी और जगतकी आशा छोड़कर एकमात्र उन सर्वाश्रयकी ओर देखे। उनकी कृपाके अवतरणके लिए इतनी ही पृष्ठभूमि चाहिए।



शोक समाचार

केवल ज्योतिष शास्त्रके समीप इसका उत्तर है कि जीवनमें एक समय प्रायः एक ही प्रकारकी शुभ अथवा अशुभ घटनाएँ क्यों सिमट आती हैं। क्योंकि ग्रह व्यक्तिके लिए एक समय एक प्रकारके ही रहते हैं, उनके अनुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल घटनाओंकी बाढ़-सी आजाती है।

श्रीकृष्णचन्द्रका आश्रय लेनेवाले भी ग्रहोंके कुप्रभावसे मुक्त होजाते हैं; किन्तु वे लीलापुरुषोत्तम जब नर-नाट्य करने धरापर उतरते हैं, उन पूर्ण पुरुषको जीवनकी सभी दिशाएँ सनाथ करनी होती हैं। वे सब संयोग-वियोगोंको सफल करते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रने पाण्डवोंका समाचार लेने अक्रूरको हस्तिनापुर भेजा, तभीसे दुर्योधनादि अधिक सतर्क होगये थे। प्रजा पाण्डुपुत्रोंके शील, विनय आदि सद्गुणोंसे अधिकाधिक उनके पक्षमें होती जाती थी। अक्रूरके आनेसे यह निश्चित होगया कि वासुदेव अपनी बुआके लड़कोंका समर्थन करते हैं।

कौरवोंको उस समय मथुराकी चिन्ता नहीं थी। वहाँ मगधराज जरासन्ध बार-बार चढ़ाई कर रहा था। दुर्योधनादिको आशा नहीं थी कि मथुरा इस बार-बारके आक्रमणोंसे उबर पायेगी; किन्तु जब यादव मथुराको छोड़कर द्वारिका जैसे दुर्गम दुर्गमें जा बसे तो जरासन्ध भी वहाँ आक्रमणका साहस नहीं कर सका और कालयवन जैसे दुर्जय वीरको श्रीकृष्णचन्द्रने समाप्त ही कर दिया था।

रुक्मिणी-हरणके समय सिद्ध होगया कि यादवोंकी शक्ति अपरिसीम है। जरासन्ध और उसके सब समर्थक मिलकर भी श्रीसंकर्षणके द्वारा संचालित उस नारायणी सेनाका प्रचण्ड पराक्रम दो घड़ी भी सह नहीं सके थे। यादव महारथियोंने विरोधियोंकी सम्मिलित शक्तिको कुचलकर धर दिया था। अतः अब द्वारिकाके समर्थनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

शकुनि-दुर्योधनकी कुमन्त्रणासे वारणावतमें लाक्षागृह बना और धृतराष्ट्रने देवी कुन्तीके साथ उनके पुत्रोंको वहाँ रहनेको भेज दिया। एक रात्रि जब सब सो रहे थे, उस भवनमें आग लगा दी गयी। पूरा भवन ही ज्वलनशील पदार्थोंसे बना था। यह भिन्न बात है कि महात्मा विदुरकी सावधानीके कारण उनके द्वारा बनवाये गये भवनसे निकलनेका गुप्त सुरंगमार्ग पाण्डवोंको प्राप्त होगया और वे माताके साथ अग्निदाहसे बच निकले थे।

जो विरोधी इतना अनर्थ करनेपर उतारू थे, वे कुछ भी कर सकते थे। उनके क्रूर प्रयत्नोंसे सुरक्षित रहनेका उपाय था कि वे भ्रममें रहें और पाण्डवोंको कुछ समय प्राप्त होजाय अपने समर्थकोंसे सहायता पानेको। जिनकी इच्छासे सृष्टिका विधान संचालित होता है, संयोग उनकी सेवामें स्वयं जुट जाते हैं।

हुआ यह था कि एक व्याध-स्त्रीके भी पाँच ही पुत्र थे और वह भटकती हुई उस रात्रि उस लाक्षागृहके बहिर्भागमें अपने पुत्रोंके साथ आकर सो गयी थी। उस समय तक पाण्डवोंके पास कोई सेवक नहीं थे। धृतराष्ट्रने उन्हें बहुत सामान्य व्यक्तिके समान उपकरण देकर भेजे थे। उनको अपने सब कार्य स्वयं करने थे। इनके भवनपर गृह-रक्षक भी नहीं थे। दुर्योधन तथा उसके साथी सेवक-गृहरक्षक क्यों भेजते जबकि उनका विचार दूषित ही था।

रात्रिमें अग्नि लगी तो वह व्याध-स्त्री अपने पुत्रोंके शवके साथ उसमें भस्म होगयी। किसीने उसे रात्रिमें उस भवनमें आते देखा नहीं था। देवी कुन्ती अपने पुत्रोंके साथ रात्रिमें ही वहाँसे दूर वनमें चली गयी थीं। प्रातःकाल दुर्योधनके द्वारा नियुक्त उसके सेवकोंने ही भवनको सर्वप्रथम देखा। रात्रिमें भी अग्नि लगनेपर उसे शान्त करनेका कृत्रिम प्रयास और सर्वाधिक दौड़-धूप वही करते रहे थे। भवन प्रातः भी इस स्थितिमें नहीं था कि उसमें प्रवेश किया जा सके। जो कुछ दूरसे लकड़ी-बाँससे उलट-पुलटकर देखा जा सकता था, उससे ६ शव दीख गये। सम्पूर्ण भस्म होगये थे वे। दुर्योधनके सेवक अपने मनमें सन्तुष्ट होगये। उन्हें तो कृत्रिम शोक प्रकट करके हस्तिनापुर समाचार देने जाना था।

शव गृहके किस भागमें मिले, इसपर विचार करना अनावश्यक था; क्योंकि अग्नि लगनेपर गृहसे निकल भागनेके प्रयत्नमें उसमें स्थित लोग कहीं; किसी भी भागमें पहुँच सकते थे। शवोंका बहिर्भागमें मिलना ठीक ही था।

यह समाचार द्वारिका पहुँचा तो श्रीबलरामजी, श्रीकृष्णचन्द्र तथा सात्यकि अपने रथोंमें बैठकर शीघ्र हस्तिनापुर आगये।

भीष्म पितामह तथा देवी गान्धारी सचमुच बहुत दुःखी थीं। कृपाचार्य और द्रोणाचार्यको भी कम शोक नहीं था। द्रोणाचार्य अपने अर्जुन जैसे सर्वश्रेष्ठ शिष्यको खोकर जैसे अपना उत्साह ही खो बैठे थे। विदुरजी शोक तो प्रकट कर रहे थे; किन्तु गम्भीर थे। धृतराष्ट्र, दुर्योधनादि शोकका नाटक कर रहे थे और उनके नाटकमें दिखावा पर्याप्त अधिक था।

श्रीकृष्णचन्द्रने भीष्मादि शोक-संतप्त लोगोंसे मिलकर सहानुभूति प्रकट की। उन्होंने शोकका नाटक करनेवालोंका भी समान शोक प्रकट करके सत्कार कर दिया। लेकिन वे तथा श्रीबलरामजी सात्यकिके समान शोकमें विक्षिप्तप्राय नहीं थे। सात्यकिने तो दुर्योधनादि किसीसे बात ही नहीं की।

माताके साथ पाण्डव भस्म होगये थे; किन्तु उनकी उत्तर-क्रियाकी चर्चा ही नहीं थी। अभी तक उनकी अस्थियोंका चयन करने कोई नहीं गया था। धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्र यह कहकर प्रश्नको टाल रहे थे—'हम उनकी उत्तर-क्रिया करनेके अधिकारी कैसे हो सकते हैं?'

छोटे भाईकी पत्नी तथा उसके पुत्रोंकी उत्तर-क्रिया बड़ा भाई कर सकता है या नहीं, यह बहुत विवादका प्रश्न नहीं था, किन्तु धृतराष्ट्र राजा थे और अन्धे थे। अपने अन्धेपनके कारण वे असमर्थ थे। उनके पुत्रोंमें कोई प्रस्तुत नहीं था। आते ही भगवान वासुदेवने यह चर्चा उठायी और स्वयं यह कर्म सम्पन्न करनेको प्रस्तुत होगये।

सात्यकिने कहा—'शिष्य भी पुत्र ही होता है। मैं धनञ्जयका शस्त्र-शिष्य हूँ। अतः उत्तर-क्रिया मुझे सम्पन्न करनी चाहिए।'

यह बात स्वीकार कर ली गयी; किन्तु तभी द्वारिकासे महारानी सत्यभामा आगयीं। अभी वे नव-विवाहिता ही थीं और अकेली आयी थीं। उनके पिता सत्राजितको शतधन्वाने मार दिया था और अपने पिताका शव तैल-द्रोणीमें सुरक्षित करके वे आयी थीं। उनका कोई भाई नहीं था, अतः श्वसुरका शव-दाह एवं उत्तर-क्रिया सम्पन्न करना श्रीकृष्णचन्द्रका ही कर्तव्य था।

'तुम कुल्यकरण (वारणावत क्षेत्र) जाकर पाण्डवोंका अस्थिचयन कर उत्तर-क्रिया सम्पन्न करके द्वारिका आओ!' सात्यकिको श्रीद्वारिकाधीशने आदेश दिया—'वहाँ शतधन्वाके और भी समर्थक हो सकते हैं, अतः मुझे अग्रजके साथ तत्काल वहाँ पहुँचना चाहिए।'

भीष्मादिसे विदा लेनेका भी अवकाश नहीं था। विदुरको सबसे स्थिति सूचित करने तथा सात्यकिकी सहायता करनेको कहकर दोनों भाई द्वारिकाके लिए चल पड़े।

श्रीकृष्णचन्द्रके इस आगमनका प्रभाव पड़ा। किसीके मनमें भी सन्देह नहीं रहा कि पाण्डव कहीं बचे भी हो सकते हैं। भीष्म तथा संजयने धृतराष्ट्रको धिक्कारा। उन्हें समझाया कि पाण्डवोंका उत्तरकृत्य सम्पन्न न करनेसे लोकमें उनकी अपकीर्ति होगी। अतः धृतराष्ट्र और फिर दुर्योधनादि भी उत्साहमें आगये। अस्थि-चयन सात्यकिने ही किया लेकिन उत्तरक्रिया पूरे आडम्बरके साथ सम्पन्न हुई।

प्रथम-मिलन

महाराज द्रुपदने अपनी यज्ञवेदी-समुद्भवा परम सुन्दरी कन्याके स्वयम्वरकी घोषणा सर्वत्र प्रेषित की तो श्रीद्वारिकाधीश भी अपने अग्रजको साथ लेकर पाञ्चाल पहुँचे। बात द्वारिकामें ही निश्चित होगयी थी। भगवान बलरामने पूछा—'मेरी तो इस स्वयम्वरमें कोई रुचि नहीं है, तुम्हारी रुचि है।'

श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'मैं आपके साथ इस स्वयम्वरको देखना चाहता हूँ। मेरी रुचि इसमें है कि वह कन्या वरण किसका करती है।'

योगमायाने धरापर तीन रूप धारण किया था। वे नन्दात्मजा बन गयी थीं; अतः उनके किसी भी रूपका वरण श्रीकृष्ण करेंगे, यह तो सम्भावना ही नहीं थी और सुभद्राके रूपमें वे सगी बहिन होकर अभी द्वारिकामें कुमारी ही थीं। द्रुपदके यहाँ वे अयोनिजा भले प्रकट हुईं, श्रीकृष्णके मनमें बहिन ही थीं और नारायणकी वे शक्ति उनसे अभिन्न नरको छोड़कर दूसरेका वरण करें, यह तो नहीं होना चाहिए था। द्वारिकासे दोनों भाई केवल वह स्वयंवर देखने आये थे।

महाराज द्रुपद अपनी पुत्रीका विवाह अर्जुनसे करना चाहते थे; किन्तु पाण्डवोंका तो पता नहीं था। वे लाक्षागृहमें जल ही गये, इसपर द्रुपदको विश्वास नहीं था। अब लोग सन्देह करने लगे थे कि पाण्डव जीवित निकल गये हैं और कहीं गुप्तवास कर रहे हैं।

द्रुपदने पुत्रीके विवाहके लिए मत्स्यवेधकी घोषणा की थी। घूमते हुए यन्त्र-चक्रके पीछे लगे मत्स्यको यन्त्रके छिद्रमें-से वाण मारकर विद्ध करना था। यह कार्य वहाँ रखे पाँच वाणोंसे सम्पन्न करना था। और उसके लिए विशेष धनुष भी वहाँ रखा था।

धनुष कुछ विचित्र था। उसे उठाने-चढ़ानेमें शारीरिक शक्तिकी अपेक्षा धनुर्वेदका कौशल बहुत अपेक्षित था। दुर्योधन, दुःशासन, जरासन्ध, शिशुपालादि जैसे शूर धनुष उठानेके प्रयत्नमें ही गिर पड़े। कर्णने धनुष उठाकर ज्या चढ़ा भी दी तो पांचालीने पुकारकर कह दिया—'मैं सूतपुत्रका वरण नहीं करूँगी।' कर्णने रोषपूर्वक देखा और ज्या उतारकर धनुष धर दिया।

पाण्डव इस महोत्सवको देखने एकचक्रा नगरीसे चलकर आये थे। मार्गमें ही बहुतसे ब्राह्मणोंसे परिचय होगया था। यहाँ भी माताके साथ एक कुम्हारके घर ठहरे थे और भिक्षा माँगकर भोजन करते थे। स्वयंवर सभामें भी ब्राह्मणोंके साथ ही बैठे थे।

जब सब नरेश निराश होकर बैठ गये। धनुष उठानेके प्रयत्नमें गिर जानेसे लज्जित होकर जरासन्ध चला गया तो अन्तमें अर्जुन उठे। इस युवकको देखकर ब्राह्मणोंमें अनुकूल-प्रतिकूल कुछ चर्चा हुई, पर सबने इसे सफल होनेका आशीर्वाद दिया। श्रीकृष्णचन्द्रने अग्रजकी ओर देखा—'आप इन्हें पहिचानते हैं!'

अर्जुनने सहज ही धनुष उठा लिया, चढ़ाया और पहिले बाणमें ही लक्ष्यवेध कर दिया। धनुषके पास पहुँचकर उन्होंने उसकी प्रदक्षिणा की थी, भगवान शंकर और श्रीकृष्णको सिर झुकाया था, तब तो नरेश उनपर हँस रहे थे; किन्तु उन्होंने लक्ष्य-वेध कर दिया तो सब उत्तेजित होउठे। ब्राह्मण प्रसन्न होकर अपने दुपट्टे फहराने लगे थे। अर्जुनके ऊपर पुष्पवर्षा होने लगी।

युधिष्ठिर उठकर नकुल-सहदेवके साथ अपने निवास स्थानपर चले गये। द्रुपदने अर्जुनका समर्थन करनेका निश्चय कर लिया। यह देखकर दुर्योधनादिने द्रुपदपर आक्रमण कर दिया; किन्तु भीमसेन तथा अर्जुन आगे आ गये और युद्ध प्रारम्भ होगया।

दूसरे सब राजा युद्धमें शीघ्र पराजित होगये। भीमसेनको शल्यने रोका था, पर शीघ्र भीमने उसे धर पटका। अर्जुनके बाणोंसे कर्ण व्याकुल होगया। उसने उन्हें ब्राह्मण समझकर रण-कौशलकी प्रशंसा की तो अर्जुनने कह दिया—'आप धैर्यपूर्वक युद्ध करें! गुरुकृपासे मुझे इन्द्रास्त्र और ब्रह्मास्त्र भी प्राप्त है।'

ब्रह्मास्त्र ज्ञाता प्रतिद्वन्द्वी अपराजेय है, यह जानकर कर्ण युद्धसे उपरत होगया। अब तक श्रीकृष्णचन्द्र बड़े भाईके साथ तटस्थ देखते रहे थे, अब वे आगे आये और उन्होंने राजाओंसे कहा—'इस युवकने धर्मपूर्वक राजकन्याको प्राप्त किया है, अतः इससे युद्ध करना उचित नहीं है।'

श्रीकृष्ण नम्रतापूर्वक समझा रहे थे। राजाओंका समूह पहिले ही हतोत्साह होचुका था। सब जानते थे कि ये ब्रह्मण्यदेव चाहे जब चक्र

उठाकर ब्राह्मणके पक्षमें खड़े हो सकते हैं और छोटे भाई युद्धमें उतरे तो बड़ेको हल-मुशल सम्हालते देर नहीं लगेगी। राजाओंने श्रीकृष्णकी बात स्वीकार कर ली और अपने निवास स्थानोंपर लौट गये। अर्जुन और भीमसेन ब्राह्मणोंसे घिरे राजकन्याको लेकर अपने ठहरनेके स्थान कुम्हारके घर गये।

ब्राह्मण विदा ही हुए थे कि अग्रजके साथ जनार्दन आ पहुँचे और देवी कुन्ती तथा युधिष्ठिरके चरण स्पर्श करके अपना नाम बतलाया। पाण्डवोंने प्रेमसे उनका स्वागत किया।

युधिष्ठिरने पूछा—'भगवन्! हम तो यहाँ छिपकर रह रहे हैं, आपने हमें कैसे पहिचान लिया?'

श्रीकृष्ण-बलरामका यह पाण्डवोंसे प्रथम-मिलन था और पाण्डव इस समय साधारण ब्राह्मण वेशमें थे, अतः धर्मराजका प्रश्न उचित था। श्रीकृष्णचन्द्रने हँसकर कह दिया—'अग्नि भस्ममें छिपा हो तो भी उसे ढूँढ़ना कठिन नहीं होता। अर्जुनने जो लक्ष्यवेधका कौशल प्रदर्शित किया तथा भीमसेनके साथ जो पौरुष उन्होंने दिखलाया, वह पाण्डुपुत्रोंके अतिरिक्त और किसीमें मिलना सम्भव नहीं है।'

दुर्योधन और उसके मन्त्री पुरोचनकी दुरभि-सन्धि व्यर्थ होगयी, इसपर दोनों भाइयोंने प्रसन्नता प्रकट की।

'हम यहाँ देर तक रहेंगे तो लोगोंको आपका पता लग जायगा!' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्रने वहांसे विदा ली और अपने शिविरमें आ गये; क्योंकि आवश्यक यह था कि महाराज द्रुपद क्या करना चाहते हैं, यह स्पष्ट होजाय। वे अपने प्रयत्नसे ही पाण्डवोंका परिचय प्राप्त कर उन्हें सत्कृत करें।

द्रुपद कैसे उदासीन रह सकते थे। एक अज्ञात कुलशील व्यक्ति उनकी प्रतिज्ञा पूरी करके उनकी कन्या ले गया था। अतः उन्होंने अपने पुत्रको सेवकोंके साथ पता लगाने भेज दिया था।

धृष्टद्युम्नके प्रयत्नसे सन्देह होगया कि द्रौपदीको ले जानेवाले क्षत्रिय कुमार हैं। राज-भवनमें आमन्त्रित करके पूछनेपर परिचय होगया। द्रुपदने भगवान व्यासके समझानेपर पाँचों भाइयोंके साथ अपनी कन्या विवाह दी। श्रीकृष्णचन्द्रने प्रचुर धन, मणि आदि भेंट किया धर्मराजको।

इन्द्रप्रस्थ आगमन

महाराज द्रुपदकी पुत्रीसे विवाह करके पाण्डव पाञ्चालमें ही थे। हस्तिनापुरमें दुर्योधनादिके चित्तमें हलचल मची थी। अब उनका षड्यन्त्र लोक प्रसिद्ध होचुका था। विदुरने धृतराष्ट्रसे स्पष्ट कह दिया—'लोकमें पुरोचनकी अपेक्षा आपके ज्येष्ठ पुत्रका ही इसे कुकृत्य माना जारहा है कि लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको भस्म करनेका प्रयत्न किया गया।'

दुर्योधन तथा शकुनि पाण्डवोंको बुलाकर उन्हें नष्ट करनेका कोई और उपाय करना चाहते थे। कर्णकी सम्मति थी कि तत्काल आक्रमण कर देना चाहिए ; किन्तु भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुरका दृढ़ मत था कि पाण्डवोंको बुलाकर उन्हें आधा राज्य दे दिया जाना चाहिए।

धृतराष्ट्रको चेतावनी मिली और सबको ही यह आशंका तो थी ही कि श्रीकृष्णचन्द्र कौरवोंका अन्याय चुपचाप सहन नहीं कर लेंगे। वे जनार्दन बड़े भाई तथा सात्यकिके साथ अपनी पूरी सेना लेकर पाण्डु-पुत्रोंके पक्षमें कभी भी आ सकते हैं, इस सम्भावनाको अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। द्रुपद जैसे शक्तिशाली नरेश अब उनके सम्बन्धी होचुके थे। लाक्षा-गृहका कुकृत्य प्रकट होजानेसे प्रजा तथा दूसरे राजा भी अब कौरवोंके पक्षमें रह नहीं गये थे। अतः धृतराष्ट्रने विदुरको भेजा और पाण्डवोंको सम्मानपूर्वक बुलवाया।

श्रीकृष्णचन्द्रने विदुरके सन्देशका स्वागत किया। उन्होंने कहा—'पाण्डवोंको हस्तिनापुर जाना चाहिए। अपने पैतृक राज्यमें ही उनकी प्रतिष्ठा तथा उचित स्थान है।'

महाराज द्रुपदने इस सम्मतिको स्वीकार किया। विदुर युधिष्ठिरादि-को लेकर हस्तिनापुर आये। धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे दुर्योधनादि सबने उनका स्वागत किया। गुरुकुलकी नारियोंने नव वधू द्रौपदीका कुलाचार-पूर्वक सत्कार किया।

धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहा—'तुम लोगोंका अब अपने भाई दुर्योधनादिसे विवाद उपस्थित न हो, इसके लिए उचित है कि तुम आधा

राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थ* में निवास करो। वहाँ अर्जुन तुम लोगोंकी रक्षा कर लेंगे।'

युधिष्ठिरने यह बात स्वीकार कर ली। हस्तिनापुरकी राजधानी त्यागकर पाण्डव द्रौपदी तथा अपनी माता कुन्तीके साथ यमुनातटपर खाण्डवप्रस्थमें आगये। उस समय खाण्डवप्रस्थ एक साधारण ग्राम था और वह बहुत सघन तथा हिंसक पशुओंसे भरे हुए खाण्डववनसे बाहर उससे सटा था।

धृतराष्ट्रने राज्यका आधा भाग दे दिया, यही बहुत था। राज्यका उत्तम भाग तथा राजधानी वे अपने पुत्रोंके लिए रखने ही वाले थे और अभी वे राजा थे, अतः जो कुछ वे प्रसन्नतापूर्वक दे रहे थे, उसीको लेना था। धर्मराज युधिष्ठिरको राज्यका लोभ नहीं था। वारणावतके लाक्षा-गृहके अनुभवके पश्चात् धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्रोंसे न नवीन भवन बनवानेको कहा जा सकता था, न उनके बनवाये भवन स्वीकार किए जा सकते थे। ऐसा कोई प्रस्ताव करनेका साहस भी इस समय धृतराष्ट्र नहीं कर सकते थे।

अपनोंका—अपने जनोंका श्रीकृष्ण क्षण-क्षण ध्यान रखते हैं। वे भक्तवत्सल भक्तका ध्यान न रखें तो रखेगा कौन। पाण्डव खाण्डवप्रस्थ आये और उनसे मिलने द्वारिकासे श्रीद्वारिकाधीश सात्यकिको साथ लेकर चल पड़े।

नवीन स्थान, साधारण राज्यकर्मचारीके उपयुक्त भवन और नवीन राज्य व्यवस्था करनी थी युधिष्ठिरको। उन्हें राज्यका पर्वत-जंगलीय भाग, निर्धन-पिछड़ी प्रजा प्राप्त हुई थी। श्रीकृष्णचन्द्रको यह सब देखना था—सम्हालना था।

वे जनार्दन आये तो मानो शरीरमें प्राण आगया, इस प्रकार पाण्डव प्रसन्न हुए। अपनी राजधानीसे बाहर तक जाकर उन्होंने स्वागत किया। श्रीकृष्णचन्द्रने युधिष्ठिर तथा भीमसेनकी चरण वन्दना की। अर्जुनको अंकमाल दी। नकुल-सहदेवने उन्हें प्रणाम किया। सात्यकिने सबका यथावत् अभिवादन किया।

---

* इसीका नाम पीछे इन्द्रप्रस्थ होगया।

भवनमें आकर देवी कुन्तीके चरणोंमें वासुदेवने मस्तक रखा तो कुन्तीके नेत्र अश्रु झरने लगे। अपने भ्रातृपुत्रको उन्होंने अंकमें खींच लिया।

'बुआ, सब कुशल है?' जनार्दनने उस स्नेहके उमड़ते प्रवाहके कुछ शान्त होनेपर पूछा।

देवी पृथाका स्वर गद्गद् होगया—'तुम सर्वेश सर्वसमर्थ भक्तवत्सलने जब मेरा और मेरे पुत्रोंका स्मरण करके मेरे भाई अक्रूरको यहाँ भेजा, हमारी कुशल तो तभी सुरक्षित होगयी। जिनका तुम्हें ध्यान आजाय, उनका मंगल भी कहीं सन्दिग्ध रहा करता है।'

द्रौपदीजी नव वधू थीं। उन्होंने लज्जापूर्वक धीरेसे आकर वन्दना की तो मधुसूदन हँसकर बोले— 'सखि! तुम मुझसे भी संकोच करोगी?'

द्रौपदीको लगा कि उसके मन-प्राण सब अमृतसिंचित होगये। उसने बहुत धीरेसे कह दिया—'स्मरण रखना कि तुमने मुझे सखि कहा है।'

'तुमको साम्राज्ञी कह सकूँगा तब यह सम्बोधन सार्थक होगा!' श्रीकृष्णचन्द्रने इधर-उधर उस छोटेसे जीर्ण भवनको देखा और उनके कमल लोचन भर आये।

'वह सम्बोधन तुम्हारे इस 'सखि'से महान नहीं है।' द्रौपदीने अंचलसे नेत्र पोंछे, इस प्रकार कि कोई लक्षित न कर सके; किन्तु स्वर आर्द्र होगया था और उसे छिपाया नहीं जा सकता था—'मुझे वैभव नहीं चाहिए। यह स्वत्व जो तुमने दिया है स्वयं, उसे स्थिर रखना!'

वैभवकी इच्छा या स्वप्न वहाँ किसीके मनमें नहीं था; किन्तु श्रीकृष्णको स्वयं यह सहन नहीं था कि जिनकी वे चरण-वन्दना करते हैं, वे युधिष्ठिर भाइयोंके साथ ऐसे साधारण भवनमें, साधारण ग्राममें अपनी महारानी यज्ञकुण्डसमुद्भवा द्रुपदराज तनयाके साथ रहें। वह साध्वी ता पिताके नगरमें सबके सम्मुख हीं निर्धन, भिक्षाजीवी अर्जुनके साथ कुम्हारके घर अकेली आगयी थी और उस राजकन्याको नव वधू होनेके प्रथम दिन भिक्षान्न पकाकर आधा भाग भीमसेनको देने तथा शेषमें छः भाग करनेको सासने कहा था और उसने सादर वह आज्ञा स्वीकार कर ली थी। उसे वैभवका प्रलोभन क्या प्रलुब्ध करता; किन्तु जिन त्रिभुवनेश्वरने उसे मिलते ही 'सखि' कहा था, उसकी विपन्नता उन्हें सह्य नहीं थी।

श्रीकृष्णचन्द्रने उस दिन विश्राम किया ही नहीं, स्वागत-सत्कार, स्नान-भोजनसे निवृत्त होकर वे सात्यकिको लेकर निकल गये और उस पूरे

ग्रामको, यमुना तटको तथा आसपासके प्रदेशको देखते-बूझते रहे। अर्जुनको ही उन्होंने साथ लिया था।

अभी तक अर्जुनने और उनके दूसरे भाइयोंने भी इस ग्राम तथा आसपासके प्रदेशको इस प्रकार घूमकर देखा नहीं था। वहाँ देखने योग्य कुछ था भी नहीं। ग्रामके लोग सीधे, सरल थे और उनकी प्रीति पाण्डवोंने अपने उत्तम व्यवहारसे प्राप्त कर ली थी। उस ग्रामके समीपसे ही खाण्डव-वन प्रारम्भ होजाता था, जो कुछ ही दूर जानेपर दुर्गम होगया था।

ग्रामके चारों ओर परिखा थी; किन्तु वह वनपशुओंसे रक्षा मात्रके लिए थी। वैसे दूर तककी भूमि अच्छी थी और यमुनाका तट तो था ही। श्रीकृष्णचन्द्रको हस्तिनापुरके गंगातटसे यह स्थान अधिक प्रिय लगा।

रात्रि-विश्रामका समय आया तो दूसरे सब सो गये; किन्तु उन त्रिलोकीनाथके नेत्रोंमें निद्रा नहीं थी। उन्होंने विश्वकर्माका स्मरण किया और आदेश दिया —'यहाँ देशके सम्राटके उपयुक्त राजसदन तथा नगरका आप आज ही निर्माण कर दें।'

वह इन्द्रप्रस्थ अब नहीं है। अब तो उसके खण्डहरोंपर दिल्ली नगर बसा है; किन्तु इस नगरका पुराना नाम इन्द्रप्रस्थ है, यह हम, आप जानते हैं। वह इन्द्रप्रस्थ श्रीकृष्णके संकल्पसे बना-बसा था।

विश्वकर्मा उसी समय आदेश स्वीकार करके नगर-निर्माणमें लग गये। उन्हें केवल राजसदन या नगर ही नहीं बनाना था, उसके भवनों-को, उद्यानोंको अश्वशाला, गोशाला, गजशालाको उपयुक्त उपकरणों तथा पशुओंसे भी पूर्ण करना था।

दूसरा सूर्योदय उस स्थानमें दूसरा दृश्य लेकर आया। वहाँके निवासी सम्पन्नतम नागरिक होचुके थे। दूसरे स्थानोंसे सहस्रों परिवार लाये जाचुके थे और देवशिल्पीने सबका चित्त ऐसा कर दिया था कि किसीको कोई आश्चर्य नहीं था। सब जैसे सदासे वहीं इसी प्रकार रहते हों, ऐसे होगये थे और पाण्डव तो श्रीकृष्णके इस प्रभावको समझकर भाव विभोर थे ही।

माया-दर्शन

भीमसेन एक रात्रि उमंगमें आकर कीर्तन करने लगे। उनका भारी स्वर गूँजने लगा तो धर्मराजने बुलाकर स्नेहपूर्वक कहा—'भैया ! भगवन्नामका संकीर्तन तो उत्तम है ; किन्तु आप एकान्तमें कहीं कीर्तन करें तो उत्तम होगा। किसीकी निद्रामें बाधा देकर तो कीर्तन नहीं करना चाहिए। अपना धर्म किसीको कष्टप्रद न हो , इसका ध्यान रखना चाहिए।'

भीमसेनने अग्रजकी बात स्वीकार करली। वे इन दिनों कुछ उदास रहने लगे थे। देवी कुन्तीने धर्मराजसे चिन्तित होकर कहा था—'भीम इन दिनों पूरा भोजन नहीं करता। इसे मन मारे देखकर मुझे दुःख होता है।'

माताके पूछनेपर ही जिसने कुछ नहीं बतलाया , उससे यह कैसे आशा की जाय कि भाईके पूछनेपर कुछ कहेगा। धर्मराजने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा। पाण्डवोंके उन परमाश्रयने कह दिया कि वे इसके सम्बन्धमें सोचेंगे।

भीमसेनकी चिन्ताका कारण था। उन्होंने बड़े भाईको महारानी द्रौपदीके साथ एकान्त कक्षमें अकस्मात् गवाक्षसे देख लिया था और उन्हें कुछ ऐसा आभास हुआ था कि अग्रज उस समय द्रौपदीके पदोंके पास बैठे थे। भीमसेन चौंक गये थे—'द्रौपदी क्या महाराजके साथ इतनी धृष्टता करती है ? मेरे साथ इसने कहीं ऐसी धृष्टता की तो मैं सहन कैसे कर पाऊँगा ?'

एकान्तमें दम्पति परस्पर कैसे बैठते हैं , यह किसी दूसरेके देखने-सोचनेकी बात नहीं होती। प्रेममें बड़े छोटेका भेद विलीन होजाता है। कभी पत्नीमें प्रणय-कोप हो , यह प्रीतिका ही परिपाक है और तब पति उसे अनुनय करके प्रसन्न करता ही है। किसी ऐसे क्षणमें ही भीमसेनकी दृष्टि पड़ गयी थी और उनके जैसे मल्लके लिए यह सब समझना कठिन था। अपने सीधे स्वभावके कारण उन्हें लगा कि द्रौपदीमें ही गर्व आगया है। द्रौपदीसे तो उन्हें भी काम पड़ना ही था। अब अपनी इस चिन्ताकी बात वे किससे , कैसे कहें।

चिन्ताके कारण नींद आ नहीं रही थी। उठकर प्रांगणमें आये और—'मुकुन्द गोविन्द गोपाल कृष्ण !'की ध्वनि लगाने लगे। उनके स्वरसे सबकी निद्रा टूट गयी। महारानी द्रौपदीने ही धर्मराजसे कहा था कि वे छोटे भाईको समझा दें। युधिष्ठिरके कहनेसे भीमसेनने बात तो स्वीकार करली; किन्तु बहुत अधिक उदास होगये। उनको स्वर सौष्ठव प्राप्त नहीं है, यह क्या उनका दोष है ?

भीमसेन राजभवनसे निकले और नगरसे दूर यमुनातटपर चले गये। निस्तब्ध रात्रि, स्वच्छ आकाश और अमृत धवल चन्द्रिका। भीमसेनको पता नहीं लगा कि वे कितनी दूर चले आये। चारों ओर वन देखा तो आश्वस्त होगये कि अब किसीकी निद्रामें बाधा नहीं पड़ेगी।

'मुकुन्द गोविन्द गोपाल कृष्ण।
मुकुन्द गोविन्द गोपाल कृष्ण ॥'

भीमसेन कीर्तन करने लगे और तन्मय होगये। दुःखी, उदास, खिन्नमना भीमसेनका चित्त शीघ्र एकाग्र होगया। नेत्र बन्द होगये और झरने लगे। शरीर रोमांचित हुआ। कण्ठ गद्गद् हुआ तो और भी भारी होगया।

संगीतका स्वर या वीणाकी झंकृति मधुर सुनकर मृग समीप दौड़ आते होंगे; किन्तु वह भीमसेनकी कीर्तन ध्वनि सुनकर तो मृग ही क्या मृगराज भी घबड़ाकर जंगलमें और दूर भाग गया। लेकिन एक था—इन्द्रप्रस्थमें ही था जो इस कीर्तन ध्वनिसे भी मुग्ध हुआ और राजसदनसे उठकर उसी रात्रिमें वहाँ भीमसेनके समीप आगया। वह है ही ऐसा कि उसे स्वर-ताल आदि कोई बाह्य उपकरण प्रसन्न नहीं करते। उसके श्रवण सुर-बेसुर नहीं पहिचानते। वह केवल प्रेमका स्वर समझता है। प्रेमकी भाषा समझता है। प्रेमका स्वाद जानता है। भीमसेनका स्वर चाहे जितना भयानक हो, वे प्रेममें मग्न होकर कीर्तन कर रहे थे और उस प्रेमधनके लिए निद्रा लेना ऐसी अवस्थामें सम्भव नहीं था। वह आकर्षित होकर आगया था। भीमसेन कीर्तन करनेमें जितने तन्मय थे, वह उस कीर्तनके स्वरपर उतनी तन्मयतासे झूम रहा था। और उसके विशाल दृगोंसे भी विन्दु गिर रहे थे। उसका शरीर भी रोमांचित था। वह बहुत धीरे ताली बजाने लगा था।

भीमसेनकी तन्मयता टूटी-। कीर्तन समाप्त हुआ। नेत्र खुले तो सम्मुख देखकर आश्चर्यसे वे बोले—'श्रीकृष्ण, तुम ! इस समय यहाँ।'

श्रीकृष्णचन्द्रने भी अपने पटुकेसे नेत्र पोंछे और बोले—'भाई भीमसेन ! इतना मनोहर कीर्तन तुम करते हो , मैं नहीं जानता था। आज तुमने मुझे बहुत आनन्द दिया। मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारे मनमें जो आवे , वरदान माँग लो।'

भीमसेनको पहिले तो एक क्षणको लगा कि कहीं उनका उपहास तो श्रीकृष्ण नहीं कर रहे हैं; किन्तु उन कमल लोचनने अश्रु पोंछे हैं अपने , यह देखकर आश्वस्त होगये। उनका कीर्तन इन्हें प्रिय है , इन गोविन्दको प्रिय है तो अब पूरे संसारको अप्रिय लगे तो लगता रहे। आनन्दसे हृदय परिपूर्ण होगया। अब कहाँ कोई कामना शेष रही कि कुछ माँग लें।'

'कुछ माँग लो भाई !' श्रीकृष्णने फिर अनुरोध किया।

दो क्षण सोचकर भीमने कहा—'ये ऋषि-मुनि बार-बार तुम्हारी मायाकी बात करते हैं। कैसी है तुम्हारी माया ? मैं उस मायाको देखना चाहता हूँ।'

श्रीकृष्णमें उत्साह नहीं आया। वे शान्त स्वरमें बोले—'भैया , मुझे देखो ! मायाको देखकर क्या करोगे।'

भीमसेनने आग्रह किया—'तुम्हें तो देखता ही रहा हूँ। तुम्हारी माया देखनेका मन है, उसे भी दिखला दो।'

अब उन मधुसूदनने कह दिया—'अच्छा , कल रात्रिके प्रथम प्रहरमें ही आकर उस वटवृक्षपर छिपकर बैठ जाना और सावधान रहकर देखना।'

दोनों वहाँसे राजभवन चले आये। रात्रि अभी शेष थी ; किन्तु अब निद्रा लेनेका समय नहीं था। दोनों ब्राह्ममुहूर्तके कृत्योंमें लग गये।

श्रीकृष्णचन्द्रने जिस वटवृक्षका संकेत किया था , वह वनके मध्यमें था। उसके आसपास दूर तक वृक्ष-लताएँ नहीं थीं। वहाँ समतल भूमि थी। रात्रिके प्रथम प्रहरमें ही भीमसेन अकेले आये और उस वृक्षपर चढ़कर सघन स्थानपर जमकर बैठ गये।

चन्द्रमा ऊपर उठा। वन चन्द्रिका स्नात सुरम्य होगया। वन-पशुओंका रात्रि-सञ्चरण प्रारम्भ ही हुआ था कि अनेक तेजोमय देवता आये और वहाँ स्थान स्वच्छ करने लगे। उन लोगोंने वहाँ स्वच्छता की , सुगन्धित द्रव छिड़का और बहुमूल्य आस्तरण बिछाया। इसके अनन्तर

बहुतसे दूसरे देवता सिंहासन लेकर आने लगे। उन लोगोंने सिंहासनोंकी पंक्तियाँ सजा दीं।

एक ज्योतिर्मय दिव्य सिंहासन—जैसे कोई राजाधिराज आनेवाला हो। उसके समीप ही किंचित निम्न भूमिपर उससे कुछ कम ज्योतिर्मय सिंहासन। इसके अनन्तर दो दो सिंहासनोंके तीन जोड़े और फिर तो सिंहासनोंकी पंक्तियाँ लगी थीं। अवश्य देवताओंकी कोई सभा यहाँ आज होनेवाली थी।

निर्मल धवल चन्द्रिका थी। देवता स्वयं ज्योतिर्देह थे, इतनेपर भी प्रज्वलित मशालें लिये देव-सेवक स्थान-स्थानपर आकर खड़े हुए। सशस्त्र प्रहरी आये और वे यथास्थान सावधान खड़े हुए। अब देवताओंके प्रमुख आने लगे। अग्नि, वरुण, कुबेर, वायु, यम, इन्द्र जैसे बहुतसे देवताओंको उनके वेश तथा वाहनोंसे भीमसेनने पहिचान लिया। अपने वाहन दूर छोड़कर वे आते थे। सेवक उन्हें ले जाकर उनके लिए नियत सिंहासन दिखलाते थे और वे उसपर बैठते जारहे थे।

देवता, गन्धर्व, किन्नर आदि सबके प्रमुख आगये। असुर, दैत्य, दानवोंका अग्रणी वर्ग भी अपने समाजके साथ आया और वह भी बैठ गया। उनमें-से बहुत थोड़े लोगोंको भीमसेन पहिचान सके।

महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोकके ही नहीं, पृथ्वीके भी प्रसिद्ध ऋषि-मुनि, तपस्वी, विद्वान आये और वे लोग भी बैठ गये। इस वर्गमें बहुतसे युधिष्ठिरके यहाँ आते रहे थे। अतः उनको भीमसेनने पहिचान लिया।

अन्तमें सावित्रीके साथ हंसवाहन ब्रह्माजी आये। लक्ष्मीके साथ गरुड़ासन विष्णु आये और भगवती पार्वतीके साथ वृषभारूढ़ शिव आये। ये तीनों दम्पति आगे सजे छः सिंहासनोंपर बैठ गये।

भीमसेनके चित्तमें अब उथल-पुथल मची। 'अन्ततः मध्यका विशाल सिंहासन किसके लिए है और वह दूसरा किसके लिए? ऐसा कौन है, जिसके सम्मुख ये त्रिदेव भी सामान्यासनोंपर बैठते हैं?'

भीमसेनको देर तक नहीं सोचना पड़ा। उन्होंने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र आ रहे हैं। देवताओंने खड़े होकर उनका अभिवादन किया।

इन्द्रादिकी ओर केवल उन्होंने देख लिया। त्रिदेवोंके समीप दो क्षण रुककर उनसे कुछ बात की और फिर जाकर उस दूसरे सिंहासनपर बैठ गये।

अचानक सब उठ खड़े हुए। जय ध्वनि गूँजी—'महामाया भगवती पधार रही हैं।'

सबने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया। भीमसेनके नेत्र आश्चर्यसे खुले रह गये। द्रौपदीजी आईं और बिना किसीकी ओर देखे जाकर सर्वोच्च सिंहासनपर बैठ गयीं। त्रिदेवोंने सम्मुख आकर मस्तक झुकाया तो केवल स्मितपूर्वक उन्हें देख लिया।

'सब आगये ?' द्रौपदीने श्रीकृष्णसे पूछा।

श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'पाण्डव आरहे हैं।'

द्रौपदीने कहा—'भीम कहाँ है ? तुम देख ही रहे हो कि उसके रक्तके बिना मेरा यह खप्पर अपूर्ण है।'

भीमसेनने सुना तो रात्रिमें भी उनके शरीरसे स्वेद बह चला। उनके जैसे शूर भी भयके कारण काँपने लगा।

इसी समय युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव आगये। वे करबद्ध दूर खड़े होगये। द्रौपदीने कहा—'मेरे खप्परको भरनेका काम तुम्हें करना है, यह स्मरण रखना। भीमसेन कहाँ है ?'

देवदूतोंने बतलाया—'वे राजभवनमें नहीं हैं।'

द्रौपदीने डाँट दिया—'पता लगाओ कि वह कहाँ है।'

सहसा देवर्षि नारद उठ खड़े हुए। उनको भी बोलनेकी अनुमति लेनी पड़ी। आज्ञा पाकर बोले—'भीम इस समीपके वटवृक्षपर छिपा बैठा है।'

'पकड़ लाओ उसे।' द्रौपदीने कड़कते स्वरमें आज्ञा दी। देवदूत जलती मशालें हाथोंमें लेकर वटवृक्षके समीप पहुँचे। भयके कारण भीमसेन वृक्षपर-से नीचे कूद पड़े। वे भाग जाना चाहते थे।

भीमसेन नीचे कूदे और चकित इधर उधर देखने लगे। नीचे न कोई देवदूत थे, न कोई देवसभा थी, न देवता थे, न पाण्डव थे, न द्रौपदी थी। वहाँ तो कुछ भी नहीं था। वह भूमि स्वच्छ भी नहीं थी। अब सिर झुकाये वे नगरकी ओर लौटे।

श्रीकृष्णचन्द्र मार्गमें ही मिल गये। उन्होंने पूछा—'भाई भीमसेन, तुम इतने खिन्न क्यों हो? तुमने मेरी माया देख ली?'

'देख ली' भीमसेनने कहा—'अब कृपाकर ऐसी माया मुझे कभी मत दिखाना।'

श्रीकृष्णचन्द्र हँसकर भीमसेनके साथ ही राजभवन लौट आये; किन्तु भीमका मुख लटका ही रहा। वे उदास बने रहे। माता कुन्तीने उनसे उदासीका कारण पूछा तो रो पड़े। उन्होंने जो कुछ देखा था, सुना दिया।

भीमसेनने कहा—'श्रीकृष्णने जो कुछ दिखलाया, वह सर्वथा निराधार नहीं हो सकता। यह तो मैं समझ गया कि द्रौपदी महामाया है; किन्तु उसका वह अपूर्ण खप्पर मेरे मनसे उतर नहीं रहा है।'

माता कुन्तीने अपने पुत्रको आश्वासन दिया। माता-पुत्रने उसी समय कुछ बातें कीं और उस सम्मतिके कारण भीमसेन रात्रिमें निश्चिन्त होकर सो सके।

प्रातःकाल भीमसेन माताके समीप ही पीछेके कक्षमें छिपे बैठे थे, जब देवी द्रौपदी अपनी सासकी चरण-वन्दना करने आईं। यह उनका नित्यका नियम था। कुन्तीने आशीर्वाद देनेके अनन्तर कहा—'बेटी, आज मैं तुझसे कुछ माँगना चाहती हूँ, यदि तू मुझे निराश न करनेका वचन दे।'

द्रौपदीने सहज भावसे कह दिया—'माताजी, आप आज्ञा करें।'

कुन्तीने कहा—'बहू! मुझे मेरे पाँचों पुत्रोंके जीवनका वरदान दे।'

द्रौपदीने सहसा सिर झुका लिया। दाँतोंसे जिह्वा दबाई और दो क्षण रुककर कहा—'अच्छा माताजी!'

मनमें उसने कहा—'श्रीकृष्ण! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।'

पता नहीं यह घटना न होती तो महाभारत युद्धमें भीमसेन बच भी पाते या नहीं।

खाण्डवदाह

अर्जुनने प्रस्ताव किया और श्रीकृष्णचन्द्रने उसका अनुमोदन कर दिया। अपनोंकी अभिलाषा सार्थक करना उनका स्वभाव ही है। अर्जुन भी कहाँ अपने लिए प्रस्ताव कर रहा था। उसे भी तो अपने सखाको ही सन्तुष्ट करना था। उसे लगता था कि श्रीद्वारिकाधीश राजसदनमें दिन-भर बैठे-बैठे ऊबेंगे, अत: उसने कुछ दूर यमुना किनारे शिविरमें रहकर स्नान, आखेट आदिका प्रस्ताव किया था।

धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा गया तो उन्होंने उपयुक्त स्थानपर शिविर सज्जित करा दिए। वहाँ सेवक भेज दिए। संगीत-वाद्य आदिकी व्यवस्था करा दी। उस समृद्धि सम्पन्न शिविरमें अर्जुनके साथ श्रीकृष्ण जाकर निवास करने लगे।

एक प्रात: दोनों मित्र बहुमूल्य आसनोंपर पास-पास बैठे थे कि उनके समीप एक ब्राह्मण पधारे। उनका शरीर बहुत लम्बा था और तप्त कांचनके समान गौर था। जटाएँ भी पीली थीं। दाढ़ी-मूँछसे सुशोभित वे वल्कल पहिने थे, अवश्य वे तेजस्वी ब्राह्मण रुग्ण होंगे; क्योंकि उनका उदर बढ़ा हुआ था और नेत्र पीले होरहे थे। शरीरपर भी रोगकी छाया थी।

ब्राह्मणको देखते ही दोनों मित्र उठे और अपना गोत्र, नाम लेकर दोनोंने भूमिपर गिरकर प्रणिपात किया। ब्राह्मण देवताने आशीर्वाद देकर बिना आसन ग्रहण किए ही कहा—'आप दोनों त्रिभुवनमें सर्वश्रेष्ठ हैं, सर्व-समर्थ हैं, अत: यह बहुभोजी ब्राह्मण आपके समीप भोजनकी भिक्षा माँगने आया है।'

'आपकी तृप्ति किस प्रकारके अन्नसे होगी? आप आज्ञा करें। हम लोग उसकी व्यवस्था कर।' भगवान पुरुषोत्तमने गम्भीर दृष्टिसे ब्राह्मणको देखकर कहा। अतिथि आया है तो भोजन तो उसे बिना माँगे भी सद्गृहस्थ करावेगा ही; किन्तु जो त्रिभुवनमें सर्वश्रेष्ठ, सर्वसमर्थको ढूँढकर उनसे केवल भोजनकी भिक्षा माँगने आया है, वह न सामान्य अतिथि हो सकता है, न उसका भोजन साधारण होगा।

कुतूहलके लिए कारण नहीं रहा। अतिथिने अपना परिचय दिया—'मैं अग्नि हूँ और आप दोनों देखते ही हैं कि पाण्डु रोगसे पीड़ित हूँ। मेरी इस रोगसे मुक्तिकी औषधि भगवान ब्रह्माने मुझे बतलायी है कि मैं इस खाण्डव वनको जला डालूँ, इसे उदरस्थ कर लूँ।'

'हमें कोई आपत्ति नहीं है।' अग्निदेव खाण्डव वनकी ओर ऐसे सतृष्ण नेत्रोंसे देख रहे थे, जैसे महीनोंका भूखा स्वादिष्ट भोजनसे भरे थालकी ओर देखे। उनकी इस दृष्टिको देखकर अर्जुनने कह दिया। 'लेकिन आप अग्निदेवको यह रोग ?'

'प्राचीन समयमें बहुत बलवान, समृद्ध, श्रद्धालु चक्रवर्ती राजा श्वेतकि हुए हैं! उसने बड़े-बड़े यज्ञोंका क्रम लगा दिया। ऋत्विक ब्राह्मण थक जाते, यज्ञ कराना अस्वीकार कर देते; किन्तु राजा दूसरे ऋत्विक प्राप्त कर लेता। उसके यज्ञोंमें बारह वर्ष तक हाथीकी सूँडके समान घृतकी मोटी धाराकी अखण्ड आहुति मुझे स्वीकार करनी पड़ी और उसीसे यह अजीर्णज रोग होगया।' * अग्निदेवने बतलाया।

'अश्विनीकुमार मेरा उपचार करनेमें असमर्थ रहे।' अग्निने कहा—'तब मैं सृष्टिकर्ताकी शरणमें गया। उन्होंने बतलाया कि यदि मैं खाण्डव वनको अपनी ज्वाला-जिह्वाओंसे चाट लूँ तो मेरा रोग मिट जायगा।'

अजीर्णमें चूर्ण, अवलेहादि वैद्य देते ही हैं और अग्निदेवके लिए एक पूरा वन केवल अवलेह था। घृत बहुत खाकर रोग हुआ तो वृक्ष-लतादिके साथ वनमें स्थित प्राणियोंका मेद-मांसादि उस रोगकी औषधि हो जायगा, इसे सृष्टिके निर्माता ही समझ सकते थे। असाधारण रोगी, रोगका असाधारण कारण, अतः असाधारण औषधि भी उसकी।

'मैंने सात बार प्रयत्न किया; किन्तु देवराज इन्द्र वर्षा करके मुझे विफल कर देते हैं।' अग्निदेव खिन्न स्वरमें कह रहे थे—'मेरा कार्य महर्षि अंगिरा वहन कर रहे हैं। देवताओंको यज्ञ भाग वे पहुँचा देते हैं। अतः, देवराजको मेरी अपेक्षा नहीं रही है। इस खाण्डव वनमें उनका मित्र तक्षक सपरिवार रहता है। अतः उसकी रक्षा इन्द्रको अधिक महत्वकी जान

* यह महाभारतका वर्णन है। ग्रन्थान्तरोंमें महाराज मरुत्तके यज्ञमें अग्निके अजीर्णका उल्लेख है। कल्प भेदसे ये वर्णन हैं।

पड़ती है। अब भगवान ब्रह्माके आदेशसे मैं आप दोनोंकी शरण आया हूँ।'

'देवराजकी मुझे चिन्ता नहीं है।' अर्जुनने आश्वासन दिया—'उनके मेघोंको मैं देख लूँगा और इन मधुसूदनने तो शैशवमें ही शक्रके समस्त प्रयत्न विफल कर दिये थे; किन्तु इस समय मेरे पास दिव्यास्त्रोंको सम्हालने योग्य धनुष नहीं है। हम दोनों यहाँ बहुत अधिक वाण लेकर भी नहीं आये और वाण आ भी जायँ तो उन्हें ढोने योग्य रथ नहीं है। आप इनकी व्यवस्था कर दें। वनमें रहनेवाले नागों, दानवोंको मारने योग्य अस्त्र यहाँ ये जनार्दन भी नहीं ले आये हैं। हम तो यहाँ आमोदके लिए आ गये।'

अग्निदेवने लोकपाल वरुणका स्मरण किया। उन जलाधिपके आते ही कहा—'आपको राजा सोमने जो अक्षय त्रोण, गाण्डीव धनुष और वानरध्वज रथ दिया है, वह तथा चक्र भी मुझे दे दीजिये।'

वरुणको कोई आपत्ति नहीं थी। वे भी समझते थे कि देवराजके द्वारा अग्निके साथ अन्याय होरहा है। उन्होंने वे रथादि वहाँ उपस्थित कर दिये। उन त्रोणोंके वाण कभी समाप्त नहीं होते थे। गाण्डीव धनुष किसी अस्त्र-शस्त्रसे कट नहीं सकता था और न उसकी प्रत्यञ्चा ही काटी जा सकती थी। वह त्रिलोकीमें पूजित धनुष प्रयोक्ताकी कान्ति बढ़ा देता था।

वह अग्नि प्रदत्त वानरध्वज नन्दिघोष रथ अत्यन्त प्रकाशमान, युद्धोपयोगी सामग्रियोंसे पूर्ण था। उसकी ध्वजा या रथका कोई भाग तोड़ा नहीं जा सकता था। उसमें गान्धर्व देशके वायुवेगी अश्व जुते थे।

वज्रकी नाभिवाला सहस्र अरोंका जो चक्र अग्निने श्रीकृष्णचन्द्रको दिया, वह तो उनके अपने चक्रसे ही समुद्भूत, उसीका प्रतिरूप था। वह शत्रुनाश करके पुनः प्रयोक्ताके पास लौट आता था और श्रीकृष्णके करोंमें आकर तो वह देव, दैत्यादि सबके लिए भीषण अमोघ कालचक्र ही होगया।

अर्जुनने दोनों त्रोण बाँधे और गाण्डीवपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर श्रीकृष्ण-चन्द्रके साथ उस दिव्य रथपर आरुढ़ हुए। उन्होंने अग्निदेवको अनुमति दी—'आप स्वेच्छानुसार खाण्डव वनको जलावें।'

सहसा खाण्डव वनमें एक साथ चारों ओर दावाग्नि प्रकट हुई और वनको सीमान्तसे घेरकर मध्य भागकी ओर बढ़ने लगी। गगनचुम्बी लपटें

और अपार धूम्रराशि। सम्पूर्ण वन प्राणियोंके कोलाहल-चीत्कार तथा वृक्षों, क्षुपोंके जलने-चटखनेकी ध्वनिसे पूर्ण होगया। गुफाओंमें, बिलोंमें रहनेवाले प्राणी भी चीत्कार करते इधर उधर प्राण बचानेको भागने और चिल्लाने लगे।

इतनी प्रचण्ड अग्नि कि देवता भी सशंकित होउठे—'अभी प्रलयका समय आगया क्या? क्या सभी सृष्टि आज ही भस्म हो जायगी?'

अग्निदेवने अपना प्रचण्ड स्वरूप पूर्णतः प्रकट कर दिया था। वे इन्द्रके प्रयत्नसे पूर्व अधिकतम वन-भाग उदरस्थ कर लेना चाहते थे। उनकी लपटें अमरावतीको चुनौती देती उठ रही थीं। इन्द्रने इस चुनौतीको स्वीकार किया। उनके सभी मेघ एक साथ खाण्डव वनके गगनमें घिर आये। स्वयं देवराज ऐरावतपर बैठे गगनमें आगये और उन्होंने वज्र उठाया। मेघोंसे मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ होगयी।

इन्द्रका प्रयत्न व्यर्थ था। उनके प्रयत्नका एक उलटा परिणाम हुआ कि खाण्डव वनके पक्षियोंके भी उड़कर भागनेका मार्ग अवरुद्ध होगया। अर्जुनने ऐसी वाणवृष्टि की जिससे सम्पूर्ण खाण्डवके ऊपर शरोंका पूरा जाल तन गया। ऐसा जाल कि उसमें-से एक बूंद जल नीचे नहीं आ पाता था। अग्नि ज्वालासे संतप्त उन शरोंपर वर्षाका जल पड़ते ही वाष्प बनकर पुनः मेघोंके रूपमें परिवर्तित होजाता था।

नन्दिघोष रथ अन्धड़के समान वनके चारों ओर घूम रहा था। जो प्राणी वनकी ज्वालासे घबड़ाकर भागनेका भी प्रयत्न करते थे, वे पार्थके वाणसे बिद्ध होकर अथवा श्रीकृष्णके चक्रसे कटकर अग्निकी आहुत बन जाते थे।

वनमें एक सरोवरके समीप शार्ङ्ग पक्षीके जोड़ेने दो अंडे दे रखे थे और उससे नन्हे शावक निकल चुके थे। अग्निने तो प्रकट होते ही अपना प्रलयङ्कर रूप पकड़ लिया था और आकाश अर्जुनके वाणोंसे आच्छन्न था। गगन खुला भी होता तो लाभ? उड़नेवाले सब पक्षी प्रथम प्रयत्नमें ही झुलसकर गिर पड़े थे। नन्हे शावक उड़नेमें भी असमर्थ थे।

प्राणीका यह दुर्भाग्य नहीं है कि उसपर आपत्तियाँ आती हैं। विपत्ति तो भगवानका वरदान है जो पूर्वकृत पापोंको घटाती तो हैं ही .

वर्तमानको भी उज्ज्वल कर जाती हैं। अनेक दुर्बलताओंको दग्ध करो शक्ति, सहन क्षमता तथा सावधानी दे जाती हैं।

प्राणीका यह दुर्भाग्य भी नहीं है कि ऐसी विपत्तियाँ भी आती हैं जब वह सर्वथा असहाय, असमर्थ होजाता है और उसके परित्राणके सा पथ अवरुद्ध होजाते हैं। ऐसी विपत्तियाँ भी वरदान ही हैं; क्योंकि उसके अभिमानकी रीढ़ तोड़ देती हैं। उसे समझा देती हैं कि उस आश्रयके आधार कितने खोखले हैं।

प्राणीका दुर्भाग्य यह है कि विपत्ति आनेपर—दारुण विपत्ति आनेप भी उसे अनाथनाथ, अनन्त दयासिन्धु, अशरणशरण स्मरण नहीं आ और वह छटपटाता है, हारता है, मरता है; किन्तु जो सदाके उसे अपने हैं, सहायताको नित्य समुत्सुक हैं, समर्थ हैं, समीप हैं, उन्हें पुकारता नहीं। उन्हें निराश कर देता है और विपत्तिसे हार जाता है।

क्रौञ्च पक्षियोंने—उन शावकोंने भी चञ्चु खोले और उनके प्राणों पुकारा—'गरुड़वाहन! आर्तिनाशन! रक्षा करो नाथ!'

सहसा श्रीकृष्णचन्द्रने नेत्र उठाये और अग्निदेवकी ज्वालाओं सरोवर तटके उस स्थानकी ओर बढ़ना त्यागकर दिशा बदल दी। उध फिर कोई एक चिनगारी भी उड़कर नहीं गिरी। ये चारों पक्षी खाण्डवके इस महादाहमें सुरक्षित रह गये।

सुरक्षित बचनेका प्रयत्न किया नागराज तक्षकके पुत्र अश्वसेनने किन्तु अर्जुनके वाणोंके व्यूहसे निकल जानेका मार्ग उसे नहीं मिला उसकी माताने पुत्रको बचानेके लिए उसे मुखकी ओरसे निगलना प्रारम्भ किया; किन्तु पूरा निगलनेसे पूर्व ही अग्निकी ज्वालासे व्याकुल होकर भागी। अर्जुनने एक वाण मारकर उसका फण विद्ध कर दिया। इससे वह माताके शरीरसे निकल गया।

देवराज इन्द्र इसे देख रहे थे। उन्होंने प्रबलतम वायुवेग और वर्षा की बौछार की। एक क्षणको अर्जुन विचलित हो उठे। इसका लाभ उठाकर अश्वसेन निकल भागा।

सुरक्षित निकल भागनेका प्रयत्न किया दानवेन्द्र मयने भी। वे उन दिनों तलातलसे पृथ्वीपर आकर खाण्डव वनमें रहने लगे थे; क्योंकि कर्मलोक तो धरा ही है। मय भागे तो अग्निकी प्रचण्ड ज्वाला पीछे दौड़ी।

उनको भागते देखकर श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनकी ओर देखा और चक्र उठा लिया ।

दानवेन्द्र मय अमर हैं । भगवान शंकरके परमप्रिय भक्त हैं । उनका वध किया नहीं जा सकता था ; किन्तु धनञ्जय किसीको निकलकर भागने देना नहीं चाहते थे और उनका कोई दिव्यास्त्र मायावियोंके उन परमाचार्य-को रोकनेमें समर्थ नहीं था । मयके सम्मुख शस्त्र उठाकर अर्जुनको पराभव प्राप्त हो—श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें ही उनका सखा हार जाय , यह वे केशव कैसे सह सकते थे । अतः उन्होंने चक्र उठाया ।

दानवेन्द्र मयने श्रीकृष्णके करोंमें उठा चक्र देखा और मस्तक झुका लिया । वे जानते हैं कि इस चक्रका प्रतिकार तो भगवान पुरारिके पास भी नहीं है । पीछे अग्निकी ज्वाला बढ़ी आरही थी । मयने पुकारा—'वीर श्रेष्ठ अर्जुन ! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ , मेरी रक्षा कर लो !'

'डरो मत !' अर्जुनने शरणागतकी पुकार सुनी और अभय दे दिया—'इन पुरुषोत्तमके पदोंमें आश्रय लेनेवालेके लिए कहीं कोई भय नहीं है । इनके समीप आ जाओ !'

भक्तने अभय दे दिया तो भगवानके उठे चक्रकी ज्वाला स्वयं शान्त होगयी । मय नन्दिघोष रथके पृष्ठ-रक्षक बनकर चलने लगे ।

देवराज इन्द्रके साथ दूसरे देवता भी आये थे और सब प्रयत्न कर रहे थे ; किन्तु अर्जुनकी वाणवृष्टि और श्रीकृष्णचन्द्रके चक्रके सम्मुख सबके प्रयत्न व्यर्थ होरहे थे । वाणोंका वह विशाल वितान कहींसे थोड़ा भी टूट नहीं रहा था । इन्द्रने क्रोधमें आकर मन्दराचलका एक शिखर उठाकर अर्जुनके ऊपर पटक दिया ; किन्तु वह पार्थके वाणोंसे आकाशमें ही छोटे-छोटे टुकड़े बनकर बिखर गया ।

देवेन्द्रने वारुणास्त्रका प्रयोग करके वर्षा प्रबल की तो अर्जनने वाय-व्यास्त्रका प्रयोग कर दिया । रहे-सहे बादल भी छिन्न-भिन्न होकर दिशाओंमें बिखर गये ।

अत्यन्त आवेशमें आकर देवराजने अपना अमोघ वज्र उठाया—'मैं इन दोनोंको एक साथ मार दूंगा ।'

'मूर्ख ! अमोघ वज्रको सदाके लिए व्यर्थ कर देना चाहता है ?' देवगुरु वृहस्पति आगये महर्षि कश्यपके साथ और उन्होंने इन्द्रको डाँटा—

'विनतानन्दन गरुड़ने वज्रके सम्मानकी रक्षाके लिए स्वेच्छासे एक पं अपना गिरा दिया था, यह भूल गया? अब गरुड़ासनपर प्रयोग करके वज्रको नष्ट करने चला है?'

'जिस त्रिपुरने, सुरोंको संत्रस्त करके शरणहीन बना दिया था उनका निर्माता शरण! शरण! पुकारता जिनके सम्मुख विवश हुअ आनेको, उन श्रीहरिपर वज्र उठाकर सहस्राक्ष अपने तथा सुरोंके लि त्रिभुवनमें कहाँ आश्रय देखते हैं?' देवगुरुने इन्द्रकी भर्त्सना की।

महर्षि कश्यपने कहा—'इन्द्र! तुम जानते हो कि दानवेन्द्र म समस्त सुरोंके लिए दुर्जय हैं। यदि श्रीकृष्णने नेत्रसे भी संकेत कर दिय तो तुम कितने क्षण वज्र लेकर उनके सम्मुख समरमें टिकोगे? हरि औ हर दोनोंको शत्रु बनाकर तुम दानवों, असुरोंका ही हित करने जारहे हं अथवा कोई तीसरा शरणद तुम्हें कहीं दीखता है? तुम्हारा मित्र तक्ष खाण्डव वनमें नहीं है। वह इस समय कुरुक्षेत्र गया है। अतः यह युद्धक व्यर्थ प्रयत्न बन्द करो!'

इन्द्रको अपने मित्र तक्षकके ही प्राणोंकी चिन्ता थी। वे तक्षकके बचानेके लिए ही आतुर थे। तक्षक वनमें नहीं है, यह सुनकर मित्रके ओरसे निश्चिन्त होते ही उनको अपनी अज्ञताका बोध हुआ। वे अपने ही अंशसे उत्पन्न अर्जुनपर वज्रका प्रयोग करने जा रहे थे?

देवराजने ऐरावतको लौटाया। वायु और मेघ भी विदा होगये दूसरे देवता तो पहिले ही पराजित होकर भाग चुके थे। आकाश स्वच्छ नहीं हुआ; किन्तु वह केवल धूम्राच्छन्न रह गया। सम्पूर्ण खाण्डव वन धधक रहा था। अग्निदेवने भली प्रकार उसे भस्म किया। लता, तरु तृणादिका नाम नहीं रहा। सरोवरोंके जल तक सूख गये। वह वन पन्द्रह - दिनरात बराबर जलता रहा। वहाँ कोयला भी नहीं बचा। नीचे बची केवल भस्म—श्वेत भस्ममात्र। उस हिंसक प्राणियोंसे भरे, आसपासके प्रदेशके लिए आतंक स्वरूप, नाग, सर्प, राक्षसादिके आवासभूत वनमें से उन चर-अचर सब प्राणियोंको चाटकर, स्वस्थ होकर अग्निदेव श्रीकृष्ण- अर्जुनका अभिनन्दन करके अदृश्य हुए।

इन्द्रका वरदान

देव, दानव, दत्य, मानव, भूत-प्रेतादिमें केवल स्थूल शरीरका और उसके कारण शक्तिका अन्तर है। मानव शरीर पृथ्वी तत्त्व प्रधान है तो देव शरीर अग्नि तत्त्व प्रधान तथा प्रेतादिके शरीर वायु प्रधान हैं, किन्तु सबके सूक्ष्मशरीर एक जैसे हैं। अतः सबके मन-बुद्धिकी स्थिति मनुष्यों जैसी ही है। उनमें मनुष्योंके समान ही सात्विक, तामसादि व्यक्तित्व हैं और वैसे ही मनोवेग, आवेशादि होते हैं।

व्यक्ति जब आवेशमें होता है, उसकी विचारशक्ति कुण्ठित होजाती है। वह उस समय अपना हानि-लाभ भी समझ नहीं पाता। देवराज इन्द्र भी आवेशमें थे जब खाण्डव वन जल रहा था। उस समय अपने मित्र तक्षक तथा खाण्डवकी रक्षाके अतिरिक्त उन्हें दूसरा कुछ सूझता नहीं था। लेकिन जब उनका प्रयत्न व्यर्थ होगया और देवगुरु तथा उनके पिता महर्षि कश्यपने उन्हें डाँट दिया, तब स्वर्ग जाकर उनका विवेक सावधान हुआ। उन्हें लगा कि वे अपनी और सुरोंकी महती हानिपर उतर आये थे।

अर्जुन इन्द्रके पुत्र ही थे और इन्द्रको बहुत प्रिय भी थे। उसी अर्जुनसे उन्होंने विरोध कर लिया। श्रीकृष्ण जिसका समर्थन करें, उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता, यह बात शक्रकी समझमें ठीक-ठीक आगयी।

यह सब तो हुआ; किन्तु एक समस्या उठ खड़ी हुई। वह समस्या थे दानवेन्द्र मय। देवाधिप जानते थे कि मायावियोंके परमाचार्य भगवान शंकरके अनन्य आराधक हैं, अमर हैं और उमा-महेश्वरका वात्सल्य प्राप्त है उन्हें। अब वे श्रीकृष्णसे भी अमरत्व प्राप्त कर चुके हैं और उनके ही समीप हैं। सदाके सुरोंके इस अमित पराक्रम शत्रुने यदि कहीं मधुसूदन-का समर्थन प्राप्त कर लिया और तब अमरावतीपर आक्रमण किया तो सुरोंके लिए भागकर भी कहीं शरण लेनेको स्थान नहीं रहेगा।

श्रीकृष्ण और अर्जुनको रुष्ट करके कितना बड़ा अनर्थ आमन्त्रित कर लिया गया है, यह बात अब इन्द्रकी समझमें आयी। उन्हें एक ही उपाय सूझ पड़ा कि जितनी शीघ्रता सम्भव हो, उन जनार्दनको सन्तुष्ट कर लिया जाना चाहिए।

अभी खाण्डव-दाहकी भस्म शीतल भी नहीं हुई थी। अग्निदे ब्राह्मणके वेशमें प्रकट होकर श्रीकृष्ण-अर्जुनके प्रति आभार व्यक्त करके अदृश ही हुए थे कि देवताओंके साथ देवराज इन्द्र वहाँ अन्तरिक्षसे उतरे।

इन्द्र तथा सुर भी शस्त्रहीन आये थे। उनके मुखपर क्रोध या ग्लानिकी कोई रेखा नहीं थी। अर्जनके साथ श्रीकृष्णचन्द्रने उठकर उनका स्वागत किया।

देवराज बोले—'आप दोनोंने खाण्डवको अग्निकी भेंट करनेका जो कार्य किया है, वह देवताओंके लिए भी दुष्कर था। मैं आपके इस पौरुषसे प्रसन्न हूँ। आप दोनों मनुष्योंके लिए दुर्लभ जो भी वरदान चाहें मुझसे माँग लें।'

अर्जुनने इसे सुअवसर माना। उन्होंने झट कह दिया—'आप मुझे सब अस्त्र-शस्त्र प्रदान कर दें।'

इन्द्रने कहा—'अर्जुन! तुम्हें देवाधिदेव महादेवको अपने तपसे सन्तुष्ट करना है। मैं जानता हूँ कि वह समय कब आवेगा। उस समय मैं तुम्हें अपने सब अस्त्र दे दूंगा। दूसरे सुरोंके अस्त्र भी तुम उसी समय प्राप्त कर लोगे।'

देवराजने श्रीद्वारिकाधीशसे कहा—'आप पूर्ण काम हैं। आपको कोई भी कुछ देनेमें असमर्थ है; किन्तु मैं चाहता हूँ कि आप भी मुझसे कोई वरदान माँगकर मेरे आगमनको सफल कर दें।'

वरदान भक्तको ही नहीं चाहिए, भगवानको भी चाहिए और वही वरदान चाहिए जो भक्तको अत्यन्त अभीष्ट होता है। भक्तको भगवानकी अखंण्ड अनपायिनी भक्ति चाहिए तो भगवानको भी भक्तकी अनुक्षण वर्धमान प्रीति उतनी ही प्रिय है। श्रीकृष्णचन्द्रने वरदान माँगा—'देवेन्द्र! आप मुझे यह वरदान दें कि मेरी और अर्जुनकी मित्रता कभी शिथिल न हो। वह क्षण क्षण बढ़ती रहे।'

'एवमस्तु' कहकर सुप्रसन्न इन्द्र सुरोंके साथ विदा हुए। ऐसे वरदानका एक अर्थ है जिस विषयका अधिदेवता है, उस विषयमें ही वरदान सहायक होगा। जैसे इन्द्र कर्मके—हाथके देवता हैं तो कर्ममात्र अर्जुन-श्रीकृष्णकी मैत्रीके सदा सानुकूल होंगे।

मयका सभा निर्माण

'धन्य हो आप धनञ्जय !' दानवेन्द्र मयने हाथ जोड़कर अर्जुनसे कहा—'आपके इन सखाका चक्र तो मुझे मार ही देता यदि रक्षा न की होती। मैं भले अमरत्वका वरदान प्राप्त होऊँ, इनके अस्त्र और संकल्पके सम्मुख तो कोई शक्ति टिकती नहीं। आप इतने उदार कि असुरपर भी कृपा की आपने। अब अपनी कोई सेवा बतलाकर मुझे कृतार्थ कीजिये।'

अर्जुनने कह दिया—'असुरेन्द्र ! आपने मेरी सेवाकी इच्छा प्रकट करके मुझे गौरव दिया है। मैं इससे अनुगृहीत हुआ। आपका कल्याण हो। हम दोनों आपपर प्रसन्न हैं। आप भी हमपर प्रसन्न रहें। हम आपकी मैत्रीसे सन्तुष्ट हैं। अब आप जहाँ चाहें, पधारें।'

मयने अत्यधिक विनम्र होकर कहा—'कौन्तेय ! आप जैसे श्रेष्ठ पुरुषके उपयुक्त ही आपके वचन हैं; किन्तु मैं दानव विश्वकर्मा हूँ। सन्देह ही है कि सुरोंका विश्वकर्मा शिल्पमें मेरी समता कर सकता है। मैं प्रेमसे आपकी सेवा करना चाहता हूँ। मेरी सेवा स्वीकार कर लो।'

अर्जुन असमंजसमें पड़ गये। एक क्षण सोचकर बोले—'दानवेन्द्र ! आप समझते हैं कि मैंने प्राण-संकटसे आपकी रक्षा की है, ऐसी अवस्थामें मैं आपकी कोई सेवा कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। उपकृतसे सेवा लेना तो अनुचित है; किन्तु आपको निराश करना भी उचित नहीं है। अत: आप इन भगवान वासुदेवकी कोई सेवा कर दें। इनकी सेवामें सबकी सेवा है और मेरी इससे वड़ी सेवा दूसरी हो नहीं सकती।'

अब मयने समीप बैठकर हाथ जोड़कर कहा—'मधुसूदन ! मैं जानता हूँ कि आपकी सेवा महामुनीन्द्रोंके लिए भी दुर्लभ है। मैं असुर साहस नहीं कर सकता था कि आपसे सेवा-प्राप्त करनेकी प्रार्थना करूँ; किन्तु आप भक्तवत्सल हैं और आपके प्रिय सखाने मुझे यह प्रार्थना करनेका अधिकार दे दिया है। अब आप मुझे अपनी कोई सेवा देकर धन्य कर दें।'

श्रीकृष्णचन्द्र सुप्रसन्न बोले—'दानवेन्द्र ! आप भगवान शशांकशेखर-के प्रियभक्त हैं और जो उन गंगाधरका प्रिय है, मुझे अतिशय प्रिय है। मैं

जानता हूँ कि आप जैसा शिल्पी त्रिभुवनमें दूसरा नहीं है। विश्वकर्मा महाराज युधिष्ठिरके लिए राजधानी तथा नगर-निर्माण कार्य किया किन्तु राजसभा नहीं बनायी। तब उसके लिए उपयुक्त स्थान ही नहीं था। अब खाण्डव वन भस्म होजानेसे इतना विस्तृत प्रदेश प्रशस्त होगया है। आप धर्मराजके लिए एक ऐसी राजसभा बना दें कि चतुरतम शिल्पी भी देखकर उसकी अनुकृति न कर सकें। वह अद्वितीय रहे। उसमें देवता दानव, दैत्यादि कलाओंका पूरा कौशल प्रकट होना चाहिए।'

दानवेन्द्रने प्रसन्न होकर कहा—'जनार्दन! आपने मुझे अनुगृहीत किया। मैं अपनी बुद्धि, शक्ति, सामर्थ्यके अनुसार सेवा करनेका पूरा प्रयत्न करूँगा।'

अब आवश्यक होगया कि महाराज युधिष्ठिरसे अनुमति ले ली जाय और दानवेन्द्र मयका उनसे परिचय करा दिया जाय। अतः मयको लेकर श्रीकृष्ण और अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आगये। युधिष्ठिरने दानवेन्द्रका परिचय पाकर उनका यथोचित सत्कार किया।

मयने सभा-भवनकी रूप-रेखा बनायी और उसपर धर्मराज अर्जुन तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी सम्मति प्राप्त की। स्थानके सम्बन्धमें परामर्श करते समय दानवेन्द्रने अद्भुत बात कही—'यह सभागृह विशाल होनेपर भी स्वेच्छानुसार स्थानान्तरित किया जा सकेगा।'

उसे सचमुच स्थानान्तरित करनेकी आवश्यकता होगी, इसे सर्वज्ञ श्रीकृष्णचन्द्र भले जानते हों, अवश्य ही दानवेन्द्रने भी अनुमान कर लिया होगा; क्योंकि महाभारत-युद्धके पश्चात् पाण्डवराज्यकी राजधानी इन्द्रप्रस्थसे हस्तिनापुर आयी तो राजसभा वहाँ स्थानान्तरित करनी पड़ी और पाण्डवोंके स्वर्गारोहणके पश्चात् तो उसके रक्षक राक्षस उसे कहाँ ले गये कुछ पता नहीं। द्यूत-सभामें पाण्डवोंके पराजित होकर वनमें चले जानेपर भी वह सभा कौरवोंके लिए अदृश्य ही होगयी थी। उसके रक्षक उसे कहीं अगम्य स्थानपर उठा ले गये थे।

शुभ मुहूर्तमें मङ्गल अनुष्ठान प्रारम्भ हुए। ब्राह्मणोंको भोजन कराके दक्षिणा तथा गायें दी गयीं। तब मयने सभा निर्माणके लिए दस सहस्र हाथ लम्बी और इतनी ही चौड़ी भूमि सभा-निर्माणके लिए खाण्डव दाहसे परिपूत भूमिपर चिह्नाङ्कित किया। उस समय युधिष्ठिर अपने सब

भाइयों तथा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ उपस्थित थे और ब्राह्मण स्वस्तिपाठ कर रहे थे।

सभा-निर्माणका स्थान रेखाङ्कित होजानेपर उसका शिलान्यास करके श्रीकृष्णचन्द्रने धर्मराजसे अनुमति ली। उनको इन्द्रप्रस्थ आये पूरा एक वर्ष होचुका था और यहाँ वे अर्जुनके साथ यमुना-तटपर विचरण करते सूर्यतनया कालिन्दीको प्राप्त कर चुके थे।[1] उनके साथ विधिवत विवाह द्वारिकामें करना था।

प्रस्थानके लिए सम्पूर्ण मंगलकृत्य किये गये। पाण्डवोंने बहुत अनिच्छापूर्वक श्रीद्वारिकाधीशको विदा किया। अत्यन्त अभीष्ट सुहृदोंसे पार्थक्य बहुत पीड़ा देता है; किन्तु परिस्थिति सदा साथ भी तो नहीं रहने देती। प्राणीके पास इस विवशताका कोई उपाय नहीं।

दानवेन्द्र मयने अर्जुनसे कहकर कैलास पर्वतके भी उत्तरकी ओर प्रस्थान किया। जब मैनाक पर्वत समुद्रमें चला गया शक्रके वज्रके भयसे तो वहाँ पर्वतोंके मध्य बहुत विस्तृत प्रशस्त भूमि बन गयी। वह भगवान शंकरके आराधकोंकी आराधना भूमि बन गयी और नारायण, ब्रह्माजी, यमराज, स्वयं भगवान भव तथा श्रीकृष्णकी भी वह यज्ञ भूमि है। जब एक सहस्र चतुर्युग बीत जाते हैं तो ब्रह्माजीके दिनकी सन्ध्याकालमें ये लोग वहाँ यज्ञ करते हैं। दैत्यराज वृषपर्वाने यज्ञ किया था कभी वहाँ और उसकी सामग्री तथा यज्ञ मण्डप मयने ही निर्मित किया था उस समय। वहाँसे युधिष्ठिरकी राजसभा निर्माणके उपयुक्त सामग्री मयको ले आनी थी।[2]

मय वहाँसे एक अद्भुत मणिमय पात्र ले आये। यह युधिष्ठिरकी राजसभामें रखा रहता था। एक रत्न-जटित भारी गदा लाकर उन्होंने

---

१. इनकी प्राप्ति कथा 'श्रीद्वारिकाधीश' में गयी है।

२. यज्ञ सम्पूर्ण होजानेपर जो कुछ बचता है, वह रुद्रका भाग होता है। अतः यज्ञ मंडप, वहाँ प्रयुक्त पात्रादि तथा सब सामग्री वहीं छोड़ दी जाती थी। उसे यजमान अथवा दूसरे भी उस समय नहीं ले जाते थे।

भीमसेनको दी। उस गदाकी तुलना नहीं थी। अर्जुनके लिए देवदत्त नामक शङ्ख मय वहाँसे ले आये तथा सभा-निर्माणके उपयुक्त सामग्री लाये।

मयने जो राजसभा निर्मित की वह त्रिभुवनमें अद्वितीय थी। उसमें स्वर्णिम वृक्ष-लताएँ लहराती थीं। उसकी मणिभूमि ऐसी जान पड़ती थी जैसे तरंगायमान जलराशि हो और सभाके मध्य जो सरोवर था, उसके चारों ओरके वृक्षोंकी छाया उसमें प्रतिबिम्बित होनेसे वह उत्तम आस्तरणसे आच्छादित भूमि जान पड़ता था।

उस सभा-भवनमें द्वार पहिचानना भी कठिन था; क्योंकि भित्तियाँ द्वार जान पड़ती थीं पारदर्शी होनेके कारण और जहाँ द्वार थे, वहाँ उनके पीछेकी भित्ति ऐसी दीखती थी कि वही भित्ति वहाँ है।

किसी भी देव सभासे वह कहीं अधिक भव्य थी। छोटी-छोटी जल-पुष्पोंसे सुशोभित वापियाँ, पुष्पोद्यान, उच्च सघन सुन्दर वृक्षावली और हंस, सारस, कोकिल, मयूरोंसे मण्डित उद्यान—दानवेन्द्र मयने उस मणिमय सोपान सुशोभित सभाका बहिर्भाग भी भली प्रकार सजाया था।

अच्छे बुद्धिमान व्यक्ति भी उस सभामें भ्रममें पड़ जाते थे जल-स्थल तथा द्वार-भित्तिका निर्णय करनेमें। यह दानवेन्द्र मयकी अपनी कलाका वैशिष्टच था और उनका दानव-स्वभाव इस कुतूहलसे सन्तुष्ट होता था। किसीको कष्ट भले हो, उसकी निर्णय-शक्ति कुण्ठित होकर थकित हो जाय, वह भित्तिसे टकरा उठे या सरोवरमें गिरकर भीग जाय, इसमें आनन्द मनाने जितनी दानवता परम शैव दानवेन्द्रमें शेष थी तो इसे दोष कहनेका साहस किसीमें नहीं था। यह कौतुक वृत्ति दानवेन्द्रकी कलाका भूषण ही मानी गयी।

आठ सहस्र किंकर नायक राक्षस मयने उस सभाकी देखभाल और रक्षाके लिए नियुक्त किये। जितनी मूल्यवान और कलापूर्ण वस्तु हो, उतनी अधिक सुरक्षा, स्वच्छता तथा सम्हालकी उसे अपेक्षा होती है। मयने उस अद्‌भुत मणिमय सभाके लिए इतने रक्षक, स्वच्छकर्ता रखे, यह उचित ही था। वह आवश्यक होनेपर उसे स्थानान्तरित भी कर सकते थे।

शुभ मूहूर्त आनेपर युधिष्ठिरने सहस्रों ब्राह्मणोंका पूजन करके उन्हें भोजन कराया। उन्हें भली प्रकार दान-दक्षिणासे सन्तुष्ट किया। इसके

पश्चात् पुण्याह पाठ होने लगा, वाद्य बजने लगे। कलाकार अपनी कलाओंका प्रदर्शन करने लगे।

महर्षि असित, देवल, वेदव्यास, जैमिनी, याज्ञवल्क्यादिको आगे करके भाइयोंके साथ युधिष्ठिरने उस सभामें प्रवेश किया। अनेक देशोंके नरेश उस समय धर्मराजको अपने उपहार अर्पित करने उपस्थित हुए। अर्जुनसे अस्त्र विद्या प्राप्त करनेवाले यादव कुमार सात्यकि, प्रद्युम्न, साम्ब आदि भी उस समय वहाँ उपस्थित थे।



राजसूय यज्ञका प्रस्ताव

देवर्षि नारदके द्वारा युधिष्ठिरको अपने स्वर्गीय पिताका सन्देश प्राप्त हुआ कि वे राजसूय यज्ञ करें। स्वर्गमें महाराज हरिश्चन्द्रका सम्मान तथा ऐश्वर्य देखकर पाण्डु चकित होगये और उस भोगलोकका ऐश्वर्य तो धराके पुण्य कर्मोंका प्रतिफल होता है। हरिश्चन्द्रने पृथ्वीपर राजसूय यज्ञ करके वह स्वर्गीय सम्मान अर्जित किया है, यह जानकर महाराज पाण्डुके मनमें भी स्पृहा जागी थी। उन्होंने कहलाया था—'युधिष्ठिर! तुम मेरे पुत्र हो। तुम राजसूय करोगे तो तुम्हें तो यहाँ आनेपर वह अद्भुत सम्मान मिलेगा ही, तुम्हारा पिता होनेके कारण मैं तत्काल यहाँ प्रतिष्ठा प्राप्त कर लूँगा। तुम्हारे भाई समर्थ हैं तथा तुम्हारे वशवर्ती हैं, अतः सम्पूर्ण पृथ्वी जीतकर तुम मेरे लिए राजसूय यज्ञ करके सम्राट पद प्राप्त करो।'*

पिताका सन्देश प्राप्त करके युधिष्ठिरके मनमें कामना तो नहीं जागी; किन्तु कर्तव्यकी प्रेरणा हुई कि उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। उन्होंने पहिला कार्य किया कि 'अपने राज्यमें जितने भी ऋण-ग्रस्त लोग हैं,

---

* मय द्वारा राजसभाके निर्माण तथा राजसूय यज्ञमें समयका पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तरमें अर्जुन बारह वर्ष निर्वासित जीवन व्यतीत कर चुके थे और सुभद्राके साथ विवाह कर चुके थे।

उनका ऋण राज्यकी ओरसे दे दिया जाय। किसीने किसी भी उचित या अनुचित हेतुसे ऋण लिया हो, उसपर कोई कर्मचारी रोष व्यक्त न करे और न ऋण देनेके कारण अभिमान प्रकट करे।'*

इस महानतम कार्यके कारण महाराज युधिष्ठिर अतिशय लोकप्रिय होगये। सर्वत्र उनकी प्रशंसा होने लगी। भीमसेन प्रजाकी रक्षाके लिए, अर्जुन शत्रु-संहारके लिए, सहदेव शासन संचालनके लिए और स्वभावसे विनम्र नकुल स्वागत-सत्कारके लिए नियुक्त कर दिये गये थे। फलत: यज्ञशक्ति, कृषि, गोपालन तथा व्यापार अपनी चरमोन्नतिको प्राप्त होगया। रोग, अग्नि तथा ठग, लुटेरे एवं धृष्ट राजकर्मचारियोंका आतंक उन्मूलित होगया। प्रजामें किसी भी प्रकारका असत्य या कपट व्यवहार असम्भव होगया। प्रजा समृद्ध होगयी। दूसरे राज्योंके समृद्ध व्यापारी स्वेच्छापूर्वक धर्मराजको सेवा, कर-दान ही नहीं सन्धि-विग्रह जैसे महत्वपूर्ण कार्योंमें सहयोग देने लगे। इसके परिणाम स्वरूप समीपकी प्रजाको उत्पीड़ित करनेवाले नरेशोंका उच्छेद ही होगया। अत्यल्प प्रयाससे उनका राज्य धर्मराजके राज्यका अंग बन गया।

यह सब हुआ; किन्तु राजसूय यज्ञके लिए तो यह पर्याप्त नहीं था। सम्पूर्ण पृथ्वीका सम्राट वह हो सकता था, जो सभी राजाओंको प्रेम या बलसे इसके लिए प्रस्तुत कर सके। युधिष्ठिरने पहिले अपने भाइयों तथा मन्त्रियोंसे विचार किया। फिर कुल पुरोहित महर्षि धौम्य एवं भगवान वेदव्याससे सम्मति ली। सब इस विषयमें एक मत थे कि युधिष्ठिर राज-सूय करनेमें समर्थ हैं।

युधिष्ठिरने सबकी सम्मति सुन ली तब द्वारिका दूत भेजा। उनका अपना मत था—'मेरे एक मात्र आधार श्रीकृष्णचन्द्र हैं। वे सर्वेश्वर जिसे जो बनाना चाहें, सहज बना दे सकते हैं। उनकी इच्छाकी पूर्तिमें ही प्राणीका मंगल है। वे क्या चाहते हैं, यह जाने बिना कोई प्रयत्न मैं नहीं करूँगा और राजसूय यज्ञ भले पाण्डवोंको माध्यम बनाकर वे सम्पन्न

---

* कोई अपने नामसे नवीन संवत्सर चलाना चाहे तो नियम ही यह था कि वह राज्यके सम्पूर्ण लोगोंका ऋण चुका दे। युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञसे सम्राट-पद प्राप्तिके दिनसे इसीलिए उनके नामका संवत्सर चला।

करा दें, इसके द्वारा अर्चा तो हमें उनकी ही करनी है, अतः वे क्या चाहते हैं, यह जानना पहिले आवश्यक है।'

धर्मराजका दूत द्वारिका पहुँचा तो श्रीद्वारिकाधीश सपरिवार इन्द्रप्रस्थकी यात्राके लिए प्रस्तुत होचुके थे। देवर्षि नारदने युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञ करनेकी कामना यहाँ पहिले ही प्रकट कर दी थी और उद्धवकी सम्मतिके अनुसार यादव-राजसभामें इस महत्कर्ममें पाण्डवोंका समर्थन करनेका प्रस्ताव पास होचुका था।*

धर्मराजके दूत इन्द्रसेनको कुछ कहना नहीं पड़ा। उसके साथ सन्देश भी तो इतना ही था कि युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन करना चाहते हैं। इस बार श्रीद्वारिकानाथने बड़े भाई तथा अपनी पत्नियों, पुत्रों आदिके साथ इन्द्रप्रस्थकी यात्रा की।

श्रीकृष्णचन्द्रके आगमनका समाचार तो इन्द्रप्रस्थके लिए—वहाँ सबके लिए ही अपने अत्यन्त स्नेही स्वजनके चिर-प्रवासके पश्चात् लौटनेके समाचारके समान था। जो भी जा सकते थे, सम्राट्से अन्त्यज तक सब स्वागतके लिए नगरसे बाहर दूर तक दौड़े गये। नगरकी नारियोंने दधि, कुंकुम, केशर, अक्षत, लाजा, पुष्पकी वर्षाके साथ उन भुवन-सुन्दरका स्वागत अपने छज्जोंपर-से किया।

श्रीबलराम-श्रीकृष्णने युधिष्ठिरकी वन्दना की और उनके सभी भाइयोंसे यथोचित रीतिसे मिले। बुआ कुन्तीको दोनों भाइयों, उनके पुत्रों तथा रानियोंने प्रणाम किया। द्रौपदी और सुभद्रा भाइयोंसे मिलकर द्वारिकाधीशकी रानियोंके सत्कारमें लग गयीं।

देवी कुन्तीने कहा—'यह इतना विशाल राजभवन तुमने क्यों बनवाया, यह मैं समझ ही नहीं पाती थी। आज यह ठीक सुशोभित हुआ और सफल हुआ।

कोई अनुभव नहीं करता था कि वह अतिथि हैं अथवा आतिथेय हैं। इन्द्रप्रस्थ तथा द्वारिकाके लोग जैसे एक परिवारके हों और सदा साथ ही रहते हों। अवश्य ही अन्तःपुरकी व्यवस्थाका संचालन महारानी द्रौपदी करती थीं और उन्होंने अपने सौहार्द्रसे, स्नेहसे श्रीकृष्णकी महारानियोंको

* इसका विस्तृत वर्णन 'श्रीद्वारिकाधीश' में आचुका है।

सखी बना लिया था। उनकी प्रबन्ध-पटुताका, विनम्रताका कोई
उदाहरण देना सम्भव नहीं है। वे हँसकर कह देती थीं—'तुम सब
भाभी तो मेरी छोटी बहिन सुभद्रा कहेगी। मैं तो तुम्हारे द्वारिकाधीश
सखि हूँ। अतः तुमसे सेवा लेनेवाली हूँ।'

महारानियाँ क्या कहें—'तुम कोई सेवाका अवसर भी तो दो!'

आनन्द जसे नवीन-नवीन रूप धारण करके इन्द्रप्रस्थके राजभवन
क्षण क्षण तरंगायमान होने लगा।

राजसभामें उठाने योग्य चर्चा नहीं थी। श्रीकृष्णचन्द्रके सम
धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा कुलपुरोहितके साथ अन्तरंग सभागृह
बैठे थे। वहीं उन्होंने प्रणाम करके कहा—'भगवन्! देवर्षिने सन्देश दि
है कि स्वर्गस्थ पिता मेरे द्वारा राजसूय सम्पन्न हुआ देखना चाहते है
मैं भी यह यज्ञ करना चाहता हूँ; किन्तु केवल चाहने मात्रसे तो य
महानतम कार्य हो नहीं सकता। देवर्षिने चेतावनी भी दी है कि अ
तथा विघ्नोंके अधिदेवता ऐसे कार्यमें बाधा देनेके अवसरकी प्रतीक्षामें
रहते हैं। राजसूय यज्ञ अनेक बार महान-क्षत्रिय-विनाशका हेतु भी हो
है। अतः आप सर्वज्ञ, सर्वसमर्थकी सम्मति चाहिए मुझे। मेरे लिए
आपके श्रीचरण ही एकमात्र आश्रय हैं।'

श्रीकृष्णचन्द्र गम्भीर होगये। भूभार-हरण तो उनके अवतार
मुख्य प्रयोजन ही था, अतः विघ्न तथा क्षत्रिय-विनाशकी बातकी ओ
उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। विघ्नोंको वर्जित करनेके लिए उनक
स्मरण ही पर्याप्त होता है, इस यज्ञमें तो वे स्वयं उपस्थित रहनेवाले थे
उन्होंने युधिष्ठिरके सम्मुख केवल एक प्रश्न उपस्थित किया।

'आपमें सभी सद्गुण हैं। आपके भाई लोकपालोंके अंशसे उत्पन्न
हैं और जो मेरे अवलम्बपर स्थित हैं, उनको देवता भी पराभव नहीं
सकते, मानव नरेशोंकी चिन्ता क्या। विघ्नेश आपपर प्रसन्न हैं आपके
आराधनासे। मैं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ। अतः कोई विघ्न-बाधा छाय
डालनेका भी साहस नहीं करेगी। आप राजसूय यज्ञ करनेके उचि
अधिकारी हैं और उसे करनेमें समर्थ हैं; किन्तु मगधराज जरासन्धके
सम्बन्धमें पहिले विचार किया जाना चाहिए।

'जरासन्धने अपने पराक्रमसे प्रायः समस्त राजाओंको पराजित कर
दिया है और बहुतोंको तो उसने बन्दी बना रखा है। इस समय वही सबसे

प्रबल है। शिशुपाल उसे पिता मानता है और उसका सेनापति है। करुषाधिप मायायुद्ध कुशल दन्तवक्र शिष्यके समान उसकी सेवा करता है। आपके पिताके मित्र भगदत्त भी उसके संकेतके अनुसार अपने राज्यका शासन करते हैं।

'मुर, नरकासुर, पौण्ड्रक तथा अन्य दूसरे नरेशोंने भी जरासन्ध-का आश्रय ले रखा है। औरोंकी बात जाने दें, मेरे सगे श्वसुर भीष्मकजी जो धराके चतुर्थांशके स्वामी हैं, देवराज इन्द्रके सखा हैं, अपने पराक्रमसे जिन्होंने पाण्ड्य, क्रथ, कैशिक देशोंपर विजय प्राप्त की थी, जिनके भाई भगवान परशुरामके समान बलवान हैं, वे दक्षिणापथ विजयी भी जरासन्धके ही वशमें हैं। उसीसे मैत्री रखते हैं।

'जरासन्धके भयसे उत्तर देशोंके बहुतसे नरेश अपना राज्य त्यागकर भाग गये हैं। इनमें अठारह अधिपति तो भोज परिवारके ही हैं। दक्षिण पांचाल, पूर्व कौसल आदि अनेक प्रदेशोंके शासकोंने भी यही मार्ग अपनाया; क्योंकि युद्धमें सामना करनेवाले छियासी राजाओंको लाकर वह गिरिव्रजमें बन्दी बना चुका है। सुना है कि बन्दी राजाओंकी संख्या सौ होजानेपर उनकी बलि देकर वह नरमेध यज्ञ करनेवाला है। इन नरेशोंको जो भी मुक्त करके जीवन-दान देगा, उसे बहुत बड़ा यश प्राप्त होगा और वह सरलतासे सम्राट पद पा सकेगा।

कंसने असुरोंसे मित्रता कर ली थी और यदुवंशियोंका शत्रु होगया था, अतः मुझे उसे मारना पड़ा; किन्तु कंस जरासन्धका समबल प्रति-द्वन्द्वी था। जरासन्धने अपनी पुत्रियोंका विवाह करके कंसको जामाता बना लिया था। कंस जरासन्धके शक्ति-विस्तारपर अंकुश था। उसके मारे जानेसे अब मगधराजका बल बहुत बढ़ गया है।

'आप जानते ही हैं कि जरासन्धने मथुरापर अठारह बार आक्रमण किया है। उसका सैन्यबल इतना बढ़ गया था कि हम दोनों भाई बहुत अधिक वर्ष निरन्तर संहारमें लगे रहते तो भी वह समाप्त नहीं होती। इससे विवश होकर मुझे समुद्रमें शरण लेनी पड़ी।

'इस समय सबसे पहिली आवश्यकता है कि जरासन्धके बन्दीगृहमें पड़े उन छियासी मृत्युके दिन गिननेको विवश राजाओंकी रक्षा की जाय। राजसूय यज्ञके लिए दिग्विजय आवश्यक है और उसका यह प्रथम चरण होना चाहिए।'

शरणागतवत्सल अनन्त करुणासागरको बन्दी नरेशोंकी विस्मृ
सम्भव नहीं थी। वे इन्द्रप्रस्थ भी आये थे तो उनकी मुक्तिका विधान क
ही और उसी कार्यको उन्होंने प्राथमिकता दी। लेकिन युधिष्ठिर इ
विवरणसे विचलित होउठे। उन्होंने कहा—'भगवन्! जरासन्धसे मु
भी शंका है। मैं नहीं जानता कि आप, श्रीबलरामजी, भीमसेन अथ
अर्जुनमें-से कोई उसे मार सकता है या नहीं। अतः आप ही बतलावें
किया क्या जाना चाहिए।'

भीमसेनने सोत्साह कहा—'श्रीकृष्णचन्द्रमें नीति है, मुझमें बल है
अर्जुनमें कौशल है। अतः हम तीनों मिलकर जरासन्ध वधका काम पू
कर लेंगे। आप हमें अनुमति दें।'

यह प्रस्ताव आवेगा, इसकी सम्भावना युधिष्ठिरको नहीं थी
उन्होंने तत्काल इसे अस्वीकार कर दिया—'भाई! भीमसेन तुम अ
अर्जुन मेरे दोनों नेत्र हो और ये वासुदेव मेरे हृदय हैं। मैं अपने नेत्रों अ
हृदयको खोकर जीवन धारणको उत्सुक नहीं हूँ। मैंने सोच लिया कि
यज्ञका संकल्प छोड़ देना चाहिए। मुझे तो अब इसके संकल्पसे ही
लगती है।'

बड़े भाईकी यह कातरता धनंजयसे सही नहीं गयी। वे सम्मु
आये और भूमिमें मस्तक रखकर प्रणाम करके बोले—'आर्य! अस्
शस्त्र, पराक्रम, सहायक, भूमि, सुयश, सेना और सम्पत्ति ब
कठिनतासे किसीको एक साथ मिलती हैं। यह सब हम लोगोंको प्रा
हैं। राजसूय यज्ञ तो निमित्त बनेगा, जरासन्ध-वध तथा बन्दी नरेशों
मुक्तिका। इस निमित्तसे उन्हें प्राणदान हम दे सकें, इससे बड़ा धर्म हम
लिए क्या होगा।'

श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'राजन! सबको ही कभी न कभी मर
है। अमर तो कोई है नहीं। अतः दूसरोंको जीवनदान देनेके कार्यमें ह
क्यों हिचकें? यह तो ऐसा कार्य है कि इसमें सफलता महान वि
दिलावेगी और विफल भी होगये तो पारलौकिक कल्याण सुनिश्चित हो
है। अतः आप प्रसन्न मनसे हमें आज्ञा दें। जरासन्ध मानधनी है
ललकारने पर वह हममें-से किसीसे भी द्वन्द्वयुद्ध करनेको प्रस्तुत होजायगा
उसे पराजित करनेका यही उपाय है।

धर्मराज युधिष्ठिरके नेत्र भर आये। वे बोले—'जनार्दन ! आपका यह भक्तवात्सल्य है कि आप मुझसे अनुमति माँगते हैं; अन्यथा आप सर्वेश्वरेश्वरको आज्ञा कौन दे सकता है। हम तो आपके सेवक, आज्ञानुवर्ती आश्रित हैं। आपकी इच्छाको, आपके संकल्पको अन्यथा कौन कर सकता है। मैं तो समझता हूँ कि उन बन्दी नरेशोंके कातर प्राण आपको पुकार रहे हैं और जरासन्ध अब जीवित भी मृतकके समान है। आपके आश्रितोंको अवरुद्ध करके वह कितने समय जीवित रह सकता है। अतः आपकी जो इच्छा हो, आप वैसा करें। अर्जुन, भीमसेन तो आपका आदेश पालन करेंगे ही, मुझे भी आप जो आज्ञा देंगे, मैं उसको स्वीकार करूँगा।'

गिरिव्रज-गमन

'जरासन्ध इतना दुर्जय क्यों है?' धर्मराजने पूछा—'आप अच्युत भी उसकी उपेक्षा क्यों करते रहे? आपका विरोध करनेके कारण तो उसे ध्वस्त होजाना चाहिए था।'

युधिष्ठिरकी आशंका उचित थी। जहाँ उनके अत्यन्त प्रिय दो भाई और प्राणके समान श्रीकृष्ण जारहे थे, उस शत्रुकी शक्तिका कारण समझना आवश्यक था। श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें जरासन्धकी जन्म-कथा सुनायी।

'मगधके नरेश थे वृहद्रथ। तीन अक्षौहिणी सेना थी उनके समीप। बलवान, रूपवान, ब्राह्मण भक्त थे। याज्ञिक थे, किन्तु उनकी दो पत्नियोंमें किसीके भी सन्तान नहीं थी। काशिराजकी इन दोनों पुत्रियोंपर उनका समान प्रेम था। पुत्रेष्टि यज्ञ करनेपर भी उनके पुत्र नहीं हुआ।

गौतम कक्षीवान्के पुत्र महात्मा चणुकौशिकके राजधानीके समीप पधारनेका समाचार मिला तो वृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियोंके साथ उनके

दर्शन करने गये। उनको भेंट देकर सन्तुष्ट किया। वे महात्मा आम्रवृक्ष नीचे बैठे थे। एक पका फल उनकी गोदमें उसी समय गिरा, जब राजा उनसे पुत्र-प्राप्तिकी प्रार्थना की। महात्माने वह फल राजाको दे दिया- 'इसे खाकर तुम्हारी रानी उत्तम पुत्रको जन्म देगी।'

वृहद्रथ सन्तुष्ट होकर लौट आये। उस फलको चीरकर दो भा किये और दोनों रानियोंको एक-एक भाग दे दिया। फलतः रानि गर्भवती हुईं; किन्तु उनके गर्भसे शिशुके आधे-आधे अंग उत्पन्न हुए सिरसे पैर तक प्रत्येक खण्डमें आधा ही बना था। जैसे मस्तकके मध्य उसे फाड़ दिया गया हो।

उन अंगोंको कोई क्या करता। रानियोंको प्रसवमें सहायता कर वाली धात्रीने उन्हें उठाया और राजभवनका जहाँ कूड़ा डाला जाता था उसपर डाल दिया।

वृहद्रथ याज्ञिक थे। उनके यज्ञोंमें सात्विकता होती तो बात दूसर थी, किन्तु सकाम राजसयज्ञ वे प्रायः करते थे और उनमें पशु-बलि होत थी। बलि पशुके अंगोंकी अंतड़ियाँ, अस्थियाँ आदि उस कूड़ेके ढेरप डाली जाती थीं। इस कारण एक जरा नामकी राक्षसीने वहाँ अपना अड्ड बना लिया था। उस मेद-माँस भक्षिणी राक्षसीने उस शिशुके दोनों खण उठाये और ले जानेकी सुविधाकी दृष्टिसे उन्हें परस्पर सटाया। वे दोन अंग सटाते ही जुड़ गये और शिशु जीवित होगया। वह अपने हाथकी मुट्ठ मुखमें डालकर रोने लगा।

राक्षसी चकित रह गयी। वह नवजात शिशु इतना कठोर शरी और भारी था कि जरा भी एक बार उसे उठा न सकी। राक्षसीके हृदय दया उमड़ी। उसने सोचा—'मैं इस राजाके यहाँ इतने कालसे रहती हूँ। मुझे इसने कभी सताया अथवा भगाया नहीं। यहाँ आहार देकर मेरा सत्कार होता रहा। मैं इसके इस एकमात्र पुत्रको नष्ट नहीं करूँगी। यह इससे पुत्रवान् बने।'

मानव नारीका रूप बनाकर राक्षसीने बालकको गोदमें उठाया और राजाके पास जाकर बोली—'राजन्! आप अपना यह पुत्र लें।'

राजाको रानियोंके गर्भसे टुकड़े उत्पन्न होनेका समाचार मिल चुका था। वे बहुत उदास थे। जीवित पुत्रको देखते ही प्रसन्नतासे उठकर

उन्होंने जराको प्रणाम करके पूछा—'दयामयी देवि ! आप कौन हैं ? आप अवश्य देवलोकसे ही मुझपर कृपा करने पधारी होंगी ।'

'राजन् ! मैं राक्षसी हूँ । मेरा नाम जरा है । आपके राजसदनमें ही रहती हूँ और अनजानमें ही आपने मेरा सदा सत्कार किया है ।' राक्षसीने अपना परिचय देकर उस बालकके जीवित होनेकी घटना सुना दी—'मैं पूरा पर्वत निगलकर पचा जा सकती हूँ, यह शिशु तो किस गणनामें था ; किन्तु आपपर मुझे दया आगयी । इतने दिनों आपके यहाँ सत्कारपूर्वक रही , अतः इसे देकर आपको सन्तानवान बनाने आयी हूँ । आपका मंगल हो ।'

राक्षसी बालकको छोड़कर अदृश्य होगयी । रानियाँ सुनते ही आ-गयीं । उनके वक्षसे वात्सल्यके कारण दूध टपकने लगा । उन्होंने शिशुको गोदमें उठा लिया । वृहद्रथने उस राक्षसी जराके द्वारा सन्धित किये जानेके कारण पुत्रका नाम जरासन्ध रखा । राक्षसीके सम्मानमें महोत्सव किया और उसके निमित्त नियमित बलि देनेकी व्यवस्था कर दी ।

जिनके वरदानसे वह पुत्र हुआ था , वे महात्मा चण्डकौशिक भी पधारे । उन्होंने वृहद्रथसे कहा—'राजन् ! यह तुम्हारा पुत्र अत्यन्त पराक्रमी , बलवान , तेजस्वी होगा । इससे संग्राममें शत्रु स्वतः पराजित होजायँगे । इसकी आज्ञा सबपर चलेगी । देवताओंके अस्त्र-शस्त्र भी इसे आहत नहीं कर सकेंगे । इसकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् शिव इसे दर्शन देंगे ।

महात्मा चण्डकौशिकके वरदानसे जरासन्ध दुर्जय होगया । बड़े होनेपर तप करके इसने शंकरजीको सन्तुष्ट कर लिया । उन पिनाकपाणिने भी इसे अस्त्र-शस्त्रसे न मरनेका आशीर्वाद दे दिया ।

इसके प्रबल सहायक और मित्र हंस तथा डिम्भक थे । वे भी शंकरजीके वरदानसे अजेयप्राय थे । उन्हें मैंने मार दिया है । * इसका दिग्विजयी जामाता कंस तथा दूसरे भी बहुतसे सहायक मारे जाचुके हैं । अब द्वन्द्वयुद्धमें इसे मेरी सन्निधिमें भीमसेन अवश्य मार देंगे ।'

युधिष्ठिरके लिए श्रीकृष्णचन्द्रका यह आश्वासन पर्याप्त था । उन्होंने अनुमति दे दी । श्रीकृष्ण , भीमसेन तथा अर्जुन स्नातकके वेशमें

---

* इनकी कथा 'द्वारिकाधीश' में दी गयी है ।

वहाँसे चले। उन्होंने रथसे यात्रा की, किन्तु मगधकी सीमामें पहुँचनेसे पूर्व ही रथ छोड़ दिया।

तीनोंने रक्तवस्त्र धारण किये थे। पुष्पोंकी माला पहिनी थी, चन्दन लगाया था, किन्तु शरीरपर दूसरा कोई आभूषण अथवा मुकुट नहीं था। वे कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं ले गये थे। उन्हें देखकर केवल यही कहा जा सकता था कि वे स्नातक ब्राह्मण होंगे।

गिरिव्रज पर्वतोंसे घिरा दुर्गम गढ़ था। पर्वतोंकी सन्धिमें जहाँ भित्तियाँ थीं, वहाँ राजधानीका सबसे प्राचीन बुर्ज उन्होंने नष्ट कर दिया और इस प्रकार द्वारसे नगरमें न जाकर उस ध्वस्त प्राचीरके मार्गसे नगरमें प्रवेश किया।

जरासन्ध-वध

मोक्षके पथमें तो केवल अर्थ और काम ही त्याज्य नहीं होते, धर्म भी उपेक्षणीयकी ही श्रेणीमें आजाता है। त्रिवर्गका अतिक्रम करके ही पुरुष अपवर्ग पाता है, किन्तु व्यवहारमें भी जब सकाम धर्म उत्पीडक बन जाता है तो धर्मके परमप्रभुको भी उसका उपशम अभीष्ट होजाता है।

जरासन्ध धार्मिक था। ब्राह्मण भक्त था। प्रजाका न्यायपूर्वक पालन करता था। प्रजा और अपने अनुगतोंका स्नेहभाजन था। लेकिन वह दूसरे किसीको भी अपने सामने स्वतन्त्र नहीं देखना चाहता था। दूसरे नरेशोंके लिए वह कहता था—'मेरे पीछे चलो या मरो।' इस अहंकारको सृष्टि सञ्चालक बहुत दिन सहन नहीं कर सकते थे।

जब अहंकार प्रबल हो, पुरुषोत्तम उसके आवासमें सौम्य बनकर सीधे मार्गसे कैसे प्रवेश करें। वे परिखा ध्वस्त करके, प्रतिकार करने ही तो आ सकते थे। जरासन्धके यहाँ तो तबसे अपशकुन प्रारम्भ होगये थे, जबसे इन्द्रप्रस्थसे श्रीकृष्णने प्रस्थान किया था। वह अरिष्ट-शान्तिके लिए अनेक प्रकारके अनुष्ठानोंमें लगा था उन दिनों।

दुर्गपालने प्राचीन बुर्ज ध्वस्त करके तीन ब्राह्मणोंके नगरमें प्रवेशकी सूचना दे दी थी। मध्याह्न भोजनका समय होचुका था। इस अतिथि-वेलामें नगरमें प्रविष्ट वे तीनों अज्ञात विप्र क्योंकि सीधे राजसदन आरहे हैं, यह समाचार मिल चुका था--मगधराज उनकी प्रतीक्षा ही कर रहा था।

तीनों अतिथियोंका वेश उनके आचरणसे सर्वथा असंगत था। तीनों आये और उनका स्वागत करने जरासन्ध खड़ा हुआ, किन्तु तीनमें एकने भी न आशीर्वाद दिया और न ऐसा कुछ भी किया कि उनका वर्ण जाना जा सके।

'इन्हें कहीं देखा है।' जरासन्धको यह बात तत्काल लगी; किन्तु मस्तकपर बहुत बल देनेपर भी स्मृति साथ नहीं दे रही थी। 'कहाँ देखा है? कौन हैं ये?' इसी उधेड़-बुनमें वह खड़ा ही रह गया।

बिना आशीर्वाद दिये, बिना किसी भूमिकाके श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'राजन्! हम आपके यहाँ अतिथि होकर कुछ कामनासे आये हैं। सुना है कि आप उदार हैं। अतिथिकी आकांक्षा पूरी करते हैं, अतः हम जो चाहते हैं, हमें प्रदान करें। तितिक्षु पुरुषके लिए कुछ भी असह्य नहीं है। दुष्टके लिए कोई दुष्कर्म कठिन नहीं और उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते। जो समर्थ होनेपर भी इस अनित्य शरीरसे सज्जनोंके समाजमें गाया जाने वाला नित्य यश उपार्जित नहीं कर लेता, वही शोचनीय है और उसने अपने आपको ही ठगा है। हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, शिवि, बलि ही नहीं, कपोत और व्याध तक इस अनित्य शरीरके द्वारा नित्य यशको प्राप्त कर चुके हैं। आप तो महान् हैं।

स्पष्ट था कि ये असाधारण अतिथि हैं और कोई असाधारण मांग करने वाले हैं। स्वर घन गम्भीर, कलाइयोंपर प्रत्यञ्चा चढ़ानेका काला चिह्न कह रहा था कि ये ब्राह्मण नहीं हैं। जरासन्धने दो क्षण विचार किया—'होना तो इन्हें क्षत्रिय ही चाहिए। इनका तेज, निर्भयता, सुकुमारता कहती है कि ये राजपुरुष हैं। मेरे शत्रुओंमें-से ही कोई होंगे, किन्तु यहाँ ब्राह्मण वेश बनाकर आये हैं और याचना कर रहे हैं। क्या मांगेंगे? अधिकसे अधिक मेरा मस्तक मांग सकते हैं। मुझसे संग्राममें

जय पाना असम्भव देखकर मेरी मृत्यु माँगने आये हैं। तब ? मैं इतना कापुरुष तो नहीं हूँ कि घर आये अतिथिको निराश कर दूँ।'

अहंकारने जरासन्धको उकसाया—'दैत्यराज बलिने घर आनेपर जान-बूझकर अपने शत्रु विष्णुको अपने आचार्यके मना करनेपर भी सम्पूर्ण पृथ्वी दान कर दी, इसीसे तो उनका यश अमर है, अन्यथा उन्हें कौन जानता ? शरीर तो कभी मरेगा ही, अतः इसके द्वारा महान यश क्यों न उपार्जित किया जाय। ब्राह्मणोंके लिए ही क्षत्रियका जीवन न लगे तो फिर उसका प्रयोजन भी क्या।'

स्थिर गम्भीर स्वरसे मगधराजने कहा—'आप ब्राह्मण अतिथि पधारे हैं, अतः जो माँगना हो संकोचहीन होकर माँगें। मैं आप लोगोंको अपना मस्तक भी दे सकता हूँ; किन्तु कृपा करके यह बतला दें कि आप कौन हैं ? आप लोगोंके वेश और व्यवहारसे मैं कोई संगति नहीं देखता। आपका वेश तो स्नातक ब्राह्मणोंका है; किन्तु आप तीनोंने चन्दन-अंगराग लगाया है, पुष्पमाल्य धारण किया है। केवल सभामें जाते समय स्नातक चन्दन एवं माला धारण करते हैं, यह मैं जानता हूँ। आप तीनों नगरमें द्वारसे न आकर परिखा ध्वस्त करके क्यों आये ?'

'हम स्नातक ब्राह्मण हैं, यह तो आपको समझ है, अन्यथा क्षत्रिय और वैश्य भी स्नातक वेश धारण करते हैं। पुष्पमाल्य तथा अंगराग धारण श्रीमानोंका काम है।' श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'हम क्षत्रिय हैं, इसलिए हमें धन या आहार नहीं चाहिए। हम आपसे द्वन्द्व-युद्ध माँगते हैं। यदि आपमें साहस हो तो इसे स्वीकार करें। मित्रके घरमें द्वारसे और शत्रुके घरमें बिना-द्वारके प्रवेश करना ही तो वीरनीति है।'

'मैंने आप लोगोंसे कब शत्रुता या कोई दुर्व्यवहार किया, यह सोचनेपर भी स्मरण नहीं कर पाता हूँ।' जरासन्धने हँसकर कहा—'द्वन्द्व-युद्ध चाहिए आपको तो वह मैं दे दूँगा। आप चाहें तो सेना ले लें अथवा तीनों एक साथ मिलकर मुझ अकेलेसे लड़ लें, किन्तु आप हैं कौन ? क्यों मुझ निरपराधको शत्रु मानते हैं ?'

अब परिचय दिया गया—'मैं तुम्हारा पुराना शत्रु वासुदेव हूँ और ये गाण्डीवधन्वा अर्जुन हैं तथा ये उनके बड़े भाई भीमसेन हैं। आप तीनोंमें-से जिससे चाहें, उससे युद्ध करें। जो अस्त्र या शस्त्र चाहें, उसे चुन लें।'

'मैं तुमसे युद्ध नहीं करूँगा।' जरासन्धने हंसकर कहा—'तुम तो मुझसे डरकर समुद्रमें जा छिपे हो। जो एक बार भाग खड़ा हुआ अपने सामनेसे, उससे युद्ध करना शोभास्पद नहीं है। अर्जुनसे भी मैं युद्ध नहीं करूँगा। यह अस्त्रज्ञ चाहे जैसा हो, द्वन्द्वयुद्धके लिए दुर्बल है। भीमसेन अवश्य मेरे समबल हैं, अतः मैं भीमसेनसे द्वन्द्वयुद्ध करूँगा। हम दोनोंका प्रिय शस्त्र भी गदा ही है।'

जरासन्धने मुकुट और आभूषण उतार दिये। दो समान गदाएँ मँगायीं और भीमसेनके लिए भी कच्छ मँगाया।

मगधराजने कहा—'द्वन्द्वयुद्धमें उचित न्याय तभी रहेगा जब दोनोंको समान आहार तथा शयनादिकी सुविधा प्राप्त रहे। अतः मैं भी नगरके बाहर मल्लशाला भवनमें ही तुम लोगोंके साथ रहूँगा और कोई अतिरिक्त आहार, सेवा या चिकित्सा स्वीकार नहीं करूँगा।'

द्वन्द्वयुद्धमें दूसरा कोई हस्तक्षेप न करे, इसकी आज्ञा दे दी गयी। जरासन्धने अपने पुत्र सहदेवको राज्य-सञ्चालनका भार दे दिया। यह मल्लशालामें आगया और उसी दिनसे भीमसेनके साथ उसका गदायुद्ध प्रारम्भ होगया।

दोनों प्रचण्ड पराक्रम, दोनों वज्रकाय और दोनोंका पौरुष अपार। ताल ठोंककर, हाथ मिलाकर दोनोंने गदाएँ उठायीं। अब गदा घुमाना, पैंतरा लेना और गदाओंको टकराना प्रारम्भ होगया। वे गदाएँ टकराती थीं तो वज्रपात जैसी कठोर ध्वनि होती थी और उनसे चिनगारियाँ झड़ती थीं।

गदाओंका भरपूर आघात शरीरपर भी पड़ता था, किन्तु दोमें कोई भी उससे न विचलित होता था, न काँपता था। अनेक दाँव-पेंच गदाओंके चलते रहते थे। शरीरोंसे स्वेदकी धारा बहती थी। श्रीकृष्ण और अर्जुन शान्त देखते रहते थे। उन्होंने भी प्रोत्साहन देनेका कोई शब्द नहीं कहा।

प्रातःकाल स्नान, सन्ध्याके पश्चात् ही यह युद्ध प्रारम्भ होजाता था और पूरे दिन चलता था। कार्तिक कृष्ण प्रतिपदासे यह प्रारम्भ हुआ। बिना खाये-पिये दिन भर युद्ध होता था। सायंकाल दोनों गदा छोड़कर हाथ मिलाते थे और साथ ही अखाड़ेसे निकलते थे। साथ ही उष्णोदककी

धारामें जो गिरिव्रजमें है, जाकर स्नान करते थे। एक साथ भोजन करते थे।

रात्रिमें मगधराज भी वहीं मल्लशालामें ही समान आसनपर शयन करता था। वे लोग रात्रिमें ऐसे मित्रोंके समान रहते, बातें करते थे कि कोई अनुमान भी नहीं कर सकता था कि दिनमें वे एक दूसरेको मार देनेपर उतारू रहते थे।

जरासन्ध खुलकर भीमसेनके पौरुषकी प्रशंसा करता था और भीमसेन मगधराजके बलको विरुद देते थे। जरासन्धने कई बार कहा—'जीवनमें मुझे प्रथम बार युद्धका वास्तविक आनन्द दिया है आपने।'

मगधराज अतिथियोंको आहारादि देकर ही स्वयं स्वीकार करता था। इस प्रकार यह अद्भुत द्वन्द्वयुद्ध छब्बीस दिन तक चल चुका तब भीमसेनने अवसर देखकर रात्रिमें श्रीकृष्णसे कहा—'कैटभार्दन ! मुझे लगता है कि जरासन्धको मैं जीत नहीं सकूँगा। उसके गदाघातसे मेरे अंग-अंग जैसे पिस गये हैं, किन्तु वह तनिक भी शिथिल नहीं होता है।'

जब तक कोई अपने पौरुषपर भरोसा करके प्रयत्न कर रहा है, श्रीकृष्ण तटस्थ दर्शक ही रहेंगे। उनका स्वभाव है कि जब प्राणी अपने बलका आश्रय त्यागकर उनकी ओर सहायताके लिए देखता है, तब उनकी शक्ति सक्रिय होती है। उन्होंने भीमके शरीरपर अपना अमृतस्यन्दी हाथ घुमाया। भीमको लगा कि उनका शरीर पीड़ा, श्रान्तिसे रहित होकर स्फूर्ति तथा शक्तिका भण्डार बन गया है।

उन श्रीमधुसूदनने कहा—'कल मेरे संकेतको समझनेका प्रयत्न करना।'

सत्ताइसवें दिनका वह द्वन्द्वयुद्ध चल रहा था। सायंकाल होनेको आया तो भीमसेनने श्रीकृष्णकी ओर देखा। सहसा श्रीकृष्णने दाहिने हाथको एक विशेष प्रकारसे घुमाया और एक तृण भूमिसे उठाकर उसे नीचेसे चीरकर फेंक दिया। इतना संकेत वृकोदरके लिए पर्याप्त था।

भीमने हाथकी गदा पूरे वेगसे घुमाकर एक दिशामें फेंक दी। गदा जाकर गिरी वहाँ जहाँ राक्षसी जरा कूड़ेके ढेरके समीप अपने आवासमें रहती थी। उसके लिए वृहद्रथने ही एक भव्य मन्दिर बनवा दिया था। वह वहीं अब पूजा-बलि प्राप्त करती थी। भीमसेनकी गदाके गिरनेसे वह मन्दिर ध्वस्त होगया और जरा उसीमें दबकर मर गयी।

जरा-अविद्याके कारण चिज्जड़ग्रन्थि रूप देहात्मभाव केवल बलसे तो पराजित होने वाला नहीं। विवेक उसे चीरकर दो कर दे सकता है और वह विवेक श्रीकृष्णकी कृपा हो तो मिले।

भीमसेनको गदा फेंकते देखकर जरासन्ध एक क्षणको हिचक गया। इतनेमें तो भयंकर गर्जना करते भीमसेन टूट पड़े और उसे उठाकर पृथ्वीपर पटक दिया। उसके एक पैरको अपने पैरसे दबाकर दोनों हाथोंसे दूसरा पैर पकड़ा और उसे उठाते चले गये। इस प्रकार जरासन्धका शरीर उन्होंने बीचसे चीर दिया। एक पैर, वृषण, आधा पेट, आधी छाती, आधा मुख, आधी नासिका, एक नेत्र, एक कर्ण एक-एक टुकड़ेमें रह गये। हाथका टुकड़ा भीमसेनने दूर फेंक दिया।

मल्लभूमि रक्तसे भीग उठी। स्वयं भीमसेन मगधराजके रक्तसे लथपथ होगये। श्रीकृष्णने झपटकर भीमको हृदयसे लगा लिया। वहाँ उपस्थित जरासन्धके सेवक रोते-चिल्लाते नगरकी ओर भागे।



बन्दी-मुक्ति

एक राज्यके राजाको मार दिया गया था। श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन तीनों शस्त्रहीन थे और वहाँ केवल वह गदा थी जो जरासन्धके हाथमें थी। दूसरी बात यह कि अब बन्दी राजाओंकी मुक्तिमें एक क्षणका भी विलम्ब अकारण था। यह विलम्ब श्रीकृष्णको सहन नहीं था। वे तीनों तत्काल वहाँसे निकले।

देवराज इन्द्रके लिए विश्वकर्माने पहिले एक दिव्य रथ बनाया था। उसीमें बैठकर इन्द्रने अनेक बार दानवोंपर विजय प्राप्त की थी। उसके ऊपर एक इन्द्रधनुषके समान चमकती ध्वजा थी जो बिना ध्वज-दण्डके ही फहराती रहती थी। उस सौन्दर्यवान नामक रथमें दो महारथी एक साथ

बैठकर युद्ध कर सकते थे। वह स्वर्ण निर्मित, अनवरुद्ध गति, वायु वेग रथ इन्द्रने ययातिको दिया था। वह कुरुवंशमें वंश परम्परासे राजा वसु तक रहा। बेदिराज वसुने उसे अपने मित्र मगधराज वृहद्रथको दे दिया। पिताका वह रथ जरासन्धके पास था। श्रीकृष्णचन्द्रने मल्लशालासे निकलकर सीधे उस रथपर अधिकार किया। उसमें अश्व जोड़े और भीम तथा अर्जुनको बैठाकर स्वयं सारथि बने।

इस कार्यसे दो बातें श्रीद्वारिकाधीशने साध लीं। कोई चाहे तो भी अब उस महावेग रथका पीछा करनेका कोई साधन गिरिव्रजमें किसीके समीप नहीं था। दूसरे बन्दी नरेशोंके साथ कोई दुर्व्यवहार करने अब वहाँ पहिले नहीं पहुँच सकता था। क्योंकि अनेक बार ऐसे अवसरोंपर झुंझलाहटमें क्रूर लोग बन्दियोंको मार देते हैं। बन्दियोंकी मुक्तिके लिए आये लोगोंने उनके अधिपतिको मारा, अतः उनका आक्रोश बन्दियोंपर उतरे, यह अस्वाभाविकता नहीं ही है।

वे छियासी नरेश विभिन्न राज्योंके थे। विभिन्न समयोंपर मगधराज उन्हें पराजित करके पकड़ लाया था। लेकिन गिरिव्रजकी पर्वतीय खोहके कारागारमें पहुँचकर सबकी समान अवस्था होगयी थी। वे परस्पर मित्र बन गये थे। उनके श्मश्रु-केश बढ़ गये थे। रूखे-उलझे हो गये थे। नख बढ़ गये थे। वस्त्र और शरीर भी मलिन थे। सब बहुत कृश तथा कान्तिहीन होगये थे।

मगधराजने उनको आहार देनेमें कोई कृपणता नहीं की थी। उन्हें स्नानके लिए जल भी मिलता था; किन्तु वस्त्र तथा देह भली प्रकार स्वच्छ हो सके, इतनी सुविधा उन्हें नहीं थी और न उनमें यह सब करनेका उत्साह था। उन्हें पता था कि जरासन्ध उनकी संख्या सौ होते ही उनकी बलि देनेवाला है। वे तो जीवनसे निराश मृत्युकी घड़ी गिननेवाले लोग थे। इस भयने उनका शरीर कङ्कालप्राय बना दिया था। उनके नेत्रोंके चारों ओर गाढ़ी कालिमा छा गयी थी और उन्हें तो सर्वत्र अन्धकार ही दीखता था।

एक क्षीण आशा एक दिन उनमें-से किसीके मनमें जागृत हुई—'भगवान् वासुदेव शरणागत वत्सल हैं। उनके श्रीचरणों तक पहुँची प्रार्थना कभी असफल नहीं होती। उन चक्रपाणिने इस मदमत्त जरासन्धको सत्रह-

बार पराजित करके, मृत्युके मुख तक पहुँचाकर छोड़ दिया है। क्या हुआ जो नर-नाट्य करते वे एकबार इसके सम्मुखसे भागे। उन ब्रह्मण्यदेवने इसे मिले ब्राह्मणोंके आशीर्वादका सम्मान किया। वे ही समर्थ हैं हम सबको इस विपत्तिसे बचा लेनेमें।'

बात सबको ही ठीक लगती थी; किन्तु बहुत कठिन समस्या थी—'श्रीद्वारिकाधीशके चरणों तक प्रार्थना पहुँचे कैसे?'

इतने नरेश बन्दी थे गिरिव्रजमें और उनमें किसीके स्वजन, स्नेही नहीं थे और वे इनकी ओरसे उदासीन थे, यह बात क्या मानने योग्य है? अवश्य जरासन्धके भयके कारण कोई प्रत्यक्ष कुछ नहीं कर सकता था; किन्तु गिरिव्रजमें उन राजाओंके हितैषी थे। उनमें ब्राह्मण ही अधिक थे; क्योंकि मगधराज ब्राह्मणोंका सत्कार करता था। ऐसे हितैषियोंके प्रयत्नसे बन्दी राजाओंकी प्रार्थना लेकर द्वारिका दूत गया था।

दूत मगधकी सीमासे सकुशल निकल गया, यह समाचार जैसे ही उन बन्दी नरेशोंको मिला, उनको विश्वास होगया कि अब उनकी कारागारसे मुक्ति सुनिश्चित है। जो कर्मपाशको काट देते हैं, उन दयाधाम् तक किसी आर्तभावकी पुकार पहुँचेगी और मगधराजके कारागारके कपाट बन्द बने रहेंगे।

'वे जनार्दन आते होंगे। उन चक्रायुद्धका चक्र या गदा गिरिव्रजका विनाश करने ही वाला है। आते होंगे वे कमल लोचन।' मृत्युका भय उसी समय मिट गया और श्रीकृष्णके आगमनकी प्रतीक्षा चलने लगी। मरणासन्न प्राणीको जीवनदान मिलनेका आश्वासन हो तो उसके प्राणोंकी उत्सुक प्रतीक्षाका अनुमान कर लीजिये।

दूत लौट आया और उसने गुप्तरूपसे ही सन्देश भेज दिया—'श्रीद्वारिकाधीश आनेवाले हैं। उन्होंने अभय दिया है। जरासन्ध अवश्य मरेगा।'

'अच्छा हुआ कि वे सेना लेकर नहीं आये।' राजाओंने द्वारिकाधीशकी राजसभामें हुई प्रतिक्रियाका सम्वाद पाया तो मन ही मन उद्धवकी प्रशंसा की—'धन्य हैं वे यादव महामंत्री। अन्ततः देवगुरुके साक्षात् शिष्य हैं और भगवान पुरुषोत्तमके स्नेह भाजन हैं। युद्ध छिड़ता तो कौन जानता

था कि दुर्बल पड़नेपर दुष्ट जरासन्ध हम इतनोंको ही बलि-पशु बनाकर कोई उग्र अनुष्ठान पूरा न करता।'

प्रतीक्षा—उत्कटतम प्रतीक्षामें अहर्निशि लगे आतुर प्राण और वह भी श्रीकृष्णकी प्रतीक्षा। उन माधवका निरन्तर चिन्तन, उनके आगमनकी प्रतीक्षा। ऐसा प्रगाढ़ चिन्तन कि कोई मुनीन्द्र भी क्या करेंगे। इस चिन्तन और प्रतीक्षाका हेतु क्या था, यह प्रश्न व्यर्थ है। श्रीकृष्णचन्द्र तो घृणा या द्वेषसे भी हृदयमें आवें तो जीव मुक्त होजाता है, ये तो उनके शरणागत होकर उन्हींका सर्वात्मना आश्रय लेकर उनके चिन्तनमें लगे थे। फलतः अन्तःकरण निर्मल होगया। देहका मोह मिट गया। मृत्युका भय पता नहीं कब समाप्त होगया। केवल प्रतीक्षा विशुद्ध प्रतीक्षा बच गयी—'वे परम पुरुष कब पधारेंगे। हमारे नेत्र धन्य होंगे उनका दर्शन करके। हम उनके सुर-मुनि वन्द्य पाद पद्मोंमें प्रणिपात करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे।'

'वे गिरिव्रज आ गये और मगधराज उनमें-से भीमसेनके साथ गदा-युद्ध करनेमें लगा है। वह उनके साथ ही अब मल्लशालामें रहता है।' यह समाचार भी किसी प्रकार उस गुहा कारागारमें पहुँच ही गया, क्योंकि वे समाचार पानेको समुत्सुक थे और उनके हितैषी नगरमें थे।

'धन्य है जरासन्ध। अनन्त पुण्य किये होंगे पूर्वजन्ममें इस मगधराजने।' विशुद्ध हृदयमें राग-द्वेष रहा नहीं करते। राजाओंका अन्तःकरण श्रीकृष्ण-चिन्तनने निर्मल कर दिया था। वे सोचने लगे थे—'कितना महान् सौभाग्य पाया इसने। वह भीमसेनसे गदायुद्ध करता रहता है और भगवान् पुरुषोत्तम समीप उपस्थित रहकर उसे देखते रहते हैं। रात्रिमें भी वह उनके समीप ही सोता है। जो ऋषियोंके सविधि यज्ञमें भी परोक्ष आहुति लेते हैं, वे यज्ञपुरुष इस समय अतिथि हैं मगधराजके।'

'जरासन्ध इन पुरुषोत्तमकी सन्निधिमें प्राण-त्याग करेगा, इनका दर्शन करते मरेगा।' इस भव्य भावनाने हृदयको दूसरी दिशा दी—'हम सबके साथ ही मगधराजने क्या अपकार किया? हमारा इतना बड़ा हित तो दूसरा कोई नहीं कर सकता था। जो गुरु नहीं कर सके, पुरोहित नहीं कर सके, वह किया जरासन्धने। हम सब राजमदमें मत्त ऐश्वर्य-भोगमें डूबे, मृत्युको भूले अपने परम कल्याणसे ही उदासीन होरहे थे।

ऐसे ही मर जाते और भटकते रहते भवाटवीमें। हमें बन्दी करके मगध-राजने कृपा की। भोगोंसे, पद-प्रतिष्ठाकी लिप्सासे, परस्परकी स्पर्धासे मुक्त कर दिया और उसीकी अनुकम्पासे अब जनार्दनके दर्शन प्राप्त होंगे।'

'जनार्दनके दर्शन प्राप्त होंगे।' दृढ़-विश्वास है प्राणोंमें और केवल दर्शनोंकी उत्कण्ठा है। अभीप्सा बन गयी है वह। द्वार खटकता है, कोई द्वारपाल भी आता है तो पदध्वनि सुनते ही सबके सब चौंकते हैं, उठ खड़े होते हैं—'आये जनार्दन।'

सचमुच वे जनार्दन आ गये। उनका रथ आकर उस कारागारके बाहर रुका। भीमसेनने रथसे उतरकर द्वारको उखाड़ फेंका और श्रीकृष्ण-चन्द्र प्रविष्ट हुए उस द्वारसे। ये अशरण शरण ऐसे ही सदा अपने पुकारनेवालोंको परित्राण देने आनेके अभ्यासी हैं।

सजल जलद श्याम वपु, विद्युतके समान चमकता पीतपट, चतुर्भुज घुंघराली अलकोंसे घिरा श्रीमुख मन्द स्मित शोभित पुण्डरीकाक्ष अपने विशाल दृगोंसे अनन्त-अनन्त कृपाकी धारा वर्षा करते कारागारके द्वारमें प्रविष्ट हुए।

बन्दी नरेशोंने देखा और एक साथ भूमिपर दण्डवत गिरे। सबने अनुभव किया कि उन पूर्णपुरुषने उन्हें अपनी विशाल बाहु बढ़ाकर उठा लिया है।

अञ्जलि बाँधकर, नेत्रोंसे अश्रु वर्षा करते गद्गद् स्वरमें स्तुति करने लगे। सबका एक ही तात्पर्य था—'स्वामि! हम तो भटक रहे थे आपकी मायासे मोहित होकर। हमें अपने धन, बल, राज्य प्रभावका बड़ा घमण्ड था। पता ही नहीं था कि आप कालस्वरूपके सम्मुख यह सब कितना तुच्छ है। हम अनुभव करते हैं कि मगधराजके रूपमें आपका अनुग्रह उतरा और हम उस मोहसे जागे। जरासन्धने हमें राज्यभ्रष्ट करके, बन्दी करके विवेक नेत्र प्रदान किया। हमें अपनी शक्तिकी तुच्छता ज्ञात हुई और सबसे बड़ी बात हुई कि आपके श्रीचरणोंका दर्शन हुआ। आपका दर्शन अमोघ है, अतः यह वरदान दें कि आपके इन पाद पद्मोंकी स्मृति सदा बनी रहे।'

अन्धकार बढ़ रहा था। अतः उन सब बन्दी राजाओंको लेकर श्री-कृष्णचन्द्र उस पर्वतीय कन्दरा कारागारसे निकले और बाहर विस्तृत मैदान-

में आ गये। राजाओंसे उन्होंने कहा—'आप सब अपने राज्योंको जाकर धर्म पूर्वक प्रजाका पालन करें। मेरा स्मरण करते रहें। धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करनेवाले हैं, उसमें आप सबको उनकी पूरी सहायता करनी है।'

यह चर्चा चल ही रही थी कि नगरकी ओरसे स्वागतमें बजते वाद्य, शंख ध्वनिका स्वर सुनाई पड़ा। जलती मशालें लिये बहुत अधिक लोग आरहे थे और उनकी ध्वनि सुनाई पड़ने लगी थी—'भगवान वासुदेवकी जय। पुरुषोत्तम श्री द्वारिकाधीशकी जय।'

'मगधराज मारे गये। भीमसेनने उन्हें चीर डाला।' मल्लशालाके सेवक यह चिल्लाते पुकारते नगरमें गये थे। उस समय जरासन्धका कोई सहायक नरेश मगधमें नहीं था। शिशुपाल अपनी राजधानीमें था और दूसरा भी कोई वहाँ नहीं था। राज्यकार्य संचालनका भार जरासन्ध पहिले ही अपने पुत्र सहदेवको देकर सत्ताइस दिन पहिले मल्लशाला गया था।

द्वन्द्व-युद्ध करना था, अतः सेनाको भी सावधान नहीं किया गया था। राज्यमें शान्तिकालीन साधारण स्थिति थी; किन्तु राजकुमार सहदेव पहिले दिनसे ही इस परिणामके लिए प्रस्तुत थे। उन्हें निश्चय था कि उनके पिता मल्लशालासे नहीं लौटेंगे। उन्होंने मल्लशालाको प्रस्थान करते पिताको बहुत श्रद्धासे प्रणाम किया था।

जरासन्ध धार्मिक था। पवित्र कुलमें उत्पन्न हुआ था। ब्राह्मण भक्त था और प्रजापालक था। उसके सब सद्गुण पुत्रमें आये थे; किन्तु पिता-का अहंकार सहदेवमें नहीं था। कोई लौकिक महत्वाकांक्षा भी नहीं थी। फलतः उनका हृदय निर्मल सात्विक था और उसमें श्रीहरिके प्रति भक्ति थी।

'पिता महान् हैं।' सहदेवके मनमें उनकी भक्तिने पिताके प्रति अविनय नहीं, आदर-बुद्धि उत्पन्न की थी। वे अपने ढंगसे सोचते थे—'अपने पराक्रमसे वे श्रीहरिकी अर्चना करते हैं। उनका अलौकिक शौर्य भी तो इन भुवनेश्वरकी सेवामें लगना चाहिए। वे अपने अतिमानव प्रतापके अनुरूप ही जनार्दनका चिन्तन करते हैं।'

बार-बार सहदेवको ही राज्य संचालन सौंपकर जरासन्धने मथुरापर चढ़ाई की थी। प्रजापालन सहदेवके लिए नवीन कार्य नहीं था। पिताकी इन चढ़ाइयोंके सम्बन्धमें उनका अपना दृष्टिकोण था—'जो परम प्रभु भूमि

भार हरणार्थ ही अवतीर्ण हुए हैं, वे अपने इस कार्यमें किसी हीन सत्वको तो माध्यम नहीं बना सकते। उन्होंने पिताको उपयुक्त माध्यम माना है।'

जो इस प्रकार अपने पिताकी मथुरापर की जानेवाली चढ़ाइयोंमें भी उन पुरुषोत्तमकी ही प्रेरणा देखता रहा हो, उस जन्म सिद्ध भगवद्भक्तको तब बहुत प्रसन्नता होनी ही थी, जब जनार्दन गिरिव्रज आये। जरासन्धने जब प्रभुको शासन सौंपा तो सहदेवने अपने मनमें कहा—'मैं ऐसे पिताका पुत्र होकर धन्य हुआ। पुरुषोत्तम स्वयं मगधराजको अपने पावन पदोंमें स्वीकार करने पधारे और वैसे ही याचक होकर आये जैसे कभी दैत्यराज बलिके यहाँ पधारे थे।'

मल्लशालाके सेवक रोते-चिल्लाते नगरमें आये तो सहदेव समाचार पाकर चौंके नहीं, न शोक मग्न हुए। उन्होंने सुनते ही आज्ञा दी—'हम उन परमपुरुषका स्वागत करेंगे! मगधराजको तो उन्होंने मुक्त कर दिया! उनकी उपस्थितिमें देह त्यागकर पिता तो उनके दिव्यधामको पधारे! उनके लिए शोक क्या! अब मगध उन हृषीकेशका है और हम सब उनकी प्रजा हैं। हमारा पहिला कर्तव्य है कि हम उनका स्वागत करेंगे। फिर जो आज्ञा वे देंगे, उनका पालन किया जायेगा।'

सृष्टिने कम ऐसे भगवद्भक्त देखे हैं। पिताका शव पड़ा था मल्लशालामें और उन्हें मारनेवालोंका स्वागत करने सहदेव तत्काल चल पड़े। उन्हें पता लग गया था कि जरासन्धका रथ लेकर श्रीकृष्णचन्द्र उसमें अर्जुन और भीमसेनको बैठाकर नगरसे निकले हैं और बन्दीगृहकी ओर गये हैं। सहदेवने कहा—'वे मधुसूदन उन बन्दी नरेशोंको मुक्त करने ही गये हैं। वे भवपाश छेत्ता—शरणागतको त्राण देना उनका स्वभाव ही है।'

पिताकी मृत्युका शोक नहीं, रोष नहीं और उसके लिए कोई भी प्रतिक्रिया नहीं। पिताके शवका क्या होगा यह सोचा तक नहीं। ब्राह्मणोंको बुलवाया, वाद्य लिये और अर्पणके लिए मगधके राजकोषके दुर्लभतम रत्नोपहार साथ लिये। सेवकोंने जलती मशालें लीं, सहदेव पैदल चल पड़े कारागारकी ओर स्वागत करने।

'भगवान् वासुदेवकी जय!'

'श्रीद्वारिकाधीशकी जय!'

'अशरण शरण श्रीकृष्णचन्द्रकी जय !'

तुमुलनाद निकट आता गया। श्रीकृष्णचन्द्र नरेशोंके समीपसे इ आते जनसमूहकी ओर आगे बढ़े। सहदेवने उपहार राशि सेवकोंको अर्पि करनेका संकेत किया और स्वयं भूमिपर गिरा—'जरासन्ध-तनय सहदे परम पुरुष पुरुषोत्तमके चरणोंमें प्रणिपात करता है।'

लगभग दौड़कर श्रीकृष्णचन्द्रने उठाया सहदेवको और हृदयसे लगा लिया। उनके कमल दृगोंके बिन्दु राजकुमारकी अलकोंको आर्द्र करने लगे—'सहदेव ! मेरे बच्चे !' उनके अभय कर देर तक सहदेवका सि और पीठ सहलाते रहे।

'मगध धन्य होगया और धन्य कर दिया आपने मगधेश्वरको!' सहदेव देरमें बोल सके और भरे कण्ठसे ही बोले—'आपने मुझ जैसे अबो अल्पज्ञको भी पुत्र कहकर कृतार्थ कर दिया। अब मगधका राज-सद श्रीचरणोंसे पवित्र करें और अपनी आज्ञापालनका सौभाग्य भी मुझे दें।'

श्रीकृष्णचन्द्रने वहीं अपने हाथसे सहदेवके मस्तकपर मुकुट रख दिय और कहा—'पहिला काम है कि पिताके शरीरकी उत्तम क्रियाकी व्यवस्थ करो और इन नरेशोंको स्नानादि कराके राजोचित वस्त्राभूषणसे अलंकृ कराओ। इन्होंने बहुत दिनों तक कारागारका कष्ट उठाया है। इनकी सेवाको प्राथमिकता मिलनी चाहिए।'

सहदेवने हाथ जोड़कर नरेशोंसे पिताके अपराधके लिए क्षमा माँगी तो सबके नेत्र भर आये। उन सबका स्नेह उमड़ उठा युवराज सहदेवके प्रति। वहाँसे सब राजसदन पैदल ही आये। बहुत आग्रह करनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रने रथपर बैठना स्वीकार नहीं किया।

नरेशोंको स्नानादि करानेके लिए सेविकाएँ तथा सेवक लगा दिये गये। उनको उपमर्दनके द्वारा स्वच्छ करके उष्णोदकसे स्नान कराया। उत्तम वस्त्र, रत्नाभरण, अंगराग, चन्दन आदि से सत्कृत करके भोजन कराया।

राजाओंको इसका पता नहीं लगने दिया गया कि उस रात मगधके लोगोंने, सहदेवने और श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भीमसेन और अर्जुनने भी उपवास किया था। प्रातः स्नानादिके पश्चात् राजाओंको पुनः भोजन कराके रथ तथा धन देकर उनके राज्योंके लिए श्रीकृष्णचन्द्रने विदा किया।

सहदेवने उन्हें उपहार दिये और फिर क्षमा-याचना की। सबने सहदेवको अपनी मैत्रीका आश्वासन दिया।

मन्त्री, पुरोहित श्रीकृष्णचन्द्रकी आज्ञासे बुलाये गये। श्रीकृष्ण-चन्द्रने मगधके राजसिंहासनपर अपने करोंसे सहदेवको बैठाकर उनका तिलक किया। राज्याभिषेक होजानेपर सहदेवने जो बहुत अधिक उपहार अर्पित किये, उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रने सहदेव को* प्रसन्न करनेके लिए स्वीकार कर लिया। मगधराजका वह दिव्यरथ भी सहदेवने श्रीकृष्णको दे दिया यह कहकर—'इसे आपने स्वयं स्वीकार कर लिया है तो अब अपना पुत्र मुझे मानकर इसे द्वारिका ले जायँ।'

श्रीकृष्णचन्द्रने सहदेवसे विदा लेते समय कहा—'अब तुम पिताकी उत्तर क्रिया सम्पन्न करो। वे महामानव थे और अब तो मुक्त होगये। धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें आना। दुर्जन नरेशोंकी संगतिसे अब दूर रहना।'

भीमसेन तथा अर्जुनको मगधराजके उसी दिव्य रथमें बैठाकर श्रीकृष्णचन्द्र इन्द्रप्रस्थके लिए प्रस्थित हुए।



राजसूय-यज्ञ

श्रीकृष्णचन्द्रके पांचजन्यकी मंगल ध्वनि सुनायी पड़ी और इन्द्रप्रस्थमें सबने समझ लिया कि जरासन्ध समाप्त होगया। युधिष्ठिरने बड़े उल्लाससे स्वागत किया।

अब श्रीकृष्णचन्द्रकी सम्मतिसे धर्मराजने भाइयोंको दिग्विजयके लिए उत्तम मुहूर्तोंमें भेजा। पूर्वकी ओर भीमसेन मत्स्य, कैकय तथा मद्रके नरेशोंके साथ गये। सहदेव सृञ्जयके साथ दक्षिण भेजे गये। पश्चिम दिशामें दिग्विजयका दायित्व नकुलने लिया और उपदेवताओंसे पूर्ण उत्तर दिशाकी ओर अर्जुनने यात्रा की।

---

* इनका एक नाम जयत्सेन भी था।

अधिकांश नरेशोंने स्वेच्छासे युधिष्ठिरको सम्राट स्वीकार करके
दे दिया। बहुत थोड़े स्थानोंपर युद्ध करना पड़ा और जहाँ भी युद्ध हुआ
प्रचण्ड पराक्रम पाण्डुके पुत्रोंका विजयश्रीने वरण किया। श्रीकृष्णचन्द्र
जिन्हें विजयी होनेका वरदान देकर अपनी विशेष शक्तिसे सम्पन्न कर
भेजा था, उनकी विजयमें सन्देह तो किसी सामान्य व्यक्तिको भी न
था। वे लोग अपार सम्पत्ति कर तथा उपहारके रूपमें प्राप्त करके लौटे
अब राजसूय यज्ञ करके सम्राट पदकी प्राप्तिकी औपचारिकता ही पूर्ण कर
रह गयी थी।

धर्मराज युधिष्ठिरने अपने पुरोहित धौम्यजीको, भगवान व्यास
तथा अन्य ऋषियोंको भी साथ लिया और श्रीकृष्णचन्द्रके कक्षमें पहुँचे
श्रीद्वारिकाधीशने उठकर सबको यथायोग्य प्रणाम किया। सबके आ
स्वीकार कर लेनेपर युधिष्ठिरने कहा—'माधव! आपके कृपा-प्रसादसे
सम्पूर्ण धरा-मण्डल हमारे वशवर्ती हुआ है। हमें बहुत अधिक सम्पत्ति
प्राप्त हुई है। मैं इन महर्षियोंको साक्षी करके कहता हूँ कि यह
आपकी है, आपके लिए है। इसका उचित उपयोग यही है कि इ
द्वारा आप यज्ञपुरुषका पूजन हो और ब्राह्मणों तथा अन्य सभी प्राणियों
सत्कार किया जाय। अतः आप राजसूय यज्ञके लिए अनुमति दें।
ऋषिगण उपयुक्त मुहूर्त बतला रहे हैं। अतः गोविन्द! आप यज्ञकी दी
ग्रहण कीजिए। आप ही हमारे सर्वस्व हैं। आप यज्ञ करेंगे तो अ
पूर्वजोंके साथ हम निष्पाप हो जायँगे अथवा आप मुझे ही यज्ञ-दीक्षा लेने
अनुमति दें तो मैं आपकी इस सम्भारसे अर्चना करूँ! आपकी जो आ
होगी, यह कार्य उसीके अनुसार होगा।'

श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'महाराज! आप सम्राट हैं। आपको ही
महायज्ञ करना चाहिए। मैं आपके दूसरे भाइयोंके साथ आपकी सेवा
उपस्थित हूँ। अब आप दीक्षा ग्रहण करें।'

युधिष्ठिरका कण्ठ भर आया। उन्होंने कहा—'निखिल लो
महेश्वर, आपकी आज्ञाका पालन लोकपाल भी अपना सौभाग्य मानते हैं
मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। इस आयोजनके द्वारा मुझे तो आप
ही पूजा करनी है।'

सहदेवने ब्राह्मणों तथा पुरोहित धौम्यजीसे पूछकर यज्ञके लि
आवश्यक सामग्री पहिले ही एकत्र कर ली थी। भगवान श्रीकृष्ण द्वैपाय

वेदव्यासजीने स्वयं इस यज्ञमें ब्रह्माका पद स्वीकार किया। सामवेदीय महर्षि सुसान्त उद्गाता हुए। ब्रह्मज्ञानियोंमें अग्रगण्य महर्षि याज्ञवल्क्यने अध्वर्यु पदको भूषित किया। महर्षि पैल और धौम्य होता हुए। इन ऋषियोंके पुत्र, शिष्य तथा अन्य ऋषिगण सदस स्वति हुए। स्वस्तिवाचन पूर्वक, विधि पूर्वक उस स्वर्ण-निर्मित, रत्न-मण्डित विशाल यज्ञशालाका पूजन हुआ।

अब शिल्पकार यज्ञशालाके आसपास बहुतसे देव मन्दिरोंके समान भवनोंका निर्माण करनेमें लग गये। इनमें गणपति, ग्रह, योगिनी, दिक्पालादि देवताओंकी स्थापना होनी थी। सामग्रियोंके लिए तथा आचार्यादिके आवासके लिए भी समीप ही भवन बनाये गये।

देशके समस्त ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंको दूत भेजकर निमंत्रित किया गया। उन दूतोंको अपने साथ ही वैश्योंको तथा सम्मानित शूद्रोंको ले आना था। सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय सपरिवार आये। पाण्डवों तथा यादवोंके सम्बन्धी, सुहृद, सहायक भी अपने पूरे परिवार तथा सेवकोंके साथ आये। इन सबके साथ श्रीकृष्णचन्द्रको अपने दाहिने लेकर युधिष्ठिरने यज्ञशालामें प्रवेश किया।

धृतराष्ट्र अपने सब पुत्रों, सहायकोंके साथ बुलाये गये। नकुलने हस्तिनापुर जाकर प्रार्थना की और भीष्म पितामह, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण आदि सबको अपने साथ ले आये।

सभी आगत लोग अपनी शक्ति तथा सम्मानके अनुसार बहुमूल्य अधिकतम भेंट लेकर आये थे। सभी समागतोंको आदरपूर्वक उनके समाजके साथ पृथक्-पृथक स्थानोंमें ठहराया गया। पूरा खाण्डवप्रस्थ उस समय विशाल महानगर बन गया।

युधिष्ठिरने प्रत्येक गुरुजन, सम्बन्धीसे विनम्रतापूर्वक प्रार्थना की —'आप इस यज्ञमें मेरी सहायता करें। इस विशाल धनागारको अपना ही समझें और इसका इस प्रकार उपयोग करें कि यज्ञका कार्य सुचारु रूपसे सम्पन्न हो।'

धृतराष्ट्र, भीष्म पितामह तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी सम्मतिसे आगत सम्बन्धियोंको एक-एक कार्यका संचालन, निरीक्षण सौंपा गया और उनको उपयुक्त सेवक तथा सहायक दिये गये।

दुर्योधनको राजाओंसे प्राप्त भेंट स्वीकार करनी थी। महादानी कर्ण दान करनेके लिए नियुक्त हुए। दुःशासनको भोजनके लिए पदार्थ मँगाने, सम्हालने थे। द्रौपदीने रसोईघरकी अध्यक्षता ली और भीमसेनको परसनेका कार्य करना था। अश्वत्थामा ब्राह्मणोंकी सेवामें लगाये गये। राजाओंका स्वागत सत्कार संजयको करना था। भीष्म तथा द्रोणाचार्य सभी कर्मचारियोंकी देखभाल करने लगे। कृपाचार्यको सोने-चाँदीके पात्र तथा रत्नोंकी देखभालके साथ ब्राह्मणोंको दक्षिणा भी देनी थी। इसी प्रकार सब लोग एक-एक सेवापर लग गये।

'मैं आगत विप्रोंका पाद प्रक्षालन करूँगा।' श्रीकृष्णचन्द्रने जब स्वयं यह कहा तो धर्मराज भाव विह्वल होगये। वे एक शब्द बोल नहीं सके। भीष्मजीने कहा—'भगवन्! दूसरा कोई इस कार्यको कर भी नहीं सकता। अनेक प्रदेशोंके विविध भाषा भाषी ब्राह्मण आयेंगे। वे देववाणी अवश्य बोलेंगे, समझते हैं किन्तु उनकी अपनी भाषामें उनका स्वागत उन्हें प्रिय होगा और उनकी रुचिके अनुसार उनके आवास-आहारकी व्यवस्था होनी चाहिए। आप ब्रह्मण्यदेव ही यह ठीक-ठीक कर सकते हैं। अतः आगत ब्राह्मणोंसे प्रथम मिलन आपका ही उचित है।'

श्रीकृष्णचन्द्रने अब सबको चौंका दिया—'मैं ही उन विप्रोंकी उच्छिष्ट पत्तलें भी उठाऊँगा।'

ब्राह्मणोंको उनकी रुचिका आहार मिला और उन्होंने तृप्त होकर भोजन किया, यह देखना भी आवश्यक था। उनको क्या अधिक प्रिय है, यह अनुमान भी पत्तल उठानेमें किया जा सकता है और भोजन व्यवस्थापकको उसके अनुसार संकेत दिया जा सकता है, यह सूक्ष्म बात श्रीकृष्णचन्द्रके ध्यानमें थी। त्यागी, तपस्वी, संतोषी ब्राह्मणोंसे कुछ पूछकर जाननेका प्रयत्न पूरा सफल नहीं हो सकता था। वे कुछ विशेष बतलानेवाले नहीं थे। अतः यह सेवा उन सर्वेशने स्वयं स्वीकार की।

जो सबके स्वामी हैं, सबके आराध्य हैं, सबके ही द्वारा सम्मान पाने योग्य हैं जिनकी इसी यज्ञमें सर्वप्रथम पूजा होनी है, जिनकी आराधनाके लिए ही यजमानने यज्ञारम्भ किया, उन निखिल लोक महेश्वर, सर्वात्मा, सर्वरूप, सर्वाधारके लिए कोई भी कार्य हेय अथवा अपमानका हेतु हो नहीं सकता था। यह ब्राह्मणोंका पाद-प्रक्षालन और उनका

उच्छिष्ट उठाना श्रीकृष्णकी महानता तथा सूक्ष्म दृष्टिका ही परिचायक था। वे नहीं चाहते थे कि युधिष्ठिरके यज्ञमें आये एक भी ब्राह्मणकी किंचित भी उपेक्षा हो अथवा उसे अपनी रुचिके आहारकी प्राप्तिमें तनिक भी संकोच करना पड़े।

जहाँ सर्व समर्थ सर्वज्ञ सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र इतने सतर्क, सन्नद्ध हों वहाँ यज्ञकी शोभा, सम्पन्नता निर्विघ्न पूर्णतामें तो कोई सन्देह रह नहीं सकता। आगत नरेशों तथा श्रेष्ठी वैश्योंमें जैसे स्पर्धा लगी थी। उनमें-से प्रत्येक चाहता था कि उसीके धनसे यज्ञ सम्पन्न हो। प्रत्येक अपने सर्वस्व अर्पणको उत्सुक था और इसका पूरा प्रयत्न कर रहा था कि अधिक-से-अधिक देनेका उसे अवसर मिले। दुर्योधन उपहार लेते-लेते थका जा रहा था। बार-बार उसके सहायक लोगोंको रोक देते थे—'बस! अब आपसे और नहीं लिया जायगा।' लोग तो बार-बार आ जाते थे। उन्हें पहिचानना कठिन था कि वे पहिले भेंट दे चुके हैं।

यज्ञशालामें भगवान हव्यवाहको हस्ति-शुण्डाकार अखण्ड घृताहुति प्राप्त होरही थी और हविष्यकी राशि-राशि आहुति मिल रही थी। गगन और दिशाएँ सुगन्धित धूम्रसे ढक गयी थीं। मन्त्र पाठकी ध्वनि तथा जन कोलाहलके कारण परस्परकी बात बहुत निकट आकर लोगोंको कहनी पड़ती थी। देवता मूर्तिमान होकर अपने आसनोंपर आसीन थे। वे अपना भाग स्वयं स्वीकार कर रहे थे। धर्मराजके यज्ञमें सोमपान करके सुर आकण्ठ तृप्त होगये।

पत्नियोंके साथ पाण्डवोंने ऋष्यादि पूजनसे लेकर बर्हि-हवन तक यज्ञकी सम्पूर्ण विधि श्रद्धापूर्वक सम्पन्न की। साक्षात् यज्ञपुरुष श्रीकृष्णकी सन्निधिमें, संचालनमें ऐसा यज्ञ सृष्टिने पहिली बार देखा। इससे विशाल यज्ञ हुए थे किन्तु यह सम्पूर्णता अपूर्व थी।

अग्र-पूजा

—:*:—

यज्ञ सम्पूर्ण होगया। अभिषेकके अन्तिम दिन सत्कारके योग्य महर्षियों तथा ब्राह्मणोंने यज्ञशालामें प्रवेश किया। सब प्रभावशाली राजा भी वहाँ आकर आसनोंपर बैठ गये। उस समय वहाँ कोई शूद्र अथवा दीक्षा-हीन द्विज नहीं था।

देवर्षि नारद तो श्रीकृष्णचन्द्रके साथ सब राजाओंको बैठे देखकर ध्यानमग्न होगये। उन्हें स्पष्ट लगता था कि पुराण पुरुष पुरुषोत्तम इन नरेश रूपमें धरापर अवतीर्ण राजाओंसे घिरे बैठे हैं।

इसी समय पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा—'आचार्य, ऋत्विक, सम्बन्धी, स्नातक, राजा तथा प्रिय व्यक्ति यदि एक वर्षके अन्तरपर अपने यहाँ आवें तो विशेष अर्घ्य देकर उनका पूजन करना चाहिए। ये सभी लोग हमारे यहाँ बहुत दिनोंके पश्चात् आये हैं। यह तुम्हारे महान अभ्युदयका, सम्राटपदकी प्राप्तिका अवसर है। अतः राजन्! अब तुम समागत राजाओंका यथायोग्य सत्कार करो। इन सबमें जो सर्वश्रेष्ठ हैं, सम्राट जिनको अपना सर्वदा आदरार्ह मानेंगे और जिनका सम्मान करेंगे उनकी स्वयं सबसे प्रथम पूजा करो।

धर्मराज युधिष्ठिरने, सम्राटयुधिष्ठिरने खड़े होकर पूरे समाजके सम्मुख पुकारकर कहा—'इन समागतोंमें सबसे सम्मान्य कौन हैं? किसे प्रथम पूजा प्राप्त होनी चाहिए। हम किसका प्रथमार्चनसे सत्कार करें?'

अब सदस्योंमें मतभेद उपस्थित होगया। कोई किसी महर्षिकी अग्रपूजाके पक्षमें थे और कोई किसी राजर्षिकी। कुछने प्रश्नको विवादसे बचानेके लिए देवराज इन्द्रके प्रथमार्चनका भी सुझाव रखा। लेकिन किसी-की सम्मति निर्विरोध नहीं थी। एक समूह देवताओंको इस प्रकरणमें बीचमें नहीं डालना चाहता था और दूसरा समूह कहता था—'यह सम्राटके द्वारा प्रथम सत्कृत होनेका सम्मान राजाओंमें ही किसीको मिलना चाहिए। सुर

और ब्राह्मण तो सबके पूजार्ह हैं ही। यहाँ इस समय उनकी पूजाका प्रश्न ही नहीं उठता।'

स्वयं सम्राट युधिष्ठिरको तथा उनके भाइयोंको इन सुझावोंके प्रति कोई रुचि नहीं थी। पितामह भीष्मकी ओर युधिष्ठिरने देखा ही था कि मगधराज जरासन्धका पुत्र सहदेव सभामें उठ खड़ा हुआ। जरासन्ध भले राजसूय करके सम्राट नहीं बना था किन्तु राजाओंका अग्रणी रहा था। उसका पुत्र सहदेव अब जरासन्धके समर्थकोंके लिए सम्मान्य था। उसके उठनेपर उस पक्षके सब नरेश चुप होगये।

सहदेवने बहुत गम्भीर होकर कहा—'श्रेष्ठत्व प्राप्त करने योग्य सात्वतोंके स्वामी केवल भगवान श्रीकृष्ण ही हैं। ये सर्व देवमय हैं। देश, काल, वस्तु सब इनका ही स्वरूप है। यह विश्व जिनसे व्याप्त है, यज्ञ जिसकी आत्ममूर्ति हैं, अग्नि आहुतियाँ, मन्त्र अर्थात् सम्पूर्ण कर्मयोग, सांख्य तथा योग जिनकी प्राप्तिके साधन हैं, जो अद्वितीय हैं, विश्वरूप हैं, इस जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके कारण हैं, जिनकी दृष्टि ईक्षण ही माया है जो अनेक प्रकारके कर्म एवं कर्मफल उत्पन्न करती है। धर्मादि श्रेयके समस्त साधन जिनकी कृपासे ही सम्पूर्ण होते हैं, उन महत्तम अच्युतको यह परम पूजा, अर्पित कीजिए। ऐसा करनेपर यह सम्पूर्ण प्राणियोंकी और अपनी भी पूजा होगी। सर्वभूतात्मा, सबको अपनेसे अभिन्न देखनेवाले, शान्त, परिपूर्ण श्रीकृष्णकी पूजा करें, यदि इसे अनन्त फलदायी बनाना है।'

'साधु! साधु! सहदेव सत्य कहते हैं।' एक साथ सहस्रों कण्ठोंने कहा—'सहदेवके वचन श्रेयस्कर हैं। श्रीकृष्णचन्द्र ही अग्रपूजनके योग्य हैं।' महर्षियोंने, मुनियोंने, ब्राह्मणोंने तथा बहुत अधिक राजाओंने भी कहा।

भीष्म पितामह खड़े होकर बोले—'सम्राट! पृथ्वीमें यदुवंश शिरोमणि श्रीकृष्णसे श्रेष्ठ दूसरा कोई पूजाका पात्र नहीं है। तुम क्या देखते नहीं हो कि उपस्थित सदस्योंमें श्रीकृष्ण अपने तेज, बल एवं पराक्रमसे ही देदीप्यमान होरहे हैं। श्रीकृष्ण हमारी इस सभाके प्राण हैं। जगतके जीवनदाता हैं। उनकी उपस्थितिमें श्रेष्ठत्वका निर्णय कैसा? सहदेवने ठीक कहा है, तुम अच्युतकी अग्र-पूजा करो!

जरासन्धके पुत्रने प्रस्ताव किया और अमित पराक्रम कुरुकुलके पितामह उसका अनुमोदन कर चुके। ऋषिगण, विप्रवर्ग समर्थन कर ही रहा था। इस प्रकार यह प्रायः सभी सभासदोंकी इच्छाका प्रतीक प्रस्ताव बन गया। पाण्डव सम्राट युधिष्ठिरकी तो आन्तरिक अभिलाषा ही यह थी। राजसूय यज्ञका यह पूरा आयोजन ही उन्होंने अपने इन आराध्यके अर्चनके लिए किया था। अतः युधिष्ठिर अपने सिंहासनसे उठे। उनके उठते ही वाद्योंका तुमुल निनाद गूँजने लगा। शंख ध्वनि होने लगी। सभी ऋषि-मुनि एवं ब्राह्मण सस्वर पुरुषसूक्तसे स्तवन करने लगे।

पाण्डव सहदेवने अर्घ्यपात्र उठाया और विशेष अर्घ्य दिया। श्रीकृष्णने विधिपूर्वक अर्घ्य स्वीकार किया। प्रेमाधिक्यसे विह्वल सम्राट् युधिष्ठिरके कर काँपने लगे जब उन्होंने स्वर्णपात्रमें श्रीकृष्णके पद्मारुण पद अपने करोंसे धोया। उनके नेत्र अश्रुपूर्ण होगये। साम्राज्ञी द्रौपदीने अपने अञ्चलसे उन चरणोंको पोंछा।

धर्मराजने, उनकी महारानीने, उनके भाइयों, मंत्रियोंने तथा उनकी पत्नियोंने तो वह भुवन पावन चरणोदक मस्तकपर चढ़ाया ही, भीष्म, विदुर जैसे सहस्रशः भगवत्प्रभावके ज्ञाता उस पादोदकके प्रार्थी होकर आगे आगये और सम्राटने सप्रेम स्वयं उसका वितरण किया।

रत्नजटित पीताम्बर, अतिशय मूल्यवान आभरण, अङ्गरागादिसे युधिष्ठिरने श्रीकृष्णचन्द्रको सत्कृत किया किन्तु अनुरागके आधिक्यके कारण उनके नेत्रोंमें अश्रु भरे थे, शरीरका रोम-रोम उत्थित होरहा था। समस्त देह काँप रहा था। वे कठिनाईसे यह सत्कार सम्पन्न कर सके।

युधिष्ठिरके पश्चात् भीमसेन, अर्जुन, सहदेव तथा नकुलने भी सपत्नी आगे आकर मधुसूदनका अर्चन किया। उनको लगा कि आज वे कृत-कृत्य होगये। जीवनकी सम्पूर्ण सफलता उन्हें आज प्राप्त हुई।

वाद्योंकी ध्वनिसे गगन गूँज रहा था। पुष्प वर्षा होरही थी। लोग हर्षोन्मत्त होकर जयनाद कर रहे थे और सहस्रशः शंख एक साथ बज रहे थे। विप्रोंका मन्त्रपाठ, मुनियोंका स्तवन, कोई कुछ सुन नहीं रहा था। सब जयध्वनि या स्तुति कर रहे थे। पूरा यज्ञीय भाग पुष्पवर्षासे आच्छादित होता जारहा था। धराके साथ गगनसे भी पुष्प वर्षा होरही थी और वहाँ भी वाद्य-ध्वनि तथा जय-ध्वनि गूंज रही थी।

———

शिशुपाल-वध

श्रीकृष्णचन्द्रकी अग्रपूजा हुई, उनका जयघोष एवं स्तवन होने लगा। इससे सब प्रसन्न थे किन्तु शिशुपाल जैसे क्रोधके कारण जला जा रहा था। वह उठकर खड़ा हुआ, चिल्लाया, किन्तु उस कोलाहलमें उसका स्वर सुनायी नहीं पड़ा, उसकी ओर किसीने ध्यान नहीं दिया।

शैशवसे शिशुपालके हृदयमें श्रीकृष्ण-द्वेष जमकर बैठा था। जब उसका जन्म हुआ, उसकी चार भुजाएँ और तीन नेत्र थे। वह गर्दभके स्वरमें रेंकते हुए रोने लगा था। इससे सब स्वजन सम्बन्धी डर गये और इस अशुभ शिशुका त्याग कर देनेका निर्णय चेदिराज दमघोषने कर लिया।

उसी समय आकाशवाणी हुई—'राजन्! डरो मत। तुम्हारा यह पुत्र बहुत बलवान और प्रतापशाली होगा।' आकाशवाणीने कहा था—'शिशुपालय' इसलिए उसका नाम शिशुपाल पड़ा।

इस आकाशवाणीसे उस शिशुकी माता महारानी श्रुतस्रवाको सबसे अधिक आनन्द हुआ। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'जिसने भी अलक्ष्य रहकर मेरे पुत्रके सम्बन्धमें भविष्यवाणी करके इसकी रक्षा की है, वे मेरे लिए तो भगवान ही हैं। वे इतनी कृपा और करें कि मुझे यह बतला दें कि मेरे इस पुत्रकी मृत्यु किसके हाथसे होगी।'

आकाशसे उत्तर आया—'जिसकी गोदमें जाते ही इसके दो हाथ गिर जायँ और तीसरा नेत्र लुप्त होजाय उसके हाथसे ही इसकी मृत्यु होगी।'

चेदिराजके इस अद्‌भुत शिशुको देखने दूर-दूरसे लोग आने लगे। राजा दमघोष स्वयं भी प्रसिद्ध वीरोंको, राजाओंको आमन्त्रित करने लगे। जो भी आते थे उनकी गोदमें वे अपने पुत्रको रख देते थे। इस क्रममें जरासन्धने तो शिशुको अपना धर्मपुत्र ही बना लिया।

श्रीकृष्णचन्द्र श्रीबलरामके साथ मथुरासे अपनी बुआके इस अद्‌भुत बालकको देखने आये। बुआने उन्हें आग्रहपूर्वक बुलाया था। स्वागत

सत्कारके पश्चात् बुआने जैसे ही श्रीकृष्णकी गोदमें अपना पुत्र दिया, उसकी दो भुजाएँ गिर गयीं और तीसरा नेत्र लुप्त होगया।

बुआने बहुत कातर होकर कहा—'कृष्ण! मैं तुमसे बहुत डर गयी हूँ। तुम आर्तोंको अभय देनेवाले और दुःखियोंका दुःख दूर करनेवाले हो। मुझे यह वरदान दो कि मेरी ओर देखकर मेरे इस पुत्रके सब अपराध तुम क्षमा कर दोगे।'

श्रीकृष्णने कह दिया—'बुआजी! मैं इसके ऐसे सौ अपराध क्षमा कर दूँगा जिनमें एकके करनेपर भी किसीको मार देना चाहिए।'

यह घटना शिशुपालने बालक रहते ही सुनी थी और चिढ़ गया था। उसका मत था—'वह स्वयं तो चतुर्भुज वासुदेव बना हुआ है और मुझमें एक साथ नारायण तथा शंकरके लक्षण थे, उसे ईर्षावश उसने नष्ट कर दिया।'

शैशवसे ही वह श्रीकृष्णको गालियाँ देने लगा था। उसके द्वेषकी अग्निमें संयोगने सदा आहुति ही दी। वह कुण्डिनपुर वर बनकर रुक्मिणीसे विवाह करने गया था किन्तु कृष्णने उस कन्याका हरण कर लिया और उसे निराश लौटना पड़ा।

जिस जरासन्धने उसे धर्मपुत्र बनाया था, जिसे वह पिताके समान मानता था, उसे श्रीकृष्णने छलपूर्वक भीमके हाथों मरवा दिया। उस समय शिशुपाल मन मारकर रह गया क्योंकि जरासन्धका पुत्र सहदेव, जिसे वह छोटे भाईके समान मानता था, पाण्डवोंके पक्षमें होगया था और विरोध करनेका अर्थ उस पितृहीन बालकसे युद्ध करना भी हो सकता था।

शिशुपालके मतसे सहदेव बालक था। श्रीकृष्णकी प्रथम पूजाका प्रस्ताव उसने अज्ञानके कारण किया था, किन्तु सबने उसका समर्थन कर दिया, यह शिशुपालकी सहन शक्तिके बाहर था। जैसे ही जयनादका शब्द शान्त हुआ, कोलाहल रुका, वह उठ खडा हुआ और हाथ उठाकर चिल्लाकर कठोर वाणीमें कहने लगा—

'कितने आश्चर्यकी बात है कि इस विद्वानों और बड़े वृद्ध लोगोंकी सभामें सबकी बुद्धि बालक सहदेवके प्रस्तावसे भ्रान्त होगयी। पाण्डवोंने कृष्णकी पूजा करके अपने योग्य काम नहीं किया है। भीष्मकी बुद्धि भी सठिया गयी है। इनके जैसे धर्मात्मा भी जब मनमाना काम करने लगें

तो जगतमें अपमानित ही तो होंगे। कृष्ण राजा नहीं है। अतः राज-सभामें सम्मानका पात्र भी नहीं हो सकता। आयुमें भी वह सबसे वृद्ध नहीं है, इसके तो पिता तथा पितामह भी जीवित हैं।'

अब शिशुपालने पाण्डव पक्षके लोगोंके मनमें भेद उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया—'यदि इसे तुम लोगोंने अपना हितैषी और मित्र माना तो क्या यह महाराज द्रुपदसे बड़ा तुम्हारा हितैषी है? यदि तुमने आचार्य मानकर इसकी पूजा की है तो द्रोणाचार्यकी उपस्थितिमें इस गोपकी पूजा क्यों? ऋत्विक्‌की दृष्टिसे भी वयोवृद्ध श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यासकी पूजा उचित थी। इच्छामृत्यु पुरुष श्रेष्ठ अपने पितामह भीष्मके रहते तुमने कृष्णकी पूजा क्यों की? तुम्हें पराक्रमीकी पूजा करनी थी तो अश्वत्थामाकी करते। राजाधिराज दुर्योधन यहाँ हैं, भरतवंशके आचार्य कृप हैं, किम्पुरुषोंके आचार्य द्रुम हैं, महात्मा पाण्डुके समान माननीय सर्वसद्‌गुण सम्पन्न भीष्मकजी हैं इनकी उपस्थितिमें जैसे कौएको यज्ञीय हविष्य दे दी जाय, ऐसे तुमने कंसके चरवाहेकी अग्रपूजा कैसे कर दी?

'कृष्ण न राजा है, न ऋत्विक् है, न आचार्य है फिर तुमने इसकी प्रथम पूजा क्यों की? इसीकी पूजा करनी थी तो हमलोगोंको बुलाकर इस प्रकार सबका अपमान नहीं करना था। हमलोग भय अथवा लोभसे तुम्हें कर नहीं देते। हमने तो समझा था कि युधिष्ठिर सीधा धर्मात्मा मनुष्य है। यह सम्राट होजाय तो अच्छा है किन्तु तुम मूर्ख सिद्ध हुए। कृष्णकी पूजा करके तुम हमारा अपमान कर रहे हो। तुम तो अविवेकी होनेपर भी अचानक धर्मात्मा प्रसिद्ध होगये।'

अब उसने श्रीकृष्णको सीधे सम्बोधित किया—'कृष्ण! पाण्डव डरपोक हैं और भोले हैं। इन्होंने भूल की तो तुम्हें तो इन्हें बतला देना था कि तुम किस पूजाके अधिकारी हो। यदि इन्होंने अज्ञतावश तुम्हारी पूजा कर भी दी तो तुमने अनधिकारी होकर उसे स्वीकार कैसे किया? कोई कुत्ता छिपकर यज्ञमें घृत चाट ले तो वह कृतकृत्य नहीं होजाता। अयोग्य पूजा स्वीकार करके तुम बड़े नहीं होगये, न इससे हम राजाओंका ही अपमान हुआ। यह तो तुम्हारा ही उपहास हुआ। नपुंसकका विवाह, अन्धेको दर्पण दिखाना, भिक्षुकको राजाओंके मध्य सिंहासन देना उसकी हँसी ही उड़ाना है। तुम, भीष्म, युधिष्ठिर सब एकसे एक बढ़कर मूर्ख हो। हमने सबको देख लिया।'

शिशुपाल अपने आसनसे उठा। कुछ अपने समर्थक राजाओंको लेकर वहाँसे जानेको उद्यत हुआ। धर्मराज युधिष्ठिर भी उठे और शीघ्रतापूर्वक उसके समीप जाकर समझाने लगे—'राजन्! आप इस समय आवेशमें उचित बात नहीं कर रहे हैं। कटु वचन बोलना केवल व्यर्थ नहीं होता, अधर्म भी होता है। पितामह भीष्म धर्मके परम मर्मज्ञ हैं। आप उनका तिरस्कार मत कीजिए। यहाँ उपस्थित विद्वान् वयोवृद्ध राजाओं तथा ऋषियोंमें-से किसीको भगवान श्रीकृष्णकी अर्चा अनुचित प्रतीत नहीं हुई। श्रीकृष्णके तत्त्वको केवल पितामह भीष्म ही जानते हैं।'

शिशुपाल श्रीकृष्णकी प्रशंसा सुनकर और चिढ़ गया। इसी समय सिंहके समान दहाड़ते स्वरमें पितामह भीष्मने कहा—'युधिष्ठिर! श्रीकृष्ण त्रिभुवनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। जो उनकी पूजा स्वीकार नहीं करता, उससे अनुनय-विनय व्यर्थ है। क्षत्रिय धर्मके अनुसार जो युद्धमें जिसे पराजित कर देता है वह विजेता विजितसे श्रेष्ठ होता है। यहाँ उपस्थित नरेशोंमें कोई है जो कह सके कि उसने श्रीकृष्णसे युद्ध किया और पराजित नहीं हुआ? ये पुरुषोत्तम केवल हमारे ही नहीं, सुरों सहित सम्पूर्ण त्रिभुवन द्वारा पूजित हैं। यह जगत इन सर्वात्माके ही आधारपर स्थिर है। मैंने महर्षियोंके मुखसे श्रीकृष्ण माहात्म्य सुना है। यहाँ आये श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति मैंने जान ली है। हमने स्वार्थवश या सम्बन्धके कारण इन अच्युतका पूजन नहीं किया है। हमने पूजा इसलिए की है कि समस्त जगतके प्राणियोंका मंगल इन जनार्दनके चरणोंकी अर्चनामें ही है। यश, शूरता, सद्गुणमें कोई पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी समता नहीं कर सकता। ज्ञान तथा पराक्रम दोनों दृष्टियोंसे जो सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनमें दान, कौशल, शास्त्र ज्ञान, शौर्य, संकोच, कीर्ति, बुद्धि, विनय, लक्ष्मी, धैर्य, तुष्टि, पुष्टिका नित्य निवास है, वे परमज्ञानी श्रीकृष्ण हमारे आचार्य, पिता, गुरु, ऋत्विक, सर्वस्व हैं। इसलिए हमने उनकी पूजा की है।'

'विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिनका लीला-विलास है, जिनकी क्रीड़ाके लिए ही जड़-चेतन सचराचर सृष्टि प्रकृति प्रकट करती है, जो स्वयं विश्वरूप हैं और प्रकृतिसे परे हैं, जो जन्म-मरणसे असंस्पृश्य सर्वसंचालक हैं उनसे अधिक पूज्य कोई कैसे हो सकता है।'

'बुद्धि, मन, महत्तत्त्व, पंचमहाभूत और सब प्राणी जिनके आधारपर स्थित हैं, सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, दिशा-विदिशा, काल-कर्म, सबके जो आधारभूत हैं वे श्रीकृष्ण श्रुतिमें गायत्री, नक्षत्रोंमें चन्द्र तथा पक्षियोंमें गरुड़के समान सर्वश्रेष्ठ हैं।

'यहाँ जितने राजर्षि, महर्षि उपस्थित हैं उनमें कौन है जो श्रीकृष्ण-को पूज्य न मानता हो ? जिसे उनके चरणोंमें मस्तक रखनेमें अपना सौभाग्य न प्रतीत हो ? युधिष्ठिर ! श्रीकृष्णकी निन्दा करनेवालेसे बोलना भी अधर्म है। अतः शिशुपाल और उसके साथी जो करना चाहें, करें। उनसे कुछ मत कहो। वे उपेक्षणीय हैं।'

पाण्डु पुत्रोंको भगवान श्रीकृष्णके प्रति अपशब्द असह्य होउठे थे। पितामह भीष्मके चुप होते ही माद्रीनन्दन सहदेव उठ खड़े हुए। उनके नेत्र अंगार होउठे थे। ओष्ठ फड़क रहे थे। वे क्रोधपूर्वक गर्जना करते बोले— 'भगवान श्रीकृष्ण हमारे और समस्त जगतके आराध्य हैं। वे सर्वश्रेष्ठ हैं अतः हमने उनकी प्रथम पूजा की है। जिन्हें यह बात सहन नहीं होरही है उनके मस्तकपर मेरा यह वाम पद ! जिसको विरोध करना हो वह बोले, मैं उसका वध करूँगा। सब बुद्धिमान, श्रेष्ठजन श्रीकृष्णकी पूजाका समर्थन करें।'

सहदेवने यह कहकर अपना वाम पद उठाकर जोरसे पटक दिया। सब लोग स्तब्ध रह गये किन्तु शिशुपालके समर्थकोंमें-से भी कोई एक शब्द बोलने तकका साहस नहीं कर सका। सहदेवके मस्तकपर गगनसे पुष्प वर्षा होने लगी। देवताओंने पुकारा—'साधु ! सहदेव साधु। तुम्हारा साहस और व्यवहार श्लाघ्य है।'

अचानक देवर्षि नारदने उठकर सबको चौंका दिया। वे स्पष्ट शब्दोंमें बोले—'जो लोग कमललोचन श्रीकृष्णचन्द्रकी पूजा नहीं करते उनको जीवित भी मृत मानना चाहिए। उनके साथ बात नहीं करनी चाहिए।'

सहदेवने अब यथाक्रम सबकी पूजा प्रारम्भ कर दी। शिशुपालकी उपेक्षा कर दी गयी, जैसे वह नगण्य हो अथवा वहाँ हो ही नहीं। पाण्डवोंने सब राजाओंको सत्कृत किया किन्तु शिशुपालको छोड़ ही दिया।

शिशुपालके नेत्रोंसे जैसे अङ्गार झड़ने लगे। यज्ञमें विघ्न डालनेपर

वह उतारू होगया था। उसने वहीं खड़े होकर हाथमें नग्न खड्ग ले
राजाओंको पुकारा—'मैं सेनापति बनकर खड़ा हूँ। आप सब इतना अ
मान सहकर शान्त क्यों बैठे हैं? आइये हम लोग मिलकर पाण्डवों त
यादवोंकी सम्मिलित शक्तिको आज सदाके लिए समाप्त कर दें।'

धर्मराज युधिष्ठर डर गये। अनेक राजाओंके मुखपर क्रोधके
उन्हें दिखाई पड़े। वे उठकर भीष्म पितामहके समीप जाकर बोले—'यज्ञ
निर्विघ्न समाप्ति तथा प्रजाके हितके लिए इस समय मेरे कर्तव्यका आ
निर्देश करें।'

भीष्म पितामह हँसकर बोले—'युधिष्ठिर! जीवका सदा सब स
प्रत्येक परिस्थितिमें एक ही कर्तव्य है कि अपनेको अशरण-शरण, भक्त-भ
हारी भगवानके आश्रयमें छोड़ दे और निर्भय, निश्चिन्त रहे। सर्व-स
श्रीकृष्णचन्द्रकी उपस्थितिमें भयका कारण नहीं है। सिंहको देखकर जै
श्वान भूँकने लगें, वैसे ही मूर्ख शिशुपाल मृत्युके मुखमें जाना चाहता है
लगता है कि श्रीकृष्ण इसका तेज अब खींच लेना चाहते हैं। ये माधव
सम्पूर्ण जगतके मूलकारण तथा प्रलय स्थान हैं, अतः तुम निश्चिन्त रहो

भीष्मकी बात सुनकर शिशुपाल चिढ़कर बोला—'तुम्हें सब राजाओं
को धमकाते लज्जा नहीं आती? वृद्ध होकर कुल कलंक हो तुम! मू
भी जिसकी निन्दा करते हैं उसी गोपकी तुम ज्ञानी होकर स्तुति कर र
हो। इसने बचपनमें पक्षी, घोड़ा ही नहीं मारा, बैल भी मारा है
पूतनाको मारकर यह स्त्रीघाती बन गया और अपने मामा कंसका ही इस
वध किया। धर्मज्ञानीजी! तुम इसी स्वजन घातीको जगत्पति कहते हो
तुम धर्मध्वजी हो। अपने स्वभावकी नीचताके कारण ही तुमने पाण्डवों
भी वैसा ही बना दिया। धर्मकी आड़में तुमने ही कौनसे कम दुष्क
किये। तुम काशिराजकी कन्याको हर लाये और अपनी नपुंसकताके कार
ब्रह्मचारी बने रहे। तुम्हारे जैसे वृद्ध, नपुंसक, पुरुषार्थहीनकी सम्मति
पर चलकर पाण्डव भी कर्तव्यच्युत होरहे हैं।'

शिशुपालकी कठोर वाणी सुनकर भीमसेन क्रोधसे काँपने लगे
दाँत पीसकर उन्होंने गदा उठायी किन्तु भीष्मने उन्हें रोक दिया। शिशु
पाल अट्टहास करके बोला—'छोड़ दो। इस पेटूको छोड़ दो। मैं इसे
मारकर मगधराजके ऋणसे अभी उऋण होजाऊँगा।'

भीष्मने शिशुपालकी बातपर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने भीमसेनको शिशुपालके जन्मकी कथा सुनाकर कहा—'भीम, आज इसने भरी सभामें मेरा अपमान किया है किन्तु यह तो मृत्युके मुखमें जानेवाला है। इसके प्रलापपर ध्यान मत दो। यह नहीं जानता कि श्रीकृष्ण इसे अभी समाप्त करनेवाले हैं, इसीसे सिंहके समान दहाड़ रहा है।'

शिशुपाल व्यंगपूर्वक बोला—'भीष्म! तुम्हें दूसरेकी स्तुतिका ही व्यसन है तो भाटके समान इस नन्दपुत्रको छोड़कर औरोंकी प्रशंसा करो। दरदराज वाह्लीककी स्तुति करो जिनके जन्मके समय पृथ्वी काँप उठी थी। महारथी कर्ण, आचार्य द्रोण अथवा अश्वत्थामाकी भर पेट प्रशंसा कर लो। तुम बहुत छुद्र और खोटे हो। इन नरेशोंकी दया से ही अबतक जीवित हो।'

पितामह भीष्मकी दहाड़ गूँजी—'शिशुपाल! तू कहता है कि मैं राजाओंकी दयासे जीवित हूँ? कौनसे हैं वे छुद्र नरेश जो भीष्मपर दया करनेका दम्भ करते हैं? हमने जिन श्रीकृष्णका पूजन किया है वे यहाँ सबके सामने बैठे हैं। जिनको मारनेकी उतावली हो वे श्रीकृष्णको ललकारते क्यों नहीं। ये चक्र, गदाधारी उसे शीघ्र ही धराशायी कर दगे।'

शिशुपालने उत्तेजनामें आकर कहा—'कृष्ण! मैं तुम्हें ललकारता हूँ। पाण्डवोंने मूर्खतावश तुम्हारे जैसे कंसके दास, मूर्ख और अयोग्यकी पूजा की है। अतः अब तुमलोगोंका वध ही उचित है।'

श्रीकृष्णचन्द्र अब तक शान्त बैठे थे। जीव कुछ भी करे, ईश्वर उसे अपराध नहीं मानता। प्राणीका कोई कार्य परमात्माके लिए अपराध नहीं बना करता। श्रीकृष्ण ऐसें बैठे थे जैसे वे कोई गणना कर रहे हों। केवल देवर्षिने लक्षित किया कि जब शिशुपाल उन्हें गाली देता है उनकी अँगुलियों-पर संख्यांकन करनेवाला अंगुष्ठ स्थिर रहता है, किन्तु जब शिशुपाल युधिष्ठिरको, भीष्मको अथवा और किसी पाण्डवको अपशब्द कहने लगता है तो श्रीकृष्णका अंगुष्ठ प्रत्येक अपशब्दकी गणना करता अँगुलियोंपर आगे बढ़ता जाता है।

भगवानका भला जीव क्या अपराध करेगा। अपने प्रति किये गये अपराधको तो ये उत्तमश्लोक देखते ही नहीं, उसकी गणना तो क्या करेंगे किन्तु भक्तापराध क्षमा करना वे नहीं जानते। भक्तके प्रति किया गया प्रत्येक अपराध ऐसा है कि उसके लिए अपराधीका वध कर दिया जाय। अतः शिशुपालका वह प्रत्येक अपशब्द जो भक्तोंमें किसीको कहा गया,

श्रीकृष्णकी गणनामें आता गया और अब ऐसे अपराधोंकी संख्या सम सौ पूरी होचुकी थी।

उन पुरुषोत्तमका मेघगम्भीर स्वर गूँजा—'इसने आज भरी जैसा दुर्व्यवहार किया है, आप सबने देखा ही है। मैं इसके अनेक बुआकी बात मानकर सहता रहा हूँ किन्तु अब अधिक इसकी बातें मैं नहीं कर सकता।'

शिशुपालके सिरपर तो काल आ गया था। वह अट्टहास बोला—'कृष्ण! तुझे सौ बार गरज हो तो मेरी बातें सहन कर, सुन जो तुझसे हो सके कर ले। मैं तेरी प्रसन्नता या क्रोधकी किञ्चित भी नहीं करता।'

भीमसेन, सहदेव, संजय आदि लोगोंके लिए भगवान पुरुषो प्रति कहे गये ये कठोर वचन असह्य होगये। भगवन्निन्दा सुनना महापाप है। इन लोगोंने हथियार उठा लिये। यह देखकर शिशु सबकी भर्त्सना की—'तुम सब एक साथ मरना चाहते हो तो आ जाओ आज इस ग्वालेके साथ इसके सब साथियोंको यमपुर भेज दूँगा।'

शिशुपाल झपटा। श्रीकृष्णका दक्षिण कर ऊपर उठा और करसे उन जनार्दनने अपनोंको संकेत करके रोक दिया। उनके दक्षिण उनका कोटि सूर्य समप्रभ सहस्रार महाचक्र चमका और दूसरे ही शिशुपालका छिन्न मस्तक भूमिपर गिर पड़ा। उसका शरीर भी बढ़कर गिर गया। शिशुपालके शरीरसे एक अद्भुत ज्योति निकली। महान् ज्योति कि दिशाएँ उससे प्रकाशित हो उठीं। सबके देखते हुए ज्योतिने श्रीकृष्णकी प्रदक्षिणा की और फिर उनके श्रीचरणोंमें लीन होग

शिशुपालके समर्थक नरेश प्राण लेकर उस सभासे निकल भागे अपने रथोंको दौड़ाते भागते चले गये। उन्हें भय लगा कि श्रीकृष्णका अब उनका भी सिर समेट लेनेवाला है।

युधिष्ठिरने तत्काल भीमसेनसे कहा—'यह अपना सम्बन्धी ही तत्काल इसकी अन्त्येष्टि की जानी चाहिए।'

शिशुपालका शव अविलम्ब उठाया गया। स्थान स्वच्छ कर दिय सायंकालसे पूर्व ही यमुना तटपर शिशुपालका शरीर चिताग्निमें चुका था।

बैरका बीज हँसी

धर्मराज युधिष्ठिरका यज्ञ पूर्ण हुआ। शिशुपालके मारे जानेपर सके साथी, समर्थक भाग गये थे और जिनके मनमें विरोध था भी वे केतसे भी उसे प्रकट करनेका साहस नहीं कर सकते थे। उन्होंने सहयोग नेमें अधिक अपनेको उत्सुक दिखलाया। अब सम्राटका स्नेह प्राप्त करनेमें ी समझदारी थी।

यज्ञकी पूर्णाहुति हुई सम्राट पदपर सपत्नीक युधिष्ठिरका अभिषेक आ। द्रौपदी साम्राज्ञी हुई तो श्रीकृष्णचन्द्रने प्रथमोपहार अर्पित किया। सके पश्चात् सबने एक साथ अवभृथ स्नान किया। यज्ञीय भस्मको अंगमें गाकर अवभृथ तो उल्लासका स्नान है। वाद्योंकी मंगल ध्वनि, सुललित ंगीत और परस्पर एक दूसरेपर जल उछालना। महिलाओंने पिचकारियां ठा लीं और जिनसे भी परिहासका सम्बन्ध था सबको आनन्दकी उमंगसे ाप्लुत कर दिया।

अवभृथके पश्चात् सम्राटने ऋषियोंको, ब्राह्मणोंको, सूत, मागध, न्दी प्रभृति कला जीवियोंको, शिल्पकारों और सेवकोंको सादर वस्त्र, ाभूषण, गौ, गज, अश्व, रथ, स्वर्ण, रत्नादि देकर सन्तुष्ट करके विदा किया।

राजाओंको, उनके परिवार तथा सेवकोंको सम्राटने इतने उपहार दिये कि उनको स्वयं संकुचित होना पड़ता था। सब युधिष्ठिरकी उदारताकी, शीलकी, सम्पत्तिकी प्रशंसा करते विदा हुए। सम्पूर्ण देशमें एक ही चर्चा व्याप्त होगयी—'श्रीकृष्णके अनुग्रहभाजन पाण्डुपुत्रोंका यह अभ्युदय उचित ही है।'

युधिष्ठिरने आग्रह करके सम्बन्धियोंको, सुहृदोंको रोक लिया—अभी तो यज्ञीय व्यस्ततामें मुझे अवकाश ही नहीं मिला कि मैं आप सबसे भली प्रकार मिल भी सकूँ। मुझे अपना समझकर आप सब सेवामें ही व्यस्त रहे। अब मुझे भी तो आपके सामीप्यका, सेवाका सौभाग्य मिलना चाहिए।'

लोगोंने अपने परिवार तथा सेवकोंका, सहायकोंका अधिकांश भाग विदा कर दिया। श्रीकृष्णचन्द्रने भी अपने पुत्रोंको, भाइयोंको, सेनाको

द्वारिका लौटा दिया किन्तु उनकी महारानियोंको साम्राज्ञीने रोक लिया। मुख्य-मुख्य सम्बन्धी, सुहृद सम्राटके आग्रहसे रुके रहे।

इस यज्ञमें सबसे अधिक असन्तोषको दबाकर दुर्योधनको काम करना पड़ा था। वह पाण्डवोंकी लोकप्रियता, शक्ति, सम्पत्तिसे बचपनसे ही ईर्ष्या करता था। पाण्डुपुत्रोंको नष्ट कर देनेके उसने कुटिल प्रयत्न कई किये थे और वही अब सम्राट होगय थे। विडम्बना यह कि सम्राटके लिए आये उपहार स्वीकार करनेका कार्य उसे ही करना पड़ा था।

अपने आपमें यह बहुत बड़ा गौरव दिया श्रीकृष्णने उसे। वह सम्राटका प्रतिनिधि था। सब नरेश उसके सम्मुख पंक्तिबद्ध अपना क्रम आनेकी प्रतीक्षा करते थे और सादर मस्तक झुकाकर अपने उपहार अर्पित करते थे। उसके साथ एक शब्द भी बोल लेना बहुत प्रतापी राजाओंके लिए भी सम्मानकी बात थी। वह सस्मित देखकर भी दूसरोंको उपकृत करनेकी स्थितिमें था किन्तु इस सबमें उसका नहीं युधिष्ठिरका गौरव था। वह अपार रत्नराशि युधिष्ठिरके लिए आ रही थी। दुर्योधनकी ईर्ष्या, जितना सम्मान उसे उस समय मिला, उससे भड़कती गयी। प्रत्येक बहुमूल्य उपहार उसे द्वेष दग्ध करता गया और उपहार तो इतने दुर्लभ, इतने बहुमूल्य तथा इतने अधिक आ रहे थे कि सुरपति भी उनकी स्पृहा करें।

शिशुपालका विरोध दुर्योधनको प्रसन्न करनेवाला था किन्तु वह चक्रपाणिके क्रोधकी ज्वालामें जल गया। दूसरे विरोधी दीखे भी नहीं। सर्वत्र युधिष्ठिरका जय-जयकार, युधिष्ठिरकी प्रशंसा—जो स्वप्न दुर्योधन अपने लिए देखता था वह उसके प्रतिद्वन्द्वीके लिए सत्य होगया, इससे अधिक दुःखद और क्या हो सकता था उसके लिए।

कुष्टमें कण्डूके समान कुरुराजके हृदयमें एक और भयानक शूल उत्पन्न होगया था। उनका चित्त पांचालमें ही द्रुपदराज तनयाके सौन्दर्यपर मुग्ध होगया था और वह अयोनिजा सौन्दर्यमूर्ति देवर समझकर भी उसकी ओर देखती नहीं थी। अवभृथ स्नानके उन्मद उल्लासमें भी उसने एक चुल्लू पानी, एक पिचकारी नहीं फेंकी दुर्योधनपर और दुर्योधन, वह तो उस समय द्रौपदीके समीप ही मंडराता रहा था।*

---

*'यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत्।' —भागवत १०.७५.३२

द्रौपदीका भीगे वस्त्रोंमेंसे झलकता वह श्यामांग और उसका वह मधुर हास्य, वह जल उलीचना, वह चापल्य किन्तु दुर्योधन उसका एक कण भी तो नहीं पा सका। वह द्रुपदतनया तो जैसे श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरेको देखना ही नहीं चाहती। वह श्रीकृष्णको ही सींचने, हँसाने और सत्कृत करनेमें तन्मय। श्रीकृष्ण उसे बहिन न कहकर 'सखि' कहते हैं किन्तु सगी बहिन सुभद्रासे अधिक ही स्नेह देते हैं। दुर्योधनकी लोलुप, दोष-दूषित दृष्टि भी वहाँ कोई दूषण नहीं देख सकी किन्तु द्रौपदी जब श्रीकृष्णके समीप होनेपर पाण्डवोंको ही नहीं देखती तो दुर्योधनजी भी कहीं पास हैं, इसपर उसका ध्यान कैसे जाता।

जलपान, भोजन आदि व्यवस्था साम्राज्ञी द्रौपदी सम्हालती थीं और दुर्योधनको अपने सत्कारमें कहीं त्रुटि नहीं मिली। उनके चित्तका दोष इससे उन्हें भ्रान्त ही करता रहा। उन्हें इस सौजन्य, शील, शिष्टाचारमें भी अपने प्रति आकर्षणका आभास होता था किन्तु उन्हें कहींसे तनिक भी द्रौपदीने प्रोत्साहन नहीं दिया, इससे उनकी पीड़ा बहुत अधिक बढ़ गयी।

अभी विशिष्ट स्वजन विदा नहीं हुए थे। एकदिन मय निर्मित दिव्य सभामें सम्राट युधिष्ठिर साम्राज्ञी द्रौपदीके साथ रत्न सिंहासनपर आसीन थे। श्वेत मुक्ताकी झालरोंसे मण्डित छत्र लगा था। नकुल और सहदेव दोनों ओर चामर लिये खड़े थे। अर्जुन, भीमसेन तथा श्रीकृष्णचन्द्र दूसरे स्वर्ण सिंहासनोंपर बैठे थे जैसे देवराज इन्द्र अपनी अन्तरंग सभामें प्रमुख लोकपालोंसे घिरे विराजमान हों। उस समय वहाँ दूसरे स्वजन सम्बन्धी नहीं थे।

अचानक भाइयोंसे घिरे दुर्योधनने द्वारमें प्रवेश किया। वह उत्तेजित था। हाथमें नंगी तलवार लिये था। मस्तकपर कई किरीटोंसे युक्त मुकुट धारण किये था और आक्षेप कर रहा था—'सम्पत्तिने पाण्डवोंको मदान्ध कर दिया है। बेचारे शिशुपाल जैसे सम्बन्धीका शव चुपचाप जला दिया। उसे राजोचित सम्मान भी नहीं दिया गया। अब यहाँ तो श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं। हम सगे भाइयों तकको साम्राज्ञी पूछती नहीं है। न राजसभामें आते समय सम्राट हमें सूचना देना आवश्यक समझते। सम्राट! हैं......।'

दुर्योधन उस मयकृत सभामें अनेक बार आ चुका था लेकिन इस समय वह आवेशमें होनेसे सावधान नहीं था। उसके भाइयोंका भी ध्यान उसकी बातोंकी ओर था। सब इसी समय युधिष्ठिरको कहकर हस्तिनापुर चले जानेको प्रस्तुत होकर आये थे। उन्होंने निर्णय कर लिया था कि सम्राटका कोई उपहार स्वीकार नहीं करेंगे। दुर्योधनका कहना था—'अब ये हमारे टुकड़ोंपर पले पाण्डुपुत्र हमें उपहार देंगे।'

अचानक दुर्योधनको लगा कि सामने सरोवर है, ऐसा सरोवर जिसके जलमें चरण धोकर ही आगे जाया जाता है। उसने अपने नीचे लटकते वस्त्रोंको उठा लिया किन्तु पद बढ़ाते ही भूल समझमें आ गयी। वहाँ तो स्फटिक भूमि थी। पाण्डव सामने ही देख रहे थे। द्रौपदीके मुखपर स्मित देखकर दुर्योधनने झुंझलाकर वस्त्र छोड़ दिया। वह एक ओर मुड़ा। उसका उद्देश्य था कि पार्श्वसे घूमकर सिंहासन तक पहुँच जाय क्योंकि सरोवर कहीं प्रांगणमें ही था। इस प्रयत्नमें वह द्वार समझकर जहाँ प्रवेश करना चाहता था, वहां भित्तिसे मस्तक टकरा गया।

चोट तो लगी ही, क्रोध भी बहुत आया। अब सीधे ही चलनेका निर्णय करके बढ़ा और प्रांगणके सरोवरमें गिर पड़ा। उसे ध्यान ही नहीं रहा कि सरोवर ठीक कहाँ है। वस्त्र भीग गये।

'अन्धेका पुत्र अन्धा ही होता है।' कहकर भीमसेन जोरसे हँस पड़े। द्रौपदी भी खिलखिलाकर हँसी। युधिष्ठिरने रोकना चाहा किन्तु अब तो जो होना था वह हो चुका था। दुर्योधन उठकर लौटा और भाइयोंके साथ निकल गया भवनसे। वह बिना विदा लिये हस्तिनापुर चला गया। श्रीकृष्णचन्द्र शान्त बैठे रहे। वे कुछ भी नहीं बोले। अवश्य ही इस घटनासे युधिष्ठिर उदास होगये।

दानी कर्ण

श्रीकृष्णचन्द्रने मय द्वारा निर्मित राजसभामें सब पाण्डवोंके मध्य ही कहा—'धर्मराजका राजसूय यज्ञ सम्पूर्ण रूपसे सफल हुआ क्योंकि कर्णके समान दानी दानाध्यक्षका पद सुशोभित कर रहे थे। उनकी सहज स्वाभाविक दानशीलताने सम्राटके सुयशको सर्वत्र प्रसारित करनेका कार्य किया।'

धर्मराज युधिष्ठिर कुछ बोले नहीं। वे सोचने लगे। द्रौपदीको श्रीकृष्णके वचन उपयुक्त लगे किन्तु भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेवको इसमें अतिशयोक्ति लगी। अर्जुनने कहा—'हमलोग कृष्ण तो नहीं हैं। हममेंसे भी कोई उस पदपर होता तो वही करता जो कर्णने किया। इसमें कर्णकी प्रशंसा की जाय, ऐसी तो कोई बात जान नहीं पड़ती।'

श्रीकृष्णचन्द्र कुछ बोलते इससे पहिले ही उस राजसभामें एक ब्राह्मण अतिथि आगये। धर्मराजने भाइयोंके साथ उठकर उन्हें प्रणाम किया। अर्घ्य देकर आसनपर बैठाया और उनके चरण धोये। पूजाके पश्चात् ब्राह्मणने कहा—'मैं तीन दिनसे कुछ आहार नहीं कर सका क्योंकि मेरा नियम है कि स्वयं रन्धन करके अपने इष्टदेवको भोग लगाकर ही प्रसाद ग्रहण करता हूँ।'

युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर पूछा—'इसमें कठिनाई क्या है?' क्योंकि भारत जैसे धर्मप्राण देशमें, धर्मराजके सम्राट रहते एक ब्राह्मणको भोजन बनानेकी सुविधा तीन दिनसे न मिले तो वह सामान्य रूपसे भोजन बनानेवाला निश्चय नहीं होना चाहिए।

ब्राह्मणने कहा—'राजन्! मैं अपने इष्टदेवको अर्पण करनेके लिए रन्धन करता हूँ अत: भली प्रकार सूखे चन्दन काष्ठसे ही करता हूँ और उस ईंधनपर जलका कोई विन्दु पड़ जाय तो वह कुछ-न-कुछ धूम अवश्य देगा। उसे आराध्यको प्रस्तुत होनेवाले नैवेद्यमें ईंधन नहीं बनाया जा सकता।'

तीन दिनसे वर्षाकी झड़ी लगी थी अत: ब्राह्मणकी कठिनाई समझमें आने योग्य थी। युधिष्ठिरने भीमसेनकी ओर देखा। वे उठे और उन्होंने व्यवस्था करनेका प्रयत्न किया। राजभवनमें चन्दनका काष्ठ ईंधनके रूपमें

प्रयोग करने योग्य नहीं है, यह शीघ्र पता लग गया। अनेक सेवक नगरमें भेजे गये। कहीं चन्दन मिल जाय तो उसे बिना भीगे सुरक्षित ले आना कोई समस्या नहीं थी किन्तु संयोग ऐसा कि इन्द्रप्रस्थके पूरे नगरमें चन्दन-काष्ठ कहीं नहीं मिला।

भीमसेनने आकर सूचना दी तो सम्राटका मस्तक चिन्तासे झुक गया। ब्राह्मणने स्वयं ही कहा—'महाराज, आप चिन्ता न करें। आपको अतिथिको निराश करके लौटा देनेका दोष न लगे इसलिए मैं आपके यहाँ कुछ फल ग्रहण किये लेता हूँ। जो वस्तु उपलब्ध ही नहीं है उसमें आपका अपराध भी क्या है।'

ब्राह्मणने फल नैवेद्य अर्पित किये अपने इष्टदेवको और उनका प्रसाद पाकर विदा होने लगे। उन्होंने बहुत आग्रह करनेपर भी कोई दक्षिणा ग्रहण नहीं की। अपरिग्रही ब्राह्मणोंकी तब देशमें बहुलता थी अतः इसमें किसीको कुछ विशेष नहीं लगा।

अर्जुनने पूछ लिया—'आप कहाँ पधारेंगे यहाँसे ?'

ब्राह्मणने कहा—'सुना है महादानी कर्ण इस समय हस्तिनापुर ही हैं। उनके यहाँ जाऊँगा। फल खाकर मेरी तृप्ति नहीं होती और यह आहार मेरे शरीरके भी अनुकूल नहीं पड़ता।'

ब्राह्मण लगभग भूखे, असन्तुष्ट जा रहे थे। यह बात सभीको पीड़ा दे रही थी। श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'आप यदि स्वीकार करें तो हम रथमें आपको यहाँसे हस्तिनापुर पहुँचा दें। हम साधारण नागरिकके वेशमें चलेंगे।'

ब्राह्मण सन्तुष्ट होगये। उन्होंने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। भूखे पेट इन्द्रप्रस्थसे हस्तिनापुरकी पैदल यात्रा और वह भी इस समय जबकि तीन दिन-रातसे वर्षाकी झड़ी रुकनेका नाम नहीं लेती थी, बहुत कठिन थी। अतः रथसे यात्रा करनेका प्रस्ताव उनके लिए सुखद था।

श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनको संकेत किया। दोनोंने साधारण नागरिकका वेश बनाया। एक साधारण रथमें अश्व जोड़े गये। स्वयं श्रीकृष्ण सारथि बने और अर्जुन तथा ब्राह्मणको रथमें बैठाकर चल पड़े।

ब्राह्मणसे कह दिया—'हस्तिनापुरमें कोई पूछे ही तो आप केवल इतना ही बतलावें कि इन्द्रप्रस्थके एक भद्र नागरिक अपने रथमें आपको वहाँ पहुँचा गये हैं।'

ब्राह्मणने इसे स्वीकार कर लिया क्योंकि इसमें उसे असत्य तो कहना ही नहीं था और वह सम्राटके यहाँसे निराश लौटा, इस निन्दामें उसकी अभिरुचि नहीं थी।

रथ कर्णके भवनके सम्मुख ही रुका। ब्राह्मणको उतारकर श्रीकृष्णने रथ थोड़ी दूर ले जाकर खड़ा किया और अर्जुनसे कहा—'हम दोनों छिपकर देखें कि कर्ण क्या करते हैं। मुझे आशा नहीं है कि हस्तिनापुरमें भी सूखा चन्दन इस समय व्यापारियोंके यहाँ मिलेगा। चन्दन यदि दक्षिणसे आया होता तो वह इन्द्रप्रस्थमें भी मिलता।'

श्रीकृष्णके साथ अर्जुन भी छिपकर भवनके बहि:कक्षसे भीतर देखने लगे। कर्णने अपने भवनपर द्वारपाल रखे ही नहीं थे। वह महामनस्वी चाहता था कि रात-दिनमें चाहे जब, चाहे जो भी अर्थी बिना किसी रुकावटके उसके समीप तक पहुँच सके।

कर्णने ब्राह्मणको आसन देकर पूजन किया और आनेका प्रयोजन पूछा। ब्राह्मणने अपनी बात कह दी। कर्णने अपने प्रबन्धककी ओर देखा किन्तु प्रबन्धकने शीघ्र सूचित कर दिया कि भवनके भण्डारमें इस समय सूखा चन्दन नहीं है।

'बहुत चन्दन है यहाँ।' कर्णने हँसकर कहा। उसने किसीको नगरमें जाकर चन्दन लानेकी आज्ञा भी नहीं दी। अपने उस प्रधान सेवकको कह दिया—'तुम इन अतिथिदेवके रन्धनके लिए शेष सामग्री शीघ्र एकत्र करो। ये तीन दिनसे उपोषित हैं। इसमें क्षण भरका भी विलम्ब असह्य है। इंधन मैं स्वयं वहाँ ला रहा हूँ।'

ब्राह्मणने कहा—'राजन्! इंधन जलके छींटोंसे सर्वथा असंस्पष्ट होना चाहिए और उसका प्रयोजन ही तो प्रथम है।'

कर्णने उत्तर नहीं दिया। उसने अपना धनुष उठाकर ज्यासज्ज किया और उस अद्भुत उदार पुरुषके बाणोंने दो क्षणमें तो उस भवनके कलापूर्ण चन्दनके भारी किवाड़ों तथा शय्याके चन्दन काष्ठको चीरकर ढेर कर दिया। इतना करके धनुषकी प्रत्यंचा उतारते हुए कर्णने पूछा—'भगवन्! इतना इंधन आशा है पर्याप्त हागा।'

ब्राह्मण हर्ष विह्वल स्वरमें बोले—'राजन्! आपका कल्याण हो। इसका बहुत अल्पांश ही मेरे रन्धनके लिए पर्याप्त है।'

श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनकी भुजा पकड़ी और उन्हें वहाँसे बाहर ले आये। दोनों रथमें बैठे। मार्गमें सारथि बने श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'धनंजय! तुमने देख ही लिया कि मैं क्यों कर्णके दानशीलताकी प्रशंसा करता हूँ। धर्मराजके राजसदनमें चन्दनसे निर्मित कपाट, शैय्या, आसन तथा दूसरे उपकरणोंकी बहुलता है और मैं जानता हूँ कि उनमेंसे किसी पदार्थको ब्राह्मणके लिए ईंधन बना देनेमें तुममें-से किसीको एक क्षणके लिए भी संकोच नहीं होगा किन्तु समयपर स्मरण आनेका महत्व बहुत बड़ा है। सहज स्वभाव ही जिसका दान करना हो उसीको तत्काल यह स्मरण आ सकता है। ऐसे स्वभाव सिद्ध दानी तो कर्ण ही इस समय धरापर हैं।'

'धन्य हैं कर्ण!' अर्जुनने उन्मुक्त कण्ठसे कहा—'इसलिए भी धन्य हैं कि आप जनार्दन उनकी इस प्रकार प्रशंसा करते हैं।'

इन्द्रप्रस्थसे विदा

अनेक बातें ऐसी हैं कि केवल अनुभव ही कहता है कि उन्हें माननेवाला कभी भ्रान्त नहीं होता। तर्कके द्वारा उनके प्रभावका आकलन कर पाना असंभव है। ऐसा ही है शकुन-शास्त्र। अंग फड़कते हैं, कुछ स्वप्न दीखता है, अमुक प्राणी अमुक प्रकारकी चेष्टा करता या अमुक दिशामें बोलता है, इसका वहाँ रहनेवाले मनुष्यके जीवनसे भी कुछ सम्बन्ध है इसे तर्कसे भले न जाना जा सके किन्तु विश्वके प्रत्येक देशमें मनुष्य सदासे शकुनोंका प्रभाव स्वीकार करता आया है। इन शकुनोंके प्रभावको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भूल प्रकृतिके इन अस्पष्ट संकेतोंकी व्याख्यामें ही बहुधा होती है।

श्रीकृष्णचन्द्रने एक दिन प्रातःकृत्यसे निवृत्त होकर दारुकको अपना रथ सज्जित करनेके लिए कह दिया। स्वयं युधिष्ठिरके समीप जाकर बोले—'मैंने अच्छा स्वप्न नहीं देखा है। मेरी वाम भुजा फड़कती है। लगता है कि शिशुपालके समर्थकोंने द्वारिकापर आक्रमण कर दिया है। इस समय अग्रजके साथ मैं बहुत दिनोंसे यहाँ रह गया। अतः आप अब अनुमति दें।'

राजसूय यज्ञके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने पुत्रोंको द्वारिका भेज दिया था। श्रीबलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्रकी रानियाँ इन्द्रप्रस्थ सम्राटके अनुरोधसे रह गयी थीं। अब तक तो दूसरे सब स्वजन सम्बन्धी भी पाण्डवोंसे विदा लेकर जा चुके थे।

हृदयमें प्रीति हो और प्रेमास्पद समीप हो तो उसका वियोग कौन चाहेगा। भगवान् पुरुषोत्तम पाण्डवोंके प्राण हैं। उन अच्युतका सान्निध्य वैसे भी व्यावहारिक रूपमें संरक्षण, पोषण तथा शिक्षणका अक्षय स्रोत है। श्रीकृष्ण जाएँगे यह सोचते ही प्राण व्याकुल होने लगते हैं किन्तु उन मधुसूदनके मनको कोई आशंका अकारण तो स्पर्श नहीं करती। वे जो सन्देह प्रकट कर रहे हैं उसे देखते हुए उनको रोकना अब उचित नहीं था।

ऐसे समय यात्राके मुहूर्त नहीं देखे जाते। क्षणवार, क्षणतिथिका ही विचार करके केवल लग्नशुद्धि ली जाती है। युधिष्ठिरने तत्काल श्रीकृष्णके प्रस्थानके लिए रथ तथा सेनाको प्रस्तुत होनेका आदेश दे दिया। श्रीकृष्ण भले सर्व समर्थ हों किन्तु सम्राट युधिष्ठिरका हृदय नहीं मानता कि उन्हें असुरक्षित विदा किया जाय। उन्होंने चतुरंगिणी सेना साथ जानेके लिए व्यवस्था की।

युधिष्ठिर चाहते थे कि अर्जुन स्वयं सेनाके साथ जायँ द्वारिका तक किन्तु इसे श्रीकृष्णने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कह दिया—'मेरे साथ अग्रज हैं, सात्यकि हैं और अभी राजसूय यज्ञके पश्चात् यहाँ भी सावधान रहना आवश्यक है। अर्जुनको अभी यहीं रहना चाहिए।'

अर्जुनकी आन्तरिक इच्छा थी श्रीकृष्णके साथ जानेकी किन्तु वे अपने सखाकी सम्मतिका असम्मान नहीं कर सकते। उन्हें इन्द्रप्रस्थ अनिच्छापूर्वक रुकना पड़ा।

रथोंकी उपयुक्त व्यवस्था की गयी। श्रीकृष्णकी रानियोंने कुन्ती देवीके चरणोंमें प्रणाम किया। उनका आशीर्वाद लेकर महारानी द्रौपदी तथा सुभद्रासे मिलकर वे रथोंमें बैठीं। पाण्डव, आचार्य धौम्य आदि तथा नगरवासी अच्युतको पहुँचाने चले। पुरनारियोंने छज्जोंपर-से पुष्प, लाजा, दधि, दूर्वांकुर, केशर आदिकी वर्षा करके श्रीद्वारिकाधीशको सत्कृत किया।

वाद्य, शंखनाद, विप्रोंका स्वस्ति पाठ सब सफल हुए। दूरतक पाण्डव पहुँचाने गये। श्रीकृष्ण बलरामने अत्यन्त आदर पूर्वक पुरवासियोंको

लौटाया। ब्राह्मणोंको, सूत, मागधादिको दान देकर विदा किया। सबने उन्हें आशीर्वाद दिया।

अन्ततः पाण्डवोंको भी लौटना ही था। युधिष्ठिर और भीमसेनकी अच्युतने पद-वन्दना की। अर्जुनको अंकमाल दी। नकुल-सहदेवने उनका चरणस्पर्श किया और जनार्दन विदा हुए।

पाण्डव खड़े देखते रहे। जब तक श्रीकृष्णका रथ, रथका गरुड़ध्वज दीखता रहा, जबतक रथसे उड़ी धूलि दीखती रही वे खड़े देखते रहे उधर। पता नहीं क्यों इस बार हृदय बैठा जाता था। उत्साह जैसे उन सर्वेशके साथ चला गया। कौन जानता था कि श्रीकृष्ण अब भले मिलें, किन्तु इन्द्रप्रस्थसे वे सदाको विदा हुए। अब उन्हें यहाँ नहीं आना है।

वस्त्रावतार

दुर्योधन भाइयोंके साथ इन्द्रप्रस्थसे बहुत रुष्ट गया था। उसकी सदाकी राजाधिराज होनेकी कामना नष्ट होगयी थी। युधिष्ठिरके ऐश्वर्यको देखकर उसके चित्तमें ईर्ष्याग्नि जल रही थी और पाण्डवोंको समाप्त करके सम्पूर्ण राज्य प्राप्त करनेकी कोई आशा रही नहीं थी।

ऐसे समय शकुनिने दुर्योधनको समझाया—'निराश होनेकी कोई बात नहीं है। जो काम शक्तिसे नहीं होता, वह नीतिसे सहज सिद्ध होजाता है। राजाओंके लिए द्यूत भी उतना ही सम्मानजनक है जितना युद्ध, और पासोंकी क्रीड़ामें मुझे अब तक किसीने पराजित नहीं किया है।'

शकुनिकी कुमन्त्रणा सफल होगयी। धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंकी सम्मतिके समर्थक बन गये। उन्होंने दुर्योधनके कहनेसे युधिष्ठिरको हस्तिनापुर आकर अक्षक्रीड़ाका आमन्त्रण भेज दिया।

धर्मराज युधिष्ठिर एक तो धृतराष्ट्रके संकोचमें आगये और दूसरी ओर अक्षक्रीड़ाका आह्वान अस्वीकार करना उन दिनों राजाओंके लिए कायरता मानी जाती थी। युधिष्ठिर सम्राट थे, अतः इस आह्वानको अस्वीकार नहीं कर सके।

पाण्डवोंके परम हितैषी श्रीकृष्णचन्द्र द्वारिका पहुँचते ही सौभ-विमानके स्वामी शाल्वके साथ युद्धमें उलझ गये थे। शाल्वने उनकी अनुपस्थितिमें ही द्वारिकापर आक्रमण कर दिया था।

युधिष्ठिर भाइयों और द्रौपदीके साथ हस्तिनापुर गये। उनका धृतराष्ट्रने स्वागत किया। दुर्योधनने उनको भली प्रकार राजभवनमें ही ठहराया। प्रेमपूर्वक उनसे मिला।

धृतराष्ट्र, विदुर, भीष्म आदि सबकी उपस्थितिमें अक्षक्रीडा प्रारंभ हुई। उचित यह था कि युधिष्ठिरके साथ पासा खेलने दुर्योधन बैठता किन्तु उसने शकुनिको अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। धृतराष्ट्रके समर्थनके कारण युधिष्ठिर इसका विरोध नहीं कर सके।

पासेकी क्रीड़ा केवल प्रारब्धका खेल नहीं है। इसमें बहुत अधिक हस्त कौशल और छल चला करता है। सीधे साधे धर्मराज छलको क्या जानें और शकुनि तो इसमें बहुत निपुण था। फलतः युधिष्ठिर हारने लगे।

द्यूतमें कलिका निवास है। उसमें एक उन्माद होता है—'अब जीत जायँगे। इस बारका दाव अवश्य मेरे अनुकूल पड़ेगा।' इस दुराशासे कभी जुआरी उबर नहीं पाता। यहाँ तो शकुनि, दुर्योधन आदि ही नहीं, धृतराष्ट्र तक युधिष्ठिरको उकसाते तथा आवेश दिलाते जा रहे थे।

धन गया, रथ, गज, अश्व आदि गये और सम्पूर्ण राज्य चला गया। युधिष्ठिर द्यूतमें हारते गये। यह उन्माद इस सीमा तक पहुँचा कि वे अपने भाइयोंको दावपर लगाने लगे। सब भाइयोंको हार जानेके पश्चात् स्वयंको दावपर लगाया और हार गये।

'अभी महारानी द्रौपदी जैसी सम्पत्ति है आपके समीप।' शकुनिने कुटिल हंसीके साथ कहा—'उनके बदले हमारी ओरसे सम्पूर्ण राज्य।'

दुर्योधन, कर्ण आदि सबने इसका समर्थन किया। आवेशमें युधिष्ठिरने यह दाव भी लगाया और हार गये। अब दुर्योधनने विदुरसे कहा—'द्रौपदीको यहाँ ले आइये। वह अब कौरवोंकी दासी होकर रहेगी।'

विदुरने दुर्योधनको धिक्कारा। उसे इस प्रकारकी कोई कुचेष्टा करनेसे रोका किन्तु कर्णने दुर्योधनको उकसाया। द्रौपदीने अपने स्वयंवरके समय कर्णके धनुष उठानेपर कह दिया था—'मैं सूतपुत्रका वरण नहीं करूँगी।' यह अपमान कर्णके हृदयमें शूल बना था। वह उसका आज बदला

लेनेपर उतारू था और दुर्योधनको तो उस दिन भीमसेनके व्यंगकी अपेक्षा द्रौपदीका खिलखिलाकर हँसना ही अधिक अपमानकारक लगा था। उसके सिरपर भी इस समय वही भूत चढ़ा था।

विदुर नहीं गये तो प्रीतिकामीको दुर्योधनने भेजा किन्तु वह लौट आया और दुर्योधनकी उपेक्षा करके वह सेवक सभासदोंसे ही पूछने लगा-

'साम्राज्ञी द्रौपदी एकवस्त्रा हैं। वे इस अवस्थामें यहाँ गुरुजनोंके सम्मुख आना नहीं चाहतीं। वे पूछती हैं कि धर्मराजने स्वयंको हार जानेके पश्चात् उन्हें दावपर लगाया, ऐसा करनेका उन्हें अधिकार था या नहीं?'

दुर्योधन इससे जल गया। उसने दुःशासनसे कहा– 'द्रौपदी अब दासी है। उसे यहाँ पकड़ लाओ। उसे जो कुछ पूछना हो, यहाँ आकर पूछे।'

दुःशासन बड़े भाईका आदेश पाकर गया और द्रौपदीके जो केश कुछ ही दिन पूर्व राजसूय यज्ञके अन्तमें मन्त्रपूत जलसे सिंचित हुए थे उन्हीं केशोंको पकड़कर उसे घसीटते हुए उस राजसभामें ले आया।

कुरुकुलकी महारानी, धृतराष्ट्रकी भी ज्येष्ठा पुत्रवधू, पराक्रमी पाण्डवोंकी वह मानिनी पत्नी इस प्रकार केश पकड़कर घसीटकर सभा-भवनमें लायी गयी। भीमसेनके नेत्र क्रोधसे जल रहे थे किन्तु वे विवश थे। उनके सब भाई सिर झुकाये बैठे थे। भीष्म, द्रोण, विदुर आदि सबने सिर झुका रखा था।

द्रौपदीने सबकी ओर देखा। उसे बड़ी आशा थी कि ये वयोवृद्ध प्रतापी लोग उसे बचा लेंगे। उसके पति कुछ करेंगे। उसने कातर कण्ठसे पूछा—'मैं धर्मपूर्वक हारी गयी कि नहीं, यह जानना चाहती हूँ?'

केवल विकर्णने द्रौपदीके पक्षमें बोलनेका साहस किया किन्तु उसे कर्णने डाँट दिया। वह दुर्योधनका छोटा भाई था। उसकी वहाँ क्या गणना थी। कर्णने सबके सम्मुख कहा—'एक पुरुषकी पत्नी सती होती है। यह पाँच पुरुषोंकी स्त्री पण्या है। इसका क्या सम्मान।'

दुर्योधन, शकुनि, कर्ण, सबके सब बहुत अधिक उत्तेजित थे। उस समय वे किसीका भी अपमान करनेमें नहीं हिचकेंगे, यह सबको स्पष्ट लग रहा था। द्रौपदीका प्रश्न भी कम जटिल नहीं था। युधिष्ठिर स्वयंको हार चुके थे, तब उनका स्वत्व पत्नीपर रहा था या नहीं? इसका उत्तर इतना

सरल तो नहीं है। कर्णका कहना था—'पत्नीपर पतिका सदा स्वत्व होता है।' इसे भी एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता था और द्रौपदीके पक्षमें भी तर्क था।

प्रश्नकी जटिलता और अपने अपमानका भय—सबने सिर झुका लिया था। कोई एक शब्द भी नहीं बोला। इसी समय दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—'पाण्डवों और द्रौपदीके वस्त्र उतार लो।'

पाण्डवोंने अपने आभूषण पहले ही द्यूतके दावपर उतारकर लगा दिये थे। अपने ऊपरके सब वस्त्र उतार दिये। द्रौपदी रजस्वला होनेके कारण निराभरण थी और एकमात्र साड़ी उसने पहिन रखी थी। दुर्योधनने उसका वह वस्त्र भी उतार लेनेको कहा और अपनी नंगी जंघा दिखाकर संकेत किया कि उसे वहाँ बैठा दिया जाय।

'अन्धेके पुत्र तो अन्धे ही हैं।' दुर्योधनने विषभरा व्यंग किया—'इनके मध्य पांचालीको नंगा होनेमें क्या हिचक है।'

कातर दृष्टिसे द्रौपदीने सबकी ओर देखा। कोई बोलेगा ? कोई रोकेगा इस अन्यायको ? उसके अमित पराक्रमी पति ? उसके श्वसुरके समान विदुर और परम तेजस्वी पितामह ? आचार्य द्रोण या कृप ? कोई नहीं। किसीने सिर नहीं उठाया। जिधर भी द्रौपदीने देखा किसीकी दृष्टि उठी ही नहीं। कहींसे कोई आशा नहीं।

भरी सभामें दुष्ट दुःशासनने साड़ी पकड़ ली और खींचने लगा। एक कुलवधू, साम्राज्ञी सभाके बीच नंगी की जा रही थी। कोई सहायक नहीं। कहींसे आशाकी क्षीण रेखा तक नहीं।

श्रीकृष्ण शाल्व, दन्तवक्र, विदूरथको मारकर द्वारिकाके राजसदनमें पहुँचे थे। स्नान करके सन्ध्या की और भोजन करने बैठे महारानी रुक्मिणीके सदनमें। सहसा उनके कमल लोचन भर आये। हाथ ग्रास उठानेमें असमर्थ होगये।

'आपको यह क्या होरहा है ? इतने व्याकुल क्यों होरहे हैं आप ?' महारानी रुक्मिणीने पूछा किन्तु उत्तर नहीं मिला। उन्होंने समझ लिया कि उनके स्वामी किसी अपने जनपर आये अचानक संकटसे चिन्तित हैं किन्तु तब गरुड़ तो प्रांगणमें ही हैं। इन्हें प्रस्थान करनेमें क्या बाधा है ?

जब तक जीवको कहींसे कोई आशा रहती है वह परमात्माको पुकारता नहीं और जब तक सब आशा भरोसा छोड़कर उसे ही पुकारा न जाय, वह सर्वेश निर्गुण बना रहता है। उसकी अपार करुणा उमड़ती है जब सब ओरसे निराश होकर प्राणी उसको, एकमात्र उसीको पुकारता है और तब उस अनन्तकी कृपाका अवतरण होता है। धन्य होजाता है प्राणी। ऐसा तो कोई संकट नहीं जो उस सर्वेशकी कृपाके सम्मुख क्षण भर भी टिक सके। संकटोंकी घन घटाएँ तो स्वप्नके समान केवल स्मृति छोड़ जाती हैं।

द्रौपदी पतियोंकी ओर, भीष्म-द्रोणादिकी ओर आशा भरी दृष्टिसे देख रही थी। प्रश्न कर रही थी और व्याकुल होरही थी। उसकी व्यथासे वे अपनोंके सर्वस्व द्वारिकामें व्याकुल थे किन्तु द्रौपदीने दोनों हाथोंसे साड़ीको पकड़ा था और यह अपनी शक्तिका अवलम्ब भी उस अनन्तकी कृपाके अवतरणमें प्रतिबन्ध ही था। दस सहस्र गज बल जिसकी भुजाओंमें था उस दुःशासनके सम्मुख एक कृशांगी नारीकी भुजाओंकी शक्ति कितनी? द्रौपदीको अगले क्षण ही अपनी भूल समझमें आ गयी। वह कैसे दुःशासनसे साड़ीका छीनना रोक सकती है? अतः उसने नेत्र बन्द करके दोनों हाथ उठा दिये और उसके कातर कण्ठसे अत्यन्त आर्तप्राणोंने पुकारा—

'गोविन्द ! द्वारिकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजनप्रिय !
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव !
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन !
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥

महाभारत (गीताप्रेस) सभापर्व ६८. ४१-४३.

द्रौपदीको भूल गया वह समाज, भूल गया दुःशासन, भूल गयी साड़ी और शरीर। उसके बन्द नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे और वह पुकार रही थी, पुकारती जा रही थी। उसे यह पता ही नहीं लगा कि जिसे वह पुकार रही है, वह उसकी पुकारके प्रथम शब्दके साथ ही सक्रिय होगया है।

द्वारिकामें श्रीकृष्ण सहसा ध्यानस्थ होगये थे। उन सर्वरूप, सर्वात्माको वस्त्रावतार लेते क्या देर लगनी थी। रजस्वला नारीका वस्त्र किन्तु उन सर्वव्यापकके लिए भी कुछ पवित्र अपवित्र होता है?

दुःशासन वस्त्र खींच रहा था। वह द्रौपदीकी साड़ी खींचनेमें लगा था। साड़ी सरलतासे खिच नहीं रही थी। दुःशासनको बल लगाना पड़ रहा था और साड़ी थी कि उसका अन्त ही नहीं आ रहा था। रंग-बिरंगे वस्त्र उस साड़ीसे निकलते जा रहे थे। वस्त्रोंका अम्बार लग गया वहाँ।

दुःशासनका शरीर स्वेदसे लथपथ होगया। उसकी भुजाएं थककर चूर होगयीं। वह साड़ी छोड़कर लज्जित होकर बैठ गया। दुर्योधन तथा उसके साथी चकित रह गये।

विदुरने धृतराष्ट्रको यह घटना सुनाकर कहा—'राजन्! द्रुपदपुत्री तन्मय होकर श्रीकृष्णको पुकार रही है यह आप सुन ही रहे हैं। उन अखिलेश्वरका संकल्प उसकी साड़ीमें उतर आया है। जब तक वे जनार्दन क्रुद्ध होकर चक्र उठाये प्रकट नहीं होजाते अथवा पांचाली ही आपके पुत्रोंको शाप नहीं देती तभी तक अवसर है कि अपनी इस पुत्रवधूको आप प्रसन्न कर लें अन्यथा अनर्थ होनेमें अब अधिक विलम्ब मुझे नहीं लगता है।'

धृतराष्ट्र डर गये। वस्त्र बढ़ता जा रहा है यह देखकर उनके सब पुत्र स्तम्भित होउठे थे। द्रौपदीका शरीर तनिक भी अनावृत नहीं हुआ था। कोई आर्त होकर पुरुषोत्तमको पुकारे और उसकी विपत्ति बची रहे, यह कैसे संभव है।

धृतराष्ट्रने द्रौपदीको पुकारा, तब वह सावधान हुई। धृतराष्ट्रने कहा—'बेटी! तुम जो हुआ उसे भूल जाओ और वरदान माँग लो।'

वरदानके रूपमें धृतराष्ट्रने द्रौपदी तथा पाण्डवोंको दासत्वसे मुक्त कर दिया। उनका राज्यकोष लौटा दिया। यह एक प्रकारसे द्रौपदीके प्रति किये गये अपराधका परिमार्जन था।

वनमें मिलन

दुर्योधन और उसके साथी बहुत खीझ गये थे। धृतराष्ट्रने उनके सब किये करायेपर पानी फेर दिया। पाण्डव वहाँसे चल पड़े थे। दुर्योधनने पिताको किसी प्रकार फिर पाण्डवोंको बुलानेके लिए प्रस्तुत किया। वे बुलाये गये। 'एक दाव और' यह अन्तिम जुआ भी युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रकी आज्ञा मानकर खेला और हार गये। इसके अनुसार पाण्डवोंको द्रौपदीके साथ बारह वर्ष वनमें रहना था और एक वर्ष अज्ञातवास करना था। उस अज्ञातवासके वर्षमें पता लग जाय तो फिरसे बारह वर्षका वनवास।

देवी कुन्तीको विदुरने आग्रहपूर्वक रोक लिया। वे हस्तिनापुरमें रह गयीं। पांचाली तथा अपने पूरे परिवारके साथ पाण्डव वनके लिए चले तो बहुतसे ब्राह्मण और प्रजाके भी बहुतसे लोग उनके प्रेमवश घर द्वार छोड़कर उनके साथ होगये।

इतने लोग साथ होगये तो उनके आहारकी समस्या उपस्थित हुई। कुल पुरोहित महर्षि धौम्यके आदेशसे युधिष्ठिरने भगवान भास्करकी आराधना की। सुप्रसन्न सूर्यने उन्हें एक पात्र देकर कहा—'इसमें जो कुछ रन्धन होगा वह द्रौपदीके भोजन करने तक अक्षय रहेगा।'

वन्य बीज, कंद, शाक, फल सब मिलाकर जो भी मिल जाता उस पात्रमें द्रौपदी उबाल लेती और उससे सबकी उदर-पूर्ति होजाती। वनमें कोई स्वादिष्ट आहारकी आशा कर नहीं सकता था। दिन-रातमें एकबारका यह आहार सबके लिए पर्याप्त सन्तोषप्रद था। काम्यक वनमें प्रवेश करनेके मार्गमें ही भीमसेनने मार्गावरोध करके आक्रमण करनेवाले राक्षस किर्मीरको मार दिया था।

इस प्रकार पाण्डवोंके राज्यच्युत होकर वनमें चले जानेका समाचार मिला तो उनके सम्बन्धी यादव, पंचालके युवराज धृष्टद्युम्न, चेदिदेशके नरेश शिशुपालके पुत्र धृष्टकेतु, कैकय नरेश आदि सब मिलकर बहुत दुःखी होकर द्वारिका पहुँचे और वहाँसे श्रीकृष्णको अग्रणी बनाकर उनके साथ काम्यक वनमें पाण्डवोंके पास आये। सब कौरवोंसे बहुत रुष्ट थे और कुछ करना चाहते थे किन्तु युधिष्ठिरकी सम्मतिके बिना कुछ भी करना उचित नहीं था।

सब काम्यक वनमें आये। अवसरोचित मिलन, सत्कारके पश्चात् सब वहाँ युधिष्ठिरके चारों ओर बैठ गये। श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'अब यह निश्चित होगया कि धरा दुरात्मा दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, दुःशासनका रक्तपान करना चाहती है। जो मनुष्य किसीको धोखा देकर सुख-भोग कर रहा हो उसे मार डालना सनातन धर्म है। अतः हम लोग एकत्र होकर कौरवों तथा उनके सहायकोंको युद्धमें मार डालें और धर्मराजका सिंहासन-पर अभिषेक करें।'

अर्जुनने देखा कि अपने आश्रितोंका तिरस्कार होनेसे श्रीकृष्ण क्रुद्ध होगये हैं। उन सत्य संकल्पका संकल्प अन्यथा तो हो नहीं सकता। अब दुर्योधन, कर्णादिको मारना तो है ही किन्तु ये भक्तवत्सल रोके न गये तो अभी सबको मार देंगे। ये चक्र उठाएँगे तो कौन उसका प्रतिकार कर पायगा। यह उचित नहीं होगा। धर्मराजने जो द्यूतका नियम स्वीकार कर लिया है उसे भी सत्य होजाना चाहिए। पाण्डवोंने स्वयं स्वीकृत नियम नहीं माना और अपने सहायकोंके द्वारा संग्राम प्रारम्भ करा दिया, यह अपयश क्यों लिया जाय। अतः अर्जुनने श्रीकृष्णको शान्त करनेके लिए उनका स्तवन किया—

'श्रीकृष्ण! आप समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान अन्तरात्मा हो। हम सबके हृदयकी जानते हो। आप सर्व समर्थ हो। सब जगत आपसे ही उदित होता है और अन्तमें आपमें ही समा जाता है। आपने भौमासुरको मारकर सुरोंका संकट दूर किया। जगतके उद्धारके लिए ही आप पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं। आप ही नारायण श्रीहरि हैं। ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धामा, यम, अग्नि, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी तथा दिशा भी आप ही हैं। पुरुषोत्तम! आप सवरूप अजन्मा होकर भी जगत्स्रष्टा हैं। समय-समयपर अवतार लेकर आप ही धराका भार और सुरोंका संकट दूर करते हैं। मधुसूदन! आपमें क्रोध, द्वेष, असत्य, क्रूरता, कुटिलताका लेश भी नहीं है क्योंकि आप सबको आत्मा हैं, सब ऋषि-मुनि आपका ही चिन्तन-स्तवन करते हैं। आप इस समय शान्त हों। हमारे तो आप ही एक मात्र आश्रय हैं।'

अर्जुनको स्तुति सुनकर श्रीकृष्ण गम्भीर स्वरमें बोले—'धनंजय! ये सब लोग सुन लें, सब दिशाएँ और देवता मेरी इस वाणीके साक्षी रहें।

तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे हैं और जो तुम्हारे हैं, वे मेरे हैं। जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुमसे प्रेम करता है वह मुझसे प्रेम करता है। तुम नर हो, मैं नारायण हूँ। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है।'

भगवान भक्तका, भक्त पक्षपाती, भक्त वत्सल है। भक्तके सम्मुख उसे दूसरा कुछ नहीं दीखता। न्याय और नियम दूसरोंके लिए होते हैं। जनार्दन सदा-सदाके अपने जनके—एक मात्र अपने आश्रित जनके ही हैं।

श्रीकृष्णके ये वचन महारानी द्रौपदीके भी श्रवणोंमें पड़े। वे समीप आ गयीं और बोलीं—'मधुसूदन! मैंने महर्षि असित और देवलके मुखसे सुना है कि सृष्टिके प्रारम्भमें आप अकेले ही थे और आपने बिना किसीकी सहायताके यह सचराचर सृष्टि की। भगवान परशुरामने मुझसे कहा कि आप ही अपराजेय विष्णु हैं। प्रजापति कश्यपने बतलाया कि आप ही यज्ञपुरुष हैं और पंचभूत भी आप ही हैं। देवर्षि नारदने कहा कि समस्त सुरोंके आप स्वामी हैं। सब प्रकारके कल्याणके सम्पादक हैं। सृष्टिकर्ता हैं और महेश्वर है। ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि देवता तो आपके खिलौने हैं। आप विश्वरूप सनातन पुरुष हैं। धर्म, तप, त्याग, ध्यान, ज्ञान आदिके द्वारा आपकी ही सब साधक सिद्ध आराधना करते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड आपमें ही प्रतिष्ठित है। युद्धमें मरने वाले शूर तथा योगी आपको ही प्राप्त होते हैं। लोक, लोकपाल, दिशाएँ, तारागण, सूर्य, चन्द्र तथा आकाश भी आप विभुमें ही स्थित है। आप ही सर्व लोकेश्वर हैं, अतः मैं आपसे अपना दुःख निवेदन करती हूँ।'

'जो सर्वरूप, सर्वाश्रय, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ करुणामय हैं, दुःखी प्राणी उसे छोड़कर अन्यत्र शरणकी आशा करें और रोवें तो उसका दुर्भाग्य। द्रौपदीने कहा—'मैं आपके शरणापन्न पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी उनके साथ अग्निसे उत्पन्न बहिन और आपकी सखी हूँ। मुझे भरी सभामें केश पकड़कर घसीटा गया। कौरवोंने बेईमानीसे हमारा राज्य छीन लिया। पाण्डवोंको दास बना लिया और उस गुरुजनोंकी सभामें मुझ रजस्वला, एकवस्त्राको केश पकड़कर घसीटकर ला खड़ा किया। ये भीमसेन और अर्जुन देखते रहे, ये मेरी रक्षा नहीं कर सके। इनके बल-पौरुषको धिक्कार है। इनके होते दुर्योधन या दुःशासन क्षण भर भी कैसे जीवित रहा।'

द्रौपदीने रोते-रोते दुर्योधनके अब तकके सब कुकृत्य गिना दिये। भीमसेनको विष देकर नदीमें फेंक देना, लाक्षागृहमें पाण्डवोंको जला देनेकी चेष्टा आदि सबका वर्णन करके पांचालीने कुछ क्रुद्ध स्वरमें कहा—

'श्रीकृष्ण, तुम मेरे सम्बन्धी हो, मैं अग्निकुण्डसे उत्पन्न गौरव-शालिनी हूँ, तुम्हारे श्रीचरणोंका मैंने सचाईसे आश्रय लिया है और तुमने स्वयं सखि कहकर मुझे अपनेपर अधिकार दिया है, इन चार कारणोंसे तुम्हें सदा मेरी रक्षा करनी चाहिए।'

द्रौपदीका क्रोध उचित था। श्रीकृष्णके विशाल लोचन भर आये। वे बोले—'कल्याणी! तुम जिनपर क्रुद्ध हो, उनकी स्त्रियाँ इसी प्रकार उन्मुक्त केशा रोवेंगी और तब उन्हें आश्वासन देने वाला भी कोई नहीं होगा। तुम्हारे शत्रु थोड़े दिनमें ही अर्जुनके वाणोंसे विद्ध होकर समर भूमिमें गिरेंगे। मैं वही करूँगा जो पाण्डवोंके अनुकूल होगा।'

श्रीकृष्णचन्द्रने द्रौपदीके सम्मुख प्रतिज्ञा की—'आकाश भले फट जाय, हिमालय खण्ड-खण्ड होजाय और समुद्र सूख जाय किन्तु मेरी वाणी मिथ्या नहीं हो सकती, तुम साम्राज्ञी हो और साम्राज्ञी बनोगी।

अर्जुनने द्रौपदीको समझाकर शान्त किया। वे ठीक ही कह रहे थे—'श्रीकृष्णकी सहायता हमें प्राप्त है तो सुर भी हमें पराजित नहीं कर सकते। धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें धरा ही क्या है।'

श्रीकृष्णचन्द्रने धर्मराजसे कहा—'मैं द्वारिकामें होता तो आपको इतना दुःख नहीं उठाना पड़ता। कौरव न भी बुलाते तो भी मैं हस्तिनापुर आ जाता और द्यूत क्रीड़ा होने ही नहीं देता। द्यूत तो सम्पत्ति, विनाश एवं संकटोंको आमन्त्रित करनेका मार्ग है। धृतराष्ट्र और उनके पुत्र मेरे समझानेसे न मानते तो मैं उन्हें बलपूर्वक रोक देता।'

युधिष्ठिरने पूछा—'आप उस समय कहाँ थे?'

इसके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रने बतलाया कि जब वे इन्द्रप्रस्थसे द्वारिका पहुँचे तो सौभ-विमानके स्वामी मायावी शाल्वने द्वारिकापर आक्रमण कर रखा था। उसके साथ युद्धमें वे उलझ गये।* उसने समुद्रके मध्य एक दुर्गम टापूको अपना युद्धकालीन केन्द्र बना रखा था। उसे और

---

* यह शाल्ववध की कथा 'श्रीद्वारिकाधीश' में गयी है।

उसके विमानको नष्ट करते ही दन्तवक्र आ पहुँचा था। अतः उस समय हस्तिनापुरकी सुधि नहीं ली जा सकी।

धर्मराज युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर उन्हें तथा भीमसेनको प्रणाम करके, अर्जुनको हृदयसे लगाकर, नकुल-सहदेवसे वन्दित होकर श्रीकृष्ण सुभद्रा और उसके पुत्र अभिमन्युको साथ लेकर द्वारिका लौटे। द्रौपदीने उन्हें तथा सुभद्राको अपने अश्रुओंसे भिगो दिया था।

धृष्टद्युम्न द्रौपदीके पांचों पुत्रोंको लेकर पांचाल गये। शिशुपालका पुत्र धृष्टकेतु अपनी बहिन करेणुमती (नकुलकी पत्नी)को लेकर अपनी राजधानी शुक्तिमती नगरी गया।

सभी सम्बन्धी, मित्र नरेश अपने देशोंको लौटे क्योंकि धर्मराज युधिष्ठिर अपने वचनपर दृढ़ थे। अभी कुछ भी किया जाय इस पक्षमें वे नहीं थे। वनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर सबने उनकी सहायता करनेका आश्वासन दिया।

द्रौपदी सत्यभामा संवाद

श्रीकृष्णचन्द्र द्रौपदीके पुत्रोंको भी द्वारिका ले आये थे पांचालसे। प्रद्युम्न उन्हें अभिमन्यु और अनिरुद्धके साथ ही अस्त्र-शिक्षा देते थे। पाण्डव जब अनेक स्थानोंपर घूमकर फिर काम्यक वनमें आगये तो अर्जुनके मित्र एक ब्राह्मणने आकर संवाद दिया—'श्रीद्वारिकाधीश यहाँ आने वाले हैं।'

इस बार श्रीकृष्णचन्द्र महारानी सत्यभामाके साथ रथमें बैठे आये। बड़े हर्षसे पाण्डव उठे और यथोचित्त रीतिसे मिले। द्रौपदी और सत्यभामा गले लगकर मिलीं।

श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा—'धर्मका पालन राज्य प्राप्तिसे बढ़कर बतलाया गया है। शास्त्र धर्मकी प्राप्तिके लिए ही तपका उपदेश करते हैं। आपने सत्यभाषण तथा सरल व्यवहारके द्वारा इस लोक और परलोक दोनोंपर विजय प्राप्त कर ली है। आप सब निष्काम भावसे शुभ कर्म

करते हो, धनके लोभसे स्वधर्मका त्याग नहीं करते अतः आपमें दान, सत्य, तप, श्रद्धा, बुद्धि, क्षमा, धैर्य आदि सब कुछ है। राज्य पाकर भी आप इन सद्गुणोंमें स्थित रहे और विपत्तिमें भी इनसे विचलित नहीं हुए, अतः निःसन्देह आपकी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी।'

जो धर्मके परमप्रभु हैं उनकी प्रसन्नताके लिए ही तो धर्माचरणकी सार्थकता है। उनको सुप्रसन्न देखकर धर्मराज सब भाइयोंके साथ आनन्दित हुए।

श्रीकृष्णने द्रौपदीको उनके पुत्रोंका समाचार दिया--'याज्ञसेनि! तुम्हारे सब पुत्र सुशील हैं। उनका धनुर्वेद सीखनेमें अनुराग है। वे द्वारिकामें बहुतसे मित्र पा गये हैं। उनके साथ सत्पुरुषोंके आचारका पालन करते हुए प्रद्युम्नसे अस्त्र-ज्ञान प्राप्त करनेमें उत्साहपूर्वक लगे हैं।

युधिष्ठिरने गद्गद स्वरमें कहा--'केशव! पाण्डवोंके आप ही आश्रय हैं। हम सब आपकी ही शरणमें हैं। अब हमने वनवासके बारह वर्षोंमें-से अधिकांश घूम-फिरकर व्यतीत कर दिये हैं। आपकी कृपासे एक वर्ष अज्ञात रहकर काट देंगे और तब आपके आदेशका पालन करेंगे।'

इसी समय वहाँ कल्पान्त जीवी महर्षि मार्कण्डेय आगये। पाण्डवोंने तथा श्रीकृष्णने प्रणिपात किया। विधिपूर्वक उनका पूजन किया। युधिष्ठिरके पूछनेपर उन्होंने अनेक प्राचीन चरित सुनाये तथा श्रीकृष्णके माहात्म्यका वर्णन किया।

उस समय द्रौपदी और सत्यभामा अलग मिलकर बैठी थीं। बहुत दिनोंके पश्चात् दोनों मिली थीं। राजसूय यज्ञके पश्चात् ऐसा अवसर नहीं आया था। ऐसे अवसरोंपर दोनों कुलोंकी चर्चा स्वाभाविक थी। परिहास चल रहा था परस्पर। ऐसी ही चर्चाके मध्य सत्यभामाने पूछा—'याज्ञसेनि! तुम्हारे पति लोकपालोंके समान प्रभावशाली हैं, बलवान हैं, फिर भी वे तुमसे कभी रुष्ट नहीं होते। वे तुम्हारे वशमें रहते हैं। तुम्हारा मुख देखते रहते हैं। ऐसी कौन-सी विद्या तुम्हारे पास है? तुम उनसे कैसे व्यवहार करती हो? यह रहस्य मुझे भी बतलाओ। मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मन्त्र, औषधि, विद्या, कला, हवन अथवा जड़ी बतलाओ जो यश और सौभाग्यकी वृद्धि करने वाला हो और श्याम-सुन्दर उससे सदा मेरे अधीन रहें।'

यह सुनकर पतिव्रता पांचाली बहुत गम्भीर स्वरमें बोली—'बहिन! तुम मुझसे दुराचारिणी स्त्रियोंकी बात क्यों पूछती हो ? तुम बुद्धिमती श्रीकृष्ण पट्टमहिषी हो, ऐसी बात मनमें भी लाना तुम्हारे लिए योग्य नहीं है। यह तो उल्टा मार्ग है। जैसे ही पतिको पता लगता है कि गृह देवी उसे वशमें करनेके लिए मन्त्र या तन्त्र प्रयोग कर रही है तो उसका स्नेह समाप्त होजाता है और वह उससे वैसे ही सावधान तथा दूर रहने लगता है जैसे लोग घरमें घुसे सर्पसे रहते हैं। ऐसी अवस्थामें घरमें शान्ति या सुख कैसे रह सकता है ?

'इस प्रयत्नमें कई प्रकारके अनर्थ हो सकते हैं। धूर्त लोग यन्त्र-मन्त्रके बहाने ऐसी वस्तुएँ दे देते हैं जिससे भयंकर रोग होजाते हैं। पतिके शत्रु इसी प्रकार उन्हें विष तक दे देते हैं। ऐसी स्त्रियां अपनी दुर्बुद्धिके कारण पतिको अनजानमें ही ऐसी वस्तुएँ दे देती हैं कि उन्हें जलोदर, कुष्ठ, नपुंसकता, जड़ता, बधिरता जैसे रोगोंसे ग्रस्त होना पड़ता है। स्त्रीको किसी प्रकार अपने पतिका अप्रिय नहीं करना चाहिए।'

अब द्रौपदीने अपनी चर्चा सुनायी। उसने कहा—'सत्यभामा, मैं अहंकार और काम-क्रोध छोड़कर सब पाण्डवोंकी और उनकी दूसरी सब पत्नियोंकी सावधानी पूर्वक सेवा करती रही हूँ। ईर्ष्या द्वेषसे दूर रहकर केवल सेवाके लिए ही मैं अपने पतियोंके साथ सब व्यवहार करती हूँ। इतना करके भी मैं अभिमान नहीं करती। मेरी वाणी कभी कठोर न हो इसका ध्यान रखती हूँ। किसीके भी दोषपर दृष्टि नहीं डालती।

'मैं असभ्यतापूर्वक नहीं खड़ी होती। बुरे स्थानपर नहीं बैठती। पतियोंके सम्मुख असज्जित नहीं जाती। उनके अभिप्रायपूर्ण संकेतोंका अनुसरण करती हूँ। देवता, गन्धर्व, मनुष्य—कोई हो, धन-रूप-यौवन-ऐश्वर्यमें कितना भी श्रेष्ठ हो, मेरा मन पाण्डवोंके अतिरिक्त किसी औरकी ओर नहीं जाता।

'पतियोंको भोजन कराये बिना मैंने कभी भोजन नहीं किया। उनके बैठे बिना नहीं बैठती। जब-जब वे घरमें आते हैं मैं उठकर खड़ी हो जाती हूँ। आसन तथा जल देकर उनका सत्कार करती हूँ। यहाँ वनमें तथा राजभवनमें भी बर्तनोंकी स्वच्छतापर मेरा ध्यान रहता है। रसोई सुस्वादु बनाती हूँ और स्वयं परसकर भोजन कराती हूँ।

'घरको स्वच्छ रखती हूँ। गुप्तरूपसे अन्नका और कुछ धनका भी संचय रखती हूँ। पतिको प्रयोजन हो उसे देनेमें संकोच नहीं करती। किसीका तिरस्कार नहीं करती। कुलटा स्त्रियोंसे, पतिके शत्रुओंसे और जो उन्हें अप्रिय हैं, उनसे दूर रहती हूँ।

'द्वारमें बारबार जाकर खड़ी नहीं होती। खुले स्थानपर या कूड़ा डालनेके स्थानपर कभी भी देर तक नहीं रुकती।

'पति जब कार्यवश कहीं चले जाते है कई दिनोंको तो आभूषण, चन्दन, अंगराग, पुष्प त्यागकर नियम एवं व्रतोंका पालन करती हूँ। पतियोंको छोड़कर रहना मुझे सर्वथा पसन्द नहीं। वे जो नहीं खाते, पीते या जिन वस्तुओंका सेवननहीं करते उनसे मैं भी दूर रहती हूँ।

'मेरी महनीया सासजीने मुझे जो भी अपने कुटुम्ब तथा कुलके आचार बतलाए हैं उन सबका सावधानीसे पालन करती हूँ। भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, पर्वोंपर पक्वान्न बनाना, माननीयोंका सत्कार, सेवकोंकी देखभाल आदि सब सदा सावधानीसे करती हूँ।

'पतियोंसे बढ़कर सुख-सुविधा, उनसे उत्तम भोजन मैंने कभी स्वीकार नहीं किया। सासजीसे, सौतोंसे तथा किसी गुरुजनसे मैं कभी विवाद नहीं करती। मैं अपनी वीरमाता सत्यवादिनी सासकी सेवामें प्रमाद नहीं करती। वस्त्र, आभूषण, भोजनमें उनसे कभी विशेषता नहीं रखती।

'पतियोंसे पहिले प्रातः उठती हूँ। उनके विश्रामके पश्चात् सोती हूँ। बड़ोंकी सेवामें संलग्न रहती हूँ।

'पहिले महाराज युधिष्ठिर नित्य बहुत अधिक ब्राह्मणोंको स्वर्ण-पात्रोंमें भोजन कराते थे। सहस्रों गृहस्थ स्नातकोंका भरण-पोषण करते थे। इनके राज-सदनमें सहस्रों सेवक तथा सेविकाएँ थीं। मैं सबके नाम, रूप, गुण, कार्य तथा भोजन वस्त्रादिका पता रखती थी यह भी जानकारी रखती थी कि कौन किस काममें लगा है। क्या काम उसने कर लिया और क्या नहीं किया।

'मैं राजसदनके वस्त्र, पात्र, सामग्री, कोषको तो सम्हालती ही थी, गजशाला, अश्वशाला तथा गोशालाके पशुओंकी गणना रखती थी। उनका प्रबन्ध करती थी। उनके सेवकोंकी आवश्यकताएँ सुनती और उसकी व्यवस्था करती थी।

'आय-व्ययका विवरण भी मेरे पास ही रहता था। परिवारका पूरा भार मुझपर छोड़कर मेरे पति पूजा-पाठ तथा आगतोंका सत्कार ही करते थे। मैं सब सुख छोड़कर, भूख-प्यास सहकर अपने धर्मात्मा पतियों की रात-दिन सेवा करती थी।'

सत्यभामाने यह सुनकर कहा—'सखि ! मुझे क्षमा करो। मैंने जान-बूझकर तुमसे परिहास किया था।'

द्रौपदीने कहा—'सखि ! पतिको वशमें करनेका उपाय बतलाती हूँ। सुखके द्वारा सुख नहीं मिलता। सुख पानेके लिए दुःख और श्रम करना पड़ता है। अतः अपने सुख, अपनी सुविधा, अपने सम्मानको भूलकर सदा प्रेम, परिचर्या, सौहार्द्र तथा कुशलतासे अपने स्वामीकी सेवा करो।

'पतिके आगमनकी आहट मिलते ही उनके स्वागतके लिए आंगनमें खड़ी रहो और आनेपर आसन, जल देकर स्वयं उनका सत्कार करो। दासीको किसी कामकी आज्ञा दें तो उसे स्वयं करो।

'पति कोई बात कहें और उसे गुप्त रखना चाहें तो उसे किसीसे मत कहो। जो उनके मित्र, हितैषी, प्रिय हैं उनको उत्तम भोजन, वस्त्र आदि देकर प्रसन्न रखो और पतिके शत्रु, उपेक्षणीय, अहितचिन्तकोंसे सदा दूर रहो।

'अपने तथा सौतोंके भी वयस्क पुत्रोंके साथ एकान्तमें मत बैठो। कुलीन, निर्दोष, सम्मानिता स्त्रियोंके साथ ही मैत्री रखो। दुष्टा, निन्दिता, चंचल स्वभावकी और ओछी स्त्रियोंसे दूर रहो।'

यह सम्वाद चलता ही रहता। दो महान महिलाएँ मिली थीं बहुत दिनोंपर और उनमें आन्तरिक सौहार्द्र था। उनकी परस्पर चर्चा भला क्यों समाप्त होती किन्तु सत्यभामाको उनके स्वामीने बुलाया। वे श्रीद्वारिकाधीश अब मार्कण्डेयजी तथा पाण्डवोंसे विदा होकर द्वारिका जानेके लिए उठ चुके थे।

सत्यभामाने द्रौपदीको हृदयसे लगाया और आश्वासन दिया—'सखि ! चिन्ता छोड़ दो। रात्रिभर जागते रहना बन्द कर दो। तुम्हारे देवतुल्य पति अवश्य अपना खोया राज्य फिर प्राप्त कर लेंगे।'

सत्यभामाने बतलाया कि द्वारिकामें द्रौपदीके पुत्रोंको सुभद्रा अपने पुत्रोंके समान ही स्नेह करती हैं। महारानी रुक्मिणी तथा सभी श्रीकृष्णकी पत्नियोंका उन बालकोंपर वात्सल्य है। वे प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन सभी शस्त्रविद्यामें निपुण हैं।

सत्यभामाने द्रौपदीकी परिक्रमा की। उनकी वन्दना करके रथपर बैठीं। श्रीकृष्णचन्द्र उनके साथ द्वारिकाके लिए विदा हुए।

दुर्वासासे परित्राण

दुर्योधनका पाण्डव द्वेष उसे शान्तिसे सोने नहीं देता था। उसे बहुत बैचेनी थी कि पाण्डुके पुत्र वनमें भी नगर निवासियोंके समान आनन्दसे रहते हैं। वहाँ भी युधिष्ठिर बहुतसे ब्राह्मणोंको भोजन कराके भोजन करते हैं। वहाँ भी उनके साथ अनेक लोग हैं।

पाण्डवोंको तंग करने, उनकी हानि करने, उन्हें पीड़ा पहुँचानेका दुर्योधन तथा उसके साथियोंका उद्योग व्यर्थ हुआ। उल्टे वनमें इस प्रयत्नमें ससैन्य जाकर गन्धर्वराज चित्ररथके हाथों पराजय प्राप्त हुई। अर्जुनने सहायता करके छुडाया न होता तो वह पाण्डवोंका मित्र गन्धर्व तो दुर्योधनको बन्दी बना ही चुका था।

शकुनि, कर्ण आदिके साथ दुर्योधन इसी कुमन्त्रणामें लगा था कि कैसे पाण्डवोंको वनमें नष्ट किया जाय। यह चिन्ता इसलिए भी बहुत बढ़ गयी थी क्योंकि वनवासके बारह वर्ष पाण्डव प्रायः पूरा कर चुके थे। इसी समय महर्षि दुर्वासा शिष्योंके साथ अकस्मात हस्तिनापुर आगये। परम क्रोधी दुर्वासाजीके पास दुर्योधन भाइयोंके साथ गया और नम्रतापूर्वक उन्हें निमन्त्रित किया। विधिपूर्वक उनकी पूजा की और स्वयं दासकी भाँति उनकी सेवामें खड़ा रहा।

दुर्वासा कई दिन रुके रहे। दुर्योधन उनके शापके भयसे आलस्य छोड़कर रात-दिन उनकी सेवामें लगा रहा। महर्षि दुर्वासाका स्वभाव

विचित्र था। वे भोजन माँगते और फिर कह देते—'भूख नहीं है।' कभी आधी रातको आते और कभी दिनमें। भोजनके लिए भी कभी कुछ माँगते, कभी कुछ और उन्हें थोड़ा विलम्ब भी सहन नहीं था।

दुर्योधनने शकुनि आदिसे सलाह कर ली थी कि प्रसन्न होकर ये ऋषि वरदान देना चाहें तो क्या माँगना है। अब इनको सन्तुष्ट रखने के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं था। असन्तुष्ट होकर तो ये पता नहीं क्या शाप दे डालें किन्तु सन्तुष्ट होनेपर बहुत बड़ा काम बना दे सकते थे।

अन्तमें वह चिर प्रतीक्षित दिन भी आया। दुर्वासाजीने प्रसन्न होकर कहा—'मैं तुम्हें वरदान देना चाहता हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो।'

दुर्योधनने बहुत विनम्र होकर कहा—'हमारे कुलमें सबसे बड़े युधिष्ठिर हैं। जैसे आपने मुझे अपनी सेवाका अवसर दिया है, मैं चाहता हूँ कि वैसे ही उन्हें भी सब शिष्योंके साथ आपके सत्कारका सौभाग्य प्राप्त हो। मेरी एक प्रार्थना अवश्य है कि आप उनके यहाँ तब पधारें जब सबको भोजन कराके राजकुमारी द्रौपदी स्वयं भोजन कर चुकी हों और विश्राम कर रही हों।'

दुर्वासाजीने कह दिया—'मैं ऐसा ही करूँगा।'

वे महर्षि चले गये तो कर्णने प्रसन्न होकर दुर्योधनसे हाथ मिलाया और बोला—'बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपका अभीष्ट पूरा हुआ। आपके शत्रु अब दुःखके महासागरमें मग्न होगये। अब दुर्वासाका क्रोध उन्हें ले डूबेगा।'

कर्ण भूल ही गया कि पाण्डवोंके जो परमाश्रय हैं उनकी छायासे भी विपत्तिके अधिदेवता काँपते हैं। श्रीकृष्णके चरणाश्रितोंका अमंगल करनेमें समर्थ शक्ति न कभी उत्पन्न हुई, न हो सकती।

पाण्डव ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन कर चुके थे। द्रुपदराज कन्याने सबसे अन्तमें सदाकी भाँति भोजन किया और फिर सूर्य-नारायणसे प्राप्त पात्रको माँज धोकर धर दिया। वे विश्राम कर रही थीं। इसी समय महर्षि दुर्वासा वहाँ दस हजार शिष्योंके साथ आये। धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंके साथ आगे जाकर उन्हें प्रणिपात किया। लाकर आसनपर बैठाया और विधिपूर्वक उनका पूजन किया।

दुर्वासाजीका स्वभाव ही है कि वे दूसरोंकी सुविधा-असुविधा नहीं देखते। उन्हें अपनी धुन रहती है और दूसरोंको अविलम्ब उनकी आज्ञा स्वीकार करनी चाहिए। उन्होंने कहा—'राजन्! हम सब भूखे हैं। अब मध्याह्न स्नान सन्ध्या करने समीपके सरोवरपर जारहे हैं। तब तक आप हम सबके लिए भोजनकी व्यवस्था कर दें।'

'जो आज्ञा।' युधिष्ठिर और क्या कहते। महर्षि शिष्योंके साथ सरोवरपर स्नान करने चले गये। युधिष्ठिरने द्रौपदीको सम्वाद दे दिया और निश्चिन्त होगये।

द्रौपदीने सुना और सिर पकड़ लिया। अब क्या हो ? सूर्यके द्वारा मिले पात्रमें दिनमें एक ही बार रन्धन किया जा सकता था और द्रौपदीके भोजनके पश्चात् वह रिक्त होजाता था। उससे अब कुछ पाया नहीं जासकता। महर्षि दुर्वासा जैसे प्रसिद्ध क्रोधीसे कुछ कहा जा नहीं सकता। यह तो सर्वनाश सम्मुख उपस्थित होगया।

द्रौपदीने श्रीकृष्णको पुकारना प्रारम्भ किया—'अशरण शरण! भक्तवत्सल! आर्ति विनाशन वासुदेव! आप ही इस विपत्तिसे रक्षा करो। प्रपन्नपाल गोपाल! पधारो और अपने पाण्डवोंको इन महर्षिके रोषसे बचा लो। देव देव! अपनी इस साधनहीना दीना सखि की इस असाधारण आपत्तिमें सहायता करो।'

अचानक गरुड़ध्वज रथ आया और उससे श्रीकृष्ण कूदे। पाण्डव उठे किन्तु इस बार श्रीद्वारिकाधीशने किसीकी ओर देखा ही नहीं। वे शीघ्रतासे पांचालीके पास गये और बोले—'कृष्णे। मैं दूरसे आ रहा हूँ। बहुत थका हूँ। बहुत भूख लगी है। शीघ्र कुछ खिलाओ।'

द्रौपदी हड़बड़ाकर उठी। उसने कहा—'तुम आगये ? मैं तुमको ही पुकार रही थी।'

श्रीकृष्णने झुँझलाहट भरे स्वरमें कहा—'दूसरी बात पीछे। पहिले मुझे भोजन दो।'

द्रौपदी—'इस भोजनकी समस्यासे व्याकुल होकर ही तो तुम्हें पुकार रही थी। महर्षि दुर्वासा दस हजार शिष्योंके साथ आये हैं। उन्हें भोजन देना है।'

कृष्ण—'उन्हें पीछे भोजन देना, पहिले मुझे दो।'

द्रौपदी—'सूर्यनारायणसे प्राप्त पात्र धोकर धर दिया है। अब कुछ भी नहीं है।'

कृष्ण—'बहुत बुरी बात है। मैं भूखसे व्याकुल हूँ और तुमको परिहास सूझ रहा है। कहाँ है वह पात्र ? मुझे पात्र दो।'

द्रौपदीको इतनी व्यथा तो दुर्वासाके शापके भयसे भी नहीं हुई थी। ये उसके हृदय, उसके आराध्य भूखे हैं, भोजन माँगते हैं और वह कुछ देनेमें समर्थ नहीं। उठकर वह पात्र ले आयी। भरे नेत्र, अत्यन्त खिन्न कण्ठ बोली—'लो देखो, इसमें कुछ नहीं है।'

श्रीकृष्णने उसके हाथसे पात्र झपट लिया और उसे देखकर एक चिपका शाकका पत्ता उसमें ढूंढ़ लिया। बोले—'यह रहा इसमें।'

'अनेक यज्ञभुक् विश्वात्मा प्रीयताम्।'

—महाभारत, वनपर्व २६३, २५

वह उच्छिष्ट, मांजनेसे हुआ अशुद्ध, पर्युषित् शाकका पत्र श्रीकृष्णचन्द्रने मुखमें डाला और सन्तुष्ट पोकर डकार ली। होगया, वे विश्वात्मा तृप्त होगये तो सृष्टिमें उस समय कोई भी प्राणी अतृप्त कहाँ रहा। समूची सृष्टिके सभी जीवोंको लगा कि उनका उदर आकण्ठ भर गया है।

अब श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंके समीप आये और उन्होंने सहदेवको कहा—'महर्षि दुर्वासाको जाकर शीघ्र भोजनके लिए बुला लाओ।'

द्रौपदीके हाथमें वह पात्र श्रीकृष्ण दे आये थे। उनके शाकपत्र खाते ही पात्र भर गया था। अतः अब द्रुपदसुताको चिन्ता नहीं थी। अब तो वह एकबार चाहे जितने लोग आवें उन्हें भोजन करा सकती थी।

सरोवरमें स्नान करके दुर्वासाजी और उनके शिष्य जलमें खड़े-खड़े ही जप कर रहे थे। सहसा सबको लगा कि उदर कण्ठ तक अन्नसे भर गया है। सबको डकारें आने लगीं। सब एक दूसरेकी ओर देखने लगे। एकने दुर्वासाजीसे कहा—'भगवन्! उदर तो आकण्ठ पूर्ण होरहा है। अब आपने जो युधिष्ठिरको भोजन प्रस्तुत करनेको कहा है उसका क्या होगा ?'

दुर्वासाजीने कहा—'मैं जानता हूँ कि पाण्डव श्रीहरिके प्रिय भक्त हैं। एकबार अम्बरीषका अपराध करके मैं भोग चुका हूँ। अब युधिष्ठिरसे भोजन बनवाकर, बनवासके कठिन समयमें उनका इतना अधिक आहार नष्ट करना पड़ेगा। वे रुष्ट होंगे तो श्रीकृष्णका चक्र चला ही समझो। अतः अब यहाँसे चुपचाप भाग चलो।'

जब सुप्रसिद्ध तपस्वी रुद्रावतार गुरुदेव ही भयके कारण भाग खड़े हुए तो शिष्योंमें-से किसका साहस कि वह मुड़कर पीछे भी देखे। सहदेव वहाँ पहुँचे तो उन्हें सरोवरपर कोई नहीं मिला। आसपास ढूंढ़ा और समीपके लोगोंसे पूछा तो उन्होंने कहा—'वे लोग तो भयभीतके समान पूरे वेगसे भागते चले गये।'

सहदेव लौट आये। अब युधिष्ठिरने चिन्तित होकर कहा—'महर्षि दुर्वासाका क्या ठिकाना। अब वे रात्रिको या पता नहीं कब अकस्मात आ जायँ। यह तो बहुत आशंकाकी बात होगयी।'

श्रीकृष्णचन्द्र हँसे—'वे अब आपके समीप कभी नहीं आयँगे।'

उन मधुसूदनने बतलाया कि 'दुर्योधनकी प्रार्थनाके अनुसार दुर्वासाजी आये थे किन्तु इस विपत्तिमें द्रौपदीने उन्हें पुकार लिया। कोई आर्त होकर पुकारे तो वे कहाँ दूर रहते हैं। अब दुर्वासा तृप्त होकर भाग चुके हैं।'

इस प्रकार पाण्डवोंको आश्वस्त करके वे जनार्दन उनसे विदा हुए।

पार्थ पवनपुत्र परिचय

अर्जुनको अकेले जाकर तपस्या करके भगवान् पुरारिको प्रसन्न करना था। पाशुपतास्त्र तो प्राप्त करना ही था, देवताओंके दिव्यास्त्र भी इसी समय मिलने थे।

श्रीकृष्ण सानुकूल होते हैं तो संयोग एवं सफलताएं स्वयं आजुटती हैं। इस यात्रामें अकस्मात् पार्थको पवनपुत्र श्री हनुमानजी मिल गये। परस्पर परिचय हुआ। अर्जुनने अभिवादन किया।

दो भगवद्भक्त मिलेंगे तो उनमें स्वभावतः भगवच्चर्चा चलेगी। अर्जुनने अपनी यात्राका उद्देश्य बतलाया कि उन्हें कौरवोंसे होनेवाले अनि-

वार्य युद्धमें दिव्यास्त्र प्राप्त करना है। इसके लिए तप करने वे हिमालयके इस दिव्यदेशमें जारहे हैं। इस प्रसङ्गमें श्रीमारुतिने मर्यादा पुरुषोत्तमका मंगलमय चरित सुनाना प्रारम्भ कर दिया।

सेतुबन्धका वर्णन सुनकर अर्जुनको आश्चर्य हुआ। वे बोले—'श्री रघुनाथजी अथवा उनके अनुज सौ योजन समुद्रपर अपने शरोंका सेतु नहीं बना सकते थे कि नल-नीलको तथा आप सबको पर्वत ढोनेका श्रम करना पड़ा ?'

हनुमानजी हँसे—'वे सर्वसमर्थ कर तो सब कुछ सकते थे किन्तु वाणोंके द्वारा बँधे सेतुपर इतनी विशाल वानरी सेना कैसे पार हो सकती थी !

अर्जुनने सगर्व कहा—'यह आशंका अकारण है। ऐसा सेतु तो मैं क्षणोंमें बना दे सकता हूँ कि उसपर चाहे जितनी बड़ी सेना समस्त सामग्रीके साथ पार होजाय।'

अर्जुनका यह अभिमान असह्य था। इसमें पवनकुमारको अपने आराध्यके पराक्रमकी अवगणना लगी। वे रोषपूर्वक बोले—'समुद्र तो बहुत दूर, तुम इस सम्मुखके सरोवरपर शरोंका सेतु बना दो और वह मेरा भार सहन करके भंग न होजाय तो मैं शरीर त्याग दूँ।'

अर्जुन भी आवेशमें आगये। वे बोले—'मेरा बनाया वाणोंका सेतु यदि आपके भारसे भग्न होजाय तो मैं प्रज्वलित चितामें प्रवेश करके प्राण विसर्जन कर दूँगा।'

श्रीहनुमानजीका आवेश उचित था। अपने आराध्यका अपमान वे सहन नहीं कर सकते थे किन्तु अर्जुनके आवेशमें अपने पौरुषका अभिमान तथा अविवेक था। अकारण ही बिना सोचे समझे वे ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठे किन्तु किया क्या जाय। उनके स्वभावमें यह दुर्बलता न होती तो वे नर क्यों कहे जाते। वे सामान्य पुरुषोंके प्रतिनिधि हैं और प्राणियोंमें यह दुर्बलता दुर्गुण नहीं है, यदि वह उसे समझकर पुरुषोत्तमको अपना सखा बना सके। हम सबल ही होते तो उस सर्वसमर्थकी सहायताकी हमें क्यों अपेक्षा होती।

अर्जुनने अपना गाण्डीव चढ़ाया और वाण वृष्टि आरम्भ करदी। सचमुच सरोवरपर एक तटसे दूसरे तट तक शरोंसे निर्मित सुदृढ़ सेतु कुछ

क्षणोंमें ही सम्मुख था। धनुष उतारते हुए धनंजयने कहा—'अब आप इस परसे पार जा सकते हैं।

पवननन्दन उठे। उन्होंने जो भयंकर 'कनक भूधराकार' शरीर धारण किया उसकी कल्पना भी अर्जुन ने नहीं की थी। जब उन आंजनेयने अपने दोनों हाथोंमें दो विशाल गिरि शिखर उठाये, अर्जुनका रहा सहा धैर्य भी समाप्त होगया। अब अभिमान तो नष्ट हो ही गया, प्रज्वलित चिता दीखने लगी नेत्रोंके सम्मुख। इतना भार कोई भी सुदृढ़तम सेतु सहन नहीं कर सकता यह वे समझ गये।

अर्जुनको अपने सखाका स्मरण आया। जीव बल जब अपने पराक्रमसे निराश होजाता है और विपत्ति मुख फाड़े निगलनेको सम्मुख आ खड़ी होती है तभी तो उसे जगन्नाथका स्मरण होता है। अर्जुन मन ही मन आर्त होकर पुकारने लगे—'हृषीकेश ! भक्त वत्सल ! मेरी रक्षा कर लो। अपने अर्जुनको बचालो। मुझे मरनेका भय नहीं है किन्तु मैं यहीं मर गया तो आपके आश्रित शेष पाण्डव और पांचालीके प्राण भी बचेंगे नहीं।

अज्ञानी जीव अपराध करता है और उसका फल देखकर भयातुर भगवान्‌को पुकारता है किन्तु उन भक्तवत्सलने कब किसीके दोष देखे हैं। वे तो आह्वान करनेवालेकी सहायताके लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं। अर्जुन व्याकुल पुकार रहे थे किन्तु वे अनन्त शक्ति वहाँ उपस्थित होकर अपने दोनों अनन्य आश्रितोंकी रक्षा व्यवस्था कर चुके थे, यह दोमें-से एकको भी पता नहीं था।

श्रीकेशरी-किशोर यदि सेतुपर कूद पड़ते तो भी वह टूटता नहीं किन्तु उन्होंने साधारण रीतिसे ही उसपर पद रखा और दोनों पद रखते ही आश्चर्यसे चौंक गये कि उनके भारको यह वाणोंका सेतु सहन कैसे कर सका। उन्होंने अपने पदोंके पास सेतुकी ओर देखा। वहाँ नीचेसे पानीमें बहुत वेगपूर्वक रक्त आ रहा था और उससे सरोवरका जल लाल होता जा रहा था। हनुमानजीने नेत्र बन्द करके ध्यान किया—'यह क्या है ?'

क्षणार्धमें कूदकर केशरी कुमार तटपर आगये। उन्होंने ध्यानमें देख लिया कि स्वयं उनके वही नवघन सुन्दर आराध्य महाकच्छप बनकर सेतुके नीचे पीठ लगाये हैं और रक्त उनके शरीरसे ही निकल रहा है।

पवनपुत्रने हाथोंके पर्वत फेंक दिये और पार्थको हृदयसे लगाकर गद्‌गद स्वरमें बोले—'धनंजय ! धन्य हो तुम ! तुम्हारे लिए वे सर्वेश्वरेश्वर

कच्छप बनकर अपने पृष्ठपर मेरा भार ग्रहण करने आगये। मैं अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ।'

हनुमानजी अपने वज्रनखसे अपना वक्षस्थल विदीर्ण करने ही जा रहे थे कि श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट होगये। उन्होंने हनुमानका हाथ पकड़ लिया और हँसकर बोले—'हनुमान ! तुम्हारी प्रतिज्ञा कहाँ टूटी। सेतु तुम्हारा भार तो सह नहीं सका। वह तो मैंने सहा है।'

'प्रभु !' पवनपुत्र विह्वल होकर चरणोंपर गिर पड़े। उनका कण्ठ बोलनेमें असमर्थ होगया। उनको बलपूर्वक उठाकर हृषीकेशने अपने हृदय से लगा लिया।

अर्जुनको उनके इन नित्य सखाने उलाहना दिया—'अकारण, अनअवसर चाहे जिससे उलझना कोई विवेक तो नहीं है। तुम्हारे लिये ये पूज्य हैं। इनकी वन्दना करनी चाहिए तुम्हें।'

पार्थने धनुष पृथक रखकर पवनपुत्रके पदोंमें प्रणिपात किया तो उन्होंने उठाकर वक्षसे लगा लिया। अब पुरुषोत्तम बोले—'मैं चाहता हूँ कि आप अर्जुनको अपना मित्र मानलें और युद्धमें इनके रथके ध्वज-दण्डके पास उपस्थित रहें।'

आंजनेयने हाथ जोड़कर कहा—'मैं प्रभुकी आज्ञाका पालन करूंगा।'

इस प्रकार दोनोंमें मैत्री कराके वे मधुसूदन विदा हुए। अर्जुन भी श्रीहनुमानजीकी वन्दना करके उनसे अनुमति लेकर तपस्या करने आगे चले गये।

अर्जुनके नन्दिघोष रथके ध्वज-दण्डपर हनुमानजीकी मूर्ति पहिलेसे थी। युद्धके समय उसमें आविष्ट होकर वे स्वयं उपस्थित रहे थे।

संजय द्वारा संदेश

अज्ञातवासका एक वर्ष भी पाण्डवोंने पूरा कर लिया। महाराज विराट्ने अर्जुनके पुत्र अभिमन्युके साथ अपनी पुत्री उत्तराका विवाह कर दिया। इस विवाहमें श्रीकृष्णचन्द्र बड़े भाई, सुभद्रादिके साथ विराट्नगर पधारे। विवाहके पश्चात् श्रीबलरामजी तो द्वारिका चले गये किन्तु श्रीकृष्ण वहीं रुक गये। पाण्डवोंको समाचार मिल गया कि कौरव सैन्य-संग्रह करने लगे हैं, अतः उनके भी समर्थक सेना लेकर विराट्नगर आने लगे। द्वारिकासे यादव महारथी सात्यकि अपनी निजी चतुरंगणी सेना लेकर आगये।

महाराज द्रुपदने अपने पुरोहितको धृतराष्ट्रके पास भेजा। धृतराष्ट्रने उसकी बात सुन ली और संजयके द्वारा उत्तर भेजनेको कहकर उसे लौटा दिया। संजय धृतराष्ट्रका सन्देश लेकर विराट्नगर आये।

संजयने आकर पाण्डवोंके साथ सब सहायकोंको एकत्र कर उनकी सभामें धृतराष्ट्रका जो सन्देश दिया उसमें कोई भी निश्चित बात नहीं कही गयी थी। उसमें केवल यह कहा गया था—'हम सन्धि चाहते हैं। सन्धि ही शान्तिका सर्वोत्तम उपाय है।'

संजयके सन्देशमें कहा गया था—'यदि कौरव युद्ध किये बिना तुम्हें अपना राज्य भाग न दे सकें तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी राजाओंके राज्यमें भीख माँगकर निर्वाह कर लेना अच्छा है किन्तु युद्ध करके राज्य प्राप्त करना अच्छा नहीं।'

इस निर्लज्जतापूर्ण सन्देशमें केवल पाण्डवोंको उपदेश किया गया था कि—'वे युद्ध करके नर-संहार न करें। धन-तृष्णा अनर्थकारी है।'

जब कोई सम्पत्ति दबाये बैठा हो और दूसरेका स्वत्व न देकर केवल उपदेश करे तो उसकी बातका कितना महत्व होता है, समझा जा सकता है। धर्मराज युधिष्ठिरने संजयको उचित उत्तर देनेके अनन्तर कह दिया—'यहाँ भगवान श्रीकृष्ण हैं, ये समस्त धर्मोंके ज्ञाता, नीतिज्ञ, मनीषी हैं। यदि मैं सन्धिका परित्याग अथवा युद्ध करके अपने धर्मसे भ्रष्ट होकर निन्दाका पात्र बन रहा हूँ तो ये भगवान वासुदेव अपने विचार प्रकट करें

क्योंकि इन्हें दोनों पक्षोंका हित अभीष्ट है। ये प्रत्येक कर्मका अन्तिम परिणाम जानते हैं, इनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। हमारे ये परम प्रिय हैं। मैं इनके वचन टाल नहीं सकता।'

अब श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'संजय ! मैं जैसे पाण्डवोंको विनाशसे बचाना चाहता हूँ, उनको ऐश्वर्य दिलाना चाहता हूँ उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी भी अभ्युदयकी कामना करता हूँ। मेरी एकमात्र इच्छा है कि दोनों पक्ष शान्त रहें। युधिष्ठिर शान्ति प्रिय हैं। लेकिन संजय, जब धृतराष्ट्र अपने पुत्रों सहित लोभवश इनका राज्य भी हड़प लेना चाहते हैं तो कलह कैसे नहीं होगा ?

'ये लोग अपने स्वत्वको, राज्यभोगको प्राप्त करनेका जो प्रयत्न कर रहे हैं, उसे तुम धर्मका लोप क्यों बतला रहे हो ? ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी भी भिक्षाटन तो करते ही हैं। संजय ! तुम सम्पूर्ण लोकोंका धर्म जानते हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका धर्म तुम्हें ज्ञात है। तुम कौरवोंका पक्ष किस धर्मके आधारपर ले रहे हो ?

'राजा युधिष्ठिरने शास्त्रोंका स्वाध्याय किया है। राजसूय, अश्वमेध जैसे यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। इनके समीप अस्त्र, शस्त्र, वाहन और सहायक हैं। ऐसी अवस्थामें पाण्डव स्वधर्मानुसार कर्तव्यका पालन क्यों न करें ? क्षत्रियोचित कर्तव्य युद्धमें प्रवृत्त होकर यदि दैववश वे मृत्युको भी प्राप्त हों तो उनकी वह मृत्यु उत्तम ही मानी जायगी।

तुम सब कुछ त्यागकर शान्ति धारणको श्रेष्ठ धर्म कहते हो तो युद्ध करनेसे राजाओंके धर्मका ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जानेसे ? तुम धर्मज्ञ हो, इस विषयमें तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?

'पाण्डवोंका जो राज्य भाग धर्मतः उन्हें प्राप्त होना चाहिए, धृतराष्ट्र और उनके पुत्र उसे हड़प लेना चाहते हैं। यह तो ऐसा ही है कि कोई लुटेरा या डाकू आकर धन हरण करे और उसके सम्मुख गृहपतिको शान्त रहनेका उपदेश दिया जाय।

'दुर्योधन तो लोभ और क्रोधके वशीभूत है। उसने जो राज्य छलसे हरण किया है उसे अपना मानने लगा है। पाण्डवोंका राज्य तो उसके पास धरोहरके रूपमें था। उसे कौरव कैसे पा सकते हैं।

'दुर्योधनने जिन्हें युद्धके लिए एकत्र किया है वे मूर्ख नरेश अभिमानके कारण अपनी मृत्यु नहीं देख रहे हैं। मृत्युका पाश उनके सिरपर मँडरा रहा है।'

अब श्रीकृष्णचन्द्रका स्वर बहुत उग्र होगया—'तुम और तुम्हारे समर्थक धर्मज्ञ भीष्म, द्रोण, कृप आदि कहाँ चले गये थे जब पाण्डव महारानी द्रौपदी एकवस्त्रा होनेपर भी भरी सभामें केश पकड़कर लायी गयी। उस समय कुरु वृद्ध दुःशासनको रोक देते तो मेरा प्रिय कार्य होता और धृतराष्ट्रके पुत्रोंका भी हित होता। तुम केवल युधिष्ठिरको ही धर्मोपदेश करना चाहते हो और कौरवोंको मनमानी करनेका अवसर देना चाहते हो?'

सूतपुत्र कर्णने कहा था—'याज्ञसेनी! अब तेरे लिए दूसरी गति नहीं है। दासी बनकर दुर्योधनके महलमें चली जा। तेरे पति तो दाव हार चुके हैं। तू किसी दूसरे पतिको वरण कर ले।'

पाण्डव वनमें काला मृगचर्म धारण करके जाने लगे तो दुःशासनने कहा था—'ये सब नपुंसक अब नष्ट होगये। ये चिरकालके लिए नरकके गर्तमें गिर गये।'

रुष्ट, क्रुद्ध श्रीकृष्णके अरुण मुखकी ओर देखना दुष्कर होगया। उनका मेघ गंभीर स्वर, वे कह रहे थे—'संजय! क्या चाहते हो कि जगतमें दुष्टों, दुराचरणकारियोंको खुलकर खेलनेका अवसर मिलता रहे? उनकी ही वाणी सफल हो? ऐसा नहीं हो सकता। मैं ऐसा होने नहीं दे सकता। इतनेपर भी मैं शान्ति चाहता हूँ। मैं स्वयं हस्तिनापुर आ रहा हूँ। यदि पाण्डवोंका स्वार्थ नष्ट किये बिना मैं कौरवोंके साथ सन्धि करानेमें सफल हुआ तो मैं अपने इस कार्यको बहुत ही पुनीत और अभ्युदयकारी मानूंगा।'

'संजय! पाण्डव वृक्ष हैं और कौरव लताओंके समान हैं। वृक्षका सहारा लिये बिना लताएं बढ़ नहीं सकतीं। पाण्डव धृतराष्ट्रकी सेवाके लिए भी प्रस्तुत हैं और संग्रामके लिए भी। अब राजा धृतराष्ट्र ही निर्णय करें कि उन्हें क्या स्वीकार है। पाण्डव शक्तिशाली होनेपर भी सन्धि चाहते हैं।'

अन्तिम चेतावनी दी उन सर्वसमर्थने—'कोरा उपदेश व्यर्थ है संजय! यदि कौरव अभिमानवश पाण्डवोंका स्वत्व उन्हें नहीं देते तो युद्ध अनिवार्य

है और मैं बताये देता हूँ कि यदि युद्ध होता है तो धृतराष्ट्रके पुत्रोंको महानाशसे कोई बचा नहीं सकेगा।'

संजय बेचारा क्या उत्तर देता। उसने सिर झुका दिया। युधिष्ठिरने उसे सत्कृत करके सब गुरुजनोंको अभिवादन कहनेको कहकर विदा किया। संजय एकबार और श्रीकृष्णचन्द्रसे अन्तःपुरमें मिलकर हस्तिनापुरके लिए विदा हुआ।

श्रीकृष्णके नाम संजयकी व्याख्या

संजय विराट्‌नगरसे लौट गये। उन्होंने पाण्डवोंके बल-प्रभावादिकी प्रशंसा की। दुर्योधनके पूछनेपर अर्जुनके उस अग्निसे प्राप्त रथ नन्दिघोषका वर्णन सुनाया। धृतराष्ट्रके पूछनेपर श्रीकृष्णका अन्तिम सन्देश और मिलनका वर्णन संजयने किया।

संजयने बतलाया—'आपका संदेश सुनानेके लिए मैं अपने पैरोंकी अंगुलियोंकी ओर ही देखता हुआ, सिर झुकाये, हाथ जोड़े बड़ी सावधानीसे उस अन्तःपुरमें गया। वहाँ अभिमन्यु और नकुल-सहदेव भी नहीं जा सकते थे। मैंने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र दिव्य शय्यापर आधे लेटे हैं। उनके दोनों चरण अर्जुनने अपनी गोदमें ले रखे हैं। अर्जुनके नीचे लटकते चरणोंमें एक द्रौपदीकी गोंदमें है और एक सत्यभामाकी गोदमें है। मुझे देखकर अर्जुनने मेरे बैठनेके लिए एक स्वर्णका पादपीठ अपने पैरोंसे ही मेरी ओर खिसका दिया। मैं उसे हाथसे ही स्पर्श करके वहीं पृथ्वीपर बैठ गया। वहाँ मुझे भोजन कराया गया। आहार-ग्रहण करके, आचमन करके, स्वस्थ बैठकर हाथ जोड़कर मैंने उन्हें आपका सन्देश सुनाया।

'अर्जुनने ही प्रणाम करके श्रीकृष्णसे उसका उत्तर देनेकी प्रार्थना की। तब वे हृषीकेश उठकर सीधे बैठ गये। उन्होंने मुझसे कहा—'संजय, तुम महाराज धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणसे मेरा यह सन्देश कहना। सब बड़ोंको मेरा प्रणाम निवेदन करना और छोटोंको कहना कि मैंने उनका कुशल पूछा है। यह करके उनसे कहना—

'तुम लोगोंके सिरपर बहुत बड़ा संकट आ गया है, अतः जो भी यज्ञ, अनुष्ठान करने हों, कर लो। ब्राह्मणोंको, सत्पात्रोंको दान दे लो। स्त्री, पुत्रोंके साथ कुछ दिन आनन्द भोग लो। द्रौपदीने मुझे 'गोविन्द' कहकर जो कौरव सभामें पुकारा था वह ऋण मुझपर बहुत बढ़ गया है। मैं एक क्षणको भी कृष्णाका वह कातर स्वर भूल नहीं पाता हूँ। जिस अर्जुनके साथ मैं हूँ, उसके साथ युद्ध करके कौन है जो कालका ग्रास बननेसे बच सके? विराट्नगरमें अकेले अर्जुनके सम्मुखसे आपके सब शूर संग्राम भूमिसे भाग खड़े हुए थे। बल, वीर्य, शौर्य, तेज, स्फूर्ति, हस्त कौशल, अविषाद और धैर्य—ये सभी गुण अर्जुनके अतिरिक्त किसी एक व्यक्तिमें नहीं मिलते। अब उस धनंजयके गाण्डीवसे छूटे शरोंका स्वागत करनेको प्रस्तुत रहो।'

संजयने यह सन्देश सुनाया किन्तु दुर्योधनकी बुद्धि तो कालने भ्रान्त कर रखी थी। वह विदुर आदि किसीका कहना मानने, सुननेको भी प्रस्तुत नहीं था।

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—'जिनके करोंमें पाँच हाथ चौड़ा वज्रनाभि सहस्रार महाचक्र रहता है, वे चक्रपाणि सम्पूर्ण संसारकी सम्मिलित शक्तिसे भी बहुत बड़े हैं। वे अपने संकल्पमात्रसे सारी सृष्टिको भस्म कर सकते हैं। सत्य, धर्म, लज्जा, सरलताका जहाँ निवास है, श्रीकृष्ण वहाँ रहते हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, विजय वहीं है।

'वे सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम क्रीड़ासे ही पृथ्वी, आकाश और स्वर्गका भी संचालन कर रहे हैं। मुझे लगता है कि वे जनार्दन इस समय पाण्डवों-को निमित्त बनाकर अपनी मायासे मोहित आपके अधर्मनिष्ठ पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं। वे केशव ही अपनी चिच्छक्तिसे अहर्निशि कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्रको चला रहे हैं। वे एकमात्र हैं जो सम्पूर्ण जगत्, काल तथा मृत्युके भी स्वामी हैं। अपनी मायासे उन्होंने त्रिभुवनको मोहित कर रखा है। जो लोग केवल उन्हींकी शरण लेते हैं, वे ही मोहमें नहीं पड़ते।'

धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयने स्पष्ट कह दिया—'जो पुरुष ज्ञानहीन है, वह श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। मैं उनकी कृपासे प्राणियोंकी उत्पत्ति, विनाशके मूल कारण उन अनादि अच्युतको

जानता हूँ। कपटका आश्रय न लेनेसे, व्यर्थ धर्मोंके सर्वथा त्यागसे, ध्यान योगसे और अनन्य चिन्तनसे मेरा चित्त शुद्ध हुआ अतः शास्त्रके द्वारा मुझे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान होगया।'

धृतराष्ट्रने आग्रहपूर्वक कहा—'संजय! तुम मुझे श्रीकृष्णकी प्राप्तिका कोई सुगम मार्ग बतलाओ।'

संजयने अपने अन्धे स्वामीको स्पष्ट, दो टूक उत्तर दिया—'कोई अजितेन्द्रिय पुरुष उन अच्युतको नहीं प्राप्त कर सकता। इन्द्रियाँ बहुत प्रबल हैं और इनकी प्रवृत्ति ही बाहर, अज्ञानके विषयोंमें ले जानेकी है। इनको सावधानीसे वशमें किये बिना दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इन्द्रियजय ही वास्तविक ज्ञान है। इसके बिना श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त नहीं होता।'

धृतराष्ट्रने आग्रह किया—'तुम एकबार फिर श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूप तथा उनके नामोंका रहस्य मुझे सुना दो।'

संजयने कहा—'मैंने श्रीकृष्णके कुछ नामोंकी व्युत्पत्ति महर्षियोंके मुखसे सुनी है उनमें-से जो मुझे स्मरण हैं, सुना रहा हूँ। उन अनन्तके अनन्त नाम हैं। वास्तवमें तो वे किसी प्रमाणके विषय ही नहीं हैं।

'देवताओंके भी जन्मस्थान होनेसे और सबको अपनी मायासे आवृत किये होनेके कारण वे वासुदेव हैं।

'व्यापक तथा महान होनेके कारण उनको विष्णु कहा जाता है।

'मौन ध्यान और योगसे प्राप्त होनेके कारण माधव हैं।

'मधु दैत्यका वध करनेके कारण उनका नाम मधुसूदन पड़ा है।

'कृष धातुका अर्थ है सत्ता। ण आनन्दका वाचक है। आनन्दकी सत्ता होनेके कारण वे यदुकुलमें अवतीर्ण प्रभु कृष्ण हैं।

'हृदय पुण्डरीक ही उनका नित्यधाम है, अतः वे पुण्डरीकाक्ष हैं।

'दुष्टोंका दमन करनेके कारण उनका नाम जनार्दन है।

'सत्त्वगुणसे कभी च्युत न होनेके कारण तथा कभी सत्त्वकी उनसे च्युति न होनेक कारण वे सात्वत हैं।

'आर्ष उपनिषदों द्वारा प्रकाशित होनेके कारण आर्षभ हैं।

'वेद ही उनके नेत्र हैं, अतः वृषभेक्षण कहे जाते हैं।

'किसी भी जन्मशील प्राणीसे उत्पन्न न होनेके कारण वे अज हैं।

'उदरादि सभी इन्द्रियोंके प्रकाशक और उनका दमन करनेवाले होनेसे उनका नाम दामोदर है।

'वृत्तिसुख और स्वरूप सुखका नाम हृषीक है। इनके ईश होनेसे वे हृषीकेश कहलाते हैं।

'अपनी भुजाओंसे ही पृथ्वी-आकाश सबके धारक होनेसे वे महाबाहु हैं।

'वे कभी अध—नीचे नहीं होते अतः अधोक्षज हैं।

'नरोंके अयन आश्रय होनेसे नारायण हैं।

'जो सबमें पूर्ण हो और सर्वाश्रय हो, उसे पुरुष कहते हैं। उस पुरुषसे भी श्रेष्ठ होनेसे उनका नाम पुरुषोत्तम है।

'सत् असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान होनेके कारण वही सर्व हैं।

'श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है इसलिए वही सत्य है।

'विश्वको व्याप्त करने तथा विक्रमण करनेके कारण वे विष्णु हैं।

'सबको जय करनेके कारण जिष्णु हैं।

'नित्य होनेसे वे अनन्त हैं।

'गो अर्थात् इन्द्रियोंके ज्ञाता होनेसे गोविन्द हैं।

'वे निरन्तर धर्ममें स्थित रहनेवाले, भगवान मधुसूदन कौरवोंको नाशसे बचानेके लिए यहाँ पधारनेवाले हैं।'

संजयने श्रीकृष्णके नामोंकी व्याख्या करके उनके आगमनकी सूचना दी और सम्मति दी कि उनकी बात पूरे ध्यानसे सुननी चाहिए। उनकी वाणीको मान लेनेमें ही कौरवोंका हित है।

धृतराष्ट्रको संजयकी सम्मति उचित और आचरण करने योग्य लगती थी किन्तु उनका अपने पुत्रोंपर वश नहीं था। पुत्रोंके प्रति अतिशय मोहने उन्हें विवश कर दिया था और वे केवल दुर्योधनके हाथ की कठपुतली रह गये थे।

दूतत्वकी प्रस्तुति

संजयके चले जानेपर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—'मित्रवत्सल! हमें आपत्तियोंसे पार करनेवाले परमाश्रय तो आप ही हैं। आपके सहारे ही हम निर्भय हैं। आपके बलपर ही हम अपना भाग दुर्योधनसे माँगते हैं।'

भगवानने कहा—'धर्मराज! मैं तो आपकी सेवामें उपस्थित ही हूँ। आप अपना अभिप्राय निःसंकोच सूचित करें। मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

युधिष्ठिर भाव विभोर हो उठे। ऐसा भक्तवश्य भगवान! अपनेको स्थिर करके उन्होंने कहा—'आपने संजयकी बात सुन ही ली। वह बात संजयकी तो थी नहीं, वह तो दूत था। वह अपने स्वामीका अभिप्राय ही प्रकट कर रहा था। धृतराष्ट्रजी हमें अब हमारा स्वत्व देना नहीं चाहते हैं, यद्यपि हमने बहुत कष्ट सहन करके भी उनकी आज्ञाका ही पालन किया है।

'मेरी इच्छा युद्ध करनेकी नहीं है। इसीसे मैंने दुर्योधनसे केवल पांच गाँव अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और एक जो वे चाहें, इतना ही माँगा था किन्तु वह इतना भी देनेको प्रस्तुत नहीं हैं।

'अब यह स्पष्ट होगया है कि महाराज धृतराष्ट्रका हमारे साथ व्यवहार सर्वथा कृत्रिम है। वे अपने पुत्रोंके लिए हमारा स्वत्व भी हड़प लेना चाहते हैं। दुर्योधनकी बुद्धि लोभके कारण नष्ट होगयी है।

'मेरा विचार प्रथम तो यह है कि हम कौरवोंके साथ सन्धि करके शान्तिपूर्वक रहें और समान रूपसे राज्यलक्ष्मी भोगें किन्तु यदि ऐसा नहीं होता तो अन्तमें हमें यही करना होगा कि युद्धमें कौरवोंको मारकर हम पूरा राज्य अधिकृत कर लें।

'मैं न राज्य त्याग करना चाहता हूँ, न कुलका नाश हो, यह मेरी इच्छा है। अतः यदि नम्रता दिखलानेसे थोड़ा स्वत्व त्यागसे भी सन्धि हो जाय तो उत्तम सन्धि न हुई तो युद्ध होगा ही। पराक्रम न करना अनुचित होगा।

'आप ही हमारे प्रिय तथा हितैषी हैं। इस संकटके समय हमें क्या करना चाहिए जिससे हम धर्म और अर्थ दोनोंसे वंचित न हों, इस विषयमें आप ही हमारा मार्ग दर्शन करें।'

श्रीकृष्णचन्द्रने संक्षिप्त उत्तर दिया—'मैं दोनों पक्षोंका कल्याण करनेकी कामना लेकर कौरवोंके पास जाऊँगा। यदि वहाँ आपके हितकी किसी प्रकार हानि किये बिना सन्धि करा सका तो इसे अपना सबसे बड़ा पुण्य समझूँगा।'

युधिष्ठिरको यह प्रस्ताव पसन्द नहीं आया। वे व्याकुल होकर बोले—'आप कौरवोंके पास जायँ, यह मेरी सम्मति नहीं है। दुर्योधन बहुत हठी हैं। वह आपकी युक्तियुक्त बात भी स्वीकार नहीं करेगा। वह कितना दुष्ट है, आप जानते हैं। उसके वशवर्ती नरेश वहाँ इस समय एकत्र हैं। आपको वहाँ कष्ट हो सकता है और आपको कष्ट होकर हमें धन, सुख, देवत्व तथा सुरोंका साम्राज्य भी मिलता हो तो नहीं चाहिए।'

श्रीकृष्णचन्द्रने गम्भीर होकर कहा—'संसार हमें दोष न दे, इसके लिए सन्धिका पूरा प्रयत्न कर लेना चाहिए। अपनी ओरसे सब बातें स्पष्ट कर देनी हैं। दुर्योधन कैसा है, मैं जानता हूँ किन्तु आप भी जानते हैं कि मैं क्रोध करूँ तो त्रिभुवनके सब शूर मिलकर भी मेरे सम्मुख टिक नहीं सकते। सिंहके सम्मुख वनके पूरे पशु मिलकर भी आवें तो कुछ कर लेंगे? मेरा वहाँ जाना निरर्थक तो नहीं ही है। काम न भी बने तो हम यह करके लोक-निन्दासे बच जायँगे।'

अब युधिष्ठिरके पास कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने कहा—'यदि आपको यही उचित जान पड़ता है तो जायँ। मैं अपने कार्यमें सफल होकर आपके सकुशल लौटनेकी आशा करता हूँ। आप हमको भी जानते हैं और कौरवोंको भी। दोनोंका हित भी चाहते हैं। हम दोनों मिलकर शान्ति-पूर्वक रह सकें, इसके लिए आप सब उचित प्रयत्न करें।'

श्रीकृष्णचन्द्रने अब स्पष्ट कहा—'महाराज! आप मेरे वहाँ जानेसे कोई आशा न करें। मुझे आपका और कौरवोंका भी अभिप्राय ज्ञात है। आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है और उनकी शत्रुतामें निमग्न है। बिना युद्ध किये जो मिल जाय उसीमें आप सन्तोष कर लेंगे किन्तु यह क्षत्रियके लिए

उचित नहीं है। क्षत्रियको भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए। उसका सनातन धर्म है कि पौरुष प्रकट करे। पराक्रमजीवी ही क्षत्रिय है। संग्राममें शत्रुका मान मर्दन करे या मर मिटे। दैन्य उसके लिए प्रशंसाकी वस्तु नहीं है। अतः आप पराक्रम करके शत्रुओंका दमन करनेको प्रस्तुत रहें।

धृतराष्ट्रके पुत्र बहुत लोभी हैं। तेरह वर्ष आपकी अनुपस्थितिका लाभ उठाकर स्नेह-व्यवहारसे उन्होंने बहुतसे राजाओंको मित्र बना लिया है। इससे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी है। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदिके कारण भी वे अपनेको बलवान मानते हैं। अतः आपसे वे सन्धि कर लें इसकी कोई आशा दीखती नहीं। इनके साथ नम्रताका व्यवहार करेंगे तो आपके प्रति ये अधिक कठोर होते जाएँगे। ऐसे कुटिल स्वभावके लोग तो सभीके वध्य हैं।

'पापी दुःशासन द्यूत सभामें केश पकड़कर आपकी महारानी द्रौपदीको घसीट लाया और उस रोती हुई, असहायाको सबके सम्मुख गौ कहकर बार-बार पुकारता रहा। तब आपने अपने पराक्रमी भाइयोंको रोक दिया था। धर्मपाशमें बंधे होनेसे वे कुछ भी कर नहीं सके थे। ऐसे अधम पुरुषोंको मार ही डालना योग्य है। आप इनके वधका निश्चय करें।

'धृतराष्ट्र और भीष्मके प्रति नम्रता दिखाना आपके योग्य ही है। मैं वहाँ जाकर आपके सद्‌गुणोंको सबके सामने प्रकट कर सकूंगा। दुर्योधनके सब दोष वर्णन करूँगा। इससे शत्रु पक्षके लोगोंका भी हृदय हमारे पक्षमें हो जायगा। धर्म और अर्थके अनुकूल बातें कहकर शान्तिके लिए प्रार्थना करनेपर आपकी निन्दा नहीं होगी। कौरवोंकी ही सबमें निन्दा होगी। वहाँ जाकर मैं उनकी पूरी गतिविधि भी ज्ञात कर लूंगा। संग्राम होगा, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः आप सभी लोग शस्त्र, अस्त्र, रथ, कवच, अश्व, गज आदि प्रस्तुत कर लें। युद्धोपयोगी साधन एकत्र करें। दुर्योधन जीवित रहते आपको कुछ नहीं देगा इसे निश्चित समझ लें।'

इस समय भीमसेनने सबको चौंका दिया। उनके मुखसे किसीने भी जो बात सुननेकी आशा नहीं की थी, अपने स्वभावके सर्वथा विपरीत इस समय वे बोले—'मधुसूदन! आप युद्धकी बात करें कि वे सन्धिके लिए सहमत हो जायँ। दुर्योधन बड़ा असहनशील, क्रोधी, अदूरदर्शी, निष्ठुर,

दूसरोंकी निन्दा करनेवाला और हिंसा प्रिय है। वह टूट जायगा किन्तु झुकेगा नहीं। लगता है कि उसके क्रोधके कारण भरतवंशको ही भस्म होना है। अतः आप उससे मधुरवाणीमें, धर्म, अर्थसे युक्त उसके हितकी ही बात कहें। उसके मनोनुकूल बात कहें। हम सब तो उसके अधीन होकर नम्रतापूर्वक उसका अनुसरण करनेको भी उद्यत हैं। आप वहाँ जाकर हमारे वृद्ध पितामह तथा अन्य सभासदोंसे ऐसा करनेके लिए कहें जिससे हम भाइयोंमें मेल बना रहे। दुर्योधन शान्त हो जाय और हमारा यह गौरवशाली वंश नष्ट होनेसे बच जाय।'

श्रीकृष्णचन्द्र हँस पड़े। भीमके कन्धेपर अपना हाथ रखकर बोले—'तुम ऐसा कहते हो? तुमने सदा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको कुचल डालनेकी बात कही है। तुमने गदा उठाकर भाइयोंके बीचमें प्रतिज्ञा की है—'संग्राममें मैं दुर्योधनका इस गदासे वध करूँगा।' तुम्हारा भी उत्साह सम्मुख समर देखकर ढीला पड़ गया? तुम भी शत्रुओंसे भयभीत होगये? नपुंसकोंके समान तुममें भी पुरुषार्थ नहीं रहा? तुम तो अपने कुल, जन्म, कर्मको लज्जित मत करो। तुम्हारे चित्तमें युद्धके प्रति ग्लानि और बन्धु वधसे मोह जन्य विरति उचित नहीं है। केशरीके समान क्षत्रिय भी दूसरेकी दयापर जीवित नहीं रहता। वह अपने पौरुषसे जिसे प्राप्त नहीं करता उसे काममें नहीं लेता।'

भीमसेनको उत्तेजित करनेके लिए इतना ही पर्याप्त था। उनकी भुजाएं फड़क उठीं। उन्होंने कहा—'केशव! आप अन्यथा मत समझें। मैं तो चाहता था कि भरतवंशका नाश न हो किन्तु युद्धमें मुझे किसीसे भय नहीं है। मैं अपना पराक्रम समर-भूमिमें प्रकट करूँगा। उसको यहाँ वाणीसे वर्णन करना व्यर्थ है।'

श्रीकृष्णचन्द्र अब प्रसन्न हुए। बोले—'भाई भीमसेन! मैं तुम्हारे पौरुष, पराक्रमको भली प्रकार जानता हूँ। तुम्हारा तिरस्कार मैं नहीं करता। मैं सन्धिके लिए प्रयत्न करने कल जा रहा हूँ। उन्होंने मेरी बात मान ली तो मुझे स्थायी सुयश मिलेगा। तुम लोगोंका काम बन जायगा। उनका भी मंगल होगा। लेकिन उन्होंने मेरी बात नहीं मानी तो युद्ध जैसा भयंकर कर्म करना ही होगा। युद्धका सारा भार तुमपर ही रहेगा। सब लोग तुम्हारी आज्ञामें रहेंगे। अतः तुम युद्धके लिए आवश्यक तैयारीमें पूरे मनसे लगो।'

अर्जुनने भी अपनी ओरसे कहा—'जो कुछ कहना था वह तो महाराज युधिष्ठिर कह ही चुके हैं। धृतराष्ट्रको लोभ और मोहके कारण सन्धि होना सहज नहीं है, यह ठीक होनेपर भी आप शत्रुसे सन्धि होजाय इसीके लिए पूरा प्रयत्न करें। वैसे आपने जो निश्चय किया हो, हमें वही मान्य है। धर्मराजकी लक्ष्मी जो नहीं देख सका और कपट द्यूतका आश्रय लेकर जिसने उसका हरण किया वह दुरात्मा दुर्योधन भाइयों तथा पुत्रोंके साथ मृत्यु मुखमें ही जाने योग्य है। दुर्योधन वही है जिसने द्रौपदीका वैसा अपमान किया। अब वह पाण्डवोंके साथ अच्छा व्यवहार करेगा यह बात मेरी समझमें तो आती नहीं। आप जो करना चाहें, करें और आगे जो हमें करना हो वह भी बतला दें।'

श्रीजनार्दनने कहा—'अर्जुन! बात तुम्हारी ही ठीक है। मैं कौरव-पाण्डव दोनोंका हित करनेका प्रयत्न कर रहा हूँ किन्तु जो भवितव्य है उसे बदला नहीं जा सकता। दुर्योधन स्वेच्छाचारी होचुका है। उसे शकुनि तथा कर्ण जैसे सहचर मिल गये हैं। वे उसके कुविचारको ही उकसाते हैं। अतः परिवार सहित नाश ही उसे शान्ति देगा। भूभार हरणार्थ ही देवता पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं अतः सन्धि कैसे हो सकती है। इतनेपर भी मुझे धर्मराजकी आज्ञासे प्रयत्न करना है।'

नकुलने कहा—'माधव! आपने धर्मराजका, भाई भीमसेनका, अर्जुनका विचार सुन लिया। इन सब बातोंको छोड़कर शत्रुका विचार जानकर जो आपको उचित लगे वह करें। वनवासके समय राज्य पानेमें हमारा इतना आग्रह नहीं था जैसा अब है। अतः हमारे विचार तो फिर भी परिवर्तित हो सकते हैं। समझाकर और धमकाकर भी मन्दबुद्धि दुर्योधनको आप मना लें। आपके कहनेपर विदुर, भीष्म, द्रोण, कृप और वाह्लीक यह बात समझ सकेंगे कि कौरवोंका हित किसमें है। अपने इन सब हितैषियोंकी सम्मति राजा धृतराष्ट्र और अपने मित्रोंके साथ दुर्योधनको भी माननी पड़ेगी।'

सहदेवको अपने भाइयोंमें-से किसीकी भी बात अच्छी नहीं लगी थी। उन्होंने अपना स्पष्ट अभिमत प्रकट किया—'हमारे बड़े भाई महाराजने जो बात कही वह तो सनातन धर्म है किन्तु आप तो ऐसा ही प्रयत्न क

कि युद्ध हो। कौरव लोग सन्धि करना भी चाहें तो आप उनसे ऐसी ही बात करें जिससे संग्राम अनिवार्य बने। द्यूत-सभामें द्रौपदीकी वह दुर्गति देखकर मुझे दुर्योधनपर जो क्रोध आया था वह उसका प्राणहीन शव देखे बिना शान्त नहीं हो सकता।

सात्यकि अब तक चुपचाप बैठे थे। वे अचानक उठ खड़े हुए। उन्होंने आवेशमें कहा--'महामति सहदेवने यथार्थ बात कही है। इनका मत ही सब योद्धाओंका मत है। दुर्योधनका वध ही मेरे क्रोधको भी शान्त कर सकता है। मुझे तो सन्धिकी यह चर्चा ही सह्य नहीं है।'

सात्यकिके बोलते ही वहाँ बैठे सब योधा सिंहनाद करने लगे। सब वीरोंने सहदेवका समर्थन किया किन्तु श्रीकृष्णने उस समय उनको कुछ कहा नहीं। वे उत्साहित थे ही। उनका उत्साह बना रहे, यह अभीष्ट था।

सात्यकिने एक बात और कही--'दुरात्मा दुर्योधनके सद्भावपर भरोसा करके हम आपको एकाकी हस्तिनापुर नहीं जाने दे सकते। मैं जानता हूँ कि आप सर्व समर्थ हैं। आप चक्र उठा लें तो प्रलयंकर भी आपका वेग सहन नहीं कर सकते किन्तु वे उन्मादी, दुष्ट, दुर्वृति लोग क्या करेंगे इसका भी कुछ ठिकाना नहीं है। आप यादवोंके सर्वस्व हैं। आपका सम्मान सम्पूर्ण यदुवंशका सम्मान है और आपका अपमान समस्त यादवकुलका अपमान है। अतः मैं आपकी सेवामें आपके साथ चलूंगा। आप कृपा करके इसके विपरीत मुझे आदेश न करें।'

श्रीकृष्णचन्द्रने हँसकर अनुमति दे दी—'महावीर सात्यकि! तुम्हारे साथकी तो मुझे स्वयं आवश्यकता है। चिन्ताकी बात नहीं है। वहाँ सब दुर्योधनके ही समर्थक नहीं हैं। सद्भाव सम्पन्न लोग भी वहाँ हैं, भले उनकी प्रमुखता वहाँ न रह गयी हो।'



पांचालीका आक्रोश

धर्मराज युधिष्ठिरके धर्म तथा अर्थयुक्त वचन सुनकर और भीमसेनको शान्त देखकर द्रुपदनन्दिनी सहदेव तथा सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए रोकर बोली—'मधुसूदन ! दुर्योधनने जो व्यवहार हमारे साथ किया है उसे आप जानते हैं। राजा धृतराष्ट्रने संजयको जो संदेश दिया था उसे भी आपने सुना। अतः यदि दुर्योधन बिना हमारा राज्य लौटाये सन्धि करना चाहे तो आप उसे कदापि स्वीकार न करें।

'सामके या दानके द्वारा कौरवोंसे कोई प्रयोजन सिद्ध होनेकी आशा नहीं है इसलिए आप भी उनके साथ कोई ढील-ढाल न करें। जिसे भी अपनी जीविका बचानेकी इच्छा हो उसे साम तथा दानसे न दबनेवाले शत्रुके प्रति दण्डके प्रयोगमें हिचकना नहीं चाहिए। अतः आपको भी पाण्डव तथा सृंजय वीरोंको साथ लेकर शत्रुको शीघ्र दण्ड देना है।

जो दोष अवध्यका वध करनेमें है वही दोष क्षत्रियके लिए बध्यका वध न करनेमें भी है यह शास्त्रका मत मैंने सुना है। इसलिए दुर्योधनादिका वध ही आपके लिए अभीष्ट होना चाहिए, जिससे आपको दोष न लगे।

'मैं यज्ञवेदीसे उत्पन्न महाराज द्रुपदकी अयोनिजा पुत्री हूँ। अग्नि-तनय धृष्टद्युम्नकी सगी बहिन हूँ। महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू हूँ। लोकपालोंके समान तेजस्वी पाण्डवोंकी पट्टमहिषी हूँ और निखिल लोक नायक आपकी सखी हूँ। इतनी सम्मानिता होनेपर भी मुझे केश पकड़कर सभामें लाया गया। वहीं इन पांचों पतियोंके रहते आपके सर्वव्यापक होते मुझे अपमानित किया गया। पाण्डव, यादव और पांचाल वीरोंके जीवित रहते मैं इन पापियोंकी सभामें दासीकी दशामें पहुँची।'

द्रौपदीके बड़े-बड़े नेत्र लाल होरहे थे। उनसे आँसूकी बड़ी-बड़ी बूंदें टपाटप गिर रही थीं। उसका स्वर क्रोधसे काँप रहा था—'मेरी वह दुर्गति देखकर भी जो उस समय शान्त रह गये थे, वे अब भी शान्त हैं

किन्तु यदि दुर्योधन अब भी जीवित रहता है तो अर्जुनकी धनुर्धरता और भीमके पराक्रमको धिक्कार है। मुझे इनका नहीं, केवल आपका ही भरोसा है। आप यदि मुझे अपनी कृपापात्री समझते हैं तो धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर कोप कीजिये।'

द्रौपदी अपने काले लम्बे केश बाँये हाथमें लिये श्रीकृष्णके समीप आगयी और उन्हें दिखाकर बोली—'आप शत्रुओंसे सन्धि करने तो जा रहे हैं किन्तु वहाँ दुःशासनके द्वारा खींचे गये अपनी कृष्णाके इन केशोंको भूल न जायँ। ये तब तक नहीं बाँधे जायँगे जब तक दुःशासनकी साँवली भुजा काटकर उसके रक्तसे इन्हें सिंचित नहीं किया जायगा।'

उस वीर जननीने सिंहनीके समान हुंकार करके कहा—'यदि भीम और अर्जुन आज कायर होकर सन्धिके लिए उत्सुक हैं तो अपने महारथी पुत्रोंके सहित मेरे वृद्ध पिता कौरवोंके साथ संग्राम करेंगे। अभिमन्युके सहित मेरे पाँच महाबली पुत्र प्राणोंपर खेलकर माताके अपमानका प्रतिशोध लेंगे। प्रज्वलित अग्निके समान प्रचण्ड क्रोध हृदयमें लिये मैं तेरह वर्ष प्रतीक्षा करती रही हूँ। आज भीमसेन सन्धिकी बात करते हैं और आप भी उन्हें सुनते हैं? मेरा हृदय फटा जाता है। अब भी धर्मकी बात देखना, सुनना शेष रहा है?'

द्रौपदीका कण्ठ भर आया। वह फूट-फूटकर रोने लगी। श्रीकृष्णने अत्यन्त गम्भीर स्वरमें कहा—'कृष्णे! तुम शीघ्र इसी प्रकार कौरव नारियोंको रुदन करते देखोगी। तुम्हारा जिनपर कोप है उन शत्रुओंके स्वजन, सुहृद, सेनादिके नष्ट होजानेपर उनकी स्त्रियाँ भी इसी प्रकार रोएंगी। तुम्हारे अश्रुके प्रत्येक विन्दु उनके नेत्रोंसे शतगुणित होकर झरेंगे। कालके वशमें हुए धृतराष्ट्रके पुत्र यदि मेरी बात मानकर तुम्हारा स्वत्व नहीं लौटाते तो युद्धमें उनके शव श्वान-शृगालोंके आहार बनेंगे।

'कृष्णे', हिमालय भले अपने स्थानसे हट जाय, पृथ्वीके भले सैकड़ों टुकड़े होजायँ, भले तारों भरा आकाश टूट पड़े क़िन्तु मेरी बात मिथ्या नहीं होगी। अपने अश्रु रोको। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम शीघ्र शत्रुओंका युद्धभूमिमें शव तथा अपने पतियोंको श्रीसम्पन्न देखोगी।'

इस प्रकार द्रौपदीको आश्वासन देकर उसे श्रीकृष्णने शान्त किया। द्रुपदतनयाने उनकी ओर देखकर अपने अश्रु पोंछे। सबको ही लगा कि वहाँ जो कुछ होगा, पाण्डव पट्टमहिषीने उसका निर्णय यहीं कर दिया है। ये भक्तवत्सल जो आश्वासन दे चुके हैं उसे अन्यथा करनेवाली शक्ति तो सृष्टिमें ही नहीं है।



प्रस्थान

शरद ऋतु का अन्त होनेपर हेमन्तके प्रारम्भमें कार्तिक मासमें रेवती नक्षत्र और मैत्र मुहूर्तमें श्रीकृष्णचन्द्रने यात्रा प्रारम्भ की। सात्यकिसे उन्होंने कहा—'मेरे रथमें शंख, चक्र, गदा, खड्ग, धनुष, त्रोण आदि सभी शस्त्र सजा दो।'

शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक इन चारों श्रीकृष्णके अश्वोंको स्नान कराके सुसज्जित किया गया था। वे गरुड़ध्वज रथमें जोड़े गये। रथका पूजन हुआ। दारुकने करका सहारा देकर अपने स्वामीको उसपर आरूढ़ किया। सात्यकि भी उसी रथमें बैठे।

मंगलवाद्य ध्वनि, शंखनाद तथा विप्रोंके स्वस्त्ययनके मध्य रथने प्रस्थान किया। भाइयोंके साथ धर्मराज तथा उनके साथी नरेश काशिराज, धृष्टकेतु आदि पहुँचाने साथ चले।

युधिष्ठिरने चलते समय श्रीद्वारिकाधीशको हृदयसे लगाकर कहा—'गोविन्द! जिस पतिहीना अबला माताने हमें शैशवसे सब संकट सहकर पालन किया, जो निरन्तर उपवास और तपमें लगी रहकर हमारे कुशल-क्षेमका ही प्रयत्न करती रहती हैं, जिनका देवता और अतिथियोंमें सहज अनुराग है उनसे आप कुशल पूछें। उन्हें हमारा शोक सदा संतप्त बनाये रहता है। हमारे नाम लेकर हमारी ओरसे आप उनके चरणोंमें प्रणाम कर लें। मधुसूदन! क्या कभी ऐसा समय आयेगा कि हम इस दुःखसे छूटकर अपनी दुःखिया माताको कुछ सुख पहुँचा सकेंगे।'

युधिष्ठिरने कठिनाईसे प्रस्थानके इस मंगल अवसरपर अपने अश्रु रोके। उन्होंने प्रसंगान्तर किया—'राजा धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कृप, अश्वत्थामा, वाह्लीक, सोमदत्त एवं दूसरे भी जो हमसे वयोवृद्ध सम्मान्य राजा हैं उन्हें हमारा अभिवादन कहें, कौरवों तथा अन्यों से भी यथायोग्य कुशल पूछें। मेरा प्रणाम कहें महामति विदुरजीको।'

इतना कहकर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णकी परिक्रमा की। उनकी अनुमति लेकर लौटे। अब साथ-साथ चलते हुए अर्जुनने कहा—'पहिले हमलोगोंके लौटनेपर हमारा आधा राज्य लौटा देनेकी बात हुई थी। इसे सब राजा लोग जानते हैं। अब यदि दुर्योधन ऐसा करनेको प्रस्तुत होजाता है तो सर्वोत्तम, उसे बहुत बड़ी विपत्तिसे परित्राण होजायगा अन्यथा मैं उसके सब सहायकोंका समरमें संहार कर दूंगा।'

अर्जुनके वचन सुनकर भीमसेन हर्ष विभोर होकर सिंहनाद करने लगे। श्रीकृष्णको आलिंगन करके, उनकी अनुमति लेकर अर्जुन, भीमसेन आदि भी लौट गये। इनके चले जानेपर दारुकने अश्वोंको पूरे वेगसे हाँका। मार्ग के दोनों ओर खड़े अनेक महर्षिगण आगे मिले, देखते ही रथ रोक लिया गया। श्रीकृष्ण रथसे कूदे और उनके समीप जाकर प्रणाम करके पूछा—'आप सबके आश्रम निरुपद्रव तो हैं? लोकोंमें मंगल तो है? आप सब दिव्यलोकके निवासी किस निमित्त धरापर पधारे हैं? मैं आप सबकी कोई सेवा कर सकता हूँ?'

भगवान परशुरामने श्रीकृष्णका आलिंगन किया। वे बोले—'वासुदेव! ये ब्रह्मर्षि, महर्षि, राजर्षि लोग बहुत दीर्घजीवी हैं। प्राचीनकालमें असंख्य देवताओं और असुरोंको देख चुके हैं। इस समय ये आपको देखने आये हैं और हस्तिनापुरके राजाओंके मध्य आपकी दिव्य वाणी सुनना चाहते हैं। आप पधारिये, हम सब उस सभामें ही आपके दर्शन करेंगे।'

श्रीकृष्णचन्द्रके साथ दस महारथी, एक सहस्र अश्वारोही, इतने ही पदाति सैनिक तथा बहुतसे सेवक साथ थे। इन सबके लिए भोजन सामग्री छकड़ोंमें साथ चल रही थी।

जहाँ भी मार्गमें जनपद मिलते थे, ब्राह्मण उनकी स्तुति करते थे। मधुपर्क अर्पित करते थे। दूसरे लोग मंगल द्रव्य तथा उपहार लिये स्वागत

करते थे। यद्यपि उस समय हस्तिनापुरमें तथा अन्यत्र भी बहुत अधिक अपशकुन हुए किन्तु श्रीकृष्णचन्द्रको सर्वत्र शुभ शकुन ही प्राप्त हुए। जिनका स्मरण ही सर्वाशुभ विनाशक परम मंगलायतन है, शकुन उनको छोड़कर किसकी सेवासे सार्थक होते।

शालियवन नामक स्थानमें बहुत उत्साहपूर्वक वहाँके लोगोंने सत्कार किया। सूर्यास्तसे पूर्व ही रथ वृकस्थल नामक ग्राम पहुँच गया। यहाँ रथ रुक गया। अश्व खोल दिये। स्नान, सन्ध्यादि नित्यकर्म सम्पन्न हुआ। वहीं रात्रि-विश्राम हुआ। वहाँके लोगोंने अच्युतका आतिथ्य करके अपनेको कृतार्थ माना।

स्वागतकी तैयारी

श्रीकृष्ण आरहे हैं यह समाचार धृतराष्ट्रको मिला तो उन्होंने भीष्म, द्रोण, संजय, विदुर, दुर्योधनादिसे कहा—'वे वासुदेव सब प्रकार हमारे माननीय हैं, पूज्य हैं। उनमें धैर्य, वीर्य, प्रज्ञा और ओज सभी गुण हैं। उनका सत्कार करनेमें ही सुख है। उनकी अवमानना करके प्राणी अपने लिए दु:ख ही आमंत्रित करता है। यदि वे हमारे सत्कारसे सन्तुष्ट होगये तो दूसरों के समान हमारे भी सभी अभीष्ट सिद्ध होजायेंगे। दुर्योधन! तुम उनके स्वागत की तैयारी करो। मार्गमें ही सब आवश्यक सामग्रीसे सज्जित विश्राम-स्थान बनवाओ। ऐसा उपाय करो जिससे श्रीकृष्ण तुमपर प्रसन्न होजायें।'

भीष्मने समर्थन किया। दुर्योधनने मार्गमें स्थान-स्थानपर विश्राम-स्थान बनवाये। उनमें देव दुर्लभ सुखोपभोग सजाये। बहुमूल्य रत्न वहां भेंट देनेको रखे।

व्यक्ति जैसा होता है, अपनी दृष्टिसे ही सारे संसारको देखता है। जिस वस्तुमें, भोगमें, पदमें उसकी महत्त्व बुद्धि है, वह जिसके पास हो, उसको महान मानता है। दूसरोंको वही देकर सम्मानित करना चाहता है

दुर्योधनके लिए ऐश्वर्य , रत्न बहुत महत्त्वके थे। उसने श्रीकृष्णके स्वागतमें इन्हें सजानेमें तनिक भी कृपणता नहीं की किन्तु सर्वेश्वरेश्वर श्रीपतिको कोई भी प्राणी पदार्थोंसे सन्तुष्ट कर सकेगा यह उसकी दुराशा ही तो है। श्रीकृष्णने दुर्योधनके बनवाये विश्राम स्थानों तथा उसके रत्नोंकी ओर देखा भी नहीं।

धृतराष्ट्रको दूतोंसे सूचना मिलती जारही थी। उन्होंने विदुरसे कहा —'वे पुरुषोत्तम उपप्लव्यसे आगे बढ़ चुके हैं। आज उन्होंने वृकस्थलमें रात्रिविश्राम किया है। कल प्रातः वे यहाँ पहुँच जायेंगे। वे त्रिलोकीके स्वामी , सृष्टिकर्ताके भी पिता हैं। अतः आप घोषणा करादें कि हमारी बालक-वृद्ध , स्त्री-पुरुष समस्त प्रजाको साक्षात् सूर्यके समान श्रीकृष्णका दर्शन करना चाहिए।

'सब ओर बड़ी-बड़ी ध्वजाएं गाड़कर उनपर पताकाएं लगवा दो। उनके आनेके मार्गको स्वच्छ करके उसपर सुगन्धित जल छिड़कवा दो। दुःशासनका भवन दुर्योधनके भवनसे सुन्दर है। उसे शीघ्र स्वच्छ कराके भली प्रकार सजा दो। मेरे और दुर्योधनके भवनोंमें जो भी उत्तम सामग्री हो , सब उसमें सजा दो और उसमे-से जो भी पदार्थ श्रीकृष्णको प्रिय लगें , उनके योग्य हों , उन्हें भेंट कर दो।'

विदुरने कहा—'राजन्, आप प्रतिष्ठित हैं। लोकमें सम्मानित हैं। इस समय जो कुछ कह रहे हैं वे बातें शास्त्र सम्मत हैं और आपकी स्थिर बुद्धिकी सूचक हैं। लेकिन मैं आपको वास्तविक बात बताए देता हूँ। धन देकर अथवा किसी दूसरे प्रयत्नसे आप श्रीकृष्णको अर्जुनसे पृथक नहीं कर सकते। मैं श्रीकृष्णकी महिमा जानता हूँ। उनका पाण्डवोंपर जैसा अनुराग है वह भी जानता हूँ। अर्जुन तो उन्हें प्राणोंके समान प्रिय हैं। वे स्वागतमें भेजे गये जलसे भरे घट , चरण धोनेको प्राप्त जल और कुशल-प्रश्नके अतिरिक्त आपकी और किसी वस्तुकी ओर नेत्र उठाकर भी नहीं देखेंगे।

'वे सम्मानके योग्य हैं। अतिथि-सत्कार उन्हें प्रिय है। अतः उनका सत्कार अवश्य कीजिए। वे जिस कार्यसे आरहे हैं , उसे आप पूरा करें तो यह उनका सच्चा सत्कार होगा। वे पाण्डवोंके साथ दुर्योधनकी सन्धि कराना चाहते हैं। उनकी यह बात आप मान लें।'

दुर्योधनने अपनी दृष्टिसे इस तथ्यको देखा। वह बोला—'पिताजी! विदुरजी ठीक कहते हैं कि श्रीकृष्णका पाण्डवोंके प्रति बहुत प्रेम है। उन्हें उधरसे तोड़ा नहीं जा सकता। अतः भले वे मेरे जामाता साम्बके पिता हैं, उनके सत्कारके लिए जो वस्तुएें आप उन्हें देना चाहते हैं, वे उन्हें कभी नहीं देनी चाहिए।'

भीष्म पितामहने सम्मति दी—'श्रीकृष्णने जो कुछ करनेका निश्चय मनमें कर लिया है उसे किसी प्रकार कोई बदल नहीं सकता। अतः वे जो कुछ करनेको कहें उसे सादर मानलेना ही मंगलप्रद है। श्रीकृष्ण धर्मकी आत्मा हैं। वे धर्मके अनुकूल ही कहेंगे। अतः उनके साथ प्रिय भाषण ही होना चाहिए।'

अब दुर्योधनने अपने मनकी बात आवेशमें उगल दी—'यह बात मुझे किसी प्रकार स्वीकार नहीं है कि प्राण रहते राज्यलक्ष्मी पाण्डवोंके साथ विभाजित करूं। मैं तो यह महान् कार्य करना चाहता हूँ कि पाण्डवोंके पक्षपाती वासुदेवको बन्दी बनालूँ। उनको बन्दी करते ही सब यादव, पाण्डव और पूरी पृथ्वी मेरे अधीन होजायगी। वे प्रातःकाल यहाँ आ ही रहे हैं। आप सब अब ऐसे प्रयत्न करें कि उन्हें पता न लगे और किसी प्रकारकी हानि भी न हो।'

राजा धृतराष्ट्र और उनके सब मन्त्री भयके मारे काँप उठे। धृतराष्ट्रने कहा—'बेटा! अपने मुखसे ऐसी बात मत निकाल। श्रीकृष्ण दूत बनकर आ रहे हैं। यह बात धर्मके विपरीत है। वे हमारे सुहृद हैं, सम्बन्धी हैं। उन्होंने कौरवोंकी कोई हानि भी नहीं की है। उनके बन्दी करनेकी बात कहकर तू अपने समर्थक भी खो देगा। ये भीष्म और दूसरे राजा भी तेरे विरोधी बन जायेंगे।'

'धृतराष्ट्र! तुम्हारे इस मन्दमति पुत्रको मौतने घेर लिया है।' भीष्मके नेत्र अंगार होउठे। वे उठकर खड़े होगये—'यह अपने सुहृदोंकी हितकी बात सुनना ही नहीं चाहता। यह तो कुमार्ग ही पकड़ता है। तुम नहीं जानते कि यदि यह पापिष्ठ श्रीकृष्णको पकड़ने खड़ा हुआ तो अपने समर्थकोंके साथ क्षणार्धमें ही नष्ट होजायगा। मैं इसकी ये अनर्थपूर्ण बातें सुन नहीं सकता।' पितामह भीष्म क्रोधमें भरे वहाँ से चले गये।

दुर्योधन अपनेको बहुत नीतिज्ञ समझता था। श्रीकृष्णने उसके बनवाये विश्राम स्थानों की उपेक्षा कर दी थी। अतः साम और दानसे

उन्हें अपनी ओर कर लेनेकी सम्भावना समाप्त होगयी थी। पाण्डवोंके साथ उनका भेद करनेका कोई उपाय नहीं था। अतः दुर्योधनने दण्डके मार्गको नीतिज्ञता माना था किन्तु अब लगा कि बात उसके मुखसे अनवसर निकल गयी। भीष्मके क्रोधने समझा दिया कि ऐसा नहीं करना होगा अन्यथा उसके जो आज समर्थक हैं उनमें भी बहुतसे उसके विरुद्ध खड़े हो जा सकते हैं।

दुर्योधनने अपनी भूल स्वीकार कर पिताको प्रसन्न कर लिया। वह विदुरको लेकर श्रीकृष्णके स्वागतकी तैयारीमें लग गया। उसका यह प्रयास था कि स्वागतकी कितनी बड़ी तैयारी उसने की है, इसका भरपूर प्रचार हो। अधिकसे अधिक लोग इसे जान लें कि दुर्योधनमें श्रीकृष्णके प्रति कितना सद्भाव है। उसके स्वागतमें धूमधाम, चमक-दमक और आडम्बरकी बहुलता सर्वत्र स्पष्ट हो उठी। यह ऐसा स्वागत जो श्रीकृष्णको सदा अप्रिय रहा है किन्तु उनका स्वभाव तो वही समझ पाता है जिसपर वे अनुग्रह करें।



दुर्योधनका आतिथ्य अस्वीकार

वृकस्थलमें प्रातःकाल श्रीकृष्णचन्द्र उठे। नित्यकर्मसे निवृत्त हुए। ब्राह्मणोंसे आज्ञा ली। जो ग्रामवासी साथ चल पड़े उन्हें प्रेमसे विदा किया। गरुड़ध्वज रथ शीघ्र हस्तिनापुरके समीप पहुँचा। भीष्म, द्रोण, कृप तथा धृतराष्ट्रके सब पुत्र भली प्रकार सजधजकर सीमापार स्वागतको उपस्थित थे। बहुतसे नगरवासी भी पैदल अथवा सवारियोंपर बैठकर आये थे। मार्ग-में ही ये लोग मिले। इनके साथ घिरे श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया।

नगर भली प्रकार सजाया गया था। मार्ग सुगन्धित जलसे सिंचित था। स्थान-स्थानपर तोरण द्वार बने थे। अनेकों बहुमूल्य दर्शनीय वस्तुएं कलापूर्ण ढंगसे सज्जित थीं। उस दिन किसी घरमें कोई बालक या वृद्ध टिका नहीं था। नारियाँ मार्गके दोनों ओर छज्जोंपर आ गयी थीं।

वाद्य बज रहे थे। शंख ध्वनि होरही थी। भवनोंपर-से लाजा, पुष्पादिकी वर्षा होरही थी। लोग हर्ष विह्वल पुकार रहे थे—'भगवान वासु-

देवकी जय !' श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे थे लोग और उनके रथके सम्मुख प्रणिपात कर रहे थे।

रथ आकर धृतराष्ट्रके राजभवनके द्वारपर रुका। श्रीकृष्णने उसके तीनों द्वार पार किये और राजा धृतराष्ट्रके समीप पहुँचे। धृतराष्ट्रने उठकर उन श्रीद्वारिकाधीशका सत्कार किया। श्रीकृष्णने समीप जाकर भीष्म तथा धृतराष्ट्र जैसे गुरुजनोंको प्रणाम किया। उपस्थित सभासदोंसे यथा-योग्य मिले। उनके लिए वहाँ पहिलेसे ही एक स्वर्ण सिंहासन सजा था। धृतराष्ट्रके कहनेसे उसपर जाकर बैठ गये। धृतराष्ट्रने स्वयं विदुरकी सहायतासे उनका पूजन किया।

श्रीकृष्णचन्द्र वहाँसे उठे तो दुर्योधन भाइयोंके साथ समीप आ गया। उसने अपने भवनमें पधारनेकी प्रार्थना की। उसके साथ वासुदेव भगवान उसके भवनमें गये। वहाँ एकत्र सभी राजाओं तथा मन्त्रियोंसे यथायोग्य मिले। इसके पश्चात् स्वर्णके एक विशाल पलंगपर बैठ गये। दुर्योधनने स्वागत-सत्कारके अनन्तर प्रार्थना की—'यहाँ आप इस भवनको अपना आवास बनावें और अब स्नान आदि करके आहार ग्रहण करें।'

श्रीकृष्णचन्द्रने हँसकर कह दिया—'राजन् ! हम आपके इन स्वागतके शब्दोंसे सन्तुष्ट हुए। अब इस समय आप अनुमति दें।'

अब दुर्योधनने कहा—'केशव ! हमने आपकी सुख-सुविधाको ध्यान-में रखकर श्रमपूर्वक सब उत्तम सामग्री यहाँ प्रस्तुत की हैं। अत्युत्तम खाद्य, पेय, वस्त्र तथा शय्या आपको भेंट कर रहे हैं, आप इन्हें स्वीकार क्यों नहीं करते ? आपने दोनों पक्षोंको सहायता दी है। आप दोनों पक्षोंका हित करना चाहते हैं। महाराज धृतराष्ट्रके और मेरे भी आप सम्मान्य सम्बन्धी हैं। अतः इसका कारण क्या है कि आप मेरा आतिथ्य स्वीकार नहीं करते हैं ?'

श्रीकृष्ण गम्भीर होगये। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'मैं इस समय दूत हूँ। नियम यह है कि दूत अपना उद्देश्य पूर्ण होजानेपर ही भोजनादि ग्रहण करते हैं। अतः जब मेरा काम पूरा होजाय, तब तुम भी मेरा और मेरे साथियोंका सत्कार कर सकते हो। काम, क्रोध, द्वेष, स्वार्थ, कपट अथवा लोभमें पड़कर मैं धर्मका त्याग नहीं करता।'

अब स्वर अत्यधिक गम्भीर होगया—'सुयोधन ! भोजन या तो प्रेम-वश किया जाता है अथवा आपत्तिमें पड़कर किया जाता है। आपत्तिमें पड़कर भूखों मैं मर नहीं रहा हूँ और तुम्हारा मेरे प्रति प्रेम है नहीं।'

चलते-चलते श्रीकृष्णने इतना और कह दिया—'पाण्डव तुम्हारे भाई हैं। वे सदा अपने स्वजनोंके अनुकूल रहे हैं। उनमें सभी सद्गुण हैं। तुम बिना कारण जन्मसे ही उनसे द्वेष करते आये हो। यह द्वेष कभी उचित नहीं होता।

'पाण्डव धर्ममें स्थित हैं। जो उनसे द्वेष करता है, वह तो मुझसे भी द्वेष करता है। जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। धर्मात्मा पाण्डवोंसे तुम मुझे अभिन्न समझो।

'जो पुरुष काम-क्रोधका दास है तथा मूर्खतावश गुणवानोंसे विरोध करता है उसे अधम कहते हैं। शास्त्रज्ञ लोग अधम पुरुषका अन्न त्याज्य कहते हैं! तुम्हारे सब अन्नका सम्बन्ध दुष्ट पुरुषोंसे है अतः वह किसी सत्पुरुषके आहारके योग्य नहीं है। इस नगरमें इस समय केवल विदुरजीका अन्न ही ग्रहण करने योग्य है।'

दुर्योधन इस उत्तरसे मन ही मन बहुत रुष्ट हुआ किन्तु उसके तुष्ट रुष्ट होनेपर हृषीकेश क्यों ध्यान देने लगे। वे उसके भवनसे बाहर आये।

श्रीकृष्णके साथ आये लोग राजा धृतराष्ट्रके राजभवनके बाहर ही थे। विदुरजी उन लोगोंकी उपयुक्त व्यवस्थामें लग गये थे। श्रीकृष्ण कहीं भी रुकें, उनके साथ आये सात्यकि प्रभृतिको तो हस्तिनापुरमें कृत-वर्माके सेनापतित्वमें आयी द्वारिकाकी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ ही ठहरना था। यह सेना श्रीद्वारिकाधीशने स्वयं दुर्योधनको दी थी।

केवल दारुक रथ लेकर दुर्योधनके भवनके द्वारपर खड़ा अपने स्वामीकी प्रतीक्षा कर रहा था। उस भवनसे एकाकी श्रीकृष्ण निकले और आकर रथमें बैठ गये। दुर्योधनने द्वारतक आकर पहुँचाने की शिष्टता भी नहीं निभायी थी। उसके मन्त्री या दूसरे साथी भी द्वारतक नहीं आये थे।

'यह गोपकुमार दासीपुत्र विदुरका ही अतिथि होने योग्य है।' श्रीकृष्णके लौटते ही दुर्योधनने कहा था। उसके समर्थक भी इतने अशिष्ट नहीं थे कि इसमें उसका साथ देते। गरुड़ध्वज रथ तो विदुरके गृहकी ओर चल चुका था।



केलेके छिलके

श्यामसुन्दर कल आवेंगे, यह समाचार जबसे मिला, विदुर पत्नी व्यस्त होगयी थीं। वे यहाँ हस्तिनापुर आयेंगे तो इसी घरमें आयेंगे, यह कुछ कहने, सोचनेकी बात नहीं थी। इसमें कहीं किंचित भी सन्देह नहीं था। अतः पूरे घरको स्वच्छ करना था, सजाना था और श्रीकृष्णकी रुचिके पदार्थ प्रस्तुत रखने थे।

प्रातः वे वासुदेव नगरमें आगये। सब नगरवासी उनका दर्शन करने भागे किन्तु जो सर्वथा अपने हैं उनका कहीं ऐसे दर्शन भीड़में किया जाता है। वे तो आयेंगे और सम्मुख बैठ जायँगे तब भर आँख उन्हें देखना है। विदुर पत्नीको अवकाश नहीं था। उन्हें बहुत काम था। उनके घर वासुदेव आनेवाले थे और उनके स्वागतकी सब साज-सज्जा स्वयं अपने ही हाथों तो की जानी चाहिए। यह काम ऐसा कहाँ है कि इसे दूसरोंपर छोड़ा जाय।

'वे आगये। अब धृतराष्ट्रसे मिलते होंगे। भीष्मको प्रणाम करते होंगे। मेरे स्वामी उन्हें लेकर आने ही वाले होंगे।' विदुर पत्नीका मन तन्मय था। उन्होंने किसी प्रकार स्वागतकी सामग्री सजायी और स्नान करने बैठीं। अपना शरीर भी तो स्वच्छ होना चाहिए।

'चाची! ओ चाची।' इस स्वरको भी क्या पहिचानना पड़ता है? जन्म-जन्मका परिचित यह सुधास्रावी स्वर श्रवणोंमें पड़ा। गरुड़ध्वज रथ द्वारपर रुका और श्रीकृष्ण रथसे उतरकर पुकार रहे थे।

यह पुकार—प्राणीके प्राणोंको जब अनन्त जन्मोंके अनन्तर किसी धन्य क्षणमें यह पुकार सुनायी पड़ती है—वैसे वे तो पुकारते ही रहते हैं किन्तु वहिर्मुख जीव जगतके सुननेमें लगा है तो अन्तर्यामीका आह्वान उसके श्रवण सुन कैसे सकते हैं। कभी जब वह पुकार सुन पड़ती है, शरीरका स्मरण रह सकता है? वह तो सुन ही तब पड़ता है जब जीव शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे भी ऊपर उठकर उन सात्वत शिरोमणिके श्रीचरणोंके स्मरणमें एकात्म होजाता है। महाभागा विदुर-पत्नीने सुन

वह पुकार और उठकर भागीं द्वारकी ओर। अब यह किसे स्मरण रहे कि वे स्नान कर रही थीं। शरीरपर कोई उत्तरीय नहीं था।

'श्रीकृष्ण आगये।' यह केवल स्मरण रहा। दौड़कर द्वार खोला तो उन मयूरमुकुटीने अपना पीतपट झट उतारकर विदुर-पत्नीके ऊपर डाल दिया।

यह स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर जीवका मायिक आवरण है। अपनी ओरसे डाला गया अविद्याका आवरण। यह उसे जनार्दनसे पृथक करता है। दूर बनाये रहता है किन्तु जब इस अविद्याके आवरणको उनकी स्मृति उतार देती है इसका विस्मरण होजाता है तो वे आते हैं और उनका पीतपट, यह तो उनका दिया हुआ दिव्यावरण है। यह दिव्यदेह, उनकी सेवाके उपयुक्त इसको लेकर ही हुआ जाता है और तब स्मृति तो इसकी भी नहीं होती। तब तो बाहर भीतर वे सच्चिदानन्द ही रहते हैं।

'चाची! मुझे बहुत भूख लग रही है।' श्रीकृष्णने स्वयं एक आसन खींचा और बैठ गये। दुर्योधनके अत्यन्त परिश्रमसे प्रस्तुत किये गये पक्वान्नोंकी चर्चासे ही जिनको अरुचि होगयी थी, जिनकी क्षुधा समाप्त होगयी थी, वे परिपूर्ण काम विदुरके घर पहुँचते ही बुभुक्षु होउठे थे। इन प्रेमधन को कहाँ भूख लगती है, यह इनके पादपद्ममें प्रीति रखनेवाले ही पहिचान सकते हैं।

विदुर पत्नी तो इनको देखते ही शरीर और संसार को विस्मृत होगयी थीं। उन्हें कहाँ स्मरण था कि उन्होंने इनके लिए क्या-क्या प्रस्तुत किया है। शीघ्रतामें केलेकी एक धार मिल गयी उसीको लेकर वे श्रीकृष्णके सम्मुख बैठ गयीं। वे केले छीलकर श्यामसुन्दरके हाथमें देने लगीं। यह दूसरी बात है कि मन-प्राण सब इन भुवन मोहनमें लगे थे, यह स्मरण ही नहीं रहा कि वे केलेका केवल छिलका श्रीकृष्णको दिये जा रही हैं और गूदा फेंकती जा रही हैं।

'ओह! कितने स्वादिष्ट हैं ये।' भगवान यज्ञभोक्ता परमपुरुष भी भूल गये कि वे क्या खा रहे हैं। वे पदार्थ तो कभी खाते नहीं और जब आराधक आत्मविस्मृत हो चुका, आराध्य उसके प्रेममें तन्मय हुए बिना रह कैसे सकता है। जैसे जन्म-जन्मके भूखे हों, ऐसे श्रीकृष्ण उन केलेके छिलकों-को खाये जा रहे थे।

अचानक विदुरजी आ पहुँचे। उन्हें पता लग गया कि गरुड़ध्वज रथ उनके भवनकी ओर गया है। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक सबसे विदा ली और घरकी ओर भागे। द्वार तो खुला ही था। आते ही जो दृश्य सम्मुख देखा तो पत्नीको डाँटा—'तू इन परम सुकुमारको खिला क्या रही है ?'

अब विदुर-पत्नी चौंकी। विदुरजीने पत्नीके हाथसे केले ले लिये—'मैं खिलाता हूँ। तू वस्त्र बदल ले।'

विदुरजी वहीं बैठ गये जहाँ पहिले उनकी पत्नी बैठी थीं। छीलकर केला दिया श्रीकृष्णके करोंमें। उन विश्वात्माने एक बार उसे भी मुखमें लिया और बोले—'इनमें वह स्वाद नहीं है जो इनके छिलकोंमें था'

विदुरके नेत्र भर आये। वे बोले—'आपको क्या स्वादिष्ट लगता है, जानता हूँ। जो अनुपम प्रीति उसमें थी वह मेरे हृदयमें कहाँ आ पायी है।'

अब यह फलाहार समाप्त होगया। विदुरने हाथ धुलाया। आचमन करके श्रीकृष्णचन्द्र उत्तम आसनपर विराजमान हुए। अब विदुरने विधि-पूर्वक उनका पूजन किया। उनके चरणोंको अंकमें लेकर बोले—'आपके पधारनेसे यह गृह आज तीर्थ बन गया। मेरे पितर परिपूत हुए। आप पुरुषोत्तमने अपनाकर इस जनको धन्य कर दिया।'

अतिथि सत्कार होजानेपर विदुरने पाण्डवोंकी कुशल पूछी। श्रीकृष्ण-ने विस्तारसे बतलाया कि पाण्डव क्या करना चाहते हैं। अपनी बुआ कुन्ती-से वे मधुसूदन मिल आये और उन्हें आश्वस्त कर आये।

पितामह भीष्म, आचार्यद्वय द्रोण तथा कृप, वाह्लीक एवं अन्य कुछ कुरुवंशी नरेश विदुरके घर ही श्रीकृष्णसे मिलने आये। उन्होंने उत्तम सामग्रीसे सजे अपने भवन निवासके लिए देनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्ण-चन्द्रने उन्हें यह कहकर सम्मानपूर्वक विदा किया—'मैं आपकी इस आकां-क्षासे ही अपनेको सत्कृत हुआ मानता हूँ। यहाँ मुझे कोई असुविधा नहीं हैं।'

कौरवोंके चले जानेपर रात्रि विश्रामके समय विदुर श्रीकृष्णके चरणोंको धीरे-धीरे दबाते हुए उनके समीप बैठ गये और बोले—'केशव! आप यहाँ पधारे, यह मेरा सौभाग्य किन्तु इस समय आपका हस्तिनापुर आना अच्छा नहीं हुआ। दुर्योधन बहुत दुर्बुद्धि है। वह धर्म और अर्थ

दोनों छोड़ बैठा है। कब वह क्या कर बैठे कुछ ठिकाना नहीं हैं। उसे किसी सन्मार्गमें ले जाना असम्भव है। वह विषय लोलुप, अपनेको बहुत बुद्धिमान माननेवाला, मित्रोंसे भी शत्रुता रखनेवाला तथा सभीपर सन्देह करनेवाला है। आपकी बात, भले वह उसीके हितकी ही हो, सुनेगा इसकी कोई सम्भावना नहीं है। वह मान बैठा है कि अकेला कर्ण ही उसके सब विरोधियोंको पराजित कर देगा। अतः उसमें सन्धि करनेकी इच्छा ही नहीं होती। भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामाकी सहायता पाकर वह पूरा राज्य हड़पनेको कृत निश्चय है। अतः यहाँ आपका कोई प्रयत्न सफल नहीं होगा। यहाँ तो कुछ भी कहना वज्रबधिरके सम्मुख वीणा-वादन है।

पहिले जिन राजाओंने आपके साथ शत्रुता की थी वे सब अब द्वेष और भयवश दुर्योधनके आश्रित होगये हैं। वे अब प्राण देकर भी पाण्डवों-से लड़नेको प्रस्तुत हैं। अतः आप उन सबके मध्य जायँ, यह बात मुझे अच्छी नहीं लगती है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि देवता भी आपके सामने टिक नहीं सकते किन्तु मेरा हृदय स्नेह कातर होरहा हैं आपका दर्शन करके मुझे जो प्रसन्नता होरही है, उसका वर्णन नहीं कर सकता।'

श्रीकृष्णचन्द्रने सस्मित कहा—'तात! आप जैसे बुद्धिमान और हितैषीको जैसी बात कहनी चाहिए, आपने वही कहा है। माता-पिताके समान सुहृदय ही ऐसी सम्मति देते हैं। लेकिन मैं दुर्योधनकी दुष्टता और आगत क्षत्रियोंके शत्रुभावको जानकर ही यहाँ आया हूँ।

'मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह धमतः प्राप्त कर्तव्यको पूर्ण करनेका प्रयत्न करे। वह असफल भी हो तो भी पुण्य-भाजन तो हो ही जाता है। मैं निष्कपट भावसे कौरवों तथा सभी क्षत्रियोंके हितका प्रयत्न करूँगा। दुर्योधन मेरी बात न भी माने तो मैं मूढ़ अधर्मियोंके द्वारा दिए जानेवाले इस कलंकसे तो बच ही जाऊँगा कि—'श्रीकृष्ण सन्धि करा सकते थे लेकिन उन्होंने क्रोध-वश कौरव-पाण्डवोंको रोका नहीं और महाविनाश होजाने दिया।'

बात इतनी सत्य थी कि विदुरजी इसके विरुद्ध कुछ कह नहीं सकते थे। इतने विरोधियोंके मध्य उनको अधर्मी, अन्याय परायण जानते हुए भी वे कुछ भी कर सकते हैं यह आशंका रहते हुए इतने अल्प सहायकोंके साथ उन विरोधियोंका हितचिन्तन करके आनेवाले ये सर्वसुहृद, सर्वसमर्थ मधु-सूदन ही हो सकते हैं।

श्रीकृष्ण पलंगपर लेट गये। सत्त्व मूर्ति विदुरके नेत्रोंमें आज नि कहाँ। श्रीकृष्ण समीप हों तो तमस् कहीं आ सकता है। वे लीलामय निद्रा जागरणका मात्र नरनाट्य करते हैं और आज इस नरनाट्य आवश्यकता नहीं थी अतः पूरी रात विदुरके साथ बात करते हों व्यती होगयी।

प्रातःकाल दोनों ही उठे। स्नान, जप, अग्निहोमादि करके सूर्यो पस्थान किया और वस्त्राभूषण धारण किये। गौ, ब्राह्मणादिका दर्श सत्कार किया। अब श्रीकृष्णचन्द्र सभामें जानेको प्रस्तुत हुए।

××

शान्ति दूत

अपने मामा शकुनिको लेकर सबेरे ही दुर्योधन विदुरके घ पहुँचा। उसने श्रीकृष्णको समाचार दिया—'महाराज धृतराष्ट्र, पिताम भीष्म और सभी कौरव सभामें आ गये हैं। आपकी वहाँ प्रतीक्षा होरही है

श्रीकृष्णने दोनोंका अभिनन्दन किया। दारुकने रथ उपस्थित कि तो उसपर वासुदेव विदुरके साथ बैठ गये। दुर्योधन और शकुनि दूस रथमें श्रीकृष्णके पीछे गये।

कौरव सभामें श्रीकृष्णने सात्यकिका हाथ पकड़े हुए प्रवेश किया उनके आगे मार्ग दिखाते दुर्योधन और कर्ण चल रहे थे तथा कृतवर्मा त वृष्णि वंशी वीर थे। उन सर्वेशकी कान्तिने सबको वहाँ निस्तेज कर दिया उनके आते ही भीष्म, द्रोणादि सब उठ खड़े हुए। धृतराष्ट्रकी आज्ञा श्रीकृष्णके लिए सर्वतोभद्र नामक स्वर्णसिंहासन रखा गया।

मधुसूदन सभी आगत राजाओंसे मिलते, उनसे कुशल प्रश्न करते उनका अभिवादन स्वीकार करते अपने सिंहासन तक पहुँचे ही थे कि अन्त रिक्षमें देवर्षि नारदादि दृष्टि पड़े। भगवान वासुदेवने धीरेसे भीष्मसे कह —'इस राजसभाको देखने ऋषिगण पधारे हैं। आसन देकर उनका आवा हन कीजिये। उनके बैठे बिना यहाँ कोई बैठ नहीं सकता। इन महर्षियोंक शीघ्र पूजन किया जाना चाहिए।'

इतनेमें ही मुनिगण सभाके द्वारपर आ गये। भीष्मने सेवकों द्वारा सबके लिए आसन मँगाये। जब महर्षिगण बैठ गये तो अर्घ्य अर्पित करके उनका पूजन किया गया।

सब राजाओंके बैठ जानेपर ऋषियोंका सत्कार होजानेपर श्रीकृष्ण-चन्द्र धृतराष्ट्रको सम्बोधित करके मेघ गम्भीर स्वरमें बोले—'राजन्! मैं यहाँ इसलिए आया हूँ कि क्षत्रिय वीरोंका संहार हुए बिना ही कौरव-पाण्डवोंमें सन्धि होजाय। इस समय राजाओंमें कुरुवंश ही श्रेष्ठ है। इसमें शास्त्र तथा सदाचारका सम्यक् आदर है। कृपा, दया, करुणा, मृदुता, सरलता, क्षमा और सत्य ये सद्गुण दूसरोंकी अपेक्षा कुरुवंशमें अधिक हैं। ऐसे उत्तम वंशमें कोई अनुचित बात आपके कारण नहीं होनी चाहिए। कौरवोंमें कोई असदाचरण गुप्त या प्रकट रूपसे होता है तो उसे रोकना आपका ही काम है।'

अब वासुदेवने स्पष्ट दोषारोपण किया—'आपके पुत्र दुर्योधनादि न केवल धर्मसे, अपितु अर्थसे भी मुख फेरकर क्रूर पुरुषोंके समान आचरण करते हैं। लोभके वश इन्होंने धर्मकी मर्यादा त्याग दी है। अपने भाइयोंके साथ इनका व्यवहार अशिष्ट है। आपको यह सब बातें ज्ञात हैं। इसके परिणाम स्वरूप कौरवोंने भयंकर आपत्ति आमन्त्रित कर ली है। इस आपत्तिकी उपेक्षा की गयी तो पूरी पृथ्वी चौपट हो जायेगी। आप यदि अपने कुलको नाशसे बचाना चाहें तो इसका निवारण किया जा सकता है।

'मेरे विचारसे दोनों पक्षोंमें सन्धि होना बहुत कठिन नहीं है। आप अपने पुत्रोंको मर्यादामें रखिए। मैं पाण्डवोंको नियममें रखूंगा। आप पाण्डवों जैसे रक्षक प्रयत्न करके भी नहीं पा सकते। यदि पाण्डव-कौरव मिलजायँ तो संसारमें आपका सामना करनेका साहस कौन कर सकता है। इस मेलसे आप सहज ही लोकपालोंका आधिपत्य प्राप्त कर लेंगे। आप पहिलेके समान पाण्डवोंको आगे रखकर उनका पालन करेंगे तो सम्पूर्ण पृथ्वीका आनन्दपूर्वक उपभोग कर सकेंगे।

'पाण्डवोंने आपको प्रणाम करके कहा है—'हमने साथियों सहित आपकी आज्ञासे ही इतने दिनों दुःख भोगा है। हम बारह वर्ष वनमें रहे और तेरहवां वर्ष अज्ञात रूपसे व्यतीत किया है। वनवासके समय यही नियम बना था कि लौटनेपर आप हमारे पिताके स्थानपर रहेंगे। हमने

वह शर्त पूर्णतः पालन की है। अतः अब आप भी उस समयके निश्च अनुसार व्यवहार करें। हमें अब अपना राज्य भाग मिल जाना चाहि आप धर्म और अर्थके स्वरूपको जानते हैं इसलिए आपको हमारी र करनी चाहिए। हम लोग यदि मार्ग भ्रष्ट होरहे हों तो हमें सत्प लाइए और आप स्वयं भी सन्मार्गपर स्थित होइये।'

श्रीकृष्णने कहा—'पाण्डुपुत्रोंने सभी सभासदोंसे कहा है कि सब धर्मज्ञजनोंके मध्य कोई अनुचित बात नहीं होनी चाहिए। यदि स सदोंके देखते हुए अधर्मसे धर्मका, असत्यसे सत्यका नाश हो तो उनका नाश होजाता है। पाण्डव लोगोंने धर्मके अनुसार सत्य एवं न्यायकी ही कही है। अतः राजन् आप पाण्डवोंका राज्य दे दीजिये। मुझे आ यही अनुरोध है कि इन क्षत्रियोंको आप मृत्यु-पाशसे बचा लीजिए। क्रो तथा लोभके वशमें न होकर पाण्डवोंको उनका पैतृक राज्य दे दीजि पाण्डव आपकी सेवाको भी उद्यत हैं और युद्धके लिए भी। दोनोंमें-से आ को जो बात हितकर लगे उसे ही स्वीकार कीजिये।'

सभी सभासद श्रीकृष्णके वचन सुनकर चुप रह गये। मन ही म वे अनेक प्रकारकी बातें सोच रहे थे। इसी समय भगवान परशुरा धृतराष्ट्रको प्राचीन आख्यान सुनाकर बतलाया कि 'अर्जुन साक्षात् नर और श्रीकृष्ण नारायण। इनसे युद्ध करनेमें किसीका कल्याण नहीं है पाण्डवोंसे सन्धि कर लो।'

महर्षि कण्वने भी दुर्योधनको समझाया—'तुम्हें युधिष्ठिरके सा सन्धि कर लेनी चाहिए। कौरव-पाण्डव मिलकर पृथ्वीका पालन करें।'

दुर्योधन इससे रुष्ट होगया। वह कर्णकी ओर देखकर हँसने लगा उसने ताली बजाकर कहा—'जो कुछ होनेवाला है, जैसी मेरी मति होनी है, ईश्वरने उसके अनुसार मेरा निर्माण किया है, मेरा आचर उसीके अनुसार है। आपके कथनसे इसमें परिवर्तन कैसे हो सकता है।'

भगवान वेदव्यास, भीष्म पितामह, देवर्षि नारद तथा धृतराष्ट्र भी दुर्योधनको समझाया। धृतराष्ट्रने श्रीकृष्णसे कहा—'केशव! आ जो कुछ कहा है वह सब प्रकार श्रेयस्कर है, न्याय संगत है किन्तु मैं स्वाधी नहीं हूँ। मेरा पुत्र दुर्योधन न मेरे मनके अनुकूल आचरण करता है, शास्त्रके अनुसार चलता है। आप किसी प्रकार उसे समझानेका प्रय

करें। वह अपनी माता, विदुरजी, भीष्मादि किसीकी शिक्षापर कुछ ध्यान नहीं देता। अब आप ही इस पापमतिको समझाइये। यदि इसने आपकी बात मान ली तो आपके हाथसे अपने सभी सुहृदोंका बड़ा बहुत उपकार होगा।'

धृतराष्ट्रकी यह विवशता सर्वज्ञात थी। वे नाममात्रके नरेश हैं और दुर्योधन उनकी नहीं सुनता यह सब जानते थे। अतः अब उनसे कुछ कहने-का कोई अर्थ नहीं था। वे चाहते हुए भी कुछ कर नहीं सकते थे।

श्रीकृष्णचन्द्रने अब बहुत मधुर स्वरमें दुर्योधनसे कहा—'कुरुनन्दन, मेरी बात सुनो। इसमें तुम्हें और तुम्हारे परिवारको बहुत सुख प्राप्त होगा। तुमने उत्तम बुद्धिमानोंके कुलमें जन्म लिया है अतः तुमको उसके अनुकूल कार्य करना चाहिए। इस समय तुमने जो कुछ करनेका निश्चय किया है वह दुष्ट चित्त, हीनकुलोत्पन्न, क्रूर, निर्लज्ज लोगोंके अनुसार है। इस सम्बन्धमें तुम्हारी हठ भयंकर है, अधर्म है और प्राणोंकी प्यासी है। उससे अनिष्ट ही होगा। यह आग्रह निष्प्रयोजन है और निश्चित रूपसे निष्फल होने वाला है। इस हठको त्यागकर तुम अपना तथा अपने स्वजनोंका हित करोगे। अधर्म तथा अयशसे बच जाओगे।

'पाण्डव लोग बुद्धिमान, शूरवीर, उत्साही, आत्मज्ञ और बहुश्रुत हैं। तुम उनसे सन्धि कर लो। इसमें तुम्हारा हित है। तुम्हारे पिता महाराज धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, विदुर तथा तुम्हारे दूसरे हितैषी गुरुजन सोमदत्त, वाह्लीक, विकर्ण आदि भी यही चाहते हैं।

'तुममें लज्जा, शास्त्र ज्ञान आदि सद्गुण हैं। अतः तुम्हें माता-पिताकी आज्ञामें रहना चाहिए। तुम्हारे पिता पाण्डवोंसे सन्धि करनेके पक्षमें हैं। अतः तुम्हें और तुम्हारे मन्त्रियोंको यह प्रस्ताव अच्छा लगना चाहिए। जो मोहवश हितकी बात नहीं सुनता उसका कोई काम पूरा नहीं होता। उसके पल्ले केवल पश्चात्ताप पड़ता है। जो अपने मतको छोड़कर हितकी बात सुनता तथा उसका आचरण करता है उसे संसारमें सुख, समृद्धि, सुयश मिलता है। जो अपने गुरुजन सत्पुरुषोंको त्यागकर नीच

प्रकृतिके पुरुषोंका संग करता है वह बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है और उससे निकलनेका मार्ग भी उसे नहीं मिलता।

'यद्यपि तुमने जन्मसे ही अपने भाइयोंसे कपटका व्यवहार किया किन्तु पाण्डवोंने सदा तुम्हारे प्रति सद्‌भाव ही रखा है। तुम्हें भी उनके साथ वैसा ही व्यवहार रखना चाहिए।

'श्रेष्ठ पुरुष अर्थ, धर्म और कामको प्राप्त कराने वाला प्रयत्न करते हैं। यदि इनमें कहीं विरोध हो, तीनोंकी प्राप्ति संभव न हो तो वे धर्मके अनुकूल रहते हैं। मध्यम पुरुष अर्थको प्रधान मानते हैं और इन्द्रियलोलुप धर्म विमुख पुरुष तो अधम है। काम प्राप्तिकी वासनामें पड़कर वह नष्ट होजाता है। विद्वान लोग त्रिवर्गकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय धर्मको ही मानते हैं।

'जो पुरुष अपने सद्‌व्यवहार करनेवालोंसे दुर्व्यवहार करता है वह कुल्हाड़ीमें लगे काष्ठके समान स्वयं अपने ही कुलका संहार कर लेता है। जिनमें किसीको नीचा दिखानेकी इच्छा न हो, उनकी बुद्धिको लोभसे भ्रष्ट नहीं करना चाहिए। जिसकी बुद्धि लोभसे दूषित नहीं है उसीका मन कल्याण साधनमें लग सकता है। ऐसा पुरुष संसारमें किसीका अनादर नहीं करता।

'क्रोधसे आविष्ट व्यक्ति अपना हिताहित कुछ सोच नहीं सकता। अतः दुर्जनोंकी अपेक्षा यदि तुम पाण्डवोंका संग करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। तुम पाण्डवोंकी ओरसे मुख मोड़कर किसी दूसरेके भरोसे जो अपनी रक्षा करना चाहते हो, वह सफल नहीं होगी। कर्ण, दुःशासन, शकुनि के हाथमें अपने ऐश्वर्यको सौंपकर तुमने जो पृथ्वीको जीतनेकी आशा की है वह स्वप्न जैसी है।

'तुम्हारे समीप जितनी सेना एकत्र है, तुम्हारे जितने भी सहायक हैं—भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, जयद्रथ आदि ये सब मिलकर भी क्रोधमें भरे भीमसेन और अर्जुनके आगे टिक नहीं सकते। युद्धमें अर्जुनको पराजित करना सुर, असुर तथा गन्धर्वोंके भी वशमें नहीं है। अतः तुम युद्धमें मन मत लगाओ।

'विराट नगरमें अकेले अर्जुनसे युद्ध करके इन सब महारथियोंने कौन सा सुयश प्राप्त किया था? जिसने संग्राममें साक्षात् शिवको सन्तुष्ट कर दिया उस अजेय और विजयी गाण्डीवधन्वाको तुम जीतनेकी आशा करते हो?

'तुम अपने पुत्र , भाई तथा सम्बन्धियोंकी ओर देखो। ये तुम्हारे लिए नष्ट न हों। अपनेको कुलघाती मत बनाओ। कुरुवंशका बीज बना रहने दो। अपनी कीर्तिको कलंकित मत करो।

तुम्हारी हानि क्या है पाण्डवोंसे सन्धि करनेमें ? महारथी पाण्डव तुम्हें ही युवराज बनायेंगे। इस साम्राज्यपर तुम्हारे पिता धृतराष्ट्र ही स्थापित होंगे। बड़े उत्साहसे अपने पास आती राजलक्ष्मीका तिरस्कार मत करो। पाण्डवोंको आधा राज्य देकर उन्हें अपना सहायक बना लो और महान ऐश्वर्य प्राप्त करो। इस प्रकार तुम चिरकाल तक अपने मित्रोंके साथ आनन्द मना सकोगे।'

श्रीकृष्णचन्द्रके इस भाषणमें साम, दान, दण्ड और भेद सभी कुछ था। दुर्योधनको भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर तथा धृतराष्ट्रने भी समझाया कि 'श्रीकृष्णकी बात माननेमें उसका हित है। सन्धि करनेका यह सुअवसर हाथसे नहीं जाने देना चाहिए।'

दुर्योधन इन सब बातोंको सुनकर और अधिक चिढ़ गया। उसने कहा—"केशव ! आपको भली प्रकार सोच समझकर बोलना चाहिए। आप तो पाण्डवोंके प्रेमकी दुहाई देकर उलटी सीधी कह रहे हैं। क्या आप सदा बलाबलका विचार करके ही मेरी निन्दा किया करते हैं ? आप, विदुरजी, आचार्य, पिताजी और पितामहजी अकेले मेरे ऊपर ही सारा दोष लाद रहे हैं किन्तु मैंने विचार कर देख लिया, मुझे अपना कोई छोटा-सा दोष भी नहीं दीखता।

'पाण्डव अपने व्यसनवश द्यूतमें लगे। उसमें मामा शकुनिने उनको जीत लिया, इससे उन्हें वनमें जाना पड़ा। इसमें मेरा क्या अपराध था कि वे मेरे साथ विरोध बढ़ाते हैं ? मैं जानता हूँ कि पाण्डवोंमें हमारा सामना करनेकी शक्ति नहीं है। तब वे उत्साहके साथ हमारे साथ शत्रुताका बर्ताव क्यों करते हैं ? हम आपकी डरानेवाली बातोंसे डरनेवाले नहीं हैं। हमें तो ऐसा कोई क्षत्रिय नहीं दीखता जो हमें समरमें जीतनेका साहस कर सके। फिर स्वधर्म पालन करते हम समरमें काम आगये तो स्वर्ग प्राप्त करेंगे। यह तो क्षत्रियका प्रधान धर्म है। अतः युद्धमें यदि वीरगति प्राप्त हो तो भी हमें पश्चात्ताप नहीं है।

'मुझ जैसा वीर पुरुष धर्म रक्षार्थ केवल ब्राह्मणोंको नमस्कार कर
है। दूसरे किसीको मैं कुछ नहीं समझता। पिताजी मुझे जो राज्य दे
हैं, वह मेरे जीवित रहते मुझसे कोई ले नहीं सकता। बाल्यावस्थामें
अज्ञानके कारण ही पाण्डवोंको राज्य मिल गया था। अब वह उन्हें फि
नहीं मिल सकता। अपने जीवित रहते मैं सुईकी नोंक रखी जा सके इत
भूमि भी पाण्डवोंको नहीं दूंगा।'

दुर्योधनकी बात सुनकर श्रीकृष्ण क्रुद्ध होकर बोले—'तुम्हें वीर शय्या
की इच्छा है तो वह तुम्हें शीघ्र प्राप्त होगी। अपने मन्त्रियोंके साथ थो
दिन और धैर्य रखो, स्मरण रखो कि बहुत बड़ा जन-संहार होगा और उस
उत्तरदायी तुम होगे।

'तुम कहते हो कि पाण्डवोंके साथ तुमने कोई दुर्व्यवहार नहीं किया
तुमने कुमन्त्रणा करके कुटिलतापूर्वक अपने पिताके द्वारा उन्हें द्यूत क्रीड़ा
लिए बुलवाया। वे तुम्हारे पिताको सम्मान्य मानते रहे और उनकी आज्ञा
नहीं टाली, यह उनका अपराध था?

'द्रौपदीको भरी सभामें बुलाकर तुमने जो कुछ कहा और किया
अपनी भाभीके प्रति तुम्हारा सद्व्यवहार था? तुमने वारणावतमें मा
सहित उनको फूंक देनेका षड्यंत्र किया यह तुम्हारी निर्दोषिता है? तुम
भीमको विष दिया। पाण्डवोंके प्रति तुम्हारी सदा खोटी बुद्धि रही है
तुम उन्हें उनका पैतृक भाग नहीं दोगे तो भ्रष्ट होकर उनके हाथों मरो
तुम्हें कोई बचा नहीं सकता। तुम अपने गुरुजनों, हितैषियोंकी उपेक्षा
करके अपने कुमन्त्रियोंके बहकावेमें आ गये हो। यह अधर्म, अपयश औ
विनाशका मार्ग है।'

'श्रीकृष्ण बोल ही रहे थे कि दुःशासनने दुर्योधनसे कहा—'राजन्
आप यदि अपनी इच्छासे पाण्डवोंसे सन्धि नहीं करेंगे तो मुझे ऐसा लगता है
कि ये पितामह, पिताजी और आचार्य द्रोण आपको, मुझे तथा कर्णको
बाँधकर पाण्डवोंको दे देंगे।'

भाईकी बात सुनकर दुर्योधन क्रोधके कारण काँपने लगा। सर्पके
समान दीर्घश्वास छोड़ता वह विदुर, भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोण आदि
सभीका तिरस्कार करके वहाँसे उठकर चला गया। उसके भाई, मंत्री तथा
समर्थक राजा भी उसके साथ सभा छोड़कर चले गये। यह देखकर भीष्म

बोले—'श्रीकृष्ण ! मैं तो समझता हूँ कि इन सब क्षत्रियोंका काल ही आ गया है। इसीसे ये सब दुर्योधनका अनुसरण कर रहे हैं।'

श्रीकृष्णने अब कहा—'कौरव कुलके समर्थ वयोवृद्ध लोगोंका ही यह प्रमाद है कि ऐश्वर्य मदसे उन्मत्त दुर्योधनको वे बलपूर्वक बन्दी नहीं बना लेते। मैं स्पष्ट कह रहा हूँ कि दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण तथा शकुनिको बाँधकर पाण्डवोंको सौंप दीजिए। कुलकी रक्षाके लिए व्यक्तिको, ग्रामकी रक्षाके लिए कुलको और देशकी रक्षाके लिए ग्रामको त्याग देना चाहिए। अपनी रक्षाके लिए सम्पूर्ण पृथ्वीका त्याग भी नीति है। अतः समस्त क्षत्रियोंको विनाशसे बचानेके लिए आपलोग दुर्योधनको बन्दी करके पाण्डवोंसे सन्धि कर लें।'

धृतराष्ट्रका पुत्र-मोह बहुत प्रवल था। वे दुर्योधनको बन्दी करनेकी बात सोच भी नहीं सकते थे। उन्होंने विदुरको भेजकर गान्धारीको राजसभामें बुलवाया। उनको आशा थी कि माताके समझानेसे दुर्योधन मान जायगा। गान्धारीने पतिको आकर उलाहना दिया—'राजन! अधिक दोष तो आपका हो है। आप ही पुत्रके मोहमें प्रारम्भसे पड़े हैं। दुर्योधनको पापी जानकर भी आप उसके अनुसार चलते रहे। वह तो काम, क्रोध, लोभमें पड़ा है। अब आप बलपूर्वक भी उसे इस मार्गसे हटा नहीं सकते। अपने पुत्रको कुसंगी, लोभी, दुरात्मा जानते हुए भी आपने राज्यका संचालक उसे बना दिया, अब यह उसीका फल है।'

धृतराष्ट्र और गान्धारीके कहनेसे विदुर दुर्योधनको बुलाने गये। वह माताकी बात सुनने सभामें तो आ गया किन्तु क्रोधसे उसके नेत्र लाल हो रहे थे। वह सर्पके समान फुफकार रहा था। गान्धारीने पुत्रको झिड़ककर गुरुजनोंकी बात मानकर सन्धि कर लेनेको कहा। उसे प्रेमपूर्वक नीतिका उपदेश किया किन्तु दुर्योधनने तो माताकी बातपर ध्यान ही नहीं दिया। कुछ देर वह चुपचाप बैठा रहा और फिर कोई उत्तर दिये बिना उठकर अपने मन्त्रियोंके समीप चला गया।

इस प्रकार दुर्योधन द्वारा सभी कुल वृद्धों तथा माता-पिताकी उपेक्षा किए जानेसे सब उदास होगये। मृत्यु मस्तकपर आजाती है तो मनुष्य इसी प्रकार अशिष्ट, विचारहीन एवं हितैषियोंको शत्रु समझनेवाला होजाता है।

दुर्योधनकी दुरभिसन्धि

दुर्योधन सभासे उठकर अपने मन्त्रियोंके पास चला गया था। वहाँ शकुनि, कर्ण, दुःशासनके साथ उसने सलाह की—'यह कृष्ण राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्मके साथ मिलकर हमें बन्दी करना चाहते हैं। हमलोग पहिले ही बलपूर्वक इन्हें बन्दी बना लें। वासुदेवको बन्दी हुआ सुनकर पाण्डवोंका पूरा उत्साह पानीके छींटेसे दूधके उबालके समान बैठ जायगा। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायेंगे।'

कर्णने कहा—'राजन्! कार्य बहुत कठिन है। लेकिन आप जो उचित समझें, मैं उसमें पूरी शक्तिसे आपके साथ हूँ।'

सात्यकि संकेतसे ही दूसरोंका भाव समझ जाते थे। वे सभासे उठे और बाहर आकर कृतवर्मासे बोले—'तुम स्वयं कवच धारण करके अपनी सेना सहित सभाके द्वारपर आजाओ और सेनाको व्यूह बद्ध खड़ा करो। मैं श्रीकृष्णचन्द्रको तबतक सूचना देता हूँ।'

कृतवर्माने सिंह गर्जना किया—'कौरवोंको एक अक्षौहिणी सेना पाण्डवोंके साथ युद्धमें सहायताके लिए दी गयी है किन्तु यदि वे श्रीद्वारिकाधीशपर हाथ उठाते हैं तो हम प्राण देकर भी उस उठनेवाले हाथको काट देंगे।'

सात्यकिके नेत्र अंगार होरहे थे—'अकेले चक्रपाणि पुरुषोत्तम समस्त सुरासुरके लिए अजेय हैं और यहाँ तो उनके साथ तुम हो, मैं हूँ तथा हमारे और भी सहायक हैं। यादव वीरोंका शौर्य इन दुरभिमानियोंने देखा नहीं है।'

कृतवर्माने शीघ्रतापूर्वक सेना सज्जित की। सात्यकिने सभामें जाकर धीरेसे भगवान वासुदेवको दुर्योधनके दुर्विचारकी सूचना दी। इसके पश्चात् राजा धृतराष्ट्रसे बोले—'राजन्! दूतको बन्दी बनाना सत्पुरुष धर्म, अर्थ और कामके भी विरुद्ध मानते हैं किन्तु आपके मूर्ख पुत्र वही कुमन्त्रणा कर रहे हैं। ये मूर्ख मरनेके लिए इतने उतावले हैं कि श्रीकृष्णको बन्दी करनेका

कुविचार इन्हें सरल लगता है। अब इस प्रयत्नमें ये मारे जायँ तो अपराध इनका ही होगा।'

विदुरने चेतावनी दी—'राजन्! आपके सभी पुत्र क्या आज ही यमपुर पहुँचनेको उत्सुक हैं? श्रीकृष्णका तिरस्कार करके उन्हें बन्दी बनाने जाकर तो वे वैसे ही नष्ट होजायँगे जैसे पतंग अग्निमें पड़कर भस्म हो जाते हैं।'

धृतराष्ट्र भयसे काँप उठे जब उन्होंने सुना कि सात्यकिको प्रलयंकरका महास्त्र पाशुपत प्राप्त है और वे इस समय उसका प्रयोग करें तो कोई इसे अधर्म नहीं कहेगा। श्रीकृष्णके चक्रका ही किसीके पास क्या प्रतिकार है?

श्रीकृष्णचन्द्रने बैठे-बैठे ही शान्त स्वरमें कहा—'राजन्! यह तो देखना है कि आपके पुत्र मुझे बन्दी बनाते हैं या मैं उन्हें बाँध लेता हूँ। मैं अब यदि आपके सब पुत्रोंको उनके अनुयायियों सहित बाँधकर पाण्डवोंको, सौंप दूँ तो मेरा यह कार्य अनुचित तो नहीं होगा?'

धृतराष्ट्रका साहस नहीं हुआ कि वे श्रीकृष्णसे कुछ कहें। उन्होंने विदुरको दुर्योधनको बुलानेके लिए भेजा। विदुरके कहनेपर दुर्योधन अनिच्छापूर्वक वहाँ आया। धृतराष्ट्रने उसे धिक्कारा—'तू इतना दुर्बुद्धि और पापी होगया है कि श्रीकृष्णको बन्दी करनेकी बात तेरे मनमें आती है? इन्द्रके साथ सब सुर मिलकर भी जिनके हाथसे पारिजात नहीं ले सके उसे तू बाँधेगा? जैसे कोई वायुको हाथसे नहीं पकड़ सकता, पृथ्वीको सिरपर नहीं उठा सकता वैसे ही कोई भी बलपूर्वक श्रीकृष्णको बाँध नहीं सकता।'

विदुरने कहा—'दुर्योधन! तुमको कदाचित पता नहीं कि नरकासुरने श्रीकृष्णको बाँधनेका विचार किया था। उसके नगरमें भी ये अकेले गये थे। उसीके मार्गसे तुम्हें जाना है? तुम इनके तिरस्कारका साहस करोगे तो अभी साथियोंके साथ नष्ट हो जाओगे।'

दुर्योधन कुछ कहता या वहाँसे चला जाता इसके पूर्व ही श्रीकृष्णचन्द्र उठ खड़े हुए और बोले—'तुम अज्ञानवश यह समझते हो कि मैं एकाकी हूँ। तुम सब मिलकर मुझे पकड़नेकी दुराशा ही करते हो। समस्त पाण्डव,

सब यादव वीर, आदित्य, वसु, रुद्र तथा ऋषिगण सब यहीं हैं। मैं सर्वात्मक, सर्वाधार हूँ। मुझ विराटको तुम बाँधोगे ?'

यह कहकर श्रीकृष्णने अट्टहास किया। दिशाएँ, शत सहस्र आदित्य उदय होगये हों, ऐसे प्रकाशसे भर गयीं। श्रीकृष्णके उस अनादि अनन्त शरीरमें सब देवता अंगुष्ठ परिमाण जैसे दीखने लगे। द्वादश आदित्य, साध्य, अष्ट वसु, एकादश रुद्र, अश्विनीकुमार इन्द्रादि लोकपाल, मरुद्गण, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, दैत्य, दानव—सब उस शरीरसे अभिन्न दीखते थे।

भुजाओंसे श्रीबलराम और अर्जुन प्रकट हुए। शेष चारों पाण्डव पृष्ठ भागमें थे। प्रद्युम्नादि समस्त यादव शूर शस्त्र सज्जित सामने खड़े थे। श्रीकृष्णकी अनेकों भुजाएँ प्रकट होगयी थीं और उनमें अनेक प्रकारके शस्त्र थे। उनके नेत्र, कर्ण, नासिकासे अग्निकी प्रचण्ड लपटें निकल रही थीं।

दुर्योधन, शकुनि, दुःशासनादि तो पहिले ही क्षणमें भयसे काँपे, स्वेदसे स्नात हुए और मूर्च्छित होगये। कर्णने हाथ जोड़ रखे थे और नेत्र बन्द कर लिये थे। वह भी उस तेजको देखनेमें समर्थ नहीं था। केवल द्रोणाचार्य, भीष्म, विदुर, संजय और ऋषिगण ही उस स्वरूपका दर्शन करनेमें समर्थ हुए। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और गगनसे पुष्प वर्षा होने लगी।

विदुरसे सुनकर धृतराष्ट्रने प्रार्थना की—'दयामय! आप अनन्त करुणा सिन्धु हैं अतः मुझपर भी कृपा कीजिए। मैं केवल आपके ही दर्शन करना चाहता हूँ। दूसरे किसीको देखनेमें मेरी रुचि नहीं है। मैं आपको देख सकूँ इतनी देरको मुझे नेत्रदान कर दें।'

सहसा धृतराष्ट्रको नेत्र प्राप्त होगये। श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे। पृथ्वी काँपने लगी। समुद्रमें उत्ताल तरंगें उठने लगीं। प्रकृति उस प्रचण्ड स्वरूपका प्राकट्य देर तक सहनेमें असमर्थ थी। अतः श्रीकृष्णने उसका तिरोभाव कर लिया। धृतराष्ट्रके नेत्र भी उसीके साथ लुप्त होगये। दुर्योधनादिको तो उसके पश्चात् भी सचेत होकर सावधान होनेमें समय लगा। वे लोग लज्जित होकर सिर झुकाये बैठ गये थे। उनके हृदय अब भी वेगसे धड़क रहे थे।

अब श्रीकृष्णचन्द्रने ऋषियोंसे अनुमति ली और सात्यकि तथा कृत-वर्माका हाथ पकड़कर सभा भवनसे उठ खड़े हुए। उनके चलनेको प्रस्तुत होते ही ऋषिगण भी अन्तर्धान होगये।

श्रीकृष्णको चलते देखकर सब कौरव तथा राजागण उनके पीछे-पीछे चलने लगे। दारुक गरुड़ध्वज रथ लिये द्वारपर खड़ा था। भगवान वासुदेवके साथ ही उनके रथपर सात्यकि तथा कृतवर्मा भी बैठ गये।

महाराज धृतराष्ट्र संजयका सहारा लेकर द्वार तक आगये थे। उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'आपने प्रत्यक्ष देख लिया कि अपने पुत्रोंपर मेरा कितना वश है। मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्रों और पाण्डवोंमें मेल होजाय और इसके लिए प्रयत्न भी करता हूँ किन्तु मेरी अवस्था तो आपने देख ही ली।'

श्रीकृष्णचन्द्रने रथपर बैठे बैठे ही राजाओंकी ओर मुख करके कहा—'कौरवोंकी सभामें जो कुछ हुआ, उसे आप सबने देखा है। महा-राज धृतराष्ट्र भी इस विषयमें अपनेको असमर्थ बतला रहे हैं। अतः मैं अब राजा युधिष्ठिरके समीप जानेके लिए आप सबसे आज्ञा लेता हूँ।'



माता कुन्तीका सन्देश

श्रीकृष्णचन्द्र चले तो भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, वाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण, युयुत्सु, कर्ण, दुर्योधनादि भी उनके पीछे कुछ दूर गये। भगवान वासुदेव अपनी बुआ कुन्तीके यहाँ सीधे गये। धृतराष्ट्र तो संजयके साथ लौट गये किन्तु शेष लोग प्रतीक्षा करते रहे। वे देवी कुन्तीके समीप भी नहीं गये और इतनी दूर भी नहीं थे कि वहाँ होनेवाली बातें सुन न सकें। सब देवी कुन्तीके समीप जायँ यह उचित नहीं था। तब कुन्ती देवीको सबका सत्कार करना पड़ता और वासुदेवको बुआसे अकेले मिलनेका अवसर नहीं मिलता। लेकिन सब यह जाननेको

भी उत्सुक थे कि वहाँ क्या होता है और उन्हें भगवान्‌को विदा करने नगर सीमा तक जाना भी था ।

श्रीकृष्णने जाकर बुआके चरणस्पर्श किये और कौरव सभामें जो कुछ हुआ था उन्हें संक्षेपमें सुनाकर कहा—'अब आप मुझे आज्ञा दें। मैं पाण्डवोंके पास जाऊँगा। आपकी ओरसे उनको क्या कहना है ?'

कुन्ती देवी स्थिर बैठ गयीं। वे गम्भीर स्वरमें बोलीं—'केशव! तुम राजा युधिष्ठिरसे कहना कि पृथ्वीका पालन तुम्हारा धर्म है। उसकी बहुत हानि होरही है। अब तुम व्यर्थ समय नष्ट मत करो। प्रजापति ब्रह्माने अपनी भुजाओंसे क्षत्रियको उत्पन्न किया है, अतः उसे अपने बाहु-बलसे ही आजीविका करनी चाहिए। राजासे सुरक्षित रहकर प्रजा जो धर्म करती है उसका चतुर्थांश राजाको मिलता है। चारों वर्णोंके लोगोंको धर्ममें स्थित रखनेका दायित्व राज्यका है।

'तुमने इस समय अपनी बुद्धिसे जो संतोषका मार्ग अपनाया है वह न तुम्हारे पिताने अपनाया, न मैंने, न तुम्हारे पितामहने। मैं सदा तुम्हारे यज्ञ, दान, तप, शौर्य, प्रज्ञा, महत्ता और बलकी कामना करती रही हूँ। धर्मात्मा पुरुषको चाहिए कि वह राज्य प्राप्त करके दानसे, बलसे, मधुर वाणीसे लोगोंको वशमें रखे।

'ब्राह्मण भिक्षा जीवी बन सकता है किन्तु तुम्हारे लिए यह वृत्ति अनुचित है। कृषि-वाणिज्य वैश्य वृत्ति है। शूद्रकी आजीविका सेवा है। क्षत्रियको प्रजापालन करके जीवन निर्वाह करना चाहिए।

तुम्हारे जिस पैतृक भागको शत्रुओंने हड़प लिया है उसे साम, दान, दण्ड या भेद नीति—किसी भी उपायसे उसका उद्धार करना चाहिए। इससे बढ़कर दुःखकी और क्या बात होगी कि तुम्हारे जैसा पुत्र पाकर भी मैं दूसरोंके टुकड़ोंपर दृष्टि लगाए रहती हूँ। अतः क्षात्र धर्म अपनाओ! युद्ध करो।'

देवी कुन्तीने यह स्पष्ट आदेश देकर विदुलाका आख्यान सुना दिया, युधिष्ठिरको युद्धोद्यत करनेके लिए। फिर कहा—'जनार्दन! अर्जुनसे कहना तेरे जन्मके समय आकाशवाणी हुई थी कि 'यह शिशु इन्द्रके समान होगा। यह भीमके साथ रहकर युद्धमें सभी शत्रुओंको जीत लेगा। यह

पूरी पृथ्वीको अपने वशमें करेगा। इसका सुयश स्वर्ग तक व्याप्त होगा। श्रीकृष्णकी सहायतासे संग्राममें सब कौरवोंका संहार करके राज्य प्राप्त करेगा।' यदि धर्म सत्य है तो ऐसा ही होगा। अब तुम देववाणीको सत्य करनेके लिए उद्यत होजाओ।'

भीमसेनके लिए उस वीर माताने सन्देश दिया—'क्षत्राणी जिस कामके लिए पुत्र उत्पन्न करती है उसका अवसर आ गया है। अब उठ और शत्रुओंका संहार करके अपने पौरुषको सार्थक कर।'

उस वीर माताने अपनी पुत्रवधू द्रौपदीकी प्रशंसा की। कहलाया—'पुत्री तू उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई है। तूने जो धैर्य, पतिपरायणता दिखलायी है, वह तेरे ही योग्य है।'

नकुल-सहदेव दोनोंके लिए संक्षिप्त संदेश—'तुम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर पराक्रमसे प्राप्त भोगोंको ही भोगनेकी इच्छा करो।'

अन्तमें उन पुण्यश्लोका पृथाने कहा—'कृष्ण! मुझे राज्य जाने, द्यूतमें हारने तथा पुत्रोंके वनवासका दुःख नहीं है। मेरी पुत्रवधूने रोते हुए कौरव-सभामें जो दुर्योधनके दुर्वचन सुने थे उसका मुझे बहुत दुःख है। भीम और अर्जुनको उसका स्मरण कराके कहना कि उनके लिए वह बहुत बड़े अपमानकी बात है।

'मेरे पुत्रोंसे मेरी ओरसे कुशल पूछना और मेरी कुशल सुना देना। अब तुम जाओ। तुम्हारा मार्ग निर्विघ्न हो। तुम ही मेरे पुत्रोंके एकमात्र आश्रय हो। उनकी रक्षा करते रहना।'

श्रीकृष्णने बुआको प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा की और वहाँसे बाहर आये।

कर्णकी मनस्विता

श्रीकृष्णचन्द्रने बुआके घरसे बाहर आकर भीष्मादि सबको आग्रह करके विदा कर दिया किन्तु कर्णको अपने रथपर बैठा लिया। अब कृतवर्मा भी विदा होगये थे और सात्यकि दूसरे रथपर बैठ गये थे।

हस्तिनापुरसे बाहर आकर श्रीवासुदेवने कर्णका हाथ पकड़कर बहुत मृदुतासे कहा—'तुमने वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी बहुत सेवा की है। उनसे परमार्थ तत्त्वका श्रवण किया है। अत: मैं तुमसे यह गुप्त बात बतलाता हूँ कि तुम सूतपुत्र नहीं हो। देवी कुन्तीने कन्यावस्थामें तुम्हें सूर्यके द्वारा जन्म दिया है। धर्मानुसार तुम पाण्डु पुत्र हो और बड़े होनेसे तुम्हीं राज्याधिकारी हो। तुम्हारे पितृपक्षमें पाण्डव हैं और मातृपक्षमें यादव।

'तुम मेरे साथ चलो। तुम्हारा वास्तविक परिचय पाकर युधिष्ठिर और उनके भाई द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु तुम्हारा चरण-वन्दन करेंगे। मेरी इच्छा है कि पहुँचते ही महर्षि धौम्य तुम्हारे लिए हवन करें और वेदज्ञ ब्राह्मण तुम्हारा अभिषेक करें। हम सब भी तुम्हें तिलक करेंगे। युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे। वे हाथमें श्वेत चामर लेकर तुम्हारे पीछे रथपर बैठेंगे। भीमसेन तुम्हारे ऊपर श्वेत छत्र लगावेंगे। अर्जुन तुम्हारे सारथि बनेंगे। सब पाण्डवोंके पुत्र तथा समर्थक तुम्हारे पीछे चलेंगे। मैं तुम्हारे पीछे ही चला करूँगा। तुम चलकर अपने भाइयोंको साथ लो और साम्राज्य भोगो।'

यह भेद नीति सफल नहीं होगी, श्रीकृष्ण यह जानते थे किन्तु कर्णके साथ उचित व्यवहार किया जाना चाहिए, यदि वह स्वीकार करे, यह अच्युतकी इच्छा थी।

कर्णने गम्भीर होकर कहा—'माधव! सौहार्द्र, स्नेह तथा मित्रताके नाते मेरे हितकी इच्छासे आपने जो कुछ कहा ठीक है। मुझे भी पता है कि धर्मानुसार मैं पाण्डु पुत्र हूँ। कुन्ती देवीने कन्यावस्थामें भुवन भास्करसे मुझे गर्भमें धारण किया और उन्हींकी आज्ञासे मुझे त्याग दिया।'

अब कर्णका स्वर भारी होगया—'अधिरथ सूत मुझे प्रवाहमें बहते पाकर घर ले गये। उनकी पत्नी राधाने मेरा पालन किया। उन महनीयाके

स्तनोंमें स्नेहाधिक्यसे दूध आ गया। मेरा मल-मूत्र उठाया उन्होंने। अतः मैं धर्मको जानकर भी उनके पिण्डका लोप कैसे कर सकता हूँ।

'अधिरथ सूतने मेरा नाम वसुषेण रखा। वे मुझे अपना ही पुत्र मानते हैं। मेरे सब संस्कार उन्होंने कराये। युवा होनेपर उन्होंने कई सूत कन्याओंसे मेरा विवाह करा दिया। उनसे अब मेरे पुत्र, पौत्र भी होचुके हैं। अब सम्पूर्ण पृथ्वीके साम्राज्यके लोभसे, भयसे अथवा अन्य कारणसे भी मैं इन सम्बन्धियोंको छोड़ नहीं सकता।

'दुर्योधनने मेरे ही भरोसे शस्त्र उठानेका साहस किया है। इसीसे संग्राममें मुझे अर्जुनके साथ द्वैरथ युद्धको नियुक्त किया गया है। मैं मृत्यु, बन्धन, भय अथवा लोभके कारण दुर्योधनको धोखा नहीं दे सकता। इससे तो मेरे साथ अर्जुनकी भी अपकीर्ति ही होगी।'

कर्णने बहुत भाव भरे स्वरमें कहा—'मधुसूदन! एक अनुरोध आप मेरा मान लें। हमलोगोंकी जो गुप्त बात यहाँ हुई है उसे आप कहीं प्रकट न करें। युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, जितेन्द्रिय हैं। उन्हें पता लग गया कि मैं कुन्तीका ज्येष्ठ पुत्र हूँ तो वे राज्य ग्रहण नहीं करेंगे। मुझे वह विशाल साम्राज्य मिला तो मैं उसे दुर्योधनको ही दे दूंगा। मैं ऐसा नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि जिनके नेता आप हैं, योद्धा अर्जुन हैं, वे धर्मात्मा युधिष्ठिर ही सर्वदा शासन करें।'

अब कर्णने क्षमा माँगी—'मैंने अपनी क्षुद्रतावश और दुर्योधनकी प्रसन्नताके लिए पाण्डवोंके प्रति जो कटु वाक्य कहे हैं वह निश्चय मेरा कुकर्म है। मुझे उसके लिए पश्चात्ताप है। आप उदार शिरोमणि मुझे क्षमा करें।

'श्रीकृष्ण! जब आप मुझे अर्जुनके द्वारा मारा गया देखेंगे, जब भयंकर गर्जना करते भीमसेन दुःशासनका रक्तपान करेंगे और दुर्योधनको मार देंगे तभी दुर्योधनका यह रण-यज्ञ समाप्त होगा।

'केशव! रोगशय्यापर पड़े-पड़े क्षत्रियके लिए मरना कलंककी बात है। कुरुक्षेत्र तीनों लोकोंमें पवित्र क्षेत्र है। वहां आपका श्रीमुख देखते हुए क्षत्रिय योधा शस्त्राग्निमें शरीर छोड़कर स्वर्ग प्राप्त करें, अब आप यही विधान करें। मेरे इस विचारको भी गुप्त रखकर ही आप अर्जुनको युद्धमें ले जावें।'

कर्णकी बात सुनकर श्रीकृष्ण हँसे। फिर सस्मित बोले—'तुमने मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया तो मैं अब तुम्हारी ही बात मान लेता हूँ। इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि पाण्डवोंकी ही विजय होगी।

'अब तुम जाकर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म और दुर्योधनसे कहना—'यह मास उत्तम है। इस समय फलोंकी बहुतायत है। मक्खियाँ कम होगयी हैं। कीचड़ सूख गया है। जल स्वादिष्ट होचुका है। न अधिक शीत है, न अधिक उष्णता। सुखमय समय है। आजसे सातवें दिन अमावस्या है। उसी दिनसे युद्धके लिए समर भूमिमें आओ।* आए सब राजाओंको यह समाचार देना। तुम्हारी युद्धकी इच्छा है तो वह पूर्ण हो।'

कर्णने कहा—'आप जान-बूझकर मुझे क्यों मोहमें डालते हैं? पृथ्वीका भार हरणके लिए यह महासंहार तो आपका ही विधान है, इसमें मैं, शकुनि तथा धृतराष्ट्रके पुत्र तो निमित्तमात्र हैं।'

कर्णने श्रीकृष्णका आलिंगन किया। उनसे विदा माँगकर उनके रथसे उतर पड़ा। वह हस्तिनापुर चला गया।



युद्धकी प्रस्तुति

विराटनगर लौटकर भगवान वासुदेवने विस्तारसे वह सब सुनाया जो हस्तिनापुरमें हुआ था। कुन्तीका सन्देश दिया। यह भी बतलाया कि दुर्योधनने भीष्मको प्रधानसेनापति नियुक्त किया है और उनलोगोंने पुष्य नक्षत्रमें कुरुक्षेत्रको कूच कर दिया है।

श्रीकृष्णकी बात सुनकर युधिष्ठिरने भाइयोंसे सेनाके विभाग किये। सात अक्षौहिणी सेना पाण्डवोंके पक्षमें एकत्र हुई थी। उसके सात सेनापति

---

* युद्धारम्भका दिन मार्गशीर्ष शुक्ल ११ है क्योंकि युद्धके प्रथम दिन ही गीताका उपदेश हुआ। इससे पूर्व १० दिन व्यवस्थामें लगे होंगे।

नियुक्त किये गये—१. महाराज द्रुपद, २. महाराज विराट्, ३. धृष्टद्युम्न, ४. शिखण्डी, ५. सात्यकि, ६. चेकितान और ७. भीमसेन।

इसपर युधिष्ठिरने कहा—'समस्त संसारके सारासार तथा बलाबलको श्रीकृष्ण ही ठीक ठीक जानते हैं। अतः ये जिसके लिए सम्मति दें, उसीको सेनापति बनाया जाय। भले वह शस्त्र संचालनमें कुशल हो या न हो। वह वृद्ध हो या युवा हो, हमारी जय पराजयके एकमात्र कारण ये वासुदेव ही हैं। हमारे प्राण, राज्य, भाव-अभाव सब इन्हींपर अवलम्बित हैं। सबके कर्ता-धर्ता यही हैं, इन्हींपर सब कामोंकी सिद्धि है। हम सब तो इनकी इंगितके अनुवर्ती हैं।'

इस समर्पणमें पाण्डवोंमें दो मत नहीं था, संभव ही नहीं था और समर्पणके साथ ही विजय तो सुनिश्चित होगयी। श्रीकृष्णके प्रति सम्पूर्ण समर्पण करनेवालोंको पराभव देनेवाली शक्ति तो न कभी उत्पन्न हुई, न होगी।

कमल लोचन श्रीकृष्ण बोले—'राजन्! मैं उन सभी वीरोंको प्रधान सेनापति पदके योग्य मानता हूँ जिनके नाम इस पदके लिए गिनाये हैं। ये सभी पराक्रमी योधा हैं, आपके लिए प्राण देनेको प्रस्तुत हैं। लेकिन मेरी सम्मतिमें धनुष, कवच, खड्ग धारण किये, रथारूढ़ यज्ञके अग्निकुण्डसे प्रकट कुमार धृष्टद्युम्न हीको प्रधान सेनापति बनाना उचित है।'

श्रीकृष्णकी सम्मतिसे पाण्डवोंने युद्धकी यादव पद्धति अपनायी। सर्वत्र प्रचलित पद्धति यही थी कि प्रधान सेनापति ही युद्धका प्रधान होता था। उसीको सेनाका संचालन, संरक्षण तथा स्वयं आगे रहकर समरका प्रधान भाग सम्हालना था। यादवोंने इसमें एक संशोधन किया था। उनके प्रधान सेनापति द्वारिकामें अनाधृष्ट थे किन्तु प्रधान योधा सात्यकि थे। कौरव पक्ष सर्वत्र प्रचलित परिपाटीके अनुसार प्रधान सेनापति चुनकर चला। जब एक सेनापति मारा गया तो दूसरेको प्रधान सेनापति बनाया गया। भीष्म, द्रोण, कर्ण और शैव्य ये क्रमशः चार प्रधान सेनापति दुर्योधनके दलके बने।

यादव-युद्ध पद्धति अपनाकर पाण्डवोंने प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्नको बनाया और प्रधान योधा अर्जुनको चुना। इस पद्धतिमें प्रधान सेनापतिका दायित्व सेनाका संचालन, संरक्षण, उसे व्यूह बद्ध करना तथा उसकी

व्यवस्था करना था। प्रधान योधा सेनाके निरीक्षण, संरक्षण आदि द त्वसे मुक्त था और सेनाके साथ प्रधान सेनापतिको उसीकी सहायता क था। प्रधान योधाको ही युद्धका प्रधान भाग सम्हालना था और कहाँ कि से युद्ध करना है, कहाँ आघात करना है आदि निर्णयमें वह स्वतंत्र वह सेनाका संचालक तो नहीं था किन्तु स्वयं चाहे जहाँ-जंसे संग्राम करे स्वतन्त्र था और सेना उसकी सहायक थी।

इस पद्धतिका एक परिणाम इस युद्धमें प्रकट हुआ कि प्रधान सेना अन्तिम विजय तक एक ही बना रहा। वह कभी विपत्तिमें नहीं प सब बड़े आघात प्रधान योधाको ही सम्हालने पड़े। वह समर्थ न भी तो भी सेनाकी संचालन व्यवस्था सेनापतिके परिवर्तनके कारण बदल नहीं पड़ता।

उत्तम विजय मुहूर्तमें श्रीकृष्णकी सम्मतिसे पाण्डवोंने भी प्रस्थ किया। वस्तुओंको बैलगाड़ियोंसे भेजनेकी व्यवस्था हुई। डेरे-तम्बू, रियाँ, यंत्र, कोष, व्यवसायियोंका समूह, चिकित्सक सभी साथ पांचाल राजकुमारी द्रौपदी अन्य महिलाओं तथा दास-दासियोंके उपप्लव्य शिविरमें रुकीं। वहीं परकोटे तथा पहरेदारों द्वारा स्त्रियों कोषकी सुरक्षा व्यवस्था थी।

व्यूहबद्ध होकर, ब्राह्मणोंको दान करके यह पाण्डव सेना कु पहुँची। श्मशान, देवमन्दिर, तीर्थ तथा ऋषियोंके आश्रमोंसे दूर, घास तथा ईंधनकी सुविधा देखकर चौरस समतल प्रशस्त भूमिमें शि स्थापित हुआ। श्रीकृष्णने पाण्डवोंके समान ही सुन्दर, सुविधापूर्ण शि सब सहायक नरेशोंके लिए बनवाये। सहस्रों वैद्य, शिल्पी आदिसे पूर्ण वह पूरा नगर बन गया जिसमें व्यवसायियोंने भव्य बाजार बना लि था।

शक्तिका संस्तवन

धर्मराज युधिष्ठिरने कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें पितामह भीष्म द्वारा व्यूह-बद्ध कौरव सेनाको देखा। कौरवोंके पास पाण्डवोंसे ड़ेढ़ गुनीसे भी अधिक सेना थी, ग्यारह अक्षौहिणी सेना। उसे देखकर युधिष्ठिर उदास होकर अर्जुनसे बोले—'धनंजय ! महातेजस्वी भीष्मने शास्त्रोक्त विधिसे जिस व्यूहका निर्माण किया है इसका भेदन मुझे तो असम्भव लगता है। इसने तो और हमारी सेनाको संशयमें डाल दिया है। इस व्यूहसे हमारी रक्षा कैसे हो सकेगी ?'

अर्जुन हँसकर बोले—'राजन् ! संग्राममें केवल संख्या बल, शस्त्र बल और युद्ध कौशलसे विजय नहीं होती। थोड़ेसे मनुष्य भी बुद्धि, गुण, संख्यामें अपनेसे अधिक वीरोंको जीत सकते हैं, यदि सत्य, दया, धर्म और उद्यम उनके साथ हों। देवताओंका कहना है कि जहाँ धर्म होता है उसी पक्षकी विजय होती है। अतः इस युद्धमें हमारी विजय निश्चित है।

'देवर्षि नारदका कहना है—'जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ विजय है।' विजय सदा श्रीकृष्णकी अनुगामिनी है। विश्वम्भर श्रीकृष्ण हमारे साथ हैं। वे आपकी विजय कामना करते हैं। उन सनातन पुरुष गोविन्दका तेज अनन्त है अतः मुझे तो आपके विषादका कोई कारण दीखता नहीं। हमारी विजय असन्दिग्ध है।'

अब युधिष्ठिरने अपनी व्यूहाकारमें अवस्थित सेनाको आगे बढ़नेकी आज्ञा दी। ब्राह्मणोंको दान करके, स्वस्तिवाचन पूर्वक धर्मराज अपने रथपर आरूढ़ हुए।

युद्धस्थलमें सैनिकोंके दोनों पक्ष इतनी दूर आगये कि वे एक दूसरेको स्पष्ट देख सकें तब श्रीकृष्णने भीष्मकी ओर संकेत करके अर्जुनसे कहा—'कुरुकुलकी ध्वजा फहरानेवाले ये भीष्म प्रधान सेनापति हैं। इनको घेरकर जो बहुत बडी सेना इनकी सुरक्षाके लिए खड़ी है उसका पहिले संहार करके तब तुम भीष्मसे युद्धकी इच्छा करना।'

कौरवोंका एक बड़ा दुर्भाग्य था कि उनके पक्षके सब अपनी ही शक्ति को मुख्य मानते थे जबकि भारतीय सनातन धर्म सब कार्योंमें आधिदैविक सहायताको प्रमुख मानता है। जिस वस्तु या क्रियाका जो अधिदेवता है उसकी अनुकूलता प्राप्त हो तो कर्म सुग हाजाता है, अन्यथा शक्ति तथा कर्म-कौशल होनेपर भी कार्यमें अनेक विघ्न आते हैं और उसकी सफलता सन्दिग्ध होजाती है। श्रीकृष्णको छाया भी प्रमाद नहीं छूती। वे किसी ओरसे असावधान नहीं होते। अतः युद्धका समय उपस्थित हुआ देखकर उन्होंने अर्जुनसे कहा—'महाबाहो। युद्धारम्भसे पूर्व शत्रुओंको पराजित करनेकी कामनासे तुम पवित्र होकर दुर्ग विनाशिनी सिंहवाहिनी दुर्गा का स्तवन करो।'

अपने सखाकी आज्ञा मिलते ही अर्जुनने धनुष रथमें रख दिया। वे रथसे नीचे उतर गये। जलसे आचमन करके हाथ जोड़कर शक्तिकी स्तुति करने लगे—

'सिद्ध सेनानेतृ, मन्दराचल वासिनी, अष्टभुजे, सिद्धदायनी, तुम्हें नमस्कार।

'कुमारी, काली, कापाली, कृष्णपिंगले, भद्रकाली, महाकाली विजये, तुम्हें पुनः प्रणाम।

'दुष्ट दलनी, चण्ड-मुण्ड विनाशिनी चामुण्डे, चण्डी, भगवती दुर्गे, तुम्हें नमस्कार।

'तारिणी, कात्यायनी, अम्बिके, मयूरपिच्छकी ध्वजाधारिणी नन्दात्मजे, कृष्णानुजे, महिषमर्दिनी, कौशिकी, नृमुण्डमालिके तुम्हें बारम्बार प्रणाम।

'उमा, शाकम्भरी, श्वेता, गौरी, कृष्णा, कैटभनाशिनी हिरण्याक्षी, विरूपाक्षी, धूम्राक्षी, प्रलयंकरी, शकरी तुम्हें शतशः प्रणाम।

'माता, महादेवि, वरदायिनी! मैं आपका आह्वान करता हूँ इस युद्धमें विजयका वरदान दो मुझे।'

वनमें, रणमें, दुर्गममें, घरमें, नभमें, पातालमें, भूमिपर जलमें सर्वत्र तुम्हीं रक्षिका हो, मुझे अपने आशीर्वाद और अभयकारी छायासे कृतार्थ करो।'

सहसा आकाश असीम प्रकाशसे परिपूर्ण होगया। यद्यपि उसे केवल अर्जुन और श्रीकृष्णने ही देखा। सायुधाष्ट महाभुजा सिंहवाहिनी दु

उस प्रकाशके मध्य प्रकट हुई। वरद मुद्रामें दाहिना नीचेका हाथ उठाकर बोलीं—'अर्जुन। तुम शीघ्र शत्रुओंपर विजय प्राप्त करोगे। मैं जिनकी आज्ञाकारिणी हूँ, अनुगामिनी हूँ, अनुजा हूँ वे स्वयं तुम्हारे रथपर उपस्थित हैं। वे जहाँ हैं, मेरी समस्त सहानुभूति और सेवा वहीं है।'

आशीर्वाद देकर देवी अन्तर्हित होगयीं। अर्जुन फिर अपने रथपर बैठ गये।

बर्बरीक-वध

अचानक भीमसेनका पौत्र घटोत्कच पुत्र बर्बरीक युद्ध भूमिमें उपस्थित हुआ। यह राक्षस आकारमें अपने पितासे भी प्रचण्ड था और एकाकी ही रहता था। उसके समीप धनुष था और कुछ थोड़ेसे वाण थे। उसने चर्म वस्त्र धारण किये थे और अभी अपनी तपःस्थली पश्चिम समुद्र तटसे सीधे ही आया था। प्रसिद्ध था कि इसने अत्युग्र तप करके आश्चर्यजनक सिद्धियाँ प्राप्त की हैं।

श्रीकृष्ण तथा सभी पाण्डवोंकी वन्दना की बर्बरीकने और सबकी प्रदक्षिणा करके बोला—'युद्धके इस इतने बड़े आयोजनकी क्या आवश्यकता है? प्राणियोंकी मृत्युका समय उनके जन्मके समय ही निश्चित होजाता है। मृत्युका निमित्त भी निश्चित रहता है। अतः उस निमित्तको उपस्थित कर देना मात्र उन्हें मार देगा। जिनकी मृत्यु इस समय नहीं होनी है और शस्त्रसे नहीं होनी है; उन्हें कोई आयोजन मार नहीं सकता।'

युधिष्ठिरने कहा—'वत्स! तुम्हारी बात ठीक है। संग्राममें जिनकी शस्त्रसे मृत्यु निश्चित है उन्हींके मरणका निमित्त यह युद्ध बनेगा।'

बर्बरीकने हँसकर कहा—'इसके लिए इतना श्रम तथा इतना आयोजन व्यर्थ है। यह निमित्त तो मेरे दो शर उपस्थित कर सकते हैं।'

आश्चर्यसे युधिष्ठिरने कहा—'तुम यह कैसे कर सकते हो?'

'आप देखें !' यह कहकर बर्बरीकने एक लाल रंगकी भस्म निकाली और अपने एक पोले वाणमें भर दी। धनुषकी प्रत्यंचा चढ़ाकर उसने उस वाणको चढ़ाया और बिना किसी लक्ष्यके कोई मन्त्र पढ़कर आकाशकी ओर छोड़ दिया। वह मुट्ठी भर भस्म इतनी बढ़ गयी कि उससे वहाँका पूरा आकाश अरुण होउठा। क्षणोंमें ही वह धूलि नीचे उतरी और दोनों सेनाके सैनिकों, अश्वों, गजों आदि सबकी छातीपर नन्हे बिन्दुके रूपमें जम गयी।

बर्बरीक अट्टहास करके बोला—'आप देख लें। इस समय जिनकी भी शस्त्रसे मृत्यु होनेवाली है उन्हें मैंने चिह्नांकित कर दिया है। उन सबके वक्षपर लाल बिन्दु बन गया है। अब मैं दूसरा वाण सन्धान करता हूँ। उससे शत, सहस्र शर प्रकट होंगे और इन सबके वक्षको विदीर्ण करके इनको मृत्युके मुखमें फेंक देंगे।'

बर्बरीक दूसरा वाण हाथमें लेकर धनुषपर चढ़ाये इससे पूर्व ही श्रीकृष्णका दाहिना हाथ ऊपर उठा। उनके स्मरण करते ही उनका अमोघ चक्र उनकी उठी तर्जनीमें घूमने लगा। कोई कुछ समझे इससे पहिले ही चक्रने बर्बरीकका मस्तक उसके धड़से काट दिया। वह सिर श्रीकृष्णके चरणोंपर ही गिरा।

आश्चर्य, शोक, भयसे सब स्तब्ध रह गये किन्तु उस कटे सिरसे शब्द गूंजा—'सर्व समर्थ पुरुषोत्तम ! आपके करोंसे मरकर मैं धन्य होगया। देव जनार्दन ! एक ही कामना अपूर्ण रह जाती है वह यह कि मैं इस युद्धको देखना चाहता था।'

श्रीकृष्णने झुककर दोनों हाथोंमें अपने पदोंके समीपसे वह सिर उठा लिया और उसकी ओर देखकर बोले—'तुम सप्राण रहोगे और यह संग्राम सम्पूर्ण देखोगे। भगवान रुद्र तुम्हें अपनी मुण्ड मालामें स्थान देंगे।'

वह मस्तक श्रीकृष्णने स्वयं वहाँ समीप बहुत ऊँचे वृक्षके शिखरकी डालीपर स्थापित कर दिया।

भीमसेन और अर्जुनने एक शब्द नहीं कहा। यद्यपि उनके नेत्रोंसे टपकते अश्रु उनकी व्यथा सूचित करनेको पर्याप्त थे। घटोत्कचने आकर मधुसूदनके पदोंमें मस्तक रखा। वह मनस्वी प्रसन्न स्वरमें बोला—'आपने इसे कृतार्थ कर दिया। इसका जन्म लेना सफल होगया।'

युधिष्ठिरने वेदनापूर्ण स्वरमें कहा—'जनार्दन ! अपने पक्षके इतने अनुपम वीरका वध किया आपने ?'

श्रीकृष्णने गम्भीर वाणीमें उत्तर दिया—'धर्मराज ! मेरा न कोई प्रिय है, न अप्रिय ! धर्मकी मर्यादाका ध्यान रखकर जो चलता है वह मेरा रक्ष्य है और जो उसे नष्ट करना चाहता है मैं उसके दमनमें संकोच नहीं करता। दोनों सेनाओंमें अनेक लागोंने विविध वरदान पाये हैं। सबकी मर्यादा नष्ट करके जो उन्हें मार देनेको उद्यत होगया, उसकी इतनी बड़ी शक्ति विश्वमें कितना अनर्थ उपस्थित कर सकती थी ? दूसरा कोई इसे मारनेमें समर्थ नहीं था।'



अर्जुनका व्यामोह

दोनों सेनाओंको व्यूहबद्ध देखकर दुर्योधन आचार्य द्रोणके समीप गया। उसने दानों सेनाओंक प्रधान प्रधान वीरोंका परिचय देकर कहा—'पाण्डवोंकी सेना परिमित है। यद्यपि उन्होंने आपके शिष्य धृष्टद्युम्नको प्रधान सेनापति बनाया है किन्तु अपनी सेनाका संरक्षक भीमसेनको और प्रधान योधा अर्जुनको नियत किया है। यह रणनीति किसी एकपर पूरा दायित्व ही नहीं डालती। इससे अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है।

'अपनी सेना अपार है और उसका पूरा दायित्व अपने प्रधान सेनापति भीष्मपर है। अमित पराक्रम पितामह अकेले ही शत्रुको पराजित करनेमें समर्थ हैं। अतः आप सब महारथी मिलकर अपना पूरा ध्यान भीष्मकी रक्षापर ही रखें।'

दुर्योधनको उत्साहित करनेके लिए पितामह भीष्मने उच्च स्वरसे सिंह गर्जन किया और शंख ध्वनि करने लगे। प्रधान सेनापतिका शंख बजाना युद्धारम्भके लिए सावधान होनेका संकेत था। अतः दूसरे कौरव

पक्षके महारथियोंने भी अपने अधरोंसे शंख लगा लिये। नगाड़े, भेरी शृंगे आदि सभी रणवाद्य एक साथ बजने लगे।

इसी समय श्वेत अश्वोंसे जुता कपिध्वज नन्दिघोष रथ आगे आया और श्रीकृष्णने अपना पांचजन्य तथा अर्जुनने देवदत्त शंख ओष्ठोंसे लगाया। राजा युधिष्ठिरका अनन्त विजय, भीमसेनका भयानक शब्द करनेवाला पौण्ड्रक तथा नकुल सहदेवके सुघोष एवं मणिपुष्पक शंख भी निनादित होने लगे। पाण्डव पक्षके महारथियोंने भी अपने शंखनादसे दिशाएं गुंजा दीं। भेरियां, दुन्दुभियां भी बजने लगीं। यह शब्द इतना प्रचण्ड था कि कौरव पक्षसे उठता शब्द इससे दब गया। बहुतसे कौरव पक्षके सैनिक इसे अपने विपक्षमें अपशकुन मानकर भयभीत होगये।

इसी समय अर्जुनने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—'अच्युत! मैं देखना चाहता हूं कि दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रके पुत्रोंका प्रिय करनेकी इच्छासे कौन-कौन इस युद्धमें उनकी सहायता करने आये हैं। अतः मेरा रथ दोनों सेनाओंके मध्य ले चलें।'

श्रीकृष्णचन्द्रने रथ बढ़ाकर दोनों दलोंके ठीक मध्यमें कौरव महासेनापति भीष्मके रथके सम्मुख खड़ा किया और कहा—'विजय! इन कौरव पक्षीय लोगोंको देख लो।'

अर्जुनने शत्रुपक्षीय सैनिकोंको देखना प्रारम्भ किया और उनकी मुखश्री मलिन होती चली गयी। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा गिरने लगी। उनका शरीर कांपने लगा। पूरा शरीर पसीनेसे भीग गया। वे बहुत व्यथा भरे स्वरमें बोले—'श्रीकृष्ण! यहां शत्रु कहां हैं? ये हमारे पूज्य पितामह भीष्म, ये हमारे शस्त्र-गुरु आचार्य द्रोण, ये कुलाचार्य कृप और ये मामा शल्य। इस सम्मुखके समाजमें मुझे तो अपना शत्रु कोई दीखता नहीं है। हमारे भाई हैं, भतीजे हैं, साले हैं, श्वसुर हैं, सम्बन्धी ही सम्बन्धी सम्मुख हैं सब मेरे सामने।

'हमको अपने लिए तो राज्य, सुख, भोग चाहिए नहीं था। यह सब चाहिए था अपने स्वजनों, सम्बन्धियोंके लिए और वे सब हमारे पक्ष या विपक्षमें प्राण त्याग करने आ खड़े हुए हैं। ये नहीं रहेगे तो राज्य, सम्पत्ति, ऐश्वर्यका हम क्या करेंगे? इससे हमें क्या सुख मिलेगा?

'जिनकी पुष्प-चन्दनसे हमें पूजा करनी चाहिए उन गुरुजनोंपर अब मुझे घातक प्रहार करना पड़ेगा ? हम विजयी भी होगये तो इनके रक्तसे सनी सम्पत्ति ही तो हमें प्राप्त होगी। वह हमें सदा जलाती रहेगी या सुख देगी ? जनार्दन ! मैं कैसा मूर्ख होगया था कि इस बातको पहिले समझ नहीं सका।

'धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि हैं। लोभने उनकी मतिको मलिन कर दिया है। वे प्रत्यक्ष परिणामको भी नहीं देख पाते हैं और मरने आ खड़े हुए हैं किन्तु हम तो अन्धे नहीं हुए हैं। हमें तो अपने कुलका सम्पूर्ण विनाश प्रत्यक्ष दीख रहा है। अतः हमें इससे क्यों नहीं बचना चाहिए।

'कुलमें कोई नहीं रहेगा तो श्राद्ध पिण्डदानकी परम्परा कैसे चलेगी ? सुना है कि श्राद्धका लोप पितरोंके नरक-पतनका हेतु होता है। यह युद्ध तो हमारे कुलका ही उच्छेद कर देगा। सब युवा-वृद्ध यदि युद्धमें मारे गये तो उनकी स्त्रियाँ या तो सती हो जायँगी अथवा आचार भ्रष्ट बनेंगी।

'अनाथ शिशुओंका रुदन, विधवाओंका क्रन्दन, सतियोंका शाप और कुल वधुओंको कुलटा बनानेका कुकर्म—यह युद्ध हमें यही तो देनेवाला है। हम इसीके लिए यहाँ इतने उत्साहसे एकत्र हुए हैं ? मैं इस अल्प भूमि-खण्डके लिए तो क्या समस्त पृथ्वी अथवा त्रिलोकीके राज्यके लिए भी ऐसा युद्ध करना नहीं चाहता।

'इस युद्धकी अपेक्षा तो संजयकी वह सम्मति ही श्रष्ठ है कि हम पाण्डवोंको कहीं भिक्षा माँगकर अपना जीवन व्यतीत कर देना चाहिए। पहिले भी तो हम प्रथम वनवासके समय भिक्षाजीवी रहे हैं। मुझे उस जीवनमें कोई दोष नहीं दीखता। यह युद्ध करके स्वजनोंका संहार करनेसे वह कहीं श्रेयस्कर है।

'मैं युद्ध करनेमें सक्षम नहीं हूँ। मेरा शरीर काँप रहा है। शरीरमें रोमांच होरहा है। हृदय बैठा जारहा है। नेत्रोंके आगे अन्धकार छा रहा है। मैं अपने हाथों पूज्य गुरुजनोंपर शर-सन्धान करूँ इससे तो कहीं कल्याणप्रद है कि मुझ शस्त्रहीनपर ये शस्त्रसज्ज कौरव टूट पड़ें और मुझे मार डालें। मैं इनका कोई प्रतिकार नहीं करूँगा।

'मेरी बुद्धि मोहित होरही है। मैं कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ होरहा हूँ। माधव ! मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण हूँ। ज्ञानधन

गोविन्द ! आप मुझे मार्ग दर्शन करावें। मुझे क्या करना चाहिए, इसको आप ही समझावें। मेरा उग्र क्षत्रिय स्वभाव तो स्वजनोंकी मृत्यु सम्मुख देखकर सो गया है। धर्मका निर्णय करनेमें मैं असमर्थ होगया हूँ। विश्वके परमगुरु ! मैं आपके पद-पंकजोंमें प्रपन्न हूँ। मेरी रक्षा करो।'

अर्जुनने अन्तमें कहा—'अच्युत ! मैं युद्ध नहीं करूँगा।' यह कहकर उसने धनुष हाथसे नीचे डाल दिया। त्रोण उतार दिये और रथके पिछले भागमें सिर झुकाकर बैठ गया।

कान्तिहीन, मस्तक झुकाये, रुदन करते, काँपते स्वरसे रोमांचित-की भाँति शक्ति, साहस, शौर्य शून्य अर्जुनकी अवस्था शोचनीय होगयी थी। कोई अत्यन्त शुद्ध हृदय, स्वार्थ शून्य, सहृदय व्यक्ति ही सम्मुख संहार देखकर इतना कातर हो सकता है।

शुद्धान्तःकरण, परदुःखकातर, स्वयंके समस्त सुख, स्वार्थसे सर्वथा विरक्त, अत्यन्त द्रवित हृदय अर्जुनसा उत्तम अधिकारी गीताके ज्ञानोपदेशका सृष्टिमें दूसरा मिलना सम्भव नहीं था। अतः विश्वैक गुरुकी वाणीको उस अलौकिक ज्ञान-गंगाके आविर्भावकी भूमिका प्राप्त होगयी।



गीतोपदेश

व्यक्तिका अहंकार ही है कि वह कर्ता है। प्रत्येक प्राणी अपने ही प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःखका भोग करता है और सबकी मृत्यु एवं मृत्युका हेतु भी निश्चित है। जगतका संचालक एक समर्थ, सर्वज्ञ, ईश्वर है—इसे मानकर भी हम जब अपने या अन्यके पाप-पुण्यका करणीय अकरणीयका विचार करते हैं तो इसके मूलमें कर्तृत्वाभिमान अथ च अज्ञान ही होता है।

'पश्यतान् कुरूनिति' भगवान श्रीकृष्णने कहा—'इन कुरुओंको—करनेवालोंको, कर्तृत्वके अभिमानियोंको देखो।'

अजुन स्वय भी अभी उसी भूमिकामें था अतः उसे वहाँ सब अपने सगे सम्बन्धी ही दिखाई पड़े। वह उनके संहारकी कल्पनासे ही अत्यन्त

अवसन्न होउठा। अर्जुनने कहा—'कार्पण्य दोषोपहत स्वभाव:' कृपणताके दोषसे मेरा स्वभाव उपहत होगया है। श्रीकृष्णने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने प्रारम्भ ही किया—'क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ' अर्जुन! नपुंसक मत बनो। यह तुम्हारा कार्पण्य नहीं, नपुंसकता है।

पुरुषको देश, काल, परिस्थिति तथा अपनी योग्यताके अनुसार प्राप्त कर्तव्यका पालन अहंकार रहित होकर करना चाहिए। इसमें जब अपने अथवा दूसरोंका मोह मध्यमें आ जाता है तो व्यक्तिकी बुद्धि सम्मूढ़ होजाती है। यह 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं' ही है।

शरीरमें जैसे शैशवसे कौमारावस्था, यौवन तथा वार्धक्यके परिवर्तन होते हैं, इनमें व्यक्ति स्वयं भी कुछ नहीं कर सकता, ये कर्मानुसार नैसर्गिक ही होते हैं, वैसे देहान्तर प्राप्ति भी कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली नैसर्गिक अवस्था ही है। इसमें भी व्यक्ति स्वयं अथवा दूसरे कुछ कर नहीं सकते।

अब प्रश्न रहता है सुख-दुःखका। ये सुख-दुःख भी व्यक्तिको उसके कर्मानुसार ही प्राप्त होते हैं। इनमें दूसरे केवल निमित्त बनते हैं, वस्तुतः कारण नहीं होते और सुख-दुःख केवल मात्र स्पर्श हैं, शरीर तथा शरीरके हेतुभूत तन्मात्राओंमें तादात्म्यके कारण हैं। इनमें न सुख स्थायी है, न दुःख। ये आने जानेवाले वेग हैं। जब इन्हें रोका नहीं जा सकता, कर्मानुसार इन्हें आना तथा जाना ही है तो इन्हें सहन करनेका अभ्यास कर लिया जाना चाहिए। यह सुख-दुःख जिसे विचलित नहीं करते, व्यथित नहीं करते, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

शरीरमें जो चेतना है वह एक है, सर्वव्यापी है, सर्वकारण कारण है। वह अविनाशी है। उसे कोई किसी प्रकार मार नहीं सकता और शरीर मरणधर्मा है। उसकी मृत्यु टाली नहीं जा सकती। अतः अनिवार्य मृत्युके लिए शोक करना अनुचित है।

अर्जुनको युद्धका निमित्त इसलिए बनना चाहिए क्योंकि वह क्षत्रिय है। युद्ध उसको स्वधर्मके अनुसार प्राप्त है। उसने स्वयंको इसके लिए पहिलेसे प्रस्तुत किया है। प्रसिद्ध किया है। उसके स्वजन उसीपर निर्भर हैं। अब यदि वह युद्ध त्याग करता है तो उसकी अपकीर्ति होगी। स्वजनोंके साथ विश्वासघात होगा। शत्रु उसे कायर कहकर उसकी निन्दा

करेंगे। यह निन्दा सहलेना उसके स्वभावमें नहीं है। तब वह अपने स्वभाव विवश क्रोधावेशमें युद्ध करेगा ही। वह क्रोधावेश अनर्थकारी होगा। अतः सोच-समझकर, मोह और क्रोधसे रहित होकर उसे कर्तव्यपालनके लिए युद्ध करना चाहिए। युद्धमें विजयी होनेपर प्रत्यक्ष लाभ है और मारे जाने-पर परलोकमें कल्याणका शास्त्र आश्वासन देते हैं। अतः अर्जुनका जैसा अधिकार है, उसके अनुसार युद्ध करना ही सका आवश्यक कतव्य इस समय है। उसे सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजयकी चिन्ता त्यागकर कर्तव्य पालनके रूपमें युद्ध करना चाहिए। इसमें उसे कोई पापस्पर्श नहीं करेगा।

मनुष्यका अधिकार कर्म करनेमें ही है। फल पाने, न पानेमें उसका कोई वश नहीं है। कर्म करनेपर उसका फल आवे तो भी वह 'मेरे पौरुषका ही फल है' इस अभिमानमें नहीं आना चाहिए तथा कर्मका ही त्याग देनेका दुराग्रह भी नहीं करना चाहिए।

कर्म करनेका उत्तम मार्ग हैं कि सफलता-असफलतामें समान भाव रखकर, आसक्तिका त्याग कर कर्म किया जाय। न फलासक्ति हो, न कर्मासक्ति हो। इस प्रकार समत्वमें बुद्धिको स्थित करके जो कर्म करता है वह पाप-पुण्य दोनोंके स्पर्श से असंस्पृष्ट रहकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होजाता है। अविनाशी पद पाता है।

अर्जुनने यहाँ पूछा—'ऐसे स्थितप्रज्ञा प्राप्त हुए पुरुषकी पहिचान क्या है?

स्पष्ट है कि प्रज्ञा स्थित है, इसकी पहिचान शरीर नहीं बता सकता। प्रज्ञा अन्तःकरणमें होती है अतः अन्तःकरणकी अवस्थाओंसे ही स्थितप्रज्ञको जाना जा सकता है। प्रज्ञाकी चंचलता, अस्त-व्यस्तताका कारण कामनाएँ ही हैं। वाह्य वस्तुओं, व्यक्तियोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिकी इच्छा ही बुद्धिको अस्त-व्यस्त करती है। समस्त कामनाओंको त्यागकर जो अपने आपमें सन्तुष्ट है, वह स्थितप्रज्ञ है।

वह दुःखसे उद्विग्न नहीं होता। सुखकी स्पृहा नहीं करता। राग-द्वेष और भय उसे प्रभावित नहीं करते। शुभ और अशुभ चाहे जो आवे दोनोंमें वह समान है और अपनी इन्द्रियोंको वाह्य विषयासे उसने समेट लिया है।

इन्द्रियोंका विषयोंसे सर्वथा संयोग न हो यह असंभव है। कर्ण, नेत्र, नासिका, त्वचाको इनके विषय प्राप्त होते ही रहेंगे और आवश्यक आहार भी लेना ही पड़ेगा किन्तु विषयोंके प्रति राग-द्वेष रहित होकर जो इन्द्रिय-व्यवहार करता है, मनको अपने वशमें रखता है उसकी बुद्धि व्यवस्थित रहती है।

अमुक विषय चाहिए ही अथवा अमुकसे दूर ही होना है, यह आग्रह होगा या किसी इन्द्रियको अमुक सेवनका व्यसन होगा तो बुद्धि स्वस्थ निर्णय नहीं कर सकेगी। तब बुद्धिका निर्णय, तर्क अपने व्यसन एवं राग-द्वेषसे प्रभावित होगा। इसलिए दो ही मार्ग हैं—समस्त कामनाएँ, पदार्थ आवें, न आवें, उनसे उदासीन होकर प्रारब्ध प्राप्त परिस्थितिमें सन्तुष्ट रहा जाय अथवा ममता और अहंताके साथ कामनाओंका, भोगोंका भी सर्वथा त्याग करके विरक्त जीवन व्यतीत किया जाय। स्थितप्रज्ञ होनेका यही उपाय है।

अर्जुनने प्रश्न किया—'यदि प्रज्ञाका ही महत्त्व है तो उसे युद्ध जैसे घोर हिंसाके काममें क्यों लगनेको कहा जारहा है?'

श्रीकृष्णने समझाया कि लोकमें जो पारमार्थिक सत्य पाना चाहते हैं, उनमें भी दो प्रकृतिके लोग होते हैं। एक निवृत्ति प्रधान बौद्धिक प्रखरता रखनेवाले और दूसरे प्रवृत्ति प्रधान। इनमें भी केवल निवृत्ति वैराग्यसे ही किसीका उद्धार नहीं होता। उसमें भी साधन तो होना चाहिए। केवल इन्द्रियों द्वारा बलपूर्वक विषयोंका त्याग तो त्याग नहीं है, यदि मनमें भोगोंका चिन्तन तथा उनकी लिप्सा है। अतः इन्द्रिय संयमके साथ मनका संयम आवश्यक है।

मनको संयमति करके आवश्यक कर्तव्य एवं भोगका सेवन लोकादर्श-की स्थापनाके लिए भी आवश्यक है। अर्जुन प्रवृत्ति प्रधान व्यक्ति है, अतः उसे अपने कर्मके द्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करना चाहिए। उसका मार्ग कर्म योगका मार्ग है।

कर्मकी महत्ता कम नहीं है। समस्त संसार चक्र कर्मपर निर्भर है। यह तो जो आत्माराम आप्तकाम पुरुष है उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है क्योंकि उसे कुछ प्राप्त नहीं करना है और उसकी कोई हानि भी होनेवाली नहीं है।

ऐसे आत्माराम महापुरुष भी लोकसंग्रहके लिए कर्म करते हैं भगवानका तो अवतार ही लोकादर्शकी स्थापनाके लिए होता है। अतः विद्वान पुरुषको भी लोकादर्शन लिए अनासक्त रहते हुए वैसे ही कर्म करना चाहिए जसे अज्ञानी लोग आसक्ति पूर्वक कर्म करते हैं।

स्वयं कर्ममें कोई दोष नहीं है। कर्म तो प्रकृति कराती है अर्थात् अपने अपने स्वभावानुसार सब कर्म करनेको बाध्य ही हैं। केवल अहंकारसे मूढ़ मनुष्य मानता है कि 'मैं कर्ता हूँ'।

सात्विक, राजस, तामस स्वभाव इन गुणोंके कारण प्राणीका बन जाता है। इन सत्व, रज, तम गुणोंकी प्रेरणासे कर्म होते हैं। अतः तत्त्वदर्शी अपने देहेन्द्रियोंसे होनेवाले कर्मोंमें अहंकार नहीं करता, फलतः कर्मके संस्कार उसे नहीं सटते किन्तु प्रकृतिके गुणोंको अपना मानकर अज्ञानीजन गुण और कर्ममें संसक्त होकर कर्म बन्धनमें पड़ते हैं।

विवेकवान पुरुषको चाहिए कि अज्ञानियोंकी प्रवृत्तिका विरोध करके उनमें बुद्धि भेद उत्पन्न न करे क्योंकि इससे उनमें ठीक ज्ञानोदय तो होगा नहीं, बुद्धि भ्रम होनेसे वे पथभ्रष्ट होजायँगे। अतः उनको तो वे जो कर रहे हैं, करने दें किन्तु स्वयं समस्त कर्म अन्तर्यामी परमात्माको अर्पित करके एवं फलाशा त्यागकर, ममतारहित होकर कर्तव्यका पालन करे।

सब प्राणी अपने स्वभावके अनुसार व्यवहार करनेको विवश हैं। स्वभावके विपरीत नियन्त्रणका प्रयत्न सफल नहीं होता। अर्जुनका स्वभाव क्षत्रियका है। वह शत्रुके व्यंग सहकर, भिक्षा माँगकर जीवन यापन नहीं कर सकता अतः उसे कर्तव्य प्राप्त युद्ध करना चाहिए। लेकिन इन्द्रियोंका अपने विषयोंमें जो राग है, उसीको स्वभाव मानकर विषयासक्त होना अनर्थकारी है। इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके वशमें तो नहीं होना चाहिए। उनका नियन्त्रण करना चाहिए।

काम और क्रोध रजोगुणके, प्रवृत्तिके पुत्र हैं। ये सदा अतृप्त रहते हैं और पापमें ही प्राणीको प्रवृत्त करते हैं। अतः इनको अपना शत्रु समझना चाहिए। इन्द्रियोंमें, मनमें और बुद्धिमें भी काम, विषयोंकी भोगेच्छाका निवास है। अतः पहिली बात है कि इन्द्रियोंको बलपूर्वक नियन्त्रित करके कामनाका त्याग कर दो। वैसे जो बुद्धिसे भी परे परम-तत्त्व है, उसके साक्षात्कारसे काम समूल नष्ट होजाता है।

श्रीकृष्णने कह दिया—'यह योग मैंने विवस्वानको सुनाया था। उन्होंने अपने पुत्र मनुको बतलाया और मनुने इक्ष्वाकुको। इस प्रकार राजर्षियोंकी परम्परामें आता यह ज्ञान कालयोगसे नष्ट होगया था।'

अर्जुनका प्रश्न स्वाभाविक था—'आपका जन्म अभी हुआ और सूर्यका बहुत पहिले। अतः आपने सूर्यको कैसे उपदेश किया ?'

श्रीकृष्णने स्पष्ट किया—'मेरे बहुतसे जन्म होचुके और तुम्हारे भी असंख्य जन्म हुए। जीव अपने जन्मोंको नहीं जानता क्योंकि वह अविद्यासे आवृत है। कर्म परतन्त्र है किन्तु मैं योगमायाका आश्रय करके युग-युगमें धर्मकी रक्षा, दुष्कर्मियोंके विनाश तथा साधु परित्राणके लिए अवतार लेता हूँ। अविद्या-संस्पर्श शून्य होनेसे मुझे सबका ज्ञान है।

अवतार-चरित सदा जीवोंके लिए मंगलकारी हैं। जो उसका दिव्य-तत्त्व जानते हैं वे तो जन्म-मरणसे मुक्त ही होजाते हैं। जो जिस भावसे भगवानकी शरण लेते हैं, भगवान भी उसी भावसे उन्हें अपनाते हैं।

कर्मके द्वारा सिद्धि चाहनेवाले देवताओंकी आराधना करते हैं। इस प्रकारकी कर्मज सिद्धि कर्मके ठीक-ठीक होनेपर शीघ्र होती है।

अवतार लेनेपर भी भगवान कर्मके द्वारा लिप्त नहीं होते क्योंकि किसी कर्मफलकी उनमें स्पृहा नहीं है। इस रहस्यको जान लेनेवाले कर्म-फलसे निस्पृह होजाते हैं, अतः कर्म बन्धनमें नहीं आते।

इस प्रकार आसक्ति स्पृहा त्यागकर सदासे मुमुक्षुजन कर्म करते आये हैं। अतः कर्मका रहस्य जानने योग्य है। कर्मकी गति बहुत गूढ़ है। यह कर्मका मूल रहस्य है कि जो कामनाके संकल्पको त्यागकर निष्काम भावसे सब कर्म करता है उसके सब कर्म ज्ञानाग्निमें भस्म होजाते हैं। कर्म फल तथा कर्मकी आसक्ति त्यागकर जो अपनेमें ही तृप्त है, तृप्तिके लिए अन्य कोई आश्रय नहीं लेता, वह कर्ममें लगनेपर भी वस्तुतः कुछ नहीं करता।

जिसके चित्तमें कुछ पानेकी आशा नहीं है, मन संयमित है, जो निष्परिग्रह है, वह केवल शरीर-निर्वाहके लिए कर्म करनेपर पापका भागी नहीं होता। जो प्राप्त होता है उसीमें सन्तुष्ट, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें समान, मत्सरहीन, आसक्तिरहित, ज्ञानमें ही स्थित मुक्तपुरुष लोक-हितार्थ जो कर्म करता है, उसका फल समष्टिमें लीन होजाता है।

कई प्रकारके यज्ञों, संयमोंका वर्णन करके भगवानने बतलाया कि सभी यज्ञ कर्मसे ही होते हैं। इन सबमें ज्ञानयज्ञ ही सर्वोत्तम तथा श्रेयस्कर है क्योंकि सब कर्मोंकी परिसमाप्ति ज्ञानमें ही होती है।

ज्ञानियोंके समीप जाकर विनम्र होकर उनकी सेवा करते हुए बार-बार जिज्ञासा करनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। वह ज्ञान स्वतः के चिन्तनसे नहीं मिलता, तत्त्वदर्शी ज्ञानीकी शरणागतिसे ही मिलता है और वह है सम्पूर्ण प्राणियोंमें तथा अपनेमें भी एकात्म्य दर्शन। यह ज्ञान बड़े-बड़े पापीके भी उद्धारका कारण है क्योंकि यह ज्ञानाग्नि सूखे काष्ठके समान सब कर्मोंको भस्म कर देती है। इन ज्ञानके समान और कुछ पवित्र नहीं है।

श्रद्धावान, तत्पर, संयतेन्द्रिय साधक ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। प्राप्त करके वह परमशान्ति पा लेता है। जो अज्ञानी होनेपर भी अश्रद्धालु, संशयशील है उसका विनाश निश्चित है। संशयीको इस लोक परलोकमें कहीं सुख नहीं मिल सकता। इसलिए अर्जुन! तुम्हें अज्ञानसे उत्पन्न मोहको ज्ञानके द्वारा काटकर, संशयरहित होकर कर्तव्यपालनके लिए उठ खड़ा होना चाहिए।

अर्जुनने कहा—'कृष्ण! तुम कभी कर्म-संन्यासकी प्रशंसा करते हो और कभी कर्मयोगकी। इन दानोंमें जो श्रेयस्कर हो उसको निश्चित करके मुझे बताओ।'

भगवानने स्पष्टीकरण किया—कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों परम कल्याणकारी हैं किन्तु कर्म-संन्याससे कर्मयोग विशिष्ट है। जो किसीसे द्वेष नहीं करता, कुछ नहीं चाहता, द्वन्द्वोंकी परवाह नहीं करता, उसे सदा संन्यासी ही समझो। वह सुखपूर्वक कर्म-बन्धनसे छूट जाता है।

कर्म संन्यास और कर्मयोगमें पार्थक्य बच्चे मानते हैं, विद्वान नहीं। इनमें किसी एकका भी सम्यक् पालन दोनोंका फल दे देता है क्योंकि दोनोका प्राप्तव्य एक ही है। लेकिन जो कर्मफलासक्ति नहीं छोड़ सकता उसके लिए कर्म संन्यास बहुत कष्टकारी है। कर्म-फलासक्तिका त्यागी उस स्थितिको शीघ्र पा लेता है।

परमात्मामें चित्तको लगाये, विशुद्ध हृदय, मनको वशमें रखनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष तो सब प्राणियोंसे अपना आत्मैक्य देखता है अतः वह कर्म करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता। वह सभी इन्द्रियोंके द्वारा व्यवहार करता हुआ भी इन्द्रियोंको ही अपने विषयोंमें क्रियाशील समझता है, स्वयंको कर्ता-भोक्ता नहीं समझता। इस प्रकार सब कर्मोंको व्यापक तत्त्वमें मानकर आसक्ति हीन होकर जो कर्म करता है, वह जलमें कमलपत्रवत् कर्मसे असंस्पृष्ट रहता है।

योगी केवल देहसे, मनसे अथवा केवल इन्द्रियोंसे अनासक्त रहकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए कर्म करते हैं। इस प्रकार संयमित होकर कर्मफलासक्ति त्यागकर कर्म करनेसे वे परम शान्ति पाते हैं। लेकिन असंयत चित्त सकाम लोग फलेच्छासे कर्म करके बन्धनमें पड़ते हैं।

इस शरीरमें जो देही है वह इसमें रहता हुआ भी मनसे सब कर्मोंकी आसक्ति त्याग दे और इन्द्रियोंको वशमें रखे तो न कुछ करता, न कराता।

परमात्मा तो किसीके लिए न कर्तृत्व बनाता, न कर्म और न कर्मफल सुख-दुःखादिका संयोग। यह तो प्राणी अपने स्वभावसे इनमें लगता है। ईश्वर न किसीके पुण्य लेता, न पाप। अज्ञानके कारण जीवका ज्ञान ढक गया है अतः वह मोहमें पड़ा है।

ज्ञानके द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट होगया है उनमें सूर्यके समान ज्ञान प्रकाशित है। उसीमें उनकी बुद्धि तथा मन लगा रहता है। उसीमें निष्ठा तथा परायणता होती है। ऐसे ज्ञानसे निर्धूत कल्मष फिर जन्म नहीं लेते। ये समदर्शी सबमें एक ही सम सत्यका दर्शन करते हैं। इन्होंने इसी जीवनमें संसरणपर विजय प्राप्त कर ली, जीवनमुक्त होगये क्योंकि समत्व निर्दोष ब्रह्म है। वे ब्रह्ममें स्थित हैं।

वाह्य विषयोंके स्पर्शसे अनासक्त चित्त अपने आपमें जो सुख पाता है, वही अक्षय ब्रह्मात्मैक्य सुख है, उसका वह उपयोग करता है। ये जो वाह्य विषयोंके स्पर्शसे होनेवाला सुख है, वह तो दुःखका ही जनक है। आदि-अन्त वाला है। अतः बुद्धिमान उसमें रमण नहीं करते।

शरीरसे बाहर काम-क्रोधका वेग प्रकट हो इससे पूर्व ही जो उसे सह लेता है वही युक्त और सुखी है। जो अपने भीतर ही सुखी है,

आत्माराम है, आत्मप्रकाश है वह ब्रह्मभूत, ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करता है। यह ब्रह्मनिर्वाण निष्कल्मष, द्विधा-संशयहीन, संयतात्मा, सर्वभूत हितमें रत पुरुष प्राप्त करते हैं। काम-क्रोध रहित, संयतचित्त, तत्त्वज्ञ पुरुषको तो सर्वत्र सदा ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त है।

विषयोंको बाहर ही छोड़कर, नेत्रको भ्रूमध्यमें स्थिर करके प्राणापानको समान करके जो मोक्षपरायण साधक इच्छा, राग, द्वेष, भयसे छूट गया है वह सदा मुक्त ही है।

जो समस्त यज्ञ क्रियामात्र तथा तप श्रम मात्रका भोक्ता, सर्वलोक महेश्वर मुझे सब प्राणियोंका सुहृद समझ लेता है, उसे शान्ति मिल जाती है।

केवल अग्नि अथवा क्रियाके त्यागसे कोई संन्यासी नहीं होता। कर्मफलका आश्रय लिये बिना जो कर्तव्यका पालन करता है, वही संन्यासी तथा योगी है क्योंकि योग और संन्यास दो तथ्य नहीं हैं। संकल्प—कामनाका संन्यास किये बिना कोई योगी नहीं होता। यह कामनाका त्याग करके कर्म करना साधकको सफलता देनेका हेतु होता है और सिद्ध पुरुषको शान्ति देता है।

जब पुरुष ऐन्द्रियक भोगोंमें और कर्ममें भी आसक्त नहीं होता, सब संकल्पोंको छोड़ देता है तब उसे योगारूढ़ कहते हैं। अतः अपने आपका ही अपना उद्धार करें। अपनेको अधःपतित या निराश न करें। यह अन्तःकरण ही व्यक्तिका शत्रु भी है और मित्र भी। जिसने इसे वशमें किया उसका मित्र है और जो इसके वशमें होगया उसके लिए शत्रुके समान व्यवहार करता है।

अन्तःकरण वशमें है और शान्त है तो परमात्मामें ही सम्यक् स्थिति है। अतएव सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमानमें समान रहे, ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त मानस सब द्वन्द्वोंसे तटस्थ, जितेन्द्रिय पुरुष, जिसके लिए लोहा, सोना, पत्थर समान है, युक्त कहा जाता है।

सुहृद, मित्र, उदासीन, शत्रु आदि सबके प्रति जिसकी बुद्धि समान है वह विशिष्ट पुरुष है जो साधु और पापी दोनोंके प्रति समबुद्धि रखता है।

इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए साधकको पवित्र देशमें कैसा आसन बनाकर कैसे बैठना तथा अभ्यास करना चाहिए, यह उपदेश करते हुए

भगवानने सावधान किया कि बहुत भोजन करनेवाले या सर्वथा उपवास करनेवाले साधकको सफलता नहीं मिलती। शरीरके लिए आवश्यक सात्विक आहार, व्यवहार, जागरण और निद्राके त्यागका दुराग्रह नहीं करना चाहिए, इनका उपयुक्त सेवन करना चाहिए।

इस प्रकार साधन करते हुए जब चित्त सब कामनाओंसे निस्पृह हो जाय और अपने आपमें स्थित रहे तब उस साधकको युक्त कहा जाता है।[1] इस स्थितिमें पहुँचकर पूर्णकाम, आत्माराम होजाता है। यह बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय आत्यन्तिक सुखकी उपलब्धि है, जहाँ पहुँचकर फिर तत्त्वत: विचलित नहीं होता। इसे प्राप्त कर इससे बड़ा लाभ दूसरा नहीं रह जाता और बड़े-से-बड़ा दु:ख यहाँसे विचलित नहीं कर पाता। दु:खके होनेपर भी उसके संयोगका वियोग होजानेवाली यह अवस्था योग कही जाती है। दृढ़ निश्चयपूर्वक विरक्त चित्तसे इसे उपलब्ध करना चाहिए।

संकल्पसे उठनेवाली समस्त कामनाओंको त्याग दे, चारों ओरसे इन्द्रियोंको मनके द्वारा नियंत्रित कर ले। इस प्रकार धैर्यशालिनी बुद्धिसे धीरे-धीरे उपराम हो। चंचल मन जहां-जहां जाय वहाँ-वहाँसे उसे नियंत्रित करके अपने वशमें ले आवे और अपने में स्थित करके कुछ भी न सोचे। इस प्रकार प्रशान्त, निष्कलमष, विक्षेपरहित योगी ब्रह्मभूत होकर सर्वोत्तम आनन्द उपलब्ध करता है।

जो सब प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सबको देखता है वह सर्वत्र समदर्शी भोग प्राप्त है। जो मुझे सर्वत्र और मुझमें सबको देखता है वह मुझसे कभी पृथक् नहीं होता और न मैं उससे पृथक् होता।

जो समस्त प्राणियोंमें इस एकत्वमें स्थित होकर भजन करता है वह सब प्रकार व्यवहार करता हुआ भी मुझमें ही स्थित है। वह परम योगी है जो सुख-दु:ख दोनोंमें सर्वत्र अपने समान ही सबमें समत्व देखता है।

---

१. यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥
—माण्डूक्यकारिका अद्वैत प्रकरण ४६

अर्जुनने साधककी जो सदाकी कठिनाई है, उसे प्रकट किया—'मन चंचल है। यह स्थिर स्थितिमें रहे यह लगता नहीं। यह मन तो मंथन करनेवाला, बहुत बलवान और चंचल है। इसका निग्रह तो वायुको निश्चल करनेके समान अत्यन्त दुष्कर लगता है।'

भगवानने कहा—बात तुम्हारी ठीक है कि मन चंचल है और कठिनाईसे वशमें होता है किन्तु अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होजाता है। जो असंयत मानस हैं उन्हें तो योग दुष्प्राप्य है किन्तु उपायके द्वारा प्रयत्न करनेवालेके यह वशमें होजाता है।

अर्जुनने पूछ लिया—'यह अभ्यास तो समयकी अपेक्षा करता है अब कोई अभ्यासी श्रद्धासहित साधनामें लगा और फिर किसी कारण सफलता पूर्व ही साधन छूट गया तो उसका क्या होता है? सिद्ध स्थिति तो उसने प्राप्त नहीं की और सकाम छोड़ ही चुका था तो क्या उभय भ्रष्ट होकर नष्ट होजाता है?'

भगवानने भव्य आश्वासन दिया—'भैया! साधनके मार्गमें आना तो दूर इसकी जिज्ञासा करनेवाला भी नष्ट नहीं होता। इस पथमें पीछे लौटना है ही नहीं। यहाँ जिसने पद रखा, उसकी दुर्गति सम्भव नहीं। इस जन्ममें सफलता नहीं पा सकेगा तो आगामी जन्ममें उसका वह पूर्वका साधन उसे साधनमें लगनेको विवश कर देगा। वह पवित्र सम्पन्न कुलमें या सिद्ध योगीके घर उत्पन्न होगा। उपयुक्त परिस्थिति पावेगा और जहाँसे साधन छूटा था वहींसे पुनः आगे बढ़ेगा। योगकी जिज्ञासा उदित होनेपर जीवको पूर्णत्व प्रदान करके ही शान्त होती है। इस प्रकार अनेक जन्मोंमें प्रयत्नकी परम्परा बनी रहती है। अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे प्राणी शुद्ध कल्मष होकर परम गति पाता है। ऐसे योगियोंमें भी जो श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करते हैं, मुझमें मन लगाये हैं वे युक्ततम हैं।

ऐसे युक्ततम पुरुष दुर्लभ हैं। सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक साधन करनेका प्रयत्न करता है और ऐसे सहस्रों प्रयत्न करनेवालोंमें कोई एक मुझे तत्त्वतः जान पाता है। यह तत्त्वतः जानना क्या? पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश ये पंच महाभूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार ये आठ मेरी अपरा प्रकृति हैं और जीव परा प्रकृति है। यह जीव ही जगत

धारक है। सब प्राणी इन दोनों प्रकृतियोंसे ही प्रादुर्भूत होते हैं। इस प्रकार सबकी सृष्टि-प्रलय मैं ही हूँ। मुझसे परे कुछ नहीं है। मुझसे ही सब व्याप्त है। सबका सार तत्त्व मैं ही हूँ।

यह जगत, जगतके सब जीव त्रिगुणसे मोहित हैं। अतः इन गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको जान नहीं पाते। यह त्रिगुणमयी माया पार करनेमें बहुत कठिनाई है। जो मेरी ही शरण लेते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं।

जो पापी हैं, मूर्ख हैं, नराधम हैं या आसुर भावापन्न हैं उनका ज्ञान मायाने हरण कर लिया है। वे मेरी शरण नहीं लेते। जो पुण्यात्मा हैं, समझदार हैं, दैवी सम्पत्ति सम्पन्न हैं, सत्पुरुष हैं, वे मेरी शरण लेते हैं। ये शरण लेने वाले भी चार प्रकारके होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। ये चारों ही उदार हैं किन्तु इनमें ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। ऐसा ज्ञानी जो सबको मेरा स्वरूप देखता है, सुदुर्लभ है।

कामनाओंने जिनका ज्ञानापहरण कर लिया है वे विभिन्न देवताओंकी अपनी कामनाके अनुसार शरण लेते हैं। अपनी प्रकृति एवं आराध्यके अनुसार विभिन्न नियमोंका पालन करते हैं। जो जहां श्रद्धा करता है, मैं वहीं उसकी श्रद्धा दृढ़ कर देता हूँ क्योंकि मैं ही सर्वरूप हूँ। सबकी आराधनाका फल भी मैं ही देता हूँ किन्तु जो मुझे कोई देवता मानकर आराधना करते हैं, वे अपूर्णके, अविधिपूर्वक आराधना करने वाले हैं अतः उनको प्राप्त होने वाला फल अन्तवान विनाशी होता है। देवताओंके भक्त देवताओंको और मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं क्योंकि व्यक्ति वही होता है जिस प्रकारकी उसकी श्रद्धा होती है। जो भूत-प्रेतमें श्रद्धा करेगा वह उनको पावेगा। जो मुझमें श्रद्धा करेगा वह मुझको पावेगा।

मैं अव्यक्त हूँ, अव्यय और सर्वोपरि हूँ। मूर्खजन मुझे व्यक्ति बना समझते हैं। योगमायासे समावृत होनेके कारण सब मुझे जान नहीं पाते। राग-द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके मोहमें पड़कर प्राणी जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा है। जिनका पाप नष्ट होगया है, जन्म-जन्मका पुण्योदय हुआ है, वे द्वन्द्वोंके मोहको छोड़कर जन्म-मरण जरा के बन्धनसे मुक्त होनेके लिए मेरा आश्रय लेते हैं और दृढ़ व्रत होकर मेरा भजन करते हैं। ऐसे

लोग ब्रह्मके सम्यक् स्वरूपको अधिभूत , अधिदव , अध्यात्म सहि जानते हैं ।

अविनाशी तत्व परम ब्रह्म है । स्वभाव प्रकृति अध्यात्म है औ प्राणियोंके जन्म-मृत्युका कारण कर्म है । जितने विनाशी भाव हैं, अधिभूत हैं । इनमें स्थित पुरुष चेतन अधिदैव है । इसी अधिभूत दे यहीं मैं अधियज्ञ अन्तर्यामी रूपसे स्थित हूँ । प्राणत्यागके समय जो मे स्मरण करते देहसे विदा होता है , वह मेरे स्वरूपको प्राप्त करता है।

नियम यह है कि जिस-जिस भावको स्मरण करते मनुष्य मरता है उस-उस भावको ही प्राप्त करता है । अतएव सर्वदा मेरा स्मरण करो त कर्तव्य पालन करो । इस प्रकार मुझमें मन एवं बुद्धिको लगाकर मुझे प्रा कर लोगे ।

अभ्यासके द्वारा संयमित चित्तको अन्यत्र न जाने देकर जो दि परमपुरुषका ही चिन्तन करता है वह उस पुराण-पुरुष , सर्वसंचालक सर्वज्ञ , सबके पालक , अचिन्त्य स्वरूप , प्रकाशमय , तमससे परे अत्य सूक्ष्म परमतत्वको मरते समय स्थिर मनसे , भक्तियुक्त तथा योगबल चिन्तन कर पाता है । भ्रूमध्यमें भली प्रकार प्राणोंको प्रविष्ट करके , स इन्द्रियोंके द्वार अवरुद्ध करके , मनको हृदयमें स्थिर करके प्राणको मूर्ध योगधारणासे पहुँचाकर जो प्रणवका उच्चारण करता देह त्याग करता है परमगति पाता है ।

जो मेरे अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं लेता , मेरा नित्य स्मर करता है वह तो नित्ययुक्त योगी है । उसे मैं सदा सुलभ हूँ । जो इस प्रका नित्य युक्त है अथवा ऊपर कही विधिसे देह-त्याग करके मुझे पाता है वे फि दुःखालय , विनाशो देहोंमें जन्म नहीं लेते ।

यह सम्पूर्ण लोक , ब्रह्मलोक तक पुनरावर्तनके स्थान हैं । केव मुझे प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता । एक सहस्र युग (चतुर्युगी-महायु का ब्रह्माका एक दिन होता है । इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है ब्रह्माके दिनके प्रारम्भमें अव्यक्त प्रकृतिसे व्यक्त सृष्टि होती है और उन सायंकालमें सब उसी अव्यक्तमें लीन होजाते हैं । इस रीतिसे सब जी बार-बार जन्मते-मरते हैं ।

इस अव्यक्त प्रकृतिसे परे सनातन परम तत्त्व है जो सब प्राणियोंके विनष्ट होते रहनेपर भी अविनाशी है। उस अक्षरको ही परमगति कहते हैं। वही मेरा धाम है। उसे प्राप्त करके फिर लौटना नहीं पड़ता। वह परमपुरुष जिसमें सब प्राणी हैं और जो सबमें व्याप्त है, वह अनन्य भक्तिके द्वारा ही प्राप्त होता है।

मुझ अव्यक्त मर्तिके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है। सब प्राणि-पदार्थ मुझमें ही स्थित हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। मुझमें प्राणि-पदार्थ तत्त्वतः नहीं हैं। यही मेरा योगेश्वर्य है कि सबका धारक-पोषक होकर भी मैं सबमें नहीं हूँ। सबकी मुझ आत्मामें भावना होती है। जैसे आकाशमें वायु सर्वत्र है किन्तु आकाशकी दृष्टिसे वायुकी सत्ता ही नहीं है वैसे ही सब प्राणियोंकी मुझमें स्थिति है।

सब प्राणी मेरी प्रकृतिको ही प्राप्त होते हैं। मैं अपनी प्रकृतिके द्वारा कल्पके आदिमें सबकी सृष्टि करता हूँ और कल्पान्तमें प्रलय करता हूँ। यह क्रम बराबर चलता रहता है। सम्पूर्ण प्राणिसमूह प्रकृतिके वशमें है। यह सृष्टि प्रलय रूप कर्म मेरे लिए बन्धनकारी नहीं है क्योंकि मैं इस कर्ममें उदासीन हूँ, असंसक्त हूँ। प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें चराचर जगत उत्पन्न करती है।

मूर्ख लोग इस मानव देहमें अवतीर्ण मेरी अवगणना करते हैं क्योंकि मैं सब प्राणियोंका महेश्वर हूँ, यह मेरा परस्वरूप वे नहीं जानते। इन राक्षसी, आसुरी एवं मोहिनी प्रकृतिके आश्रित लोगोंकी आशा, कर्म तथा ज्ञान व्यर्थ जाता है। वे अज्ञानी हैं।

जो दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्मा हैं वे मुझे सर्वकारण कारण अविनाशी जानकर अनन्य भावसे मेरा भजन करते हैं। वे मेरा ही सतत कीर्तन करते हैं। दृढ़ व्रत पूर्वक मुझे पानेका प्रयत्न करते हैं। भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हैं। नित्य मुझमें लगे रहकर मेरी उपासना करते हैं।

मैं सर्वरूप, सर्वाधार हूँ। अतः एकत्वसे अथवा पृथक्त्वकी भावना से मुझ विश्वरूपकी उपासना होती है। मैं ही यज्ञ, क्रिया, मन्त्र, औषधि आदि सब हूँ। सम्पूर्ण विश्वकी गति, पालक, स्वामी, द्रष्टा, अधिष्ठान, शरण, सुहृद, उत्पत्ति एवं प्रलय स्थान एवं अविनाशी बीज मैं ही हूँ। मैं ही अमृत स्वरूप हूँ, सत् हूँ और मैं ही मृत्यु हूँ, असत् हूँ।

वेदज्ञ लोग यज्ञमें सोमपान करके पवित्र होकर यज्ञोंके द्वारा मेरा ह
यजन करते हैं किन्तु वे सकाम स्वर्गकामी होते हैं अतः स्वर्ग जाकर वह
दिव्य भोग प्राप्त करके पुण्य समाप्त होनेपर फिर मर्त्यलोकमें जन्म ले
हैं। अर्थ, धर्म, काममें लगे लोग इसी प्रकार बार-बार जन्म लेते हैं।

जो लोग मेरा अनन्य भावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते
हैं उन्हें अपने त्रिवर्गकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती। उनके योग-क्षेमक
मैं वहन करता हूँ।

भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल जो भी कोई मुझे अर्पण करता
है, वह मैं संयत होकर स्वीकार करता हूँ। अतः जो भी कर्म करो, भोग
भोगो, यज्ञ, दान या तप करो वह मेरे अर्पण कर दो। इस प्रकार तुम
शुभ-अशुभ कर्मके बन्धनसे छूट जाओगे। इस त्याग तथा योगसे युक्त होकर
मुझे प्राप्त कर लोगे।

मैं सब प्राणियोंके प्रति सम हूँ। न कोई मेरा द्वेष्य है, न प्रि
किन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं वे मुझमें स्थित हैं, और मैं उनमें हूँ

भले कोई अत्यन्त अनाचारी हो, किन्तु यदि वह अनन्य भावसे मेरा
भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिए क्योंकि उसका निश्चय
निर्भ्रान्त है। वह शीघ्र धर्मात्मा होजायगा और शाश्वत शान्ति प्राप्त
करेगा। मेरे भक्तका कभी विनाश नहीं होता।

मेरा आश्रय लेकर तो स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र तथा पाप योनिमें उत्पन्न
पशु पक्षी तक परम-गतिको प्राप्त हुए हैं फिर पुण्यात्मा ब्राह्मण एवं भक्त
क्षत्रियोंकी तो चर्चा ही क्या। अतः इस अनित्य, दुःखस्वरूप संसारमें
आकर मेरा भजन करो। मुझमें मन लगाओ, मेरे प्रति विनम्र रहो,
मुझमें प्रीति रखो, मेरे लिए यज्ञ, कर्म करो। इससे तुम्हारा अन्तःकरण
मुझमें लगा रहेगा। मेरे परायण रहोगे तो मुझे प्राप्त करोगे।

देवता, महर्षि तथा इनके भी स्वामी प्रजापति तक मुझे नहीं जानते
क्योंकि मैं इन सबका भी आदि कारण हूँ। जो मुझे अजन्मा, अनादि,
सर्वलोक महेश्वर जान लेता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान है। वह सब पापोंसे
छूट जाता है।

भगवानने यहाँ अपनी विभूतियोंका वर्णन करके कहा—जो मेरी इस
विभूति और योगको तत्त्वतः जानता है, वह अविचल होकर मुझसे युक्त
होता है।

मैं ही सबका उत्पत्ति स्थान एवं संचालक हूँ ऐसा समझकर बुद्धिमान भावपूर्वक मेरा भजन करते हैं। वे मुझमें चित्त, प्राण अर्थात् भावना तथा क्रिया लगाये परस्पर मेरी ही चर्चा करते हैं, मुझमें ही सन्तुष्ट रहते हैं, मुझसे ही सुखी होते हैं। उन प्रीतिपूर्वक सतत चित्त लगाकर भजन करनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। उनपर कृपा करनेके लिए उनके आत्मभावमें स्थित मैं ज्ञानदीपकसे उनके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता हूँ।

अर्जुनने भगवानसे विस्तार-पूर्वक उनकी विभूतियोंका वर्णन पूछा। प्रधान प्रधान विभूतियोंका वर्णन करके भगवानने कह दिया—इनका विस्तृत वर्णन सम्भव नहीं और व्यर्थ है क्योंकि समस्त जगत मेरी ही विभूति है। मैं अपने एकांशसे जगतरूपमें स्थित हूँ।

भगवानके इस विभूति स्वरूपको देखनेकी इच्छा अर्जुनने की। उन योगेश्वरेश्वरने दिव्य दृष्टि देकर अपना विराट् रूप दिखलाया। उस तेजोमय विश्वतोमुख कालस्वरूपको देखनेमें असमर्थ व्याकुल होकर अर्जुनने उसके उपसंहारकी प्रार्थना स्तुति करके की। अत: वह रूप उन समर्थने उपसंहृत कर लिया।

भगवानने कहा—'अर्जुन ! तुमने जिस विराट् रूपमें मुझे देखा है उसका दर्शन वेदाध्ययन, तपस्या, दान, यज्ञ आदिसे नहीं हो सकता। केवल अनन्य भक्तिसे ही इसका ज्ञान, दर्शन तथा तत्त्वत: इसमें प्रवेश शक्य है। अत: मेरे परायण रहकर मेरे लिए ही कर्म करो। जो मेरा भक्त है, अनासक्त है और समस्त प्राणियोंसे शत्रुताहीन है, वह मुझे ही प्राप्त करता है।'

अर्जुनने पूछा—'जो इस प्रकार सतत आपमें ही लगे रहकर सर्वत्र आपकी उपासना करने वाले भक्त हैं और जो अविनाशी अव्यक्तकी उपासना करते हैं इनमें योगवित्तम—योगको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ कौन है ?'

श्रीकृष्णने बिना संकोच कहा—'जो मुझमें मनको आविष्ट करके सदा मुझमें लगकर मेरी उपासना परम श्रद्धा सहित करते हैं, मेरे मतमें वे युक्ततम हैं।

जो इन्द्रिय समूहको संयमित करके सर्वत्र समबुद्धि रखकर अविनाशी, अनिर्देश्य, सर्वव्यापी, अविनय, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अव्यक्तकी

पर्युपासना करते हैं, वे सर्वभूत हितमें लगे रहनेवाले भी मुझे ही प्राप्त करते हैं किन्तु उन अव्यक्त में आसक्त चित्त लोगोंको बहुत अधिक क्लेश होता है क्योंकि शरीरधारीकी गति अव्यक्तमें बहुत दुःखसे ही होती है।

जो सब कर्मोंको मुझे देकर, मेरे परायण होगये और अनन्य योगसे मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन अपनेमें आविष्ट चित्त लोगोंका मृत्यु रूप संसार सागरसे मैं अविलम्ब उद्धार करता हूँ। इसलिए मुझमें ही मन तथा बुद्धि लगा दो। इसके पश्चात् निःसन्देह मुझमें ही निवास करोगे।

मुझमें स्थिर चित्त लगाये रहना संभव न हो तो इसका अभ्यास करना चाहिए। वह अभ्यास भी संभव न हो तो मेरे लिए ही कर्म करना चाहिए। मेरे लिए ही सब कर्म करनेसे भी अन्तःकरण शुद्ध होजायगा। यदि यह भी संभव न हो, कर्म करते समय अपना कर्तृत्व न छूटे तो कर्मोंका फल मेरे अर्पण करते रहो और चित्तको संयमित रखो।

जो किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, सबका मित्र है, सबपर दया करता है, ममता अहंता रहित है, सुख-दुःखमें समान है, क्षमाशील है, सदा सन्तुष्ट रहता है, संयतचित्त है, दृढ़ निश्चय करके मुझमें मन-बुद्धि अर्पित कर चुका है वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

जो किसीसे उद्विग्न नहीं होता और कोई जिससे उद्विग्न नहीं होता वह हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगसे मुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।

जो निरपेक्ष, पवित्र, दक्ष, उदासीन है, जिसे कभी व्यथा नहीं होती वह सर्वारम्भ परित्यागी, मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्णता, सुख-दुःखमें जो समान है, आसक्ति रहित है, निन्दा-स्तुतिमें समान रहता है, मननशील है, जो प्राप्त हो उसीमें सन्तुष्ट है, वह अनिकेत, स्थिर बुद्धि भक्तिमान मनुष्य मुझे प्रिय है।

यह धर्मस्वरूप अमृतोपदेश जो श्रद्धापूर्वक ठीक-ठीक धारण करते मेरे परायण रहते हैं वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

यह शरीर क्षेत्र है—कर्म, धर्म, ज्ञान, भक्ति सब इसीमें उत्पन्न होती हैं। इसे जो जाननेवाला है वह क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र अनेक हैं किन्तु सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ एक मैं ही हूँ। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही वास्ततिक ज्ञान है।

पंचमहाभूत, अहंकार, महत्तत्व, प्रकृति, दस इन्द्रियां, मन, शब्द, स्पर्श, रूप-रस, गन्ध, राग-द्वेष, सुख-दुःख, इन सबके संघातमें उत्पन्न चेतना, इनको धारण करनेकी शक्ति—इसे क्षेत्र कहा गया है। यह क्षेत्र विकारवान है।

मान तथा दम्भ न करना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, भोगोंमें वैराग्य, अहंकारहीनता, जन्म-मृत्यु, जरा, रोगादि दोषोंका बराबर विचार, अनासक्ति, स्त्री-पुरुष गृहादिमें असंसक्ति, अभीष्ट-अनभीष्टकी प्राप्तिमें सदा समचित्तता, अनन्य निष्ठासे मेरी स्थिर भक्ति, एकान्त सेवन, भीड़-भाड़में अरुचि, अध्यात्म ज्ञानमें स्थिति, तत्त्व विचार—ये ज्ञानके साधन हैं। इनके विपरीत जाना अज्ञान है।

जिसे जानकर अमृतत्त्व प्राप्त होता है वह अनादि ब्रह्म मेरा स्वरूप है। उसे सत् या असत नहीं कहा जा सकता। वह सर्वरूप, सर्वसे रहित, विभु, सबसे असंसक्त होनेपर भी सबका आधार—निमित्तोपादान, गुणभोक्ता होकर भी निर्गुण है। वह सर्वव्यापक, सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय, दूर और समीप भी है, सब भेदोंमें वह अभिन्न, अद्वय, सर्वावभासक, स्वतः प्रकाश, तमसके पार परम ज्योति, सबके हृदयमें स्थित ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञान गम्य भी है। इस प्रकार थोड़ेमें यह क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ एवं ज्ञानका वर्णन किया गया। मेरा भक्त इसे जानकर मेरे भावको प्राप्त होजाता है।

प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि समझो। सब विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। कार्य, करण-इन्द्रिय तथा कर्तृत्वका कारण प्रकृति कही जाती है। पुरुष केवल सुख-दुःख भोक्तृत्वमें कारण कहलाता है। यह पुरुष जीव प्रकृतिमें स्थित होकर प्रकृतिके गुणोंको भोगता है, यह गुणोंमें पुरुषकी आसक्ति ही जीवके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्मका कारण है।

इस शरीरमें ही जीवके कर्मोंका उपद्रष्टा, अनुमोदक, उसका पालक, भोक्ता, सर्वसमर्थ संचालक, परमात्मा कहा गया है। वह जीवसे परे है। इस प्रकार जो पुरुषको तथा गुणोंके साथ प्रकृतिको जान लेता है वह सर्वथा व्यवहार करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।

कुछ लोग ध्यान करके तथा कुछ विचार अथवा योग या निष्का कर्मयोगसे अपने स्वरूपको जानते हैं। कुछ लोग दूसरोंसे सुनकर वै भावना करते हैं। ये भावना करने वाले भी मृत्युको पार कर जाते हैं।

जितने भी चर-अचर प्राणी हैं वे क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञके योगसे ही उत्प हैं। इन सब प्राणियोंमें समान रूपसे स्थित, सबके नाश होते रहनेपर अविनाशी परमात्माको जो देखता है, वही ठीक देखता है। सर्वत्र सम रूपमें स्थित परमेश्वरको सर्वत्र देखने वाला अपनेको स्वयं परिच्छिन बनकर, मानकर मारता नहीं, अतः परमगति प्राप्त करता है।

सभी कर्म प्रकृति ही करती है। आत्मा अकर्ता है, यह जो देख है, वह सब पृथक्-पृथक् प्राणियोंमें एकत्वको देखता है। उसी एकका विस्तार है, यह देखता है तब ब्रह्मत्व प्राप्त करता है।

यह परमात्मा अनादि तथा निर्गुण होनेसे शरीरमें रहता हुआ भी कुछ करता, न कर्मसे लिप्त होता। यह अविनाशी है। यह सूर्यके सम एक होकर भी सब क्षेत्रोंका प्रकाशक है। इस प्रकार क्षेत्र क्षेत्रज्ञका अन्त प्राणियोंकी प्रकृति तथा उनका मोक्ष जाननेवाले परमतत्त्वको प्रा करते हैं।

प्रकृति माता है और मैं पिता हूँ। मेरे सान्निध्यसे प्रकृति चराच जगतको उत्पन्न करती है। सत्व, रज, तम ये प्रकृतिके तीन गुण हैं अविकारी जीवको शरीरमें बाँधते हैं। इनमें सत्वगुण निर्मल, प्रकाशक स्वस्थ है। यह सुख तथा ज्ञानमें अभिमान कराके बाँधता है। रजोगु रागात्मक है, यह तृष्णा तथा आसक्ति एवं कर्ममें रुचि उत्पन्न करता है तमोगुण अज्ञान तथा मोहमें डालने वाला होनेसे निद्रा, आलस्य, प्रमा उत्पन्न करता है।

ये गुण एकसाथ बढ़ते नहीं। इनमें एक प्रबल रहता है तो शेष द दब जाते हैं। सत्वगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु होनेपर स्वर्गादि पुण्यात्माओं उत्तमलोक रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेपर कर्मासक्त लोगोंके यहां जन्म औ तमोगुणकी वृद्धिमें मरनेपर वृक्षादि मूढ़ योनियां मिलती हैं।

पुण्य कर्मोंका निर्मल सात्विक फल, राजस कर्मोंका फल दुःख और तामस कर्मोंका फल अज्ञान हैं। सत्वगुणी उर्ध्व लोकोंमें, रजोगुणी मध्यके लोकमें और तमोगुणी अधोलोकोंमें जाते हैं।

जब यह दृष्टि प्राप्त होजाती है कि गुणोंके अतिरिक्त कोई कर्ता नहीं है तब पुरुष गुणातीत होकर मेरे भावको प्राप्त कर लेता है। देहसे उत्पन्न जन्म-मृत्यु जरा आदि दुःखोंसे विमुक्त होकर अमृतत्त्व उसे प्राप्त होता है जो तीनों गुणोंसे अतीत होचुका है।

अर्जुनने पूछा—'गुणातीत कैसे हुआ जाता है? वह कैसे रहता है? उसके चिह्न क्या हैं?'

भगवानने बतलाया—प्रकाश, प्रवृत्ति या मोहमें-से कोई आवे, रहे या चला जाय—इन सबसे उदासीन जो स्थित है, गुणोंसे जो विचलित नहीं होता, सुख-दुःखमें समान रहता है, लोहा-सोना-पत्थर जिसे समान है, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु सबके प्रति जो समान है, धीर है, तथा अपनी ओरसे जो कोई आरम्भ नहीं करता, वह गुणातीत कहा जाता है।

जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरी उपासना करता है वह इन गुणोंको पार करके ब्रह्मीभूत होजाता है क्योंकि अमृत, अव्यय, शाश्वत ब्रह्मकी, धर्मकी तथा ऐकान्तिक सुखकी मैं ही प्रतिष्ठा—आधार हूँ।

यह संसार वृक्ष ऊर्ध्वमूल, अधःशाख अव्यय है। वेद इसके पत्ते हैं। यह त्रिगुणोंसे बढ़ा है। कर्मके द्वारा ही इसका विस्तार बढ़ा है। इसका कोई सुनिश्चित रूप नहीं है। यह अनादि, अनन्त है किन्तु परिवर्तनशील है।

इस अतिशय दृढ़ मूल अश्वत्थको अनासक्तिके शस्त्रसे काटकर उस पदका अन्वेषण करना चाहिए जहाँ जाकर फिर संसारमें आना नहीं पड़ता। वह आदिपुरुष है और उसीसे यह सब प्रवृत्ति अनादिकालसे फैली है। मान, मोह तथा आसक्ति त्यागकर, कामनाओंसे रहित सदा अध्यात्ममें स्थित, सुख-दुःखके द्वन्द्वसे मुक्त ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी पदको प्राप्त करते हैं। वह स्वयं प्रकाश पद मेरा परमधाम है, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता।

जीव मेरा ही सनातन अंश है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन ये इसे प्रकृतिमें खींचकर लगाते हैं। इनको साथ लेकर ही यह एक शरीरसे दूसरेमें जाता है। इन इन्द्रियोंका आश्रय लेकर ही यह विषयोंका उपभोग करता है।

शरीरसे निकलते या शरीरमें स्थित गुणोंके साथ भोग भोगते अज्ञानी इसे नहीं देख पाते किन्तु ज्ञानसे देखा जा सकता है। योगी इसे प्रयत्न करके अपनेमें स्थित देख लेते हैं किन्तु प्रयत्न करके भी असंयत चित्त इसे नहीं देख सकते।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदिमें मेरा ही प्रकाश है। मैं ही सबका प्रकाशक, धारक एवं पोषक हूँ। सबके हृदयमें मैं अन्तर्यामी रूपसे स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति भी होती है। सब वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ और वेदोंको मैं ही जानता हूँ।

संसारमें दो पुरुष हैं—क्षर तथा अक्षर। इनमें क्षर विनाशी सब प्राणी हैं और इनमें जो कूटस्थ रूपसे स्थित है, वह अक्षर है। मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ। जो असंमूढ मुझे ऐसा पुरुषोत्तम जान लेता है, वही सर्वविद् है और सर्वभावसे मेरा भजन करता है।

दैवी सम्पत्तिके सद्गुण तथा आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करके आसुरी सम्पत्तिवान्‌के लक्षण भगवानने बतलाये। अन्तमें कह दिया कि आसुरी सम्पत्तिवाले मूर्ख बार-बार आसुरी योनियोंमें जन्म लेते हैं। मुझे प्राप्त न करके अन्तमें अधोगतिको ही प्राप्त करते हैं।

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों तमोद्वार हैं। इन तीनोंको छोड़ देनेपर ही मनुष्य अपने कल्याणका उपाय करके परमगति पा सकता है।

भगवानने शास्त्रीय विधिका त्याग करके कर्म करनेवालेको सिद्धि, सुख तथा परमगति नहीं मिलती, यह कहा तो अर्जुनने पूछ लिया—'जो शास्त्र-विधिका तो पालन नहीं करते किन्तु श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, वे सात्विक, राजस या तामस कौन-सी गति पाते हैं ?'

इसके उत्तरमें भगवानने सात्विक, राजस, तामस श्रद्धाका वर्णन किया। इसी क्रममें त्रिविध आहार, त्रिविध कर्ता, तीन प्रकारके भेदयुक्त यज्ञ, तप, दानका वर्णन किया।

अर्जुनने संन्यास तथा त्यागका तत्त्व जानना चाहा। भगवानने बतलाया कि काम्य कर्मोंका त्याग संन्यास है और सर्व कर्म फलका त्याग त्याग कहा गया है। यज्ञ, दान तथा तपका त्याग नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ये बुद्धिमान व्यक्तिको पवित्र करनेवाले हैं।

इसी विवरणमें सात्विक, राजस, तामस त्यागका वर्णन करके कहा कि देहधारी समस्त कर्मोंका स्वरूपतः त्याग कर ही नहीं सकता अतः कर्म-फलका त्याग ही श्रेष्ठ है।

शरीर, मन तथा वाणीसे उचित, अनुचित जो भी कर्म होता है उसमें पाँच कारण होते हैं—अधिष्ठान देह, कर्ता, इन्द्रियाँ, चेष्टा और प्रारब्ध। इसमें जो केवल अपनेको ही हेतु मानता है वह अज्ञानी है, दुर्बुद्धि है।

जिसमें 'मैंने किया' यह कर्तृत्वाभिमान नहीं है और बुद्धि कर्मसे लिप्त नहीं होती, वह समस्त लोकोंका वध कर दे तो भी हत्याका दोषी नहीं हाता।

सात्विक, राजस, तामस कर्ता तीनों प्रकारके कर्म, त्रिविध बुद्धि, त्रिविध धृति, त्रिविध सुखका वर्णन करके श्रीकृष्णने चारों वर्णोंके सहज स्वभावका वर्णन किया। अन्तमें कहा—अपने-अपने स्वभाव विहित कर्ममें लगकर ही मनुष्य अन्तःकरणको शुद्ध कर पाता है। अपने स्वधर्माचरणसे ही ईश्वरार्चन उचित है। अपना सदोष विगुण धर्म भी अपने लिए परधर्मसे अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि कर्म सभी सदोष ही होते हैं। सर्वथा निर्दोष कोई कर्म नहीं होता। अतः सर्वत्र अनासक्त बुद्धि रखकर इन्द्रियोंको वशमें रखकर, स्पृहा छोड़कर कर्म करनेसे परम नैष्कर्म्यकी सिद्धि प्राप्त होजाती है।

विशुद्ध बुद्धि युक्त होकर, धैर्यसे चित्तको संयमित करके, शब्द स्पर्शादि विषयोंमें राग-द्वेष त्याग दे, एकान्तमें रहे, थोड़ा आहार ले, मन, वाणी, शरीरको संयममें रखे, सदा वैराग्यवान होकर ध्यान करता रहे। इस प्रकार अहंकार, बलका दर्प, काम-क्रोध और परिग्रहको त्यागकर ममताहीन, शान्त होनेपर ब्रह्मभूत होता है।

ब्रह्मभूतका चित्त निर्मल होता है। वह न शोक करता, न कामना। समस्त प्राणियोंके प्रति समान होजाता है। तब मेरी परम भक्ति पाता है। उस भक्तिके द्वारा मेरा तत्त्व ज्ञान प्राप्त करके मुझमें ही प्रविष्ट होजाता है।

मेरे आश्रयमें रहकर जो सब कर्म करता है वह भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है। अतः चित्तसे सब कर्मोंका आश्रय त्यागकर मेरे परायण हो जाओ। बुद्धियोगका आश्रय लेकर सदा मुझमें चित्त लगाओ। मुझमें चित्त लगाये रहनेपर मेरी कृपासे समस्त संकटोंको पार कर जाओगे।

यदि अहंकारवश मेरी बात नहीं सुनोगे तो विनाश होगा। यह जो अहंकारवश मानते हो कि युद्ध नहीं करूँगा, यह उद्यम झूठा है। तुम्हारी प्रकृति तुम्हें युद्धमें लगावेगी ही। अपने पूर्वकृत कर्मसे बने स्वभावसे तुम भली प्रकार बँधे हो। अतः मोहवश जिसे नहीं करना चाहते हो, उसे विवश होकर करोगे।

ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर सबको यन्त्रपर चढ़ेकी भाँति अपनी मायासे चला रहा है। अतः सर्वभावसे उसीकी शरण लो। उसीकी कृपासे परम शान्ति और शाश्वत पद प्राप्त करोगे।

सबसे अधिक गोपनीय बात सुनो। यह मेरी परमवाणी है और तुम मेरे भक्त तथा सखा हो इसलिए तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ। वह अन्तर्यामी ईश्वर और कोई नहीं, मैं ही हूँ। मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरे लिए कर्म करो, मुझे नमस्कार। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम मुझे ही प्राप्त करोगे।

दूसरे सब धर्मोंका आश्रय लेकर त्याग कर केवल मेरी ही शरण लो। मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत करो।

श्रीकृष्णका यह परमोपदेश सुनकर अर्जुनने स्वीकार किया—'मेरा मोह नष्ट होगया। मुझे स्मृति प्राप्त होगयी आपकी कृपासे। अब मुझे कोई सन्देह नहीं है। मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

अर्जुन उठ खड़ा हुआ। उसने त्रोण बाँध लिये। गाण्डीव उठाकर रथके मुख्य भागमें आ गया। उसका उत्साह लौट आया था। उसके मुखपर पुनः कान्ति तथा युद्धोत्साह आ गया था। *

अण्डोंकी भी रक्षा

कुरुक्षेत्रकी उस रणभूमिमें जहाँ कौरव-पाण्डवोंकी सेनाएँ युद्धके लिए एकत्र हुई थीं, टिटिहरी (भार्दूल) पक्षीने अण्डे दे रखे थे। यह पक्षी भूमिपर, रेतमें अथवा घासपर यों ही अण्डे धर देता है। कोई पक्षी, पशु या मनुष्य इसके अण्डोंके समीप पहुँचे तो बहुत चिल्लाता है। उसके ऊपर, आसपास उड़ता है और कौओंपर तो आक्रमण करके उन्हें भगा भी देता है।

इतनी विशाल सेनाएँ एकत्र हुईं। असंख्य गज, अश्व, पैदल, रथ आये। इनके अपार कोलाहलमें दो पक्षी भी व्याकुल चिल्लाते घूमते, उड़ते हैं—इसकी ओर किसीका भी ध्यान भला क्यों जाता। यही दैवकी

---

* श्रीमद्भगवद्गीता भगवानकी परम-वाणी है। उसके बहुत अधिक भाष्य, टीकाएँ और व्याख्याएँ हुई हैं, हो रही हैं। आचार्योंने तथा शास्त्र के अत्यन्त गम्भीर विद्वानोंने ये भाष्य तथा टीकाएँ की हैं। इतनेपर भी गीताका सम्पूर्ण भाव उनमें आ गया—यह दावा किसीका नहीं है।

भगवान अनन्त हैं। वे ज्ञान घन हैं। उनकी वाणी अनन्त है। उस वाणीकी अनन्त व्याख्या सम्भव हैं; किन्तु गीताका ठीक स्वाध्याय उसके मूल रूपमें ही उचित है।

मैंने यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त गीताका सारांश बहुत हिचकते हुए दिया है क्योंकि जगद्गुरु पार्थ-सारथिके चरितमें उनका प्रधान उपदेश संक्षिप्त रूपमें भी न देना उचित नहीं लगता था। इसका कुछ भी उपयोग हो तो उत्तम ही है।

कम कृपा नहीं थी कि अबतक उनके अण्डे किसी प्राणीके पदके अथवा पहियेके नीचे आकर फूट नहीं गये थे। उस मिट्टीके रंगसे मिलते कुछ भूरे अण्डोंको देखनेका अवकाश किसे था। वे मनुष्यके पैरके नीचे भी आ जाते तो वह उनके लिए पश्चात्ताप करनेवाला नहीं था। जहाँ लोग स्वयं ही मरने या मारने आये हैं, वहाँ इतनी तुच्छ बातोंपर ध्यान नहीं दिया जा सकता।

मनुष्य अपनी चिन्तामें, अपने गर्वमें भले नन्हें प्राणियोंकी उपेक्षा कर दे किन्तु उन प्राणियोंमें भी तो अपने अण्डे, अपने शिशुओंका उतना ही मोह, उतनी ही प्रियता होती है जितनी मनुष्यकी अपने तथा अपनोंके प्रति। किसी सम्राटके लिए अपना शिशु युवराज जितना ममतास्पद तथा महत्वपूर्ण है, किसी पक्षीके लिए अपने अण्डे उससे कम प्रिय तथा महत्त्व-पूर्ण तो नहीं हैं।

वह टिटिहरीका जोड़ा—बहुत अल्प शक्ति, दुर्बल पक्षी है यह। इतनी बड़ी भीड़-भाड़में वह व्याकुल चिल्लाता उड़ता रह सकता था। उसे अपने रहने, रात्रि विश्रामके लिए भी दूर जाना पड़ता था किन्तु अण्डोंका मोह उन्हें फिर-फिर खींच लाता था।

सेनाएँ व्यूहबद्ध खड़ी होगयीं। शंखों और वाद्योंका गगनभेदी निनाद गूँजने लगा तो दोनों पक्षी भयके कारण दूर, बहुत दूर चले गये किन्तु उनके अण्डे—यह मोह कहीं उन्हें बैठने नहीं देता। वे फिर लौटे तो वहाँ थोड़ी शान्ति होगयी थी। अर्जुनका नन्दिघोष रथ दोनों सेनाओंके मध्य खड़ा होगया था और उसके नव जलधर सुन्दर सारथि अपने सखासे कुछ कह रहे थे। पक्षियोंको अपने अण्डोंके समीप उतरनेका एकबार और संभवतः अन्तिम बार अवकाश मिला।

सहसा यह शान्ति फिर भंग होगयी। शंख, वाद्य, लोगोंका जयघोष, वाणोंकी सनसनाहट, शतघ्नियोंका भयंकर गर्जन—यह सब प्रारम्भ होते ही वे बेचारे अल्पप्राण पक्षी भयके मारे चिल्लाते हुए उड़े।

यह ठीक है कि केवल मनुष्य योनि ही कर्म योनि है और इसीमें साधनका श्रीगणेश संभव है किन्तु मनुष्यके कर्म ही जब समस्त भोग योनियोंमें जीवको ले जाते हैं तो कौन कह सकता है कि कोई पथ भ्रान्त साधक शरीर त्यागकर अमुक योनिमें नहीं जा सकता और साधन तो

शरीर-नाशमे समाप्त नहीं होता। उलटे मृत्यु साधनमें बाधा डालनेवाले अपकर्मोंके संस्कारको संचितके संग्रहमें डालकर जीवके पथको ही प्रशस्त करती है। पूर्वजन्मके किन्हीं सत्कर्मोंसे, भगवद्भजनके प्रभावसे उन पक्षियोंके अन्तःकरणमें भी उस विपत्तिजन्य व्याकुलताने भगवत्स्मृतिका उदय कर दिया।

वे दोनों पक्षी उस वानरध्वज रथके ऊपर मंडराते कई क्षण चीखते रहे प्राण भयसे उस समर भूमिसे भाग जानेके पूर्व—'बचा लो! सर्व समर्थ, सर्वाधार, सर्वाश्रय! अनाथनाथ! अशरण शरण! हम अनाथ, असहाय पक्षियोंके अण्डोंको बचा लो! उनकी रक्षा कर लो कृपा सिन्धु! तुम्हीं, केवल तुम्हीं इस विपत्तिके मुख फाड़कर आ पहुँचे महादानवसे उन निश्चेष्ट, निरुपाय, सुकुमार अण्डोंकी रक्षा कर सकते हो।'

पक्षियोंने नन्दिघोष रथकी परिक्रमा की और प्राण भयसे भाग गये। उन्हें युद्धके पूरे अठारह दिन वहाँ फिर लौटनेका अवसर नहीं मिलना था। उन्हें पता भी नहीं लगना था कि उनकी प्रार्थनाका कोई परिणाम हुआ भी या नहीं। उनको तो वहाँ से निराश ही जाना था और वे चले गये। केवल रात्रिमें प्रातःके धुँधलकेमें वे एकाधबार आ सकते थे; किन्तु अब उन्हें अपने अण्डे वहाँ देखनेको मिलें, यह संभव नहीं था।

जो सर्वेश्वरेश्वर है, सर्वाधार, सबका पालक है उसके लिए क्षुद्रतम प्राणी भी कभी उपेक्षणीय कैसे हो सकता है। वह सृष्टिकर्ताका श्रुति-सूक्तोंसे किया गया स्तवन जितनी सावधानीसे सुनता है, उतनी ही सावधानी, सुहृदयतासे अत्यल्प कीटकी अलक्षित किट-किट न सुन सके तो सर्वात्मा, सवाश्रय कैसा। उस नन्दिघोष रथके मयूर मुकुटी, पीताम्बर परिधान, नवघन सुन्दर सारथिमें जितनी सावधानी अर्जुनकी रक्षा एवं रथ संचालनके प्रति थी, पक्षियोंकी क्रन्दन ध्वनि सुननेमें भी उसके श्रवण उससे कम सतर्क नहीं थे। उसने तनिक दृष्टि उठाकर उन पक्षियोंकी ओर देख लिया था। उसकी यह दृष्टि ही जीवके लिए अनन्त आश्वासन है।

कोई आर्त होकर—विपत्तिमें पड़नेपर भी उस परमाश्रयको न पुकारे—यह उस जीवका अभाग्य, क्योंकि उसका स्वभाव ही यह है कि वह स्वरूपतः निर्गुण है। बिना पुकारे स्वयं उसे कुछ करनेकी नहीं सूझती

किन्तु कोई प्राणी व्याकुल होकर पुकारे और वह वासुदेव न सुने; सम्भव नहीं है। वह किसीकी आर्त-प्राणोंकी पुकार सुनकर रक्षाकी व्यवस्था न करे-यह भी असम्भव हैं। वह सबका अपना है। अनन्तकरुणा वरुणालय है और सर्वसमर्थ है। उसके सुदीर्घबाहु सहायताको न पहुँच सकें, ऐसा स्थान तो सृष्टिमें कहीं है ही नहीं।

युद्ध प्रारम्भ होगया। अर्जुनका धनुष मृत्युवर्षा कर रहा था। श्रीकृष्णके कर, नेत्र सब अत्यन्त व्यस्त थे। सहसा भगदत्तका महागज सम्मुख दौड़ता आता दीख पड़ा। जनार्दनने कहा—'अर्जुन सावधान! गजके कण्ठमें लटकती स्वर्ण श्रृंखलाको लक्ष्य करो। वाम घण्ट काट दो।'

सव्यसाचीके लिए इतना पर्याप्त था। उस समय 'क्यों' पूछनेका अवकाश नहीं था। गाण्डीवसे तत्काल वाण छूटा और श्रृंखला कटते वाम घण्ट कटकर धप्से भूमिपर गिर पड़ा। उस विशाल स्वर्ण घण्टके नीचे पक्षीके अण्डे सुरक्षित होगये। जो इतनी व्यवस्था कर सकता है उसके लिए यह कहाँ कठिन है कि अण्डे फोड़कर शावक युद्धान्तमें निकलें और तब किसी पशुकी ठोकरसे वह घण्ट हट जाय। उसी समय पक्षी आकर अपने शावकको सम्हाल लें। शरणागत रक्षक सदा सावधान है, चिन्ता कैसी।



प्रण-भंग

प्रथम दिनके युद्धमें पाण्डव सेनाको पीछे हटा लेना पड़ा। पितामह भीष्मका ऐसा प्रचण्ड पराक्रम प्रकट हुआ उस दिन कि दुर्योधन प्रसन्न होगया। धर्मराज युधिष्ठिर घबड़ा गये। सब भाइयों और सहायक राजाओंके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके समीप जाकर वे भीष्मको अजेय बतलाते हुए बोले— 'महान तेजस्वी भीष्मको जीतना असम्भव है। भीष्म रूपी अगाध जलमें तो नावके बिना डूब रहा हूँ। इन राजाओंको मैं भीष्म रूपी कालके मुखमें नहीं डालना चाहता। मैं वनमें जाकर तप करके जीवन काट दूंगा,

इन मित्रोंको मरने नहीं दूँगा। भीष्मने प्रथम दिन ही मेरे बहुतसे महारथियों तथा सहस्रों योधाओंको मार दिया है। अब आप ही बतलाओ कि हमारा हित क्या करनेसे होगा।'

श्रीकृष्णचन्द्रने चिन्तित शोक संतप्त राजा युधिष्ठिरको आश्वासन दिया—'आपको इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए। आपके भाई शूरवीर तथा विश्वविख्यात धनुर्धर हैं। आपके सहायक भी प्रख्यात महारथी हैं। युद्धमें तात्कालिक विजय-पराजयका महत्त्व नहीं है।

इस बैठकमें ही यह निश्चय होगया कि पाण्डव सेना क्रौंचव्यूह बनायेगी। अर्जुन सबसे आगे रखे गये। कौरव सेनाने भी विशाल व्यूह बनाया। दूसरे दिनके युद्धमें भीष्मके प्रबल आघातसे पाण्डव सेनाका व्यूह छिन्न-भिन्न होगया। सेना इधर-उधर भागने लगी। तब अर्जुनके कहनेसे श्रीकृष्ण रथको भीष्मके सम्मुख ले आये। अर्जुन और भीष्मका युद्ध अतिशय भयंकर था।

युद्धका यह क्रम चलता रहा। दूसरे और तीसरे दिन भी पाण्डव पक्ष प्रबल पड़ता गया। तीसरे दिनका युद्ध समाप्त होनेसे पूर्व ही दुर्योधन अपनी पराजित भागती सेनाको देखकर दुःखी भीष्मके पास जाकर बोला—'पितामह! आप, आचार्य द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्यके उपस्थित रहते हमारी सेना इस प्रकार भागनेको विवश हो, यह आपलोगोंके लिए गौरवकी बात नहीं है। मैं मान नहीं सकता कि पाण्डव आपलोगोंके समान शूर हैं। अवश्य आपकी उनपर कृपा दृष्टि है, तभी हमारी सेना मारी जा रही है, और आप उन्हें क्षमा कर रहे हैं। यदि यही बात थी तो आप मुझे पहिले ही बतला देते कि आप पाण्डवोंसे युद्ध नहीं करेंगे। तब मैं कर्णके साथ अपने कर्तव्यपर विचार कर लेता। यदि इस संकटके समय आपलोग मुझे त्यागने योग्य न समझते हों तो अपने पराक्रमके अनुरूप युद्ध करें।'

भीष्म पितामहके नेत्र लाल होगये। वे क्रोधसे अट्टहास करके बोले —'मैंने अनेक-अनेक बार तुमसे कहा है कि इन्द्रके साथ सब देवता मिलकर भी पाण्डवोंको युद्धमें जीत नहीं सकते। अब मैं वृद्ध होचुका हूँ किन्तु आज यदि श्रीकृष्णने प्रण-भंग करके शस्त्र न उठाया तो मैं अकेला पाण्डवोंको पराजित कर दूंगा।'

दुर्योधन प्रसन्न होगया। उसने उसी समय शंख अधरोंसे ल
और उस संकेतपर सेनामें विजयोत्साह-सूचक वाद्य बजने लगे। एक परा
होकर भागती सेनाका यह उत्साह वाद्य पाण्डवोंने भी सुना। वे
होगये।

तीसरे दिनके दूसरे प्रहरका समय था। विजयी पाण्डव प्रसन्न हो
थे। सहसा कौरव सेना लौट पड़ी। अत्यन्त भयकर संग्राम प्रारम्भ होग
भीष्मने इस समय जो पराक्रम प्रकट किया, वह कल्पनासे परे है।
इतने वेगसे युद्धभूमिमें विचरण करने लगे कि लगा मानो अनेक रूप उन्
बना लिये हो। युद्धमें सर्वत्र वे ही दीखने लगे। पाण्डव पक्षमें हाहाका
मच गया। भीष्मके धनुषसे असख्य वाण छूट रहे थे। सहस्र-सहस्र
मरकर गिरने लगे, पाण्डव सेना इधर-उधर भागने लगी।

श्रीकृष्णने अर्जुनको उत्साहित किया—'अब समय आ गया है कि
उत्साह प्रकट करो। तुमने भीष्म, द्रोणादिको मारनेकी सबके सा
प्रतिज्ञा की है। उसे सत्य करो। अपनी भागनी सेनाको भीष्मका वेग रो
कर बचाओ। मोहवश शिथिलताका त्याग नहीं करोगे तो प्राणोंपर
बनेगी।'

अर्जुनने भीष्मके सम्मुख रथ पहुँचानेको कह दिया किन्तु पितामह
प्रहार करनेके लिए वह अन्तःकरणसे उद्यत नहीं था। भीष्मने
प्रतिज्ञा कर रखी थी—'आज श्रीकृष्णको प्रण-भंग करके शस्त्र उठाने
विवश न करदूँ तो माता गंगाकी कुक्षि लज्जित हो और मैं अपने पि
शान्तनुका पुत्र नहीं।'

अर्जुनने भीष्मकी वाण वर्षाका उचित उत्तर दिया। उनके धनुष
काट दिये, किन्तु पितामह आज अत्यन्त प्रचण्ड होरहे थे। उन्होंने अ
तथा श्रीकृष्णको भी आहत कर दिया। पाण्डव सेना उनकी मारसे व्या
होकर भागने लगी। अकेले सात्यकि अर्जुनकी सहायतामें खड़े थे। उन्
भागते लोगोंको ललकारा—'युद्धमें भागना क्षत्रियका धर्म नहीं है।
धर्मका पालन करो। कायर मत बनो।'

अर्जुन शिथिल होरहे थे। वे केवल प्रतिकारका प्रयत्न कर रहे
पितामहपर प्रहार वे अब नहीं कर रहे थे। यह देखकर श्रीकृष्ण क्रुद्ध
उठे। उन्होंने सात्यकिसे कहा—'महावीर सात्यकि! जो भाग रहे हैं,

भाग जानेदो। जो खड़े हैं, वे भी चाहें तो चले जायें। मैं इनमें किसीका भरोसा नहीं करता। तुमधन्य हो! तुम्हारा शौर्य श्लाघ्य है, किन्तु अब तुम भी देखो! मैं भीष्म और द्रोण को मार दूँगा। कोई कौरव महारथी मेरे हाथ-से बच नहीं सकता। आज ही कौरवोंका संहार करके मैं अजातशत्रु युधिष्ठिर-का अभिषेक करूँगा।'

श्रीकृष्णने अश्वोंको रश्मि छोड़ दी और अपना अमोघ सुदर्शनचक्र उठाये रथसे कूद पड़े। सहस्र-सहस्र सूर्योंके समान वह प्रकाशघन महाचक्र घूम रहा था। परात्पर परमतत्त्वके दौड़नेके वेगसे धरा काँपने लगी। दोनों ही पक्षके लोगोंके नेत्र उस प्रचण्ड तेजसे बन्द होगये। भयके कारण अस्त्र-शस्त्र हाथोंसे छूट गये। गज, अश्व चीत्कार करते भाग खड़े हुए। सर्वत्र लोग हाथ उठाकर हा-हाकार करने लगे। शरीर स्वेद लथपथ कांपने लगे। किसीको कुछ सूझता नहीं था। भयके कारण पूरी सेना स्तब्ध जड़ बनगयी। ऐसे हो गये लोग जैसे उनके शरीरमें रक्त ही न रह गया हो।

घनश्याम श्रीअंगपर स्थान-स्थानपर शराघातके व्रण और उनसे झलकता रक्त। स्वेदके बिन्दु मुख और भालपर। अरुण नेत्र, क्रोधसे लाल मुख, प्रलयंकर चक्र घर्र-घर्र उठे करमें घूम रहा। पीतपट फहरा रहा और श्रीकृष्ण दौड़ रहे—दौड़ते जा रहे हैं भीष्मके रथकी ओर।

युद्धभूमि है—शवोंसे, शस्त्र खण्डों से पटी संग्राम भूमि रक्तकी कीचसे सनी और उसमें बिना नीचे देखे पद्मारुण सुकुमार चरण श्रीकृष्ण दौड़ रहे हैं। उनके प्रत्येक पदाघातसे पृथ्वी काँप रही है। भूकम्प आ रहा है। जैसे विदीर्ण होकर धरा खण्ड-खण्ड होजायेगी।

क्रुद्ध कैटभारिकी भयंकर भृकुटिकी ओर देख सके इतना साहस महा-कालमें भी नहीं, इस समय शत्रु सैनिक ही नहीं, साक्षात् मृत्युको भी पता है कि सम्मुख जानेपर सुदर्शनकी महाज्वाला रूईके समान भस्म कर देगी। लोग भयसे काँप रहे हैं। कातर कण्ठसे कोई स्पष्ट पुकार भी नहीं उठती। भीष्मके बचावके प्रयत्नकी बात व्यर्थ किसी को भी अपने ही प्राण बचेंगे, इसका विश्वास नहीं रहा। सबके हृदय धक्‌से रह गये—'श्रीकृष्णने प्रण भंग करके चक्र उठा लिया! अब भला क्या आशा!'

केवल एक व्यक्ति स्वस्थ थे। और सीधे ही देख रहे थे—भीष्म! निर्भय थे जिन भीष्म के ऊपर क्रुद्ध होकर श्रीकृष्णचन्द्र चक्र उठाये उन्हींको

ओर दौड़े जा रहे थे वे निर्भय धनुष उठाये , उसकी प्रत्यञ्चाकी टंकार करते हर्ष विह्वल स्वरमें बोल रहे थे—

'भक्तवत्सल भगवानकी जय हो ! प्रणत प्रणपाल पुरुषोत्तमकी जय हो ! पधारो चक्रपाणि प्रभु ! आप आओ और अपने चक्रसे इस दुर्विनीतका मस्तक काटकर इसे धन्य कर दो ! आओ और आज अपने हाथसे मारकर भीष्मको सदाके लिए भव-भ्रमणसे मुक्त कर दो। स्वयं मुझे मारने आकर आपने मुझे त्रिभुवनमें गौरवान्वित कर दिया। आपके हाथों मारा जाकर मैं परमपावन होजाऊँगा। मुझे मार गिराओ मेरे माधव !'

भीष्म स्तवन कर रहे थे। उनके शरीरमें रोमांच होरहा था। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा झर रही थी और श्रीकृष्ण क्रोधसे अरुण सुकुमार अधरोंको दांतोंसे दबाये , पीताम्बर फहराते चक्र उठाये दौड़े आ रहे थे।

यह क्या था ? कोई पूछे कि आपको इससे पूर्व भी कभी चक्र उठाकर दौड़ना पड़ा है ? चक्र भी कोई तलवार है कि उससे पास जाकर प्रहार करना आवश्यक हो। चक्र तो जहाँ आप हैं, वहींसे चलाया जानेवाला अस्त्र है। जब चक्र ही उठा लिया तो फिर यह दौड़ना क्यों ? इस दौड़नेका क्या अर्थ ?

इस दौड़नेका अर्थ है। इसका अर्थ है कि चक्र चलाना नहीं है। चक्र उठाये दौड़ते श्रीकृष्ण सबको दिखला रहे हैं—'सब देखो ! कोई धोखेमें मत रहो। मेरा भक्त बड़ा है, भगवान बड़ा नहीं है। भक्त प्रतिज्ञा कर लेता है तो रथपर बैठे-बैठे उसकी प्रतिज्ञा पूरी होजाती है। उसे पूरी करनेके लिए उसे वाहनसे नीचे भी नहीं उतरना पड़ता। उसके सम्मुख , उसके विरुद्ध प्रतिज्ञा पड़े भगवानकी भी तो वह प्रतिज्ञा टूटती है। वाहन त्यागकर , पैदल दौड़कर भी भगवान अपनी प्रतिज्ञा नहीं बचा पाता। भक्तकी प्रतिज्ञाकी रक्षा अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भी कैसे कृष्ण करता है, इसे सब लोग स्पष्ट देख लें।'

'यह क्या हुआ ? मेरे शैथिल्यने श्रीकृष्णको अपने प्रण-भंगपर विवश किया।' अर्जुनने दौड़ते चक्र उठाये श्रीकृष्णको देखा तो रथसे कूदकर दौड़े। पीछेसे जाकर उन्होंने सखाकी दोनों भुजाएँ पकड़ लीं ; किन्तु उनके पकड़नेपर भी वासुदेव रुके नहीं। वे अर्जुनको घसीटते हुए आगे बढ़ने लगे। अब अर्जुनने भुजाएं छोड़ दीं और आगे आकर पैरोंमें पड़ गये।

दोनों पैर बलपूर्वक पकड़ लिये। दसवें पद तक पहुँचते-पहुँचते किसी प्रकार वे श्रीकृष्णको रोक सके।

'केशव! अपना क्रोध आप शान्त करें।' अर्जुनने कातर कण्ठसे कहा—'आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दें, यह मेरे लिए अत्यन्त लज्जाकी बात है। मैं भाइयों और पुत्रोंकी शपथ करके कहता हूँ कि अब सच्चे मनसे युद्ध करूँगा।'

श्रीकृष्णचन्द्रने चक्र उठाया था, क्रोधसे नेत्र लाल कर लिये थे, भृकुटि कठोर होगयी थी। वे हुंकार करते दौड़ रहे थे किन्तु भीष्मकी ओर उन्होंने अबतक देखा नहीं था। वे केवल सामने गगनमें ही देखते बढ़े जा रहे थे। अर्जुनकी बात सुनकर शान्त हुए। सामने भीष्मपर दृष्टि पड़ते ही चक्रकी ज्वाला शीतल होगयी। चक्र किसी भक्तके दृष्टि पथमें आते तो प्रचण्ड रह नहीं सकता। श्रीकृष्णके मुखारविन्दपर भी स्मित आ गया। वे लौटे और रथपर बैठ गये। रथ रश्मि उन्होंने हाथोंमें ले ली।

कौरवोंके प्रारब्धमें इसदिन भी पराजय ही थी। धनंजय पूरे उत्साहमें आ गये थे। अब कौन उनके सम्मुख रुकता। उन्होंने माहेन्द्रास्त्रका प्रयोग किया और शत्रु सेना समाप्त ही हो जाती यदि सूर्यास्त होनेसे युद्ध विरमित न होगया होता।

द्रौपदी भीष्म-शिविरमें

चतुर्थ दिवसका युद्ध भी कोई उत्साह कौरवोंको नहीं दे सका। भीमसेनने धृतराष्ट्रके अनेक पुत्रोंको मार दिया था और घटोत्कचके पराक्रमसे तो महासेनापति भीष्म भी आतंकित होउठे थे। उन्होंने उसे अजेय समझकर सूर्यास्तसे कुछ पहिले ही युद्ध बन्द करनेकी घोषणा करके अपने पक्षको बचाया।

दुर्योधन इस पराजयसे खिन्न होकर रात्रिके समय भीष्मके समीप गया और उसने पूछा—'पितामह मैं समझता हूँ कि आप, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा प्रभृति महारथी मिलकर तीनों लोकोंको संग्राममें पराजित कर सकते हैं किन्तु पाण्डवोंके पराक्रमके सम्मुख आप सब भी टिक नहीं पा रहे हैं, इसका कारण क्या है? पाण्डवोंमें ऐसी क्या विशेषता है?'

भीष्म पितामह स्वस्थ बैठ गये। उन्होंने कहा—'सुयोधन! अनेक बार अनेक सम्मान्य ऋषियोंने तुम्हें वह कारण सुनाया है; किन्तु तुमने ध्यान ही नहीं दिया। पूर्वकालमें गन्धमादन पर्वतपर भगवान ब्रह्माकी सेवामें एकबार सब देवता तथा मुनिगण उपस्थित थे। उसी समय वहाँ एक तेजोमय विमान आया। उस विमानसे साक्षात् नारायण आये थे। सृष्टिकर्ताने खड़े होकर सबके साथ उनका स्वागत किया। प्रणाम करके पूजन किया, स्तुति करके उनसे भूभार-हरणार्थ धरापर अवतीर्ण होनेकी प्रार्थना की। भगवानने वह प्रार्थना स्वीकार कर ली और अन्तर्हित होगये।

वही परमब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुए हैं और अर्जुन उनके अभिन्न सखा नर हैं। मैंने भगवान परशुराम, देवर्षि नारद तथा व्यासजीसे भी यह सुना है। अतः श्रीकृष्ण तो सभीके पूजनीय हैं। वे सनातन, अविनाशी, सर्वलोकमय, नित्य, जगदीश्वर, जगद्धर्ता, अविकारी हैं। मैंने तुम्हें पहिले भी युद्ध करनेसे रोका था। जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, जय वहीं रहती है। अतः पाण्डवोंकी विजय निश्चित है।'

दुर्योधनने उसदिन पूछ लिया—'ये वसुदेवपुत्र सम्पूर्ण लोकोंमें महान कहे जाते हैं। मैं इनकी उत्पत्ति स्थितिके विषयमें जानना चाहता हूँ।'

भीष्म जैसे भक्तको तो भगवद् गुणगानका निमित्त मिलना चाहिए। वे प्रसन्न होकर बोले—'भगवान वासुदेव देवताओंके भी देवता हैं। कमल लोचन श्रीकृष्णसे बड़ा कोई नहीं है। वे पुरुषोत्तम सर्वभूतमय हैं। वे ही सबकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। देश, काल तथा वस्तु मात्रकी उन्होंने ही कल्पना की है। नृसिंह, वाराह, त्रिविक्रमादि अवतार इन्होंने ही लिया है। ये सम्पूर्ण भूतोंके आश्रय हैं। मुनिजन इन्हें हृषीकेश कहते हैं। इनका पूजन, ध्यान, स्मरण करनेवाला परमपद पाता है। वे

जिसपर प्रसन्न हैं, उसने अक्षय लोक जीत लिये हैं। श्रीकृष्णकी शरण लेनेवाला सब भयोंसे सुरक्षित रहता है तथा सुख पाता है।

'देवर्षि नारद, मार्कण्डेय मुनि, महर्षि भृगु, भगवान व्यास, अंगिराजी, देवल, असित प्रभृति महामुनि, महर्षिगण श्रीकृष्णको सर्व-कारण कारण, सर्वलोकेश्वरेश्वर, परमब्रह्म कहकर उनकी स्तुति करते हैं। ब्रह्माजोके पुत्र सनत्कुमारादि इन भगवान पुरुषोत्तमका सदा पूजन-स्तवन करते हैं।

अन्तमें भीष्मने कहा—'श्रीकृष्णकी महिमाका पार नहीं है। मैंने उनका तथा अर्जुनका वास्तविक स्वरूप तुम्हें बतला दिया। ये युद्धमें अजेय तथा अवध्य हैं। दूसरे भी पाण्डवोंपर श्रीकृष्णका अनुराग है, अतः वे किसीके द्वारा मारे नहीं जा सकते। तुम पाण्डवोंसे सन्धि करके अपने भाइयोंके साथ सुखपूर्वक अब भी राज्य भाग सकते हो।'

यह बात दुर्योधनके गले उतर नहीं सकती थी। वह वहाँसे चुपचाप उठकर अपने शिविरमें चला आया। युद्धको बन्द नहीं होना था, नहीं हुआ। पाँचवे दिन भी युद्धका पलड़ा पाण्डवोंके पक्षमें ही भारी रहा। छठवें दिन भी यही हुआ और सातवें दिन भी यही हुआ। सातवें दिन यद्यपि अर्जुनका पुत्र इरावान मारा गया; किन्तु धृतराष्ट्रके आठ पुत्र और शकुनिके सब भाई खेत रहे। घटोत्कचके आक्रमणसे दुर्योधनकी प्राण रक्षा बड़ी कठिनाईसे हुई। आठवे दिन भी भीमसेनने दुर्योधनके अनेक भाइयोंको यमलोक भेज दिया।

यद्यपि भीष्म अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार प्रतिदिन प्रतिपक्षके दस सहस्र शूर मार देते थे किन्तु अर्जुन, भीमसेन, घटोत्कच आदिके द्वारा कौरवपक्षका संहार इससे कई गुना अधिक होरहा था। इस संहार तथा अपने भाइयोंके मारे जानेसे व्याकुल दुर्योधनने कर्णसे मन्त्रणा की और रात्रिमें महासेनापति भीष्मके समीप जाकर बोला—'पितामह! आपका आश्रय पाकर हम सुरेन्द्र सहित समस्त सुरोंको जीत लेनेकी आशा रखते हैं, फिर पाण्डवोंकी तो गणना ही क्या है, किन्तु यदि पाण्डवोंपर दया तथा प्रेमके कारण और मेरे प्रति मेरे मन्दभाग्यसे द्वेषके कारण आप पाण्डवोंकी रक्षा कर रहे हो तो अपने स्थानपर कर्णको युद्ध करनेकी आज्ञा दें। वह अवश्य उन्हें परास्त कर देगा।'

दुर्योधनने हाथ जोड़कर, नेत्रोंसे अश्रु गिराते हुए बहुत व्याकुल होकर विनम्रतासे यह बात कही थी। उसकी व्यथा, निराशा स्पष्ट थी। लेकिन उसके वचन वाणके समान थे। उनसे दुःखित होकर पितामह कुछ देर मौन बने रहे। वे लम्बी श्वास लेते रहे। उनके जैसे सम्मानित शूरको सेनापतित्व त्यागकर यह भार दूसरेको देनेको कहा गया था। इसका अर्थ था कि वे अपनी असमर्थता, असफलता, पराजय स्वयं स्वीकार कर लें और वह भी कर्णके सम्मुख, जिसे वे सदा सूतपुत्र, अर्धरथी कहकर तिरस्कृत करते आये हैं।

भीष्म बोले तो उन्होंने पहिले दुर्योधनको झिड़की दी—'तुम भूल जाते हो कि अकेले अर्जुनने इन्द्रको परास्त करके खाण्डववन अग्निको भेंट कर दिया है। कहाँ गया था कर्णका पौरुष जब गन्धर्वोंने तुम्हें बन्दी बना लिया था। विराट्नगरके युद्धमें ही तुम सबके साथ कर्ण था और अर्जुनसे हारकर भाग खड़ा हुआ था। तुमसे कईबार मैंने कहा, देवर्षि नारदने कहा कि श्रीकृष्ण स्वयं सनातन परमात्मा हैं। उनसे संरक्षित अर्जुन अजेय है; किन्तु तुम मोहवश कुछ समझते ही नहीं हो।'

दुर्योधन मस्तक झुकाये पितामहकी झिड़की सुनता रहा। अन्तमें भीष्मने अपने त्रोणमेंसे पाँच वाण निकाले और एकबार ऊपर देखकर बोले—'सुनो! शिखण्डी पहिले स्त्रीके रूपमें उत्पन्न हुआ था। वरदानके प्रभावसे पीछे भले पुरुष होगया, मेरी दृष्टिमें वह स्त्री ही है। मेरे प्राणोंपर आ बने तो भी मैं उसपर हाथ नहीं उठाऊंगा। उसे तुमलोग मुझसे दूर रख सको तो कलके युद्धकी चर्चा कल्पान्त तक पृथ्वीपर होगी। कल मैं सोमक तथा पांचाल वीरोंके साथ इन वाणोंसे पाण्डवोंका वध कर दूंगा।'

'यदि ऐसा न हो सका तो?' सहसा दुर्योधनके मुखसे निकल गया। भीष्म पितामहकी प्रतिज्ञा सुनकर वह अत्यन्त उत्साहावेशमें आ गया था और उस प्रतिज्ञाको पुनः पुष्ट करा लेना चाहता था।

'भीष्मकी प्रतिज्ञापर भी सन्देह?' पितामहका आवेश शान्त हो गया। वे बहुत शान्त शिथिल स्वरमें बोले—'सुयोधन! यह सन्देह कहता है कि श्रीकृष्णका विधान कुछ और है। उनके विधानको कोई अन्यथा नहीं कर सकता। ऐसा न होता तो तुम्हारे मनमें मेरी प्रतिज्ञाके सम्बन्धमें भला सन्देह उठता। मैं प्रतिज्ञामें अपवाद स्वीकार करता हूँ। यदि ऐसा न हो

सका तो स्वयं श्रीकृष्णको कल फिर अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ेगी और पाण्डवोंकी रक्षाके लिए अधिक सचिन्त होना पड़ेगा। अब तुम जाओ।'

दुर्योधन बहुत उत्साहित होकर लौटा। उसने अपनी सेनामें सर्वत्र घोषणा करा दी—'पितामहने कल पाँचों पाण्डवोंको मार देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है।'

दुर्योधनने प्रतिज्ञामें जो अपवाद पितामहने स्वीकार किया था, उसकी किसीसे चर्चा नहीं की। वह प्रतिज्ञाको पुष्ट कर देना चाहता था। उसकी सेनामें सर्वत्र उत्साह छा गया। सब एक दूसरे से इसी प्रतिज्ञाकी चर्चा करने लगे। लेकिन भीष्मको इस प्रचारका कोई पता नहीं था। वे आवेशमें प्रतिज्ञा तो कर गये थे; किन्तु स्वयं उससे अत्यन्त दुःखी हुए। अपवाद स्वीकार करके मानो उन्होंने अपने आपको ही वरदान दिया था। दुर्योधनके जाते ही वे ध्यान करने बैठ गये और श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए मन ही मन प्रार्थना करने लगे—'भक्तवत्सल! दयामय! पाण्डवोंकी रक्षा तो आप करोगे ही। इस अपने धृष्ट सेवककी इस धृष्टताको क्षमा कर देना मेरे परमोदार स्वामी!'

दुर्योधनके द्वारा प्रचारित पितामह भीष्मकी प्रतिज्ञाका समाचार गुप्तचरोंने पाण्डव-शिविरमें भी पहुँचाया। सुनते ही युधिष्ठिर, अर्जुन, भीमसेनादिके मुख सूख गये। धर्मराज सबको लेकर श्रीकृष्णके समीप पहुँचे किन्तु वहाँसे भी कोई आश्वासन नहीं मिला। उन मधुसूदनने भी मुख लटकाकर कह दिया—'पितामहने प्रतिज्ञा कर ली है तो वह मिथ्या नहीं हो सकती। क्षत्रियके लिए सम्मुख संग्राममें शरीर-त्याग विजयसे कम वरेण्य नहीं है। अतः कल मरणका महापर्व मनानेके लिए सबको सन्नद्ध ही रहना है। मैं भी सबका साथ दूँगा। जो दान, जप, ध्यान करना हो, आज रात्रिमें ही सब कर लें।'

पाण्डवोंके लिए जब श्रीकृष्ण ही आश्वासन न दें तो और क्या आशा। लेकिन उन्होंने सचमुच शोक त्यागकर उत्साहसे मृत्युका स्वागत करना निश्चित किया। उसी समय ब्राह्मण बुलाये गये। उन्हें अपार दान मिलने लगा। वे आशीर्वाद देने लगे—'विजयी भव।'

'आप सब अब यह आशीर्वाद क्यों देते हैं?' अर्जुनने ब्राह्मणोंको भीष्मकी प्रतिज्ञा सुना दी।

अनेक तपोधन, तेजस्वी एक साथ बोले—'भीष्म ब्रह्मचारी हैं; किन्तु तपस्वी ब्राह्मणके मुखसे स्वयं श्रीहरि बोलते हैं। भीष्मकी प्रतिज्ञा असत्य नहीं होती तो हम ब्राह्मणोंकी वाणी भी अन्यथा करने वाली शक्ति सृष्टिमें नही है।'

पाण्डवोंमें-से किसीको कोई जप, ध्यान नहीं करना था। उनके आराध्य, इष्ट, आश्रय श्रीकृष्ण उनके मध्य थे। वे उनको आज्ञा मानकर दान कर रहे थे। सबने निश्चय कर लिया था कि कलके युद्धमें वे श्रीकृष्णके समीप ही रहेंगे और उनके पावन पदोंका दर्शन करते ही देह त्याग करेंगे। अवश्य ही उपप्लव्यके शिविरमें स्त्रियोंके पास यह समाचार भेज दिया गया; क्योंकि उन्हें भी कल सायंकाल पतियोंके शरीरके साथ चितारोहणको प्रस्तुत होना था।

दौपद्रीने सुना तो उसी क्षण उन्होंने रथ सजानेकी आज्ञा दी और सुभद्रासे बोलीं—'युद्ध शिविरमें चलो।'

सुभद्राने शान्त स्वरमें कह दिया—'भैया वहाँ हैं। ऐसी कोई विपत्ति नहीं जो उनकी दृष्टि बचाकर उनकी अनुजा तक आ सके। उनकी दृष्टिमें रहते, उनकी अनुमतिसे जो आवे, सुभद्रा उसे विपत्ति नहीं, उनका वरदान मानकर सहर्ष स्वीकार करेगी। वे वहाँ हैं ही तो मैं वहाँ जाकर क्या करूँगी।'

द्रौपदीने हृदयसे सुभद्राको लगाया—'तुम उनकी अनुजा हो। यह शक्ति तुममें ही है। मैं इतना नहीं सह सकती। वहाँ जाकर उनसे झगड़ूंगी, आग्रह करूँगी। वे अपनी इस सखीके अश्रु देखकर देखें कैसे द्रवित नहीं होते।'

द्रौपदीके अश्रु उस दिन वाह्यरूपसे कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके। उसने रथसे उतरकर सीधे श्रीकृष्णके शिविरमें प्रवेश किया। रोते हुए उनके चरणोंपर मस्तक धर दिया, किन्तु वे सर्वसमर्थ उदासीन स्वरमें कह गये—'पितामहने प्रतिज्ञा कर ली है तो मैं भी उसे अन्यथा करनेमें असमर्थ हूँ।'

झल्लाकर पाँचाली बोली—'तब तुम मेरी थोड़ी सहायता कर दो। मैं विधवा होकर मरनेकी अपेक्षा आज ही तुम्हारे सम्मुख चितारोहण करके शरीर त्याग करूँगी। मेरे लिए चिता सजवा दो और अपने हाथों उसमें अग्नि लगा दो।'

श्रीकृष्ण लीलामय हैं। वे कब क्या लीला करेंगे, सृष्टिकर्ता भी सोच नहीं सकते। वे सचमुच उठ खड़े हुए—'याज्ञसेनि! तुम्हारा निर्णय तुम्हारी जैसी सती, श्लाघनीया, सम्मानिताके योग्य है। मैं तुम्हारी यह सहायता अवश्य करूँगा। अपने पतियोंसे आज्ञा ले लो।'

द्रौपदीने उसी तेजस्वितासे कह दिया—'मुझे किसीसे आज्ञा नहीं लेनी है। तुम्हारी अनुमति है, तुम सम्मुख हो तो दूसरेकी अनुमति अनावश्यक है।'

श्रीकृष्णने चलते हुए कहा—'सतीको सम्पूर्ण शृंगार करके, सर्वाभरणभूषिता होकर चितारोहण करना चाहिए। तुम आभूषण धारण करो। मैं तब तक चिता सजवा देता हूँ।'

सेवकोंको श्रीकृष्णकी आज्ञा पर्याप्त थी। पाण्डव शिविरके समीप ही उस अर्धरात्रिमें चिता चुन दी गयी। शृंगार करके द्रौपदी शीघ्र आ गयी। उस मनस्विनीको देहत्यागका निर्णय करनेमें न दो क्षण लगे थे, न इसका कोई दुःख था। श्रीकृष्णको यह स्वीकार है तो उसे वह अपना परम सौभाग्य मानती है।

द्रौपदी चितापर चढ़ने चली तो श्रीकृष्णने बाधा दी—'सभी गुरुजनको प्रणाम करके, उनकी आज्ञा लेकर यह कार्य करना उचित है।'

कृष्णाने कह दिया—'इस अर्धरात्रिमें मैं किसीके यहाँ नहीं जाऊँगी। तुम्हीं सर्वरूप हो और यहाँ हो ही।'

अब वे लीलामय बोले—'अच्छी बात, किन्तु तुमको चिताकी महापरिक्रमा अवश्य करनी चाहिए।'

द्रौपदी चौंक गयी—'यह क्या होता है? मैं तो साधारण परिक्रमा ही जानती हूँ। तुम कहो उतनी परिक्रमा कर लूं।'

जो नटखट है जन्मसे, वे कब कैसी भी विधि निकाल सकते हैं। जिनकी श्वास ही श्रुति है, उनके श्रीमुखसे बतलायी गयी विधिको अविधान या अनावश्यक भी कोई कैसे कह देगा। श्रीकृष्णने कहा—'तुम जानती ही हो कि तीर्थोंकी एक अन्तर्वेदी परिक्रमा होती है, एक पंचक्रोशी परिक्रमा और एक वहिर्वेदी बड़ी परिक्रमा। ऐसे ही चिताकी भी एक सामान्य परिक्रमा, एक मध्यम परिक्रमा तथा एक महापरिक्रमा होती है। सामान्य चितादाहमें सामान्य परिक्रमा उचित है। सती यदि पतिदेहके

साथ चितारोहण करती हो तो उसे मध्यम परिक्रमा करनी चाहिए; किन्तु तुम्हारे समान स्थितिमें महापरिक्रमा ही विधि संगत है।'

द्रौपदीने खिन्न स्वरमें कहा—'मैं नहीं जानती कि यह महापरिक्रमा कितनी बड़ी होती है।'

उत्साहपूर्वक केशव बोले—'मैं आगे-आगे चलता हूँ। तुम मेरे पीछे-पीछे चलती रहो।'

अब इसे अस्वीकार करनेका कारण नहीं था। द्रौपदीने कह दिया—'चलो !'

कुछ दूर चलकर श्रीकृष्ण बोले—'तुम्हारे पैरोंमें पांचालके बने पादत्राण हैं। इनको देखकर कोई भी तुम्हें पहिचान लेगा। इधर युद्धभूमिमें लोगोंके शिविर हैं। अतः इन्हें उतार दो।'

द्रौपदीने अपने जूते उतार दिये। उन्हें उठाकर उन अखिलेश्वरने अपने पटुकेमें लपेटा और कक्षमें दबा लिया। वे आगे-आगे चलते रहे। उनके पीछे-पीछे द्रौपदी चलती गयी। कितनी देर, कितनी दूर चलना पड़ेगा—यह पूछना व्यर्थ था। महापरिक्रमा करनी है तो वह बड़ी तो होगी ही। युद्धभूमि है तो वहाँ प्राणियोंके, मनुष्योंके शव तथा रथ एवं शस्त्रोंके खण्ड भी पटे पड़े होंगे। शृगालादि मांस भक्षी भी रात्रिमें झुंडके झुंड मिलेंगे। द्रौपदीको अपने पैरोंकी ओर ही देखते चलना था। शीघ्र भी चलना था किन्तु जो प्राणत्यागका ही निर्णय करके चलने लगी है, उसे शरीरके कष्ट, श्रमकी अब कहाँ चिन्ता है।

सहसा श्रीकृष्णचन्द्र एक शिविरके सम्मुख खड़े होकर बहुत स्नेहपूर्ण स्वरमें बोले—'सखि ! यह तुम्हारे कुलके सबसे वृद्ध पूज्य पितामह भीष्म-का शिविर है। तुम यहाँ तक आ ही गयी हो तो मेरा इतना अनुरोध मान लो कि शिविरमें जाकर उन्हें प्रणाम कर आओ। सौभाग्यवती स्त्री तथा ब्राह्मणोंके प्रवेशपर इस शिविरमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है।'

द्रौपदीने अब अनुमान कर लिया कि उसके ये लीलामय साथी उसे यहाँ तक किसी अभिप्रायसे ही ले आये हैं। वह शिविरकी ओर बढ़ी तो श्रीकृष्णने उसे सावधान किया—'पितामह इस समय ध्यान करते बैठे होंगे। तुम इतनी सावधानी रखना कि प्रणाम करते समय तुम्हारे आभूषणोंकी झंकार अवश्य हो। इससे उन्हें पता लग जायगा कि कोई नारी प्रणाम कर रही है।'

द्रौपदी शिविरमें भीतर चली गयी। श्रीकृष्ण द्वारके समीप ही छिपे खड़े रहे। पांचालीने प्रणाम करते समय शरीर हिलाकर आभूषण झंकृत कर दिये। नेत्र बन्द करके ध्यानस्थ पितामहको लगा कि कलके युद्धमें सम्मिलित होनेवाले किसी शूरकी पत्नी उनसे आशीर्वाद लेने आयी है। उन्होंने कह दिया—'पुत्री ! सौभाग्यवती भव !'

अब द्रौपदी बोल उठी—'पितामह ! जिसके सौभाग्यको कल ही समाप्त कर देनेकी आपने प्रतिज्ञा कर ली है, उसे आपका यह आशीर्वाद सत्य कैसे होगा ?'

भीष्मने चौंककर नेत्र खोल दिये—'याज्ञसेनि तुम ? तुम इस रात्रिमें यहाँ कैसे ? तुम्हें लानेवाला कहाँ है ? बेटी ! वह छलिया जिसकी रक्षा करनेवाला है, उसे कौन मार सकता है। भीष्मकी प्रतिज्ञाका क्या अर्थ। उसका आशीर्वाद ही सत्य होनेवाला है किन्तु मुझे उसके दर्शन करा दो !'

भीष्म उठकर लगभग दौड़ते हुए शिविरके बाहर आये और श्रीकृष्ण-के चरणोंपर गिर पड़े—'भक्तवत्सल ! मैं आपको ही पुकार रहा था और आप इस रात्रिमें यहाँ ! भीष्म इतना अधम है कि उसके शिविर-द्वारपर आपको प्रतीक्षा करनी पड़ी।'

श्रीकृष्णको लेकर पितामह भीतर आये। उनकी पूजा की, स्तुति की। उनसे अनुमति लेकर श्रीकृष्णचन्द्र द्रौपदीके साथ चलने लगे तो भीष्मने वे पाँच बाण पांचालीको देकर कहा—'पुत्री ! इन्हें ले जा। अब ये व्यर्थ होकर भी सफल होगये। पुरुषोत्तम पाण्डवोंकी रक्षामें इतने सतर्क होकर भीष्मपर भी अपना वात्सल्य ही प्रकट करते हैं।'

श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डव शिविरमें लौटे तो सबको मानों प्राणदान मिला। द्रौपदी उसी समय रथमें बैठकर उपप्लव्य शिविरमें सब स्त्रियोंको आश्वस्त करने चली गयी। सूर्योदयसे पर्याप्त पहिले ही यह सब करके श्रीकृष्ण सुप्रसन्न अपने शिविरमें विश्राम करने लगे थे।

पुनः प्रण-भंग

नवम् दिनके प्रातःकाल भीष्मने अपनी विशाल वाहिनीका सर्वतोभद्र व्यूह बनाया। पाण्डवोंके लिए उनका क्रौञ्च व्यूह वरदान सिद्ध होरहा था। इस दिन भी तृतीय प्रहर तक पाण्डव पक्ष प्रबल ही रहा।

चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होते ही पितामह भीष्म क्रोधमें भरकर प्रचण्ड होउठे। यद्यपि पाण्डव वीरोंने उन्हें घेर लिया था किन्तु वे दावाग्निके समान प्रतिपक्षको भस्म कर रहे थे। उनके सम्मुख जाकर चेदि और करुष देशके चौदह सहस्र महारथी परलोक चले गये। इससे पाण्डव सेना आर्तनाद करती भागने लगी।

श्रीकृष्णने अर्जुनको ललकारा—'मोहग्रस्त मत बनो। भीष्मपर प्रहार करो। तुमने भीष्म, द्रोणादिको उनके अनुयायियों सहित मार देनेका अपने पक्षको आश्वासन दिया है। क्षात्रधर्मका विचार करके पूरी शक्तिसे संग्राम करो।'

अर्जुनने अनिच्छापूर्वक कहा—'अच्छा, पितामहके सम्मुख मेरा रथ पहुँचाइये। मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

अर्जुनका कपिध्वज रथ भीष्मके सामने पहुँच रहा है, यह देखकर पाण्डव पक्षकी भागती सेना लौट पड़ी। भीष्मने बाणोंकी झड़ी लगाकर अर्जुनके रथको आच्छादित कर दिया किन्तु श्रीकृष्णने अपने अद्भुत अश्व चालन कौशलसे रथको उस शर-पंजरसे निकाल लिया।

अर्जुनमें पितामह भीष्मपर आघात करनेका उत्साह नहीं था। वे केवल भीष्मका प्रतिकार कर रहे थे और उनके वेगको कम करनेका प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने भीष्मका धनुष काट दिया। उन्होंने दूसरा धनुष उठाया तो उसे भी काट दिया। भीष्मने अर्जुनके इस पौरुषकी प्रशंसा की।

अर्जुन अवसर पाकर भी भीष्मपर प्रहार नहीं कर रहे थे और भीष्म अर्जुनको व्यस्त रखकर भी पाण्डव सेनाके वीरोंको चुन-चुनकर मारते चले जा रहे थे। वे इस समय प्रलयंकर बने हुए थे। यह श्रीकृष्ण

सहन नहीं कर सके। उन्होंने रथ-रश्मि छोड़ दी और कशा (चाबुक) ही लिये सिंहके समान गर्जना करते पैदल ही भीष्मकी ओर दौड़े।

मयूर मुकुट लहरा रहा था। पीतपट उड़ने लगा था। बार-बार हुंकार करते, कुटिल भृकुटि, अरुण नेत्र पुरुषोत्तम ऐसे भीष्मपर टूटे थे मानो सिंह मदमत्त गजराजपर टूट पड़ा हो। पृथ्वी उनके पदाघातसे मानो विदीर्ण होजायगी।

जिनके भ्रूभंग मात्रसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रलयके गर्भमें विलीन होजाते हैं, उन सर्वलोकेश्वरेश्वरके करोंमें चक्र है या चाबुक, इसका कोई अर्थ नहीं था। वे क्रुद्ध हैं तो उनके सम्मुख जानेका साहस करते ही महाकाल भी सत्ताशून्य हो जायगा, सुर-असुर, दैत्य, गन्धर्वोंकी गणना क्या और मनुष्य तो बहुत अल्पप्राण है। कौरव सेनामें मरनेकी इतनी शीघ्रता किसीको नहीं थी।

बार-बार दुर्योधनने अपने प्रधान शूरोंको सावधान किया था कि सब मिलकर भीष्मकी रक्षा करें। आज प्रातःकाल यह बात विशेष रूपसे कही थी किन्तु दूसरे तो दूर दुर्योधनमें भी आगे आनेका साहस नहीं था। सम्पूर्ण कौरव पक्षके लोग सामान्य सैनिकसे लेकर आचार्य द्रोण तक शस्त्र त्यागकर दोनों हाथ उठाकर चिल्ला रहे थे—'भीष्म मारे गये! भीष्म मारे गये।'

'भीष्मको बचाओ।' यह पुकार किसी एक कण्ठसे भी नहीं निकल सकी। आतंकके कारण सब काँपने लगे थे। श्रीकृष्ण भले शस्त्रहीन हैं, उन क्रुद्ध सर्वशक्तिमानका सामना भी किया जा सकता है—यह सोचनेका साहस करना स्वयं अपनी मृत्युको निमन्त्रण देना था। सब कौरव पक्षके वीरोंके हृदय सुन्नसे होगये थे। वे उस समय भागनेकी शक्ति भी खो चुके थे।

भीष्मने अपना विशाल धनुष उठा रखा था और उसका जयघोष इस प्रकार कर रहे थे मानो वह भी कोई वाद्य हो। वे पुकार रहे थे—'आओ केशव! जनार्दन पधारो। कैटभारि, मुझे मारकर आज कृतार्थ कर दो। आपने आक्रमण करके मुझे त्रिभुवनमें गौरवशाली बना दिया।

अब अपने हाथसे मारकर मुझे जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त कर दो पुरुषोत्तम ! अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर आप भक्तवत्सलने आज पुनः मेरी प्रण-रक्षा की। मैंने बहुत धृष्टता की है। मुझे दण्ड दीजिये। आइये ! आइये मधुसूदन ! पधारिये और मुझे मारकर अपने श्रीचरणोंमें स्थान दीजिये। मैं तो आपका दास हूँ, इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये !'

श्रीकृष्णके रथसे कूदते ही अर्जुन चौंके। गाण्डीव रथमें ही फेंककर वे भी कूदे और दौड़कर पीछेसे उन्होंने अपने सखाको भुजाओंमें भर लिया। इतनेपर भी श्रीकृष्ण रोके नहीं जा सके। वे अर्जुनको घसीटते हुए बढ़े जा रहे थे।

अर्जुनने आगे आकर चरण पकड़े और बहुत दीनतापूर्वक बोले—'आप लौटिये ! युद्ध न करनेके अपने प्रणकी रक्षा कीजिये। मैं बहुत ही लज्जित हूँ। मेरे दोषसे आपको अपना प्रण भंग करनेको बाध्य होना पड़ा। अब मैं शस्त्रोंकी तथा सत्यकी शपथ करके कहता हूँ कि पूरी शक्तिसे युद्ध करूँगा। युद्धका भार मुझपर ही रहने दीजिए।'

श्रीकृष्ण एक शब्द भी बोले नहीं। वे वैसे ही क्रोधमें भरे लौटे और आकर रथपर बैठ गये। उन्हें अर्जुनका शैथिल्य अच्छा नहीं लगा था। और अब भी अर्जुन अपनी शपथपर स्थिर रह सकेगा, इसका भरोसा नहीं था। युद्धमें जय-पराजय पाण्डवोंकी ही होनेवाली थी किन्तु श्रीकृष्णका स्वभाव है कि जिसे अपना स्वीकार कर लेते हैं, उसका हित उनका अपना हित होजाता है और उसकी चिन्ता वे उससे अधिक करने लगते हैं। वह प्रमाद करे, उदासीन होजाय किन्तु श्रीकृष्ण न उदासीन होते, न प्रमाद करते। वे आश्रितजनपाल कृपालु तो सदा आश्रितके श्रेयके लिए सावधान हो रहते हैं।

भीष्म पितामहने फिर वाण वर्षा प्रारम्भ कर दी। अद्भुत भक्त भीष्म। धनुष ही उनका सर्वस्व। उनके लिए शराघात ही आराध्यका अर्चन था। वे पूरी शक्तिसे श्रीकृष्ण तथा अर्जुनपर शर वर्षा करनेमें तत्काल जुट गये। यह तो उनके हृदयमें पूजा थी।

पाण्डवोंके दलमें फिर भगदड़ पड़ गयी। भीष्मके वाण आज मृत्युका संदेश लिये आते थे। शत सहस्र सैनिक प्रतिक्षण समरकी गोदमें

सदाको सोते जा रहे थे। ग्रीष्मके प्रचण्ड मार्तण्डके समान भीष्मका तेज असह्य था। आज वे अमानवीय पराक्रम प्रकट कर रहे थे। पाण्डव सेनाको आज कहीं कोई अपना रक्षक नहीं दीखता था।

ऐसे समयमें सूर्यास्तका होजाना पाण्डवोंके लिए वरदान सिद्ध हुआ। युद्ध विरामका शंखघोष स्वयं युधिष्ठिरने सर्वप्रथम उसदिन किया।

भक्त वत्सल

रात्रिके प्रथम प्रहरमें पाण्डव, वृष्णि तथा सृञ्जयोंकी बैठक युधिष्ठिरने बुलायी। भीष्मके अमानवीय पराक्रमको देखते यह आवश्यक होगया था कि आगेके कर्तव्यका विचार कर लिया जाय।

राजा युधिष्ठिरने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—'अच्युत! आप महात्मा भीष्मके भयंकर पराक्रमको देखते ही हैं। प्रज्वलित अग्निके समान वे हमारे वीरोंको बराबर भस्म कर रहे हैं और हम उनकी ओर आँख उठाकर देखनेका साहस भी नहीं कर पाते। युद्धमें वज्रधर इन्द्र और यमराजको भी जीता जा सकता है किन्तु भीष्मपर विजय पाना असम्भव जान पड़ता है। ऐसी अवस्थामें संग्राम प्रारम्भ करके मैं शोक-सागरमें डूब रहा हूँ। मेरे कारण मेरे भाइयोंने सदासे कष्ट पाया है और अब वाणोंसे आहत होरहे हैं। मैं जीवनको बहुत मूल्यवान मानता हूँ। मुझपर प्रेम रखनेवाले स्वजन प्रतिदिन बड़ी संख्यामें मारे जायँ, यह मुझे सहन नहीं हो रहा है। मैं वनमें जाकर तप करनेमें ही अपना कल्याण देखता हूँ। जीवनके जितने दिन शेष हैं उनमें अब धर्मका ही आचरण करना चाहता हूँ। यदि आप अपना कृपापात्र हमें समझते हों तो अब ऐसा उपाय बतलाइये कि हमारा हित हो और हमारे धर्ममें बाधा न आवे।'

श्रीकृष्ण अपनेपर ही आश्रितको निराश, हताश देख नहीं पाते। उनको अपने प्रण, अपने स्वरूपकी मर्यादा मिटानेमें क्षण भी नहीं लगता

किन्तु उनके आश्रितका मुख उदास हो, यह असह्य है उन्हें। उनके सुदीर्घ दृग भर आये। बोले—'आप अकारण विषाद न करें। आपके भाई अजेय हैं और शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं। नकुल, सहदेव भी प्रबल पराक्रमी हैं। अर्जुन और भीम तो अग्नि और वायुके समान अदम्य हैं।'

अर्जुनकी ओर उपालम्भपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए वे भक्तवत्सल बोले—'आपके भाई आपको पूर्ण प्रयत्न करते न लगते हों तो आप मुझे युद्ध करनेमें नियुक्त कर दें। मैं आपका आज्ञानुवर्ती हूँ। आपकी आज्ञासे मैं युद्ध करूँगा। यदि अर्जुनकी इच्छा नहीं है तो भीष्मको मैं मार दूँगा। जो पाण्डवोंका शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है। जो आपके हैं, वे मेरे हैं। जो मेरे हैं, वे आपके हैं। आपके लिए मैं प्रतिज्ञा तो क्या प्राण भी त्याग सकता हूँ। अर्जुनने उपप्लव्यमें सब लोगोंके सामने भीष्मका वध करनेकी प्रतिज्ञा की थी। मुझे उसका पालन करना है। अर्जुनके लिए भीष्मको मारना बहुत सरल है और ये अनुमति दें तो मैं इसे कल कर दूँगा। अर्जुन उद्यत हों तो युद्धमें इन्हें दैत्य, दानव, देवता मिलकर भी पराजित नहीं कर सकते, भीष्मकी तो गणना ही क्या है।'

युधिष्ठिरने भरे कण्ठसे कहा—'आपकी बात उचित है। सम्पूर्ण सृष्टिके शूर मिलकर भी आपका वेग सहन नहीं कर सकते। आप जिसके सहायक हैं उनके मनोरथ पूर्ण होनेमें सन्देहको स्थान नहीं है। आप रक्षाके लिए उद्यत हैं तो मैं सुरोंपर भी विजय पा सकता हूँ किन्तु गोविन्द! अपने स्वार्थके लिए आपको प्रतिज्ञा भंग करनेको कहूँ, इससे उत्तम तो हम पाण्डुपुत्रोंकी पराजय भी है। मैं आपको अपना वचन मिथ्या करनेको नहीं कह सकता। आप अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार बिना युद्ध किये ही मेरी सहायता करें। आप हम सबके साथ भीष्मके समीप चलें। उन्हींसे उनके वधका उपाय हम पूछेंगे। वे अवश्य हमारे हितकी बात बतलावेंगे।'

युधिष्ठिर खिन्न होगये। बहुत दुःखी होगये—'वे हमारे पिताके भी पिता हैं। पिताकी मृत्युके पश्चात् हम अबोध बालकोंको उन्होंने ही पाला, प्रश्रय दिया और आज हम उनकी मृत्यु चाहते हैं। इस क्षत्रिय धर्मको धिक्कार है।'

यही व्यथा धनंजयके मर्मको भी मथ रही थी। धर्मराजने अपने भाइयोंके हृदयका ही प्रतिनिधित्व किया था। अतः अर्जुनको उलाहना नहीं दिया जा सकता था। श्रीकृष्णको माया, ममता नहीं छूती। उनके

स्मरणसे मोह, ममत्व नष्ट होजाता है। वे शरीर नहीं देखते, शरीरका परमश्रेय देखते हैं। भीष्म उनके कम स्नेह भाजन नहीं हैं किन्तु अब इन जनार्दनको लगता है कि उन वृद्ध गंगातनयका परम हित देह विमुक्त होनेमें है। उनका पराक्रम अब परिस्थितिवश अधर्मका पक्षपोषक हो गया हो। शरीरका मोह भला सृष्टिके विधायकको क्या। जो कोटि-कोटि शरीरोंकी सृष्टि संकल्पमात्रसे करनेमें समर्थ है, वह किसीके भी देहको महत्व क्यों देने लगा। उसकी दृष्टिमें देहकी उत्तम उपयोगिता ही महत्व-की तथा रक्षणीय है।

श्रीकृष्णने तत्काल कहा—'राजन्! आपकी सम्मति सर्वोत्तम है। आपके पितामह देवव्रत परम पुण्यात्मा हैं। उनके लिए शरीरकी ममता नगण्य है। आपके पूछनेपर वे सच्ची बात ही कहेंगे। हम सब अभी उनके समीप चलते हैं।'

इस सम्मतिके अनुसार युधिष्ठिर भाइयों तथा श्रीकृष्णके साथ अस्त्र-शस्त्र तथा कवच त्यागकरके भीष्मके शिविरमें पहुँचे। पाण्डवोंने, श्रीकृष्णने भी उनके चरणोंमें प्रणाम किया। युधिष्ठिरने कहा—'हम आपकी शरण हैं।'

'वासुदेव! मैं आपका स्वागत करता हूँ।' भीष्म उठकर खड़े हो गये। उन्होंने युधिष्ठिरका भी उनके भाइयोंके साथ स्वागत किया। बोले—'ये पुरुषोत्तम जिनके साथ हैं, उन्हें दूसरा कोई क्या शरण देगा। समस्त सृष्टि इन्हींकी शरणमें है। ये साथ आये हैं तो इनकी सेवा करके भीष्म सनाथ ही होगा। तुम संकोच त्यागकर कहो कि मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ। कठिनतम कार्य भी तुम्हारा करके मुझे प्रसन्नता होगी। मैं इन पुरुषोत्तमके पावन पदोंमें कोई सेवा सुमन तो अर्पित कर पाऊँगा।'

युधिष्ठिरने मस्तक झुका लिये। ऐसे उदार, महामानव तथा अपने पूज्य पुरुषसे उसके ही मरनेका उपाय कैसे पूछा जाय किन्तु भीष्म बार-बार आग्रह कर रहे थे—'तुम कुछ कहने आकर भी छिपाओ मत। श्रीकृष्णकी सेवाका मुझे अवसर दो।'

अन्तमें युधिष्ठिरने सिर झुकाये हुए दीनतापूर्वक कहा—'जिस उपायसे यह प्रजा संहार बन्द हो, वह हम जानना चाहते हैं। आप स्वयं ही

अपनी मृत्युका उपाय बतला दें, आप अजेय हैं। युद्धमें आपका वेग अदम्य है। हमारी बहुत बड़ी सेना आपके शरोंके दावानलमें स्वाहा हो चुकी। आपपर विजय पाना असंभव लगता है और उसके बिना अपना धर्मसम्मत स्वत्व हमें मिल नहीं सकता।'

भीष्म हँस पड़े—'युधिष्ठिर! तुम सच कहते हो। जब तक मैं जीवित हूँ, तुम्हारी विजय नहीं हो सकती। यदि विजयकी इच्छा है तो मुझे शीघ्र मार डालो। मैं अपने ऊपर प्रहारकी आज्ञा देता हूँ। ये पुरुषोत्तम सम्मुख हों तो मृत्युकी कामना कौन नहीं करेगा। कौन ऐसा मूर्ख है जो इनके श्रीमुखको देखते हुए देह त्यागका सुयोग त्यागना चाहेगा! अतः मुझे मार दो। इसमें तुम्हें पुण्यकी प्राप्ति होगी।'

महामानव पितामहने अपने वधका उपाय भी स्पष्ट बतलाया कि शिखण्डीके ऊपर वे शस्त्र नहीं उठा सकते। जो शस्त्र त्याग दे, गिर जाय, कवच उतार दे, ध्वजा झुका दे, भागने लगे, डरा हो, शरणकी पुकार करे, व्याकुल हो, जिसके एक ही पुत्र हो, स्त्री हो या स्त्रीके समान नाम चेष्टावाला हो, उससे युद्ध न करनेका उनका व्रत है और शिखण्डी पहिले स्त्रीके रूपमें उत्पन्न हुआ है। उन्होंने अर्जुनको आज्ञा दी कि शिखण्डीको आगे करके वे वाण मारें। वह आगे रहेगा तो वे प्रहार नहीं करेंगे। यही उनके वधके लिए छिद्र है। अन्यथा सावधान रहते उन्हें कोई मार नहीं सकता।

पाण्डव उन्हें प्रणाम करके लौट आये। शिविरमें आकर अर्जुन अत्यन्त कातर हो उठे। उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'माधव! भीष्मजी कुरुकुलमें सबसे वृद्ध हैं, हमारे पितामह हैं, मैं इनके ऊपर वाणोंसे कैसे आघात करूँगा। मैं इनकी गोदमें खेला हूँ। इन्होंने स्नेहसे मेरे धूलिधूसर शरीरको अंकमें लिया है। मैं इनकी गोदमें बैठकर इन्हींको पिता कहता था। ये समझते थे—'बेटा! मैं तेरा पिता नहीं हूँ। तेरे पिताका पिता हूँ।' इतना स्नेह जिन्होंने दिया, उन पूज्यका वध मैं कैसे कर सकता हूँ। ये भले मेरी सेनाका विनाश कर डालें, मुझे मार डालें किन्तु मैं इनके साथ युद्ध नहीं करूँगा। विजय हो या विनाश, मैं इनको मार नहीं सकूँगा।'

श्रीकृष्णने कठोर स्वरमें कहा—'तुम इतनी शीघ्र युद्धारम्भका उपदेश भूल गये? तुम स्वयं भीष्मके वधकी प्रतिज्ञा कर चुके हो। क्षत्रिय

धर्ममें स्थित रहते अब यह कापुरुषों जैसी बात क्यों ? कोई भले गुरुजन हो , वृद्ध हो , सर्वगुण सम्पन्न हो तो भी आततायी होकर मारने आवे तो उसे मार देना ही धर्म है। भीष्मकी आयु समाप्त होनेको आ गयी है। उनके मरनेका समय समीप है। नियतिका विधान तुम टाल नहीं सकते हो ? क्या चाहते हो कि मैं शस्त्र लेकर यह कार्य सम्पन्न करूँ ?'

अर्जुनने शिथिल स्वरमें कहा—'मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। शिखण्डी भीष्मकी मृत्युका कारण बनेगा , यह निश्चित जान पड़ता है। उसे देखते ही वे दूसरी ओर लौट जाते हैं , यह मैंने देखा है। अतः आपकी और उनकी भी आज्ञाका पालन करना ही है मुझे।'

रात्रिको कदाचित ही पाण्डव शिविरमें प्रधान व्यक्तियोंमें कोई सोया हो। दसवें दिनका युद्ध प्रातःकाल होते ही प्रारम्भ होगया। भीष्म प्रतिदिन अपनी सेनाका व्यूह बदल देते थे। वे आसुर , पैशाच आदि सभी पद्धतिके व्यूह निर्माणको जानते थे। इस ज्ञानका उपयोग करते थे।

शिखण्डी इस दिन सप्रयत्न भीष्मके सम्मुख रहे—यह पाण्डवोंने पहिले ही निश्चय कर लिया था। पीछे तो अर्जुनने उसे अपने ही रथपर बैठा लिया। कौरव पक्ष भी पूरे प्रयत्नसे भीष्मकी रक्षामें लगा था किन्तु शिखण्डी और पाण्डवोंने आज भीष्मको समर शैय्या देनेका दृढ़ निश्चय कर लिया था।

स्वयं भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा—'बेटा ! मैं अब इस शरीरसे बहुत उदासीन होगया हूँ। मैंने संग्राममें बहुत प्राणियोंकी हत्या की है। तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो सृन्जय वीरों तथा अर्जुनको आगे करके मेरे वधका प्रयत्न करो। मैं भगवान अच्युतका दर्शन करते हुए आज ही गिरना चाहता हूँ।'

युधिष्ठिरने यह आदेश स्वीकार कर लिया। सेनाके शूरोंको प्रोत्साहित किया। श्रीकृष्ण बराबर अर्जुनको उकसा रहे थे। वृद्ध पितामह भीष्मने इस दिन भी भयंकर महासंहार प्रारम्भ कर रखा था। कौरव प्राणपणसे उनकी रक्षामें जुटे थे। भीष्मको वरदान था कि वे इच्छा करनेपर ही मरेंगे। उन्होंने स्वयं मरणकी इच्छा की। तीक्ष्ण वाण वर्षा उनपर होरही थी परन्तु उन्होंने आघात करना बन्द कर दिया। अर्जुन उनके अनेक धनुष काट चुके थे।

अन्तमें सूर्यास्तके समय वह कुरुकुलका सूर्य भी रथसे गिर पड़ा। उस समय उनके शरीरमें दो अंगुल स्थान भी ऐसा नहीं था जहाँ वाण न लगा हो। उनका शरीर उन वाणोंपर ही पृथ्वीसे ऊपर टँगा रह गया। अर्जुनको ही उनके आदेशसे सिरमें तीन वाण मारकर मस्तकको तकिया देना पड़ा।

भीष्मके गिरते ही श्रीकृष्ण रथ-रश्मि त्यागकर रथसे कूदे और पितामहके समीप आ खड़े हुए। उनके कमल लोचन भर आये थे। भीष्मने देखा। वे बोले—'अभी नहीं और ऐसे भी नहीं। वासुदेव, आप अभी पधारो। देह त्यागने लगूं तो अवश्य दर्शन देना और सस्मित मुख सम्मुख रहना।' भक्तवत्सलने मौन स्वीकृति दी और मुड़ गये।

अभिन्न सखा

श्रुतिने परमात्माको जीवका सखा कहा है और श्रुति तो उसी परमेश्वरकी वाणी है। श्रुतिका अर्थ ही है परमात्माकी स्वयं स्वीकृति। वह स्वीकृति है कि वह सर्वाधार, सर्वनियामक ही सर्वरूप है और अपने सुहृद सखा जीवसे अभिन्न है। जीव और ईश्वर परस्पर सदा एक ही हुए रहते हैं। वह अन्तर्यामी हृदयमें जीवको, देहाभिमानीको अपने अंकमें ही लिये बैठा रहता है।

श्रीकृष्ण उसके हैं जो उन्हें अपना स्वीकार कर ले। वे जिसके हो गये, उसके सर्वथा होगये। अपनोंसे अपनेको अभिन्न ही रखना उनका स्वभाव है।

भीष्म पितामहने शर शैय्या ली। कौरव पक्षने शीघ्र अपने शोकको संयमित कर लिया। पितामहके संग्राम भूमिमें गिरते ही कर्ण स्वयं कौरव सेनाके आगे आ गया। उसकी सम्मतिसे आचार्य द्रोणको दुर्योधनने अपने पक्षके महासेनापति पदपर प्रतिष्ठित किया। कौरव सेनामें पुनः उत्साह आ गया।

द्रोणाचार्यने शीघ्र सिद्ध कर दिया कि उनको महासेनापति बनाकर दुर्योधनने कोई भूल नहीं की है। वे प्रथम प्रधान सेनापति भीष्मसे पराक्रम तथा युद्ध कौशलमें किंचित भी न्यून नहीं थे। उन्होंने महासेनापतित्वपर प्रतिष्ठित होते ही दुर्योधनसे कहा—'तुम जो चाहो, वह वरदान मुझसे माँग लो।'

दुर्योधनने बहुत सोचकर माँगा—'आप युधिष्ठिरको जीवित पकड़कर मेरे समीप ला दें।'

द्रोणाचार्य चकित रह गये। युधिष्ठिर सचमुच अजात शत्रु हैं। दुर्योधनका तर्क उचित था। युधिष्ठिर मार दिये जायँ तो अर्जुन इतने क्रुद्ध हो जायँगे कि दिव्यास्त्रोंके प्रयोगमें मर्यादा-पालन भूल जायँगे। धनंजय तो दूर, नकुल-सहदेवमें भी कोई एक क्रोधावेशमें हो तो वह अकेला ही समस्त कौरव सेनाका संहार कर देगा। भीमसेन तो प्रलय ही कर डालेंगे। युधिष्ठिरको मारना तो अपने पूरे कुलका विनाश बुलाना है किन्तु उन्हें बन्दी करके फिर द्यूतमें हराया जा सकता है। तब सब भाइयोंके साथ वे वनमें चले जायँगे। यह विजय पानेका सुगम साधन है।

द्रोणाचार्यने उत्साहमें वरदान देनेको कहा था। अब अपनी शक्ति समझकर सावधान होगये। बोले—'अर्जुनको युद्धमें देवता, असुर भी पराजित नहीं कर सकते। अतः यदि अर्जुनको तुमलोग दूर रख सको, वे युधिष्ठिरकी रक्षा करने न जायँ तो युधिष्ठिरको बन्दी ही समझो।'

दुर्योधनने घोषणा करा दी कि आचार्यने युधिष्ठिरको बन्दी बनानेकी प्रतिज्ञा की है। पाण्डव शिविरमें इस घोषणाका समाचार पहुँचा तो युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—'तुम युद्धमें मेरे समीप ही रहना।'

द्रोणाचार्यके महासेनापतित्वमें होनेवाला प्रथम दिनका संग्राम ही अत्यन्त भयानक हुआ। पाण्डव पक्षने जहाँ पूरी शक्ति लगा दी, वहाँ आचार्यने भी भयंकर पराक्रम प्रकट किया। कौरव महारथी आचार्यकी रक्षामें जी जानसे जुटे हुए थे। दोनों ही ओर बहुत अधिक विनाश हुआ।

लगभग सायंकाल आचार्य सब रक्षकोंको पराजित करते युधिष्ठिरके सम्मुख पहुँच गए। अर्जुन विकट युद्धमें उलझकर कुछ दूर होगये थे। कौरवोंकी सेनामें हर्षनाद होने लगा—'अब आचार्य युधिष्ठिरको पकड़कर हमारे महाराज दुर्योधनको सौंप देंगे।'

द्रोणाचार्यने धनुषपर नागपाश चढ़ाया था युधिष्ठिरको बाँधनेके लिए। दूसरी ओर श्रीकृष्णने सहसा रथ मोड़ दिया और अर्जुनसे बोले— 'शीघ्रता करो। आचार्यका धनुष काट दो।'

अचानक आचार्यका धनुष दो टुकड़े होगया। उन्होंने देखा कि वाण तो सव्यसाचीका है। वे पुकार उठे—'अर्जुन आ गया।'

आचार्यका पुकार उठना उनके पक्षके लिए अधिक अहितकर हो गया। उनकी सेनाके लोग भी पुकार उठे—'अर्जुन आ गया।'

कौरव सेनामें आतंक छा गया। दूसरी ओर पाण्डव सेनामें भी लोगोंने कहा—'अर्जुन आ गये।' उनमें उत्साह दौड़ गया। भागते लोग भी लौट पड़े। अस्त व्यस्त सेना जमकर प्रतिकार करने लगी।

सचमुच अर्जुन आ गये। श्रीकृष्णने नन्दिघोष रथ सीधे हाँक दिया था। अर्जुनकी वाण वर्षा और नन्दिघोषका लोगोंको कुचलता चलता रथ चक्र—उसके वेगमें व्याघात पड़ नहीं सकता था। पहुँचते ही अर्जुनने वह संहार प्रारम्भ किया कि पृथ्वी शत्रुओंके शवोंसे पट गयी। कौरव सेना त्राहि-त्राहि करती भाग खड़ी हुई। आचार्य द्रोण कुछ कर नहीं सके। सूर्यास्तने ही युद्ध बन्द कराके कौरवोंको सुरक्षा दी।

रात्रिके प्रथम प्रहरमें अर्जुन श्रीकृष्णके समीप जा बैठे। उन्होंने कहा—'गोविन्द! आचार्य पृथ्वीके किसी भी योधासे कम नहीं हैं। वे अजेय प्राय हैं। वैसे भी युद्धमें जय, पराजय अनिश्चित रहती है। मैं जानना चाहता हूँ कि कलको मैं किसीके अमोघ अस्त्रसे मारा ही जाऊँ तो आप क्या करेंगे?'

श्रीकृष्ण सीधे बैठ गये। उनका स्वर गंभीर होगया—'धनंजय! तुम ऐसा क्यों सोचते हो? मैं तुम्हारे साथ हूँ और तुम्हें कोई मार देगा? सृष्टिने ऐसा शूर न कभी उत्पन्न किया, न कर सकती। कोई अस्त्र ऐसा नहीं है जो श्रीकृष्णके संकल्पको अन्यथा कर सके। स्वयं शूलपाणि भगवान प्रलयंकर पिनाक लेकर आजायँ तो भी मेरे प्राण सखा अर्जुनको मारा नहीं जा सकता। अर्जुनके ऊपर प्रयुक्त पाशुपतास्त्र भी प्रभावहीन होकर रहेगा। पृथ्वी रहे या खण्ड-खण्ड होजाय, सृष्टि समाप्त होजाय किन्तु मेरे रहते तुम्हें मारनेका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

अर्जुनने सस्मित मुख कहा—'यह जानता हूँ, किन्तु कभी-कभी अनहोनी भी होजाती है। ऐसा होजाय तो तुम क्या करोगे मेरे मरनेके पश्चात् ?'

श्रीकृष्णका स्वर काँपने लगा—'यदि यह असम्भव कदाचित सम्भव हो जाय तो सृष्टिकी सब मर्यादाएं नष्ट हो जायँगी। मैं चक्र उठाऊँगा और किसीके भी वरदान एवं महास्त्रकी मर्यादाकी किंचित चिन्ता किये बिना सम्पूर्ण कौरव पक्षको, उसकी सहायताको सब देवता, दैत्य, दानव आ खड़े हों तो उन्हें भी केवल कुछ पलोंमें नष्ट कर दूंगा। सबको मारकर युधिष्ठिरको सिंहासनपर बैठाकर उनका तिलक कर दूंगा।

'इतना सब करके तब अपने सखाके शरीरके साथ स्वयं चितारोहण करूँगा। अर्जुन! कृष्णकी प्रतिज्ञा है कि वह तुमसे रहित पृथ्वीपर नहीं रहेगा। वह तुमसे पहिले धराका त्याग करेगा।'

अर्जुनने श्रीकृष्णके दोनों चरणोंको अंकमें लिया और उनसे लिपटकर अपने अश्रुओंसे उन्हें धोने लगा। श्रीकृष्ण ऐसा उदार, इतना सुहृद सखा। वे पद्मपलाश नयन अपने पटुकेसे अर्जुनके अश्रु पोंछ रहे थे। इनके रहते अर्जुनके लिए भला कहीं भय हो सकता है।

भक्त भयहारी

'ये कृष्ण और अर्जुन तो अजेय हैं। अर्जुनकी उपस्थितिमें युधिष्ठिरको देवता भी बन्दी नहीं बना सकते।' द्रोणाचार्यने रात्रिके प्रारम्भमें दुर्योधनसे कहा—'तुम लोग किसी उपायसे अर्जुनको दूर ले जा सको तो मैं युधिष्ठिर-को पकड़ सकता हूँ। अर्जुनको ललकार दे कोई तो वह उसे पराजित किये बिना नहीं लौटेगा।'

आचार्यकी यह बात सुनकर त्रिगर्तराज और उनके भाइयोंने प्रतिज्ञा की कि अब पृथ्वीपर या तो वे ही रहेंगे या अर्जन ही। अग्निको

साक्षी करके इन संशप्तक वीरोंने प्रतिज्ञा की थी। प्रातःकाल बड़ी भारी सेना लेकर उन लोगोंने अर्जुनको युद्धकी चुनौती दी और सुदूर एक समतल मैदानमें अपना चन्द्राकार व्यूह बनाया।

अर्जुनने राजा युधिष्ठिरकी रक्षाके लिए सात्यकि, पांचाल राजकुमार सत्यजित आदिको नियुक्त किया और स्वयं संशप्तकोंसे युद्ध करने चले गये। संशप्तकोंके शूरोंका शौर्य अतुलनीय था। उनके एक-एक सैनिकने संग्राममें जीवनकी बाजी लगा रखी थी किन्तु गाण्डीव धन्वाके साथ श्रीकृष्ण हों तो प्रतिपक्ष समर शैय्याके अतिरिक्त और क्या पा सकता है। अवश्य ही अर्जुनको भी दिनका अधिक भाग अविराम युद्ध करना पड़ा। मरते, कटते, संख्या बलके अनवरत क्षय होते रहनेपर भी उन श्लाघ्य वीरोंने सव्यसाचीको तनिक भी अवकाश नहीं दिया।

सहसा अर्जुनको मुख्य संग्रामभूमिसे उठती हाथीकी भयानक चिंग्घाड़ सुनायी पड़ी और आकाशमें धूलिका अम्बार उठता दीखा। उन्होंने अनुमान कर लिया कि प्राग्ज्योतिषपुरका नरेश भगदत्त अपने हाथीपर चढ़कर पाण्डवपक्षपर आक्रमण कर रहा है। पृथ्वीके गिने चुने श्रेष्ठतम वीरोंमें भगदत्तकी गणना थी। अर्जुन चिन्तित होउठे कि उसके आक्रमणको उनके अतिरिक्त सह लेनेवाला पाण्डवपक्षमें कोई वहाँ था ही नहीं।

अर्जुन मुख्य युद्धभूमिमें लौटना चाहकर भी लौट नहीं पा रहे थे। अब भी लगभग आधी सेना संशप्तकोंकी शेष थी और वे ललकार रहे थे। अर्जुनने अब दिव्यास्त्रके प्रयोगका निर्णय किया। इस प्रकार अधिकांश संशप्तकोंको मारकर, अन्तिम चुनौती देनेवाले उनके अग्रणी सुशर्माको भी संग्राममें मूर्च्छित करके वे मुख्ययुद्ध भूमिमें लौट आये। आते ही कौरव सेनाको अपनी बाण वर्षासे सन्त्रस्त कर दिया और आगे बढ़ते भगदत्तकी गति रोक दी।

भगदत्तने कम पौरुष नहीं प्रकट किया किन्तु अर्जुनने अन्तमें उसके धनुष और त्रोण भी काट दिये। उसके मर्मस्थलोंपर आघात किया। व्याकुल होकर भगदत्तने अंकुशपर ही वैष्णवास्त्रका आवाहन किया और उसे अर्जुनपर पूरे बलसे फेंका।

भगदत्तका वह अस्त्र लोकपालोंको भी मार देनेमें समर्थ था। अस्त्रसे अभिमन्त्रित अंकुश प्रज्वलित वज्रके समान सम्पूर्ण दिशाओंको आलोकित

करता चला। किन्तु श्रीकृष्णने उठकर अर्जुनको अपनी आड़में कर लिया और अपने वक्षपर वह अस्त्र ले लिया। उनके श्रीवत्सांकित वक्षका स्पर्श होते ही वैष्णवास्त्रका प्रभाव समाप्त होगया। अंकुश तनिक आहत करता गिर पड़ा।

अर्जुन अत्यन्त व्यथित, व्याकुल होकर पुकार उठे—'श्यामसुन्दर! आपने यह क्या किया? आपने तो प्रतिज्ञा की है कि आप युद्ध न करके केवल सारथ्य करेंगे। आप अपनी प्रतिज्ञाका पालन क्यों नहीं कर रहे हैं, मैं संकटमें पड़ जाता और अस्त्र-निवारणमें असमर्थ होता तो आपका ऐसा करना उचित भी होता किन्तु मेरे हाथमें धनुष है, मैं सावधान हूँ, फिर भी आप स्वयं अस्त्राघात सहते हैं, यह मैं सहन नहीं कर सकता। आपके श्रीअंगपर इतना प्रचण्ड आघात लगे, इसकी अपेक्षा अस्त्राग्निमें अर्जुनका शरीर भस्म होजाना कहीं श्रेष्ठ है।'

'विजय! तुम नहीं समझते हो कि वह वैष्णवास्त्र तुम्हारे प्रतिकार-से परे था।' श्रीकृष्णने कहा—'लोकमंगलके लिए मैं सृष्टिमें चार स्वरूप धारण किये रहता हूँ। मेरी एक मूर्ति नारायणके रूपमें रहकर बद्रीनाथमें तप करती है। दूसरे रूपसे मैं जगतके शुभाशुभ कर्मोंपर दृष्टि रखता वैकुण्ठवासी हूँ। तीसरे रूपसे मैं समय-समयपर पृथ्वीपर अवतार लेता हूँ। मेरा चतुर्थ स्वरूप सहस्र दिव्य वर्षों तक जलमें शयन करता है। इस शेषशायी रूपमें मैं जब सहस्र वर्षोंके अनन्तर शयनसे उठता हूँ तो ऋषि-महर्षिगणोंको वरदान देता हूँ।

'एकबार ऐसे ही अवसरपर भू देवीने मुझसे वरदान माँगा—'मेरा पुत्र नरकासुर देव, दैत्य सबसे अवध्य हो जाय! वह अमर हो तथा उसके पास वैष्णवास्त्र रहे।

'मैंने धरा देवीको कह दिया कि अमरत्व तो नहीं दिया जा सकता किन्तु केवल मैं उनके पुत्रको मार सकूँगा और वह भी तब जब वे स्वयं ऐसा करनेको कहेंगी। मैंने वैष्णवास्त्र दे दिया। मैंने उस भौमासुरको मार दिया तो वैष्णवास्त्र भगदत्तको प्राप्त होगया। इन्द्र, रुद्र आदिमें भी कोई ऐसा नहीं जो इस अस्त्रसे मारा न जा सके। तुम्हारी प्राणरक्षाके लिए ही मैंने इसका आघात सहकर इसे व्यर्थ कर दिया। अब यह असुर भगदत्त अस्त्र रहित होगया।'

अर्जुनने अवश्य वाण मारकर भगदत्तके महागजको मार दिया, किन्तु भगदत्तके वधमें उन्हें फिर श्रीकृष्णकी सहायता आवश्यक हुई। केशवने ही बतलाया—'यह भगदत्त बहुत बड़ी आयुका है। इसकी पलकें उठती नहीं। नेत्र प्रायः बन्द रहते हैं। इस समय पलकोंको वस्त्रकी पट्टीसे इसने ललाटके साथ बाँध रखा है।'

यह सूचना पानेपर अर्जुनने वही पट्टी वाण मारकर काट दी। इससे भगदत्तके नेत्र बन्द होगये और अर्जुनको उसके शिरच्छेदनका समय मिल गया। इस प्रकार अर्जुन इस इन्द्रके मित्रको मार सके।

दूसरे दिनके इस युद्धमें भी द्रोणाचार्यका युधिष्ठिरको बन्दी बनानेका प्रयास असफल सिद्ध हुआ। उन्होंने प्रयत्न बहुत किया और पाण्डवपक्षकी सेनाका संहार भी बहुत किया। अनेक महारथियोंको पीछे भागनेको भी विवश किया किन्तु युधिष्ठिर तक वे पहुँचते इससे पूर्व ही भगदत्तको भी मारकर अर्जुन सम्मुख आ पहुँचे।

द्रोणाचार्य अर्जुनके आनेपर स्वयं संकटमें पड़ गये। कर्ण उनकी रक्षाको आगे बढ़ा किन्तु सात्यकिके साथ युद्धमें कर्ण ही मारा जाता यदि जयद्रथ, द्रोणाचार्य आदिने उसको बचाया न होता।

अर्जुन और भीमसेनने आजके युद्धमें कौरवपक्षका इतना विनाश किया कि उनकी सेना अस्त व्यस्त होकर भाग चली। सूर्यास्त होगया इसी समय, अतः दोनों दल युद्ध रोककर अपने शिविरोंको लौटने लगे।



अर्जुनकी प्रतिज्ञा

सत्पुरुष सदाके लिए समाप्त होजायँ, यदि दुष्टोंके दुरभिप्राय सफल होते रहें। दूसरे दिनकी पराजयसे दुर्योधन बहुत दुःखित हुआ था। रात्रिमें द्रोणाचार्यके समीप जाकर बोला—'आपने प्रसन्न होकर मुझे वरदान तो दे दिया किन्तु उसे अवसर आनेपर भी पूर्ण नहीं किया। कल समीप आनेपर भी युधिष्ठिरको आपने छोड़ दिया। लगता है कि आपका हमपर स्नेह समाप्त होगया है।'

खिन्न होकर आचार्य बोले—'राजन् ! मैंने तो पहिले ही कहा था कि अर्जुनको पराजित करना असम्भव है। श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ हों तो भगवान् शंकर भी उनके सामने पराजित ही होंगे। युद्धका ऐसा कोई कौशल नहीं जिसे अर्जुन न जानता हो या न कर सके। उसे यदि तुम दूर हटा सको तो मैं कल ऐसा अभेद्य व्यूह बनाऊँगा जिसमें पाण्डव पक्षके श्रेष्ठतम एक महारथीकी मृत्यु तो अवश्य ही होगी।'

आचार्य द्रोणकी सम्मतिसे संशप्तकोंने पुनः प्रातःकाल अर्जुनको युद्धकी चुनौती दी। अर्जुन उनसे युद्ध करने चले गये। आचार्य द्रोणने चक्रव्यूह बनाया सेनाका। इस व्यूहका भेदन पाण्डव पक्षमें केवल अर्जुन तथा उनके पुत्र अभिमन्युको आता था। लेकिन अभिमन्यु व्यूहसे निकलनेकी शिक्षा नहीं पा सके थे। अर्जुनकी अनुपस्थितिमें विवश होकर युधिष्ठिरको व्यूह भेदनके लिए अभिमन्युको आदेश देना पड़ा। पाण्डवोंने आशा की थी कि अभिमन्युकी बनायी भिन्न व्यूह भित्तिके मार्गसे वे भी भीतर जा सकेंगे किन्तु मानवकी आशा सदा सफल तो नहीं होती। कोई अभिमन्युके पीछे व्यूहमें नहीं जा सका।

अकेला बालक अभिमन्यु व्यूहमें गया। उसका पराक्रम अकल्पनीय था किन्तु संख्या बल बहुत बड़ी वस्तु है। कौरव महारथियोंने उसे घेर लिया। द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा, कृतवर्मा तथा वृहद्बल इन ६ महारथियोंने मिलकर उसके रथके अश्व मार दिये, धनुष काट दिया और निहत्था करके उस अद्वितीय शूरका वध कर दिया।

उस दिनके युद्धका प्रधान नायक जयद्रथ था। उसने पहले तपस्या करके भगवान् शंकरसे वरदान मांगा 'मैं अकेले ही पाण्डवोंको युद्धमें पराजित कर सकूँ।'

भोले बाबाने कह दिया—'अर्जुनको पराजित करना तो संभव नहीं है किन्तु शेष चारको तुम युद्धमें परास्त कर सकते हो।'

इस वरदानके प्रभावसे व्यूहके मुख्यद्वारपर स्थित जयद्रथने उस दिन पाण्डव पक्षके सभी वीरोंको पीछे हटा दिया। अभिमन्युके अतिरिक्त दूसरा कोई भी व्यूहमें प्रविष्ट नहीं हो सका था।

उस दिन सूर्यास्तके समय संशप्तकोंका संहार करके अर्जुन जब अपने शिविरकी ओर लौटने लगा तो उन्हें बहुत अमंगल सूचक अपशकुन मिले।

मार्गमें ही श्रीकृष्ण-अर्जुनने सायं सन्ध्या की। संशप्तकोंके संग्राममें पूरा दिन लग गया। शिविरमें आनेपर वहाँ सर्वत्र उदासी दीखी। अभिमन्युकी मृत्युका समाचार पाकर अर्जुन शोकसे मूर्च्छित होगये। वे कुछ सचेत होनेपर विलाप करने लगे।

श्रीकृष्णने सखाको समझाया—'युद्धमें पीठ न दिखानेवाले श्लाघ्य शूरोंको इसी पथसे जाना पड़ता है। शास्त्रोंने श्रेष्ठ क्षत्रियकी यही गति कही है। धर्मयुद्धमें शत्रुके हाथसे मृत्यु उत्तमवीरको सदा अभीष्ट रहती है। अभिमन्युने अमित पराक्रम करके शत्रुओंका संहार किया है और तब मारा गया है। उसके लिए शोक मत करो। तुम्हें तो भाइयों तथा दूसरे शोकार्त लोगोंको आश्वासन देना चाहिए।'

श्रीकृष्णके समझानेपर अर्जुनने युधिष्ठिरसे पूरा वृत्त विस्तारसे सुनानेको कहा। बहुत व्यथापूर्वक धर्मराजने बतलाया कि विवश होकर उन्होंने अभिमन्युको व्यूहमें प्रवेशकी आज्ञा दी। वे स्वयं सब महारथियोंके साथ अभिमन्युकी रक्षा करने साथ जाना चाहते थे किन्तु जयद्रथने सबको द्वारपर रोक दिया।

सब सुनकर अर्जुन पहिले तो मूर्च्छित होगये फिर सचेत होनेपर क्रोधमें भरकर बोले—'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जयद्रथ यदि कल युद्ध त्यागकर कुरुक्षेत्रसे होकर नहीं भाग गया अथवा भगवान श्रीकृष्ण या महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें नहीं आ गया तो मैं कल सूर्यास्त तक उसे अवश्य मार दूँगा। उसे मैं कल न मार सका तो स्वयं प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करके देह त्याग कर दूँगा। कल जयद्रथ चाहे स्वर्गमें जा छिपे या पातालमें, उसके रक्षक बनकर सब दैत्य-दानव आ जायँ या सब देवता, कल उस अभिमन्युके शत्रुको मैं अवश्य मार दूँगा।'

पार्थकी इस प्रतिज्ञाका समाचार कौरव शिविरमें भी पहुँच गया। जयद्रथ भय और शोकसे व्याकुल होकर भाग जाना चाहता था किन्तु दुर्योधन उसे लेकर द्रोणाचार्यके समीप गया। द्रोणाचार्यने जयद्रथकी रक्षा करनेका वचन दिया। दुर्योधनका कहना था—'कल शाम तक जयद्रथको बचा लिया जाय तो अर्जुन अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार जल मरेगा। अर्जुनके न रहनेपर शेष पाण्डवोंको जीत लेना तो बहुत सरल है।'

यहाँ पाण्डव शिविरमें श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनसे कहा—'धनंजय! तुमने अपने भाइयों तथा मुझसे भी पूछे बिना जयद्रथके वधकी प्रतिज्ञा कर

ली, यह उचित नहीं किया। यह दुस्साहस है। इससे तुम्हारा उपहास होगा। अपने गुप्तचरोंने जो कौरवपक्षका समाचार दिया है, वह चिन्ताजनक है।'

श्रीकृष्णने वह समाचार सुनाया कि सव्यसाचीकी प्रतिज्ञाका समाचार पाकर जयद्रथ कितना डर गया था। उसे लेकर दुर्योधन स्वयं द्रोणाचार्यके समीप गया। जयद्रथकी रक्षाका पूरा प्रवन्ध आचार्यने कर लिया है। कलके युद्धमें कर्ण, भूरिश्रवा, अश्वत्थामा, वृषसेन, कृपाचार्य और शल्य ये ६ महारथी आगे रहेंगे। द्रोणाचार्यने ऐसा व्यूह बनाया है जिसका अगला भाग शकटाकार है और पिछला भाग कमलके समान है। कमल व्यूहकी मध्य कर्णिकापर सूची व्यूहमें छिद्रस्थानपर जयद्रथ छिपा रहेगा।

स्पष्ट था कि श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी रक्षार्थ कितने सतर्क रहते थे। गुप्तचरोंका संचालन वे ही करते थे। उनकी बात सुनकर अर्जुनने कहा—'मधुसूदन! कल सिन्धुराज जयद्रथकी रक्षा यदि सम्पूर्ण चराचरके प्राणियोंको लेकर यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र और रुद्र भी आ जायँ तो भी वे उसे मरा देखेंगे। मेरे हाथमें गाण्डीव जैसा धनुष है और आप सारथि हैं तो मेरी प्रतिज्ञाके पूर्ण होनेमें सन्देह कहाँ है। ब्राह्मणोंमें सत्य, साधुओंमें नम्रता तथा यज्ञमें श्री भले न रहें, किन्तु जहाँ आप नारायण हैं, वहाँ विजय निश्चित है।'

अर्जुन अपनी इस आस्थाके बलपर निश्चिन्त थे और कौन ऐसा साहस कर सकता है कि इस आस्थाको अल्पशक्ति कहे। श्रीकृष्णपर आस्था—इसके सम्मुख टिकनेवाली शक्ति तो हो नहीं सकती। इस आस्थाका पराभव तो प्रलयमें भी सम्भव नहीं। पार्थका अजेय बल यह आस्था और जो भी अर्जुनके समान श्रीकृष्णपर आस्था करके निश्चिन्त हो सके, वह अर्जुनके समान सदा अदम्य एवं अजेय।

सचिन्त श्रीकृष्ण

अभिमन्युके मारे जानेका समाचार उपप्लव्य शिविरमें भी पहुँचा और वहाँसे सुभद्रा, द्रौपदी, उत्तरा आदि स्त्रियां रोती हुई पाण्डव शिविरमें आ गयी थीं। अर्जुन स्वयं इतने शोक कातर थे कि वे अपने शिविरमें क्रन्दन करती उन महिलाओंके समीप जानेका भी साहस अपनेमें नहीं पाते थे। उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'माधव। आप ही अपनी बहिन सुभद्रा और बधू उत्तराको समझाइये।'

सुभद्रा जीवनमें प्रथम बार शोकार्त हुई थीं। उन महनीयाने समस्त विपरीत परिस्थितियोंको, बड़ीसे बड़ी विपत्तिको अपने भाईका मंगल विधान ही माना था और उसमें सदा सुप्रसन्न रही थीं किन्तु उनका मातृत्व आज उन्हें उन्मथित कर रहा था। वे कातर क्रन्दन कर रही थीं।

अभिमन्युकी पत्नी उत्तरा—वह बेचारी बालिका। अभिमन्यु ही सोलह वर्षके हुए थे इस समय और वह तो उनसे छोटी थी दो वर्ष। अभी इसी वर्ष युद्धारम्भसे कुछ मास पूर्व विराटनगरमें पिताने उसका विवाह सम्पन्न किया था। विवाहमें लगी मेंहदीकी ललाई भी हाथोंसे नहीं छूटी और वह विधवा होगयी। उसका क्षण-क्षणपर मूर्च्छित होना! सुभद्रासे पुत्रवधूकी यह व्यथा कैसे सही जाय।

उत्तराने सुनते ही सहमरणका निश्चय कर लिया था किन्तु भगवान् व्यास आ पहुँचे थे उपप्लव्य शिविरमें उसी समय। उन्होंने द्रौपदीको बुलाकर कह दिया—'उत्तरा अन्तर्वत्नी है। उसके गर्भमें जो अभिमन्युका अंश है, वही कुरुवंशका बीज बनेगा। अत: उत्तराको सती होनेकी आज्ञा शास्त्र नहीं देता। उसे समझाओ।'

उत्तराका सती होनेका आवेश सुनते ही समाप्त होगया और अब वह शोक-विह्वल बालिका! उसे कैसे कोई समझावे।

श्रीकृष्ण सर्वसमर्थ हैं। वे जहाँ सुमनसे भी सुकुमार हृदय हैं, वहाँ वज्रसे भी निष्ठुर भी हैं। इन्हें जहाँ भक्तका तनिक-सा भी भय-कम्पन

व्याकुल कर देता है, उसके समीपसे भी विपत्तिकी छाया निकल जाय, यह स्वीकार नहीं होता, वहीं इन्हें किसीके भी मरणका शोक-स्पर्श नहीं करता। इनका संकल्प जहाँ असंख्य ब्रह्माण्डोंका सृजन करता है, वहीं संहारका महाताण्डव भी करता है।

सुभद्रा देखते ही भाईके चरणोंपर गिरकर फूट पड़ी—'भैया! तुम्हारे रहते यह क्या होगया?'

श्रीकृष्ण रोये नहीं। कोई दिखावा नहीं किया। स्वस्थ स्वरमें बोले—'बहिन! तुम भी इतनी व्याकुल होती हो? तुम वीर जननी हो। जानती हो कि अमर कोई रह नहीं सकता। अभिमन्यु वृद्ध होकर रोग-शय्यापर मरता तो कोई लाभ था? वह क्षत्रियके लिए परम अभीष्ट गतिको पा सका। असंख्य योद्धाओंका संहार करके, कौरव दलके महारथियोंका मानमर्दन करके, सम्मुख समरमें मरकर सूर्य-मण्डल भेदन कर योगियोंको प्राप्त होनेवाली दुर्लभ गतिसे परमपदको प्राप्त हुआ। यह अवसर योधाके जीवनमें तो बार-बार नहीं आता।'

श्रीकृष्ण चाहें, ये सम्मुख हों तो किसीका शोक टिका करता है। सुभद्राने नेत्र पोंछ लिये—'भैया! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। सबका श्रेय तुम्हारे ही हाथोंमें सुरक्षित है। तुम वही करते हो, जिसमें तुम्हारे चरणाश्रितोंका आत्यन्तिक हित हो। मैं भूल रही थी कि अभिमन्यु मेरा था। वह तो तुम्हारा ही था। तुम्हारा स्नेह भाजन था। तुमने जिसमें उसका श्रेय समझा, वही उचित था।'

श्रीकृष्णने उत्तराकी ओर देखा—'वहू! अपनेको सम्हाल लो। तुम इस कुरुवंशकी माता होचुकी हो। अभिमन्युकी धरोहरकी सुरक्षाका दायित्व आ गया है तुमपर। उसकी ओरसे उदासीन मत बनो!'

बाल-विधवा उस बालिकाने सिमटे हुए ही भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम किया। वह अपने सगे श्वसुरके इन सखा, अपने पतिके इन स्नेहमय मामाको अपने मानसमें सदा पूजती रही है। पतिने एकान्तमें इनका ही तो निरन्तर सुयश सुनाया है। इनके सम्मुख उसका संकोच उसे बोलने भले न दे किन्तु इनका आदेश, इनका दिया दायित्व तो उसका सर्वस्व है। वह जीवित रहेगी, इनकी आज्ञाका पालन करनेके लिए जीवित रहेगी। उसे अपने शोकको समाप्त ही करना चाहिए।

'कृष्णे ! इनको लेकर तुम लौटो।' श्रीकृष्णने द्रौपदीकी ओर देखा—'विजयकी प्रतिज्ञा सुन ही चुकी हो। कल क्या होगा, कौन कह सकता है। अभिमन्युकी उत्तर क्रिया तो अब यदि अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेते हैं तो उसके पश्चात् होगी।'

स्वयं अर्जुनके लिए आशंका है, यह बात वहाँ साभिप्राय कही गयी थी। इससे सुभद्रा, उत्तराका भी ध्यान आसन्न विपत्तिकी ओर चला गया और जो घट चुका था उसका शोक ही घट गया। द्रौपदीने कहा—'कलके सम्बन्धमें मुझे कोई चिन्ता नहीं है। गाण्डीव धन्वाके रथकी रश्मि तुम्हारे हाथोंमें रहती है, इसलिए वे चाहे जो प्रतिज्ञा कर लेनेको अपनेको स्वाधीन मानते हैं। वे भले भूल करते हों, उसको सुधार लेनेमें तुम असमर्थ नहीं हो।'

द्रौपदी सब स्त्रियोंको लेकर उसी समय उपप्लव्यके शिविरमें चली गयी किन्तु श्रीकृष्णकी चिन्ता इतनी ही तो नहीं थी। वे वहाँसे अर्जुनके शिविरके शयन-कक्षमें पहुँचे। हाथ धोकर आचमन किया और अपने हाथसे वेदीपर कुशोंकी शय्या बिछायी। अक्षत, गन्ध, पुष्पमाल्य, सुमन आदिसे उसे सजाया। इतना करके अर्जुनको आचमन करनेको कहा। आचमन करके अर्जुन बैठ गये तब श्रीकृष्णके आदेशसे सुशिक्षित सेवकोंने सब सामग्री एकत्र की और वहाँ भगवान शंकरका सविधि-निशीथ पूजन हुआ।

पूजन सम्पन्न करके अर्जुनने प्रसादस्वरूप चन्दन, माला आदिसे श्रीकृष्णको अलंकृत किया और पूजनमें प्रयुक्त समस्त उपहार तथा पूजनका फल भी श्रीकृष्णको अर्पित कर दिया।

'एतत् सर्वः अस्योपासनफलं च श्रीकृष्णार्पणमस्तु।' कहा अर्जुनने तो सस्मित वे कैटभार्दन बोले—'विजय ! तुम्हारा मंगल हो। आज इसी शय्यापर शयन करो। मैं तुम्हारे कल्याण कार्यमें ही लगने जा रहा हूँ।'

वहाँ सशस्त्र रक्षक तो सदा रात्रिमें रहते थे किन्तु श्रीकृष्णने उस दिन अधिक प्रहरी नियुक्त किये और उनको विशेष रूपसे सावधान रहनेको सतर्क करके तब अपने शिविरमें आये।

उस दिन पाण्डव-शिविरमें अकेले अर्जुन ही निश्चिन्त सोये। जिसके लिए श्रीकृष्ण सचिन्त जग रहे हों, वह चिन्ता क्यों करे। लेकिन शेष सब

लोग कलकी चिन्ता और चर्चामें जागते रहे रात्रिभर। कौरव-शिविरमें तो कोई सो ही कैसे सकता था। दुर्योधन समझता था कि कल जयद्रथको बचा लिया तो अपनी विजय सुनिश्चित होगयी। वह द्रोणाचार्य, कर्ण, कृप प्रभृति सबके यहाँ सबको उत्साहित करता घूमता रहा। आचार्य द्रोण रात्रिभर सैनिकोंका व्यूह बनाते रहे और स्वयं उस व्यूहका निरीक्षण करते रहे।

कोई उस समय कहाँ जानता था कि यह तृतीय दिनकी रात्रिका जागरण कितनोंका काल बनेगा और कलकी रात्रि भी युद्ध करते ही बीतनी है। अब युद्ध तो जयद्रथकी ही नहीं, स्वयं आचार्य द्रोणकी आहुति लेकर विरमित होगा।

अर्जुनको निश्चिन्त सो जानेके लिए कहकर श्रीकृष्ण अपने शिविरमें आये। वे भी विश्राम करने लेटे किन्तु कुछ ही क्षणोंमें बैठ गये और दारुकको बुलाकर समीप बैठा लिया। उस रात्रिके निशीथमें श्रीकृष्णके आन्तरिक उद्गारका साक्षी उनका वह एकमात्र सारथि बना जो उनका अन्तरंग आत्यन्तिक सेवक था।

उन अन्तर्यामी हृषीकेशने माना पार्थके प्रेमावेशमें प्रलाप प्रारम्भ किया—'दारुक! अपने पुत्र अभिमन्युकी मृत्युसे शोकार्त पार्थने जो प्रतिज्ञा कर ली है उसे तुमने सुना ही है। दुर्योधन कल जयद्रथकी रक्षाके लिए कुछ नहीं उठा रखेगा। उसकी सब सेना, सब महारथी कल इसका प्राणपणसे प्रयत्न करेंगे। द्रोणाचार्यसे सुरक्षित जयद्रथको मार देना वज्रधर इन्द्रके लिए समस्त सुरोंकी सहायता होनेपर भी शक्य नहीं है किन्तु अर्जुनकी प्रतिज्ञा कल पूरी होनी ही चाहिए।

'मुझे स्त्री-पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी कोई भी अर्जुनसे अधिक प्रिय नहीं है। मैं अर्जुनसे रहित इस संसारको दो घड़ी भी देख नहीं सकता। मेरे रहते अर्जुनका अनिष्ट कोई कर नहीं सकेगा।

'आवश्यकता हुई तो मैं अर्जुनके लिए कर्ण, दुर्योधन आदि समस्त शत्रुओंका स्वयं संहार कर दूँगा।' इतना कहते-कहते श्रीकृष्णके स्वरमें आवेश आ गया। उनके नेत्र अरुण होउठे—

'दारुक ! कलके युद्धमें अर्जुनके लिए पराक्रम प्रकट करते श्रीकृष्णका पौरुष सारी सृष्टिको चकित कर देगा। मैं कल चक्र उठाऊँगा और कौरवोंका पूरा कुत्सित समुदाय काटकर धर दूँगा। कल त्रिलोकी देखेगी कि श्रीकृष्णको मित्रता करना आता है और वह अर्जुनका मित्र है। जो अर्जुनसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो अर्जुनसे प्रेम करता है वह मुझसे प्रेम करता है। अर्जुन मेरा आधा शरीर है।'

अब केशवने दारुककी ओर देखा—'कल प्रातः तुम्हें भी सावधान रहना है। मेरे रथको अभी रात्रिमें भली प्रकार सजा दो। कौमोदकी गदा, शार्ङ्ग धनुष, मेरे त्रोण, नन्दक खड्ग, चक्र, शक्ति आदि सब अस्त्र-शस्त्र उसमें रख दो। गरुड़ध्वज भली प्रकार सुसज्जित रखो। अश्वोंको स्नान कराके, स्वर्ण कवचसे सुरक्षित करो और तृप्त करके रथमें जोड़ो। स्वयं भी अपना उत्तम कवच पहिनकर रथ लेकर सतर्क रहना। मेरे पांचजन्य शंखका ऋषभ स्वर सुनायी पड़ते ही प्रमाद त्यागकर शीघ्र मेरे समीप पहुँच जाना।'

दारुकको इतने आदेशोंकी आवश्यकता थी ? कभी किंचित भी श्रीकृष्णके सारथिने स्वामीकी सेवामें प्रमाद किया था अथवा उनका संकेत समझनेमें भूल की थी ? इससे पहिले कभी दारुकको कुछ कहा ही नहीं गया था। वह स्वामीकी इच्छा समझनेवाला सेवक किन्तु आज तो उसके आराध्य आवेशमें थे। वह हाथ जोड़े, मस्तक झुकाये चुपचाप सुन रहा था और वे बोलते जा रहे थे।

'दारुक ! मैं कल एक ही दिनमें अर्जुनके सब दुःख दूर कर दूँगा। अर्जुन कल धृतराष्ट्र पुत्रोंकी आँखोंके आगे जयद्रथको मार देंगे और कोई कुछ नहीं कर सकेगा। कल महामृत्यु अर्जुनके संकल्पके साथ उनके वाणपर बैठेगी और सव्यसाची जिसे-जिसे मारना चाहेंगे, वह चामुण्डा उसे उसी क्षण मुखमें लेकर चबा डालेगी।'

दारुकने अन्तमें कहा—'स्वामी आप सर्वसमर्थ हैं। आपका संकल्प अन्यथा नहीं हो सकता। आप चाहते हैं तो अर्जुनकी विजय सुनिश्चित ही है। आपका यह सेवक आपकी आज्ञाका पालन करेगा।'

दारुक प्रणाम करके उठा। उसे अश्वोंको खिला-पिलाकर रथको सुसज्जित कर देना था। उसने अपने छोटे भाईको भी दूसरा रथ शस्त्र-सज्ज करके प्रातः सतर्क रहनेको कह दिया। श्रीकृष्ण दारुकके चले जानेपर वहीं बैठकर ध्यानस्थ होगये। उनकी चिन्ता अभी भी समाप्त नहीं हुई थी।

अर्जुनका स्वप्न

श्रीकृष्ण अपने शिविरमें उस रात्रिके तृतीय प्रहरमें ध्यानस्थ बैठे थे। उन सच्चिदानन्दघनमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीन शरीरोंका भेद नहीं है और न अन्तःकरण है, किन्तु उन अचिन्त्य अच्युतका वर्णन तो हम अपने ही समान करनेको विवश हैं। अपने समान सोचे, बोले बिना समझनेका हमारे समीप दूसरा उपाय ही नहीं है। अतः इस अपूर्ण अपनी ही भाषामें कहना पड़ेगा।

श्रीकृष्ण ध्यानस्थ थे। उनका संकल्प सक्रिय था। अर्जुन अपने शिविरमें अपने सखाके द्वारा बिछाये गये कुशोंके आस्तरणपर सोये-सोये स्वप्न देखने लगे। स्वप्न सूक्ष्म शरीरमें ही दीखता है, अतः कह सकते हैं कि अर्जुनका स्थूल शरीर सोया पड़ा रहा और उनके सूक्ष्म शरीरको साथ लेकर श्रीकृष्णने यात्रा प्रारम्भ कर दी। वैसे अर्जुनने प्रातः जागकर सबसे यही कहा कि उन्होंने रात्रिमें अद्भुत स्वप्न देखा है। अर्जुनने अपने स्वप्न-का जो वर्णन किया, वही देना है।

अर्जुन वनवासकालमें भगवान व्यास द्वारा उपदिष्ट शिवमन्त्राम कान-सिक जप करते-करते सो गये थे। स्वप्नमें ही उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण सचिन्त मुख किये उनके समीप आये हैं; स्वप्नमें ही अर्जुनने उठकर उनका स्वागत किया। उन्हें आसन दिया। श्रीकृष्ण बैठ गये और अर्जुन हाथ जोड़े खड़े रहे।

श्रीकृष्णने कहा—'विजय ! तुम विषाद क्यों कर रहे हो ? शोक मत करो ! शोक तो मनुष्यका शत्रु है। जो कार्य करना है उसके लिए प्रयत्न करो। प्रबल उद्योग करो।'

अर्जुन सचमुच चिन्ता करते हुए सोये थे। स्वप्नमें वह चिन्ता ही प्रगट हुई—'मैंने सिन्धुराजके वधकी प्रतिज्ञा आवेशमें कर ली किन्तु दुर्योधनके समीप ग्यारह अक्षौहिणी सेना युद्धारम्भमें थी। कठिनाईसे उसमेंसे अब तक एक अक्षौहिणी मारी गयी होगी। दस अक्षौहिणी सेना और द्रोण, कर्ण, कृप आदि सब महारथी कल जयद्रथके पीछे खड़े होंगे। मैं कितना भी परिश्रम एवं पराक्रम करूँ, दिनभरमें जयद्रथ तक पहुँचना तो असम्भव ही लगता है। इन दिनों सूर्यास्त भी शीघ्र होता है। प्रतिज्ञा पूर्ति न होनेपर मेरे जैसा पुरुष जीवन धारण कैसे करेगा। अतः कल मुझे अपनी मृत्यु निश्चित लगती है।'

अर्जुनके अन्तरकी यही चिन्ता तो श्रीकृष्णमें प्रतिफलित हो रही थी। इसीसे वे ध्यानस्थ अपने शिविरमें बैठे थे। उन भक्तवत्सलके लिए अपनोंका चिन्तित होना सदा असह्य रहा है। स्वप्नमें भी अर्जुनकी बात सुनकर अच्युत आचमन करके पूर्वाभिमुख बैठ गये और अर्जुनसे बोले—'पार्थ ! भगवान पुरारिका पाशुपतास्त्र यदि तुम्हें प्राप्त हो तो कल तुम अवश्य जयद्रथको मार सकोगे। यदि तुम्हें उसका ज्ञान न हो तो मन ही मन वृषभध्वज प्रभुका स्मरण करके उनकी शरण लो। उन शशांकशेखरका ध्यान करो।'

अर्जुनने स्वप्नमें ही जल लेकर आचमन किया और पृथ्वीपर बैठकर भगवान पशुपतिका चिन्तन करने लगा। शीघ्र ही उसने देखा कि वह श्रीकृष्णके साथ आकाश मार्गसे यात्रा कर रहा है। केशवने उसकी दाहिनी भुजा पकड़ रखी है और वे दोनों बहुत ऊपर उठकर हिमालयके उच्चतम शिखरोंको पार कर रहे हैं।

अनेक पर्वतों, नदियोंको पार करते, कुबेरकी अलकापुरीका भी अतिक्रमण करके आगे वे बाणके समान गतिसे बढ़ते गये। अन्तमें अपने तेजसे गगन एवं दिशाओंको उद्भासित करता कैलास पर्वत दीख पड़ा। उसके शिखरपर सहस्रों सूर्योंके समान तेजोमय, कर्पूर गौर, पिंगल जटा भूषित, त्रिशूलधारी, कृष्ण मृगचर्म पहिने, त्रिलोचन, नीलकण्ठ प्रभु

खड़े तप कर रहे थे। भगवती उमा उनके समीप थीं और भूत-प्रेत उनकी सेवामें उपस्थित थे। महर्षिगण उन पिनाकपाणिका स्तवन कर रहे थे।

उन देव देव महादेवका दर्शन होते ही श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ उस शिखरपर उतर गये। दोनोंने भूमिमें मस्तक रखकर प्रणाम किया। दोनों हाथ जोड़कर एक साथ एक स्वरसे गंगाधर सदाशिवकी स्तुति करने लगे।

अर्जुनने आश्चर्यसे देखा कि रात्रिमें पूजनके उपरान्त जो पूजोपहार उन्होंने श्रीकृष्णको समर्पित किये थे, वे यहाँ भगवान् शशांकशेखरके समीप रखे हैं अथवा उनके श्रीविग्रहपर शोभा पा रहे हैं। अर्जुनने मन ही मन शंकरजी और श्रीकृष्णकी भी पूजा की और दिव्यास्त्र प्राप्तिके लिए प्रार्थना की।

भगवान शिव सस्मित बोले—'श्रीकृष्ण! मैं तुम्हारे सखाके साथ तुम्हारा स्वागत करता हूँ। तुम इन्हें जिसलिए ले आये हो, जानता हूँ। तुम्हारी इच्छा ही मेरी इच्छा है। यहाँ समीप ही अमृतमय सरोवर है। जिस दिव्य धनुष एवं वाणसे मैंने पूर्वकालमें सुरोंके शत्रुओंका संहार किया था, वह वहीं रखा है। तुम वहाँसे उस उत्तम धनुषको वाण सहित ले लो।'

भगवान शंकर स्वयं उठ खड़े हुए। पार्षदोंके साथ वे उस सरोवरके समीप गये। श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने उनका अनुगमन किया। वहाँ जलमें दो नाग दीख पड़े। एक सूर्यमण्डलके समान प्रकाशित था। दूसरा सहस्र फणधारी था और मुखसे अग्निज्वाला उगल रहा था। श्रीकृष्ण और अर्जुनने जलसे आचमन करके भगवान् सदाशिवको प्रणाम किया तथा हाथ जोड़े हुए उन दोनों नागोंके समीप जा खड़े हुए। दोनों वहाँ खड़े-खड़े शतरुद्रीका पाठ करने लगे।

अचानक दोनों नाग धनुष और वाणके रूपमें परिवर्तित होगये। वह धनुष-वाण उठाकर दोनों शंकरजीके समीप आये और उन्हींके हाथोंमें वह धनुष-वाण सादर समर्पित किया।

शंकरजीके दक्षिण पार्श्वसे उसी समय पिंगल नेत्र, नीललोहित वर्ण जटाधारी एक तपस्वी ब्रह्मचारी प्रकट हुआ। उसने प्रणाम करके वह धनुष-वाण शिवके हाथसे ले लिया और धनुर्धरके समान खड़ा होगया। उसने धनुषको कैसे पकड़ा, कैसे प्रत्यंचा चढ़ायी, कैसे खड़ा हुआ—यह

सब अर्जुनने ध्यान देकर देखा। इन सबमें कुछ अद्भुत विशिष्टता थी। अर्जुन तथा दूसरे महारथी जैसा करते थे, उससे कुछ विशेष वैशिष्ठ्य था प्रत्येक क्रियामें।

भगवान शंकरने स्पष्ट मन्त्रोच्चारण किया। उसे भी अर्जुनने सुना और वह उन्हें स्मरण होगया। वह ब्रह्मचारी फिर शिवके श्रीविग्रहमें लीन होगया। शंकरजीने वह धनुष और वाण उसी सरोवरमें डाल दिया। अब शिवने अर्जुनको अपना अमोघ पाशुपतास्त्र भी प्रदान कर दिया। श्रीकृष्ण और अर्जुन भगवान शंकरको प्रणाम करके, उनकी अनुमति लेकर अपने शिविरकी ओर लौटे।

यह स्वप्न देखकर अर्जुनकी आँख खुली तो ब्राह्ममुहूर्त भी कुछ बीत चुका था। विजय-सूचक मंगल शंख ध्वनि सुनायी पड़ रही थी। अर्जुन उठकर नित्य-क्रियामें लग गये। उन्हें स्नान-संध्या करके शीघ्र प्रस्तुत होना था। उन्हें उठते ही सूचना मिल गयी कि श्रीकृष्णचन्द्रने रथ सज्जित कर लिया है और राजा युधिष्ठिरके समीप पहुँच गये हैं।

युद्धमें अश्व परिचर्या

महाराज युधिष्ठिरने श्रीकृष्णका प्रभातकाल स्वागत किया। उनसे बोले—'जनार्दन! आप ही इस संकट-समुद्रमें हमारे कर्णधार हैं। यदुवंश शिरोमणि! हम आपके रक्षणीय हैं। देवदेव पुरुषोत्तम! आपको प्रणाम! आप ही हम सबके रक्षक हैं।'

श्रीकृष्णने आश्वासन दिया—'आप चिन्ता मत करें। अर्जुन आज जयद्रथको मारकर ही आपके शिविरमें लौटेंगे। त्रिभुवनकी समस्त शक्ति मिलकर भी आज सव्यसाचीके शरोंसे सिन्धुराजको बचा नहीं सकेगी। उसे आज यमपुरी जाना ही पड़ेगा।'

अर्जुनने वहाँ आकर बड़े भाईको प्रणाम करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। श्रीकृष्णके साथ फिर अपने शिविरमें लौटे। शीघ्र ही

नन्दिघोष रथ आजकी विजय यात्रापर चल-पड़ा। युधिष्ठिर तथा सेनाकी रक्षाका भार भीमसेन एवं सात्यकिपर छोड़ दिया गया। श्रीकृष्णके सारथ्यमें अकेले अर्जुनको व्यूहमें प्रवेश करना था।

श्रीकृष्ण साथ हों तो शुभ शकुन स्वत: आगे आवेंगे। अपशकुनोंका अनवरत क्रम तो उनको मिलता है जो उन कमल लोचनके प्रतिपक्षमें होते हैं। अर्जुनकी यात्रा अनेक शकुनोंका स्वागत लेती चली। दुर्धर्षणकी गजसेना आगे आकर मर मिटी। दु:शासनको भागकर प्राण बचाने पड़े। द्रोणाचार्यसे उस दिन युद्ध अनावश्यक था। श्रीकृष्णने अर्जुनको आचार्यसे उलझने नहीं दिया। सावधान कर दिया—'आचार्यसे उलझकर अधिक समय नष्ट मत करो। इनको एक ओर छोड़कर ही आज आगे बढ़ो।'

आते ही अर्जुनने व्यूहके मुखभागपर स्थित आचार्यको श्रीकृष्णकी सम्मतिसे प्रणाम करके कहा था—'आप मुझे आशीर्वाद दें। मेरी कल्याण कामना करें। आप मुझे अपने पुत्र अश्वत्थामाके समान समझें। आपकी कृपासे ही मैं इस व्यूहमें प्रवेश पाना चाहता हूँ।'

द्रोणाचार्य कहाँ इन बातोंमें आनेवाले थे। उन्होंने कह दिया—'मुझे पराजित किये बिना व्यूहमें प्रवेश करके जयद्रथ तक पहुँचना असम्भव है।'

युद्ध आरम्भ होगया किन्तु श्रीकृष्णने अर्जुनको सावधान करके रथ एक ओर हाँक दिया। द्रोणाचार्यने पुकारा—'पाण्डुनन्दन, युद्धमें शत्रुको पराजित किये बिना तो तुम हटते नहीं। आज इस प्रकार कहाँ जा रहे हो?'

हँसकर अर्जुनने सिर आचार्यकी ओर करके हाथ जोड़े—'आप मेरे शत्रु नहीं, सम्मान्य हैं। आपको भला कौन पराजित कर सकता है।'

द्रोणाचार्य देखते रह गये। वे यदि व्यूह-द्वार त्यागकर हटते हैं तो सात्यकि, भीमसेन आदि दूसरे महारथियोंको कोई रोक नहीं सकेगा। तब व्यूह ही नष्ट हो जायगा। अत: वे वहीं खड़े रहनेको विवश थे।

व्यूहका द्वार न सही, भित्ति सही। व्यूहकी भित्ति केवल सैनिकोंकी पंक्ति ही तो होती है। नन्दिघोष रथका वेग कोई सैनिक या सेनापति आज रोक सकता था। गुडाकेशका गाण्डीव आज मृत्यु वर्षा कर रहा था

और श्रीकृष्णके करोंका संकेत पाकर अश्व मनुष्यों तथा रथोंको ही नहीं, गजोंको भी टक्कर मारते, कुचलते अनवरुद्ध बढ़े जा रहे थे।

नन्दिघोष रथका वेग आज असह्य था। वह जिधर जा रहा था, पीछे पर्याप्त चौड़ाईमें मनुष्यों, अश्वों, हाथियोंके कटे-फटे शरीरोंका समुदाय, टूटे रथों, अस्त्र-शस्त्र तथा कवचोंके खण्ड और रक्तकी कीच छोड़ता जा रहा था। लगता था कि प्रलयके देवता उधरसे सपरिकर निकल गये हैं।

मृत्यु, पराजय अथवा पलायन आज जो भी अर्जुनके सम्मुख संग्राम करने आया, प्रतिपक्षी बना, उसके प्रारब्धमें इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। अर्जुन अनवरत बाण वर्षा कर रहे थे और श्रीकृष्ण गजों तथा शवोंकी राशिको रौंदते रथको पूरे वेगसे बढ़ाये चले जा रहे थे।

कृतवर्माको भागना पड़ा अर्जुनके आगेसे। श्रुतायुध और सुदक्षिण सदाको संग्राम भूमियोंमें सो गये। इस प्रकार असंख्य सैनिकों, महारथियोंको आज अर्जुन समर शैय्या देते जा रहे थे। बहुत बड़ा प्रयास था दुर्योधनका, वह आज अपने पक्षके चाहे जितने वीरोंकी बलि देकर भी पार्थके रथको रोकना चाहता था किन्तु पार्थ-सारथिको रोकनेमें तो संहारके अधिदेवता भी समर्थ नहीं हैं, बेचारे दुर्योधनके पृष्ठपोषक प्रज्वलित पावकमें पतंग ही बन सकते थे, बनते चले गये।

संख्या बल बहुत बड़ा बल है। कौरवोंकी सेना उस दिन प्रभातकालमें लगभग दस अक्षौहिणी थी। आचार्य द्रोणके द्वारा बनाया उसका व्यूह बहुत अधिक विस्तृत था। वह व्यूह ऐसा था कि मध्यमें बहुत रिक्त भूमि थी। व्यूहमें प्रवेश करके आगे बढ़नेवालेपर चारों ओरसे घेरकर आक्रमण किया जा सकता था। व्यूहमें बहुत दूर तक अर्जुनको जाना था। इतनी दूर कि कोई उन्हें न भी रोके तो भी तीसरे प्रहर तक वे जयद्रथके समीप कठिनाईसे पहुँच सकें।

यह ठीक है कि आज श्रीकृष्ण जिस वेगसे रथ ले जा रहे थे, वह आचार्य द्रोणके लिए भी अकल्पनीय था किन्तु निरन्तर संघर्ष करते ही अर्जुनको बढ़ना था। एक क्षण भी उनके धनुषको विश्राम नहीं था। अश्वोंको तनिक भी समतल भूमि नहीं मिली। उन्हें मनुष्योंको ही नहीं, गजोंके शवों तथा टूटे रथोंके समूहपरसे दौड़ना पड़ रहा था। इसमें उनको

कितना श्रम होगा, कोई समझ सकता है। अतः दोपहर होते-होते अर्जुनके रथके अश्व बहुत थक गये। उनके पूरे शरीरमें इतने वाण लगे थे कि शरीर अश्वोंका नहीं, काँटोंसे भरा सेही का लगने लगा था। अर्जुनने इसे लक्ष्य किया। उसने श्रीकृष्णसे कहा—'माधव! मैं समझता हूँ कि रथको रोककर अश्वोंको खोल दें और इनके शरीरोंमें लगे वाण निकाल दें तो उत्तम।'

'तुमने मेरे मनकी बात कही है।' श्रीकृष्ण तत्काल रश्मि छोड़कर रथसे उतरे। उन्होंने केवल एकबार चारों ओरसे घेरकर घुमड़ती घटाके समान आगे बढ़ते उत्साहमें भरे शत्रुके समुदायको देखा और फिर अश्वोंको खोलनेमें लग गये। उनकी वह दृष्टि—वह दृष्टि ही तो जीवन तथा मृत्यु दोनोंका मूल कारण है। अब प्रतिपक्षमें देर तक किसीको कोई दिव्यास्त्र स्मरण नहीं आ सकता। अब रथके नीचे धनुष चढ़ाये अविचल खड़े धनंजय तक किसीका वाण नहीं पहुँच सकता। अब कोई दो पद भी पार्थ की ओर बढ़ा और उसे महाकालीके अदृश्य करोंने मसलकर धर दिया, यह सब व्यवस्था तो वह एक ही दृष्टि कर चुकी और वही दृष्टि अब स्नेहकी अमृत वर्षा करती अश्वोंके शरीरको स्वस्थ, सबल, श्रान्तिहीन बना रही है।

श्रीकृष्णने अश्वोंके शरीरसे वाण निकालते निकालते अर्जुनसे कहा—'पार्थ! अपने अश्व प्यासे हैं। यहाँ कोई जलाशय नहीं है। तुम इसकी तत्काल व्यवस्था करो। इन्हें स्नान कराना है।'

'अच्छा!' केवल इतना कहकर अर्जुनने धनुषपर चढ़े वाणको वारुणास्त्रसे अभिमन्त्रित करके भूमिपर आघात किया। पृथ्वी फोड़कर इतनी प्रबल जलधारा प्रकट होगयी कि उसने एक ही झटकेमें आसपास बढ़े आते शत्रु-समूह तथा वहाँ पड़े शव, रथ-खण्ड आदि सब बहा दिये। सुन्दर, स्वच्छ जलसे भरा सरोवर दो क्षणमें वहाँ लहराने लगा। बहुत विशाल सरोवर और उसमें जलपक्षी उतरने लगे। अर्जुनके उस मन्त्रबलसे सरोवरमें उसी समय कमल उगे और खिल गये। उसमें मछलियाँ और कछुए क्रीड़ा करते दीखने लगे। अगाध जलसे भरे उस परमपावन तीर्थमें स्नान करने, उस युद्धभूमिमें भी गगनसे देवर्षिके साथ अनेक दिव्य ऋषि-महर्षि उतर आये। श्रीकृष्णके इस अश्व-परिचारक रूपका दर्शन लोभ उन्हें यहाँ खींच लाया था। तीर्थस्नान तो बहाना बना था।

अर्जुनके धनुषने वाणोंकी ऐसी झड़ी लगायी कि खड़े, आड़े, तिरछे वाणोंसे सरोवरपर एक गृह ही बन गया। उसकी भितियाँ और छत सब वाणोंसे बनी थीं। उसमें वाणोंके ही खम्भे थे।

'साधु! साधु!' श्रीकृष्ण हँसकर बोले—'बहुत सुन्दर! उत्तम निर्माण किया तुमने।'

शत्रु-समूह उमड़ रहा था। वाणोंकी अनवरत वर्षा कर रहा था। इससे अधिक उत्तम अवसर कहाँ मिलना था कि अकेले अर्जुन भूमिपर खड़े थे। अनेक महारथी आ गये थे और वे गदा, परिघ आदि कुछ भी प्रहार करनेमें कुछ उठा नही रख रहे थे किन्तु अर्जुनने सबको अपनी शर-वर्षासे रोक दिया था। वे दिव्यास्त्रका प्रयोग करके शत्रुओंके शस्त्रोंको बार-बार भस्म कर रहे थे। श्रीकृष्णको अब इधर देखनेकी भी आवश्यकता नहीं थी। एक ही बार चारों ओर देखकर वे अपने सखाकी सुरक्षासे निश्चिन्त होगये थे।

अश्वोंको खोलकर श्रीकृष्णने टहलाया, भूमिमें लिटाया। वाणोंसे बने उस गृहमें ले जाकर मुस्कराते हुए वे उन अश्वोंसे बातें कर रहे थे और अश्व हर्षसे अपने सारथिको सूंघ-सूंघकर हिनहिना रहे थे। श्रीकृष्णने उनका कवच पहिले ही उतार दिया था। उनके शरीरोंसे वाण निकाल दिये थे। जलमें खड़ा करके उनको अपने हाथोंसे मलकर भली प्रकार स्नान कराया। श्रीकृष्णके अमृतस्यन्दी स्नेहपूर्ण श्रीकरोंका स्पर्श पाकर कहीं व्रण बचे रह सकते थे। घावोंके चिह्न तक नहीं रह गये। श्रान्ति तो मिटी ही, सम्पूर्ण शरीर जैसे वज्रका होगया और प्रत्येक नाड़ी मानो अपार शक्ति प्रवाहसे परिपूर्ण हो गयी।

पानी पिलाकर, स्नान कराके श्रीकृष्णने अश्वोंको घास और दाना डाला। उन्हें पुचकार पुचकार कर उन सदाके गोपाल-पशुपालने खिलाया। वे स्नेहसे न खिलाते, उनके समीप रहते किसी पशुको चारेसे मुख लगाना अच्छा लगता है? अश्व तो उनकी परिचर्यासे, स्नेहसे ही परिपुष्ट हो गये। वे स्वयं अब स्फूर्तिमय बने कूदने लगे थे रथमें जोते जानेके लिए। अपने इस अद्भुत अलौकिक सारथिकी सेवाका सौभाग्य मिला है उन्हें, यह वे भली प्रकार समझते थे।

'धन्य ये धनंजय रथके अश्व।' स्नान करते सरोवरमें उतरे ऋषि-महर्षियोंके नेत्र तो उस बाणोंसे बने गृहमें ही लगे थे। उनमें एक ही चर्चा थी—'अहोभाग्य इनका! कोई सुर, कोई महर्षि इस सौभाग्यका किंचित कण भी पानेका अधिकारी नहीं। इनकी पाद-रेणु भी पवित्र कर सकती है त्रिभुवनको।'

श्रीकृष्ण अश्वोंको लिये उस गृहसे निकले। उन्होंने उनको कवच धारण कराया और रथमें जोड़ा। उन्होंने मुड़कर भी उस बाण-गृहकी ओर नहीं देखा। जानते थे, स्नानार्थ उतरा ऋषि समूह उस गृहके जलमें अन्तिम डुबकी लगाने आ गया है और वहीं अपनी सन्ध्या, तर्पण करके तब जायगा।

हाथका सहारा देकर अर्जुनको उन्होंने रथपर बैठाया। चारों ओर एकत्र कौरव सेनामें निराशा और भगदड़ मच गयी। वे अपनेको धिक्कार रहे थे। यह सबने समझ लिया कि जब भूमिपर स्थित अर्जुनका कुछ नहीं बिगाड़ा जा सका तो अब रथारुढ़, श्रीकृष्णसे संरक्षित उसके अवरोध-का अर्थ मरणके अतिरिक्त और क्या होगा।



जयद्रथ-वध

आचार्य द्रोण व्यूह-द्वार त्याग नहीं सकते थे। दुर्योधनने उन्हें अर्जुनको व्यूह-प्रवेश करनेपर उलाहना दिया तो आचार्यने अपने हाथों उसके शरीरका कवच बाँधा और समझाकर, आश्वासन देकर अर्जुनको रोकनेके लिए भेजा।

अश्वोंको स्नान कराके जब रथमें जोड़कर श्रीकृष्णने रथ हाँका, कौरव सेना इतनी हताश होचुकी थी कि वह भागने लगी थी। दुर्योधन इसी समय आगे आया। उसे देखते ही श्रीकृष्णने अर्जुनको उत्साहित किया—'सब अनर्थोंकी जड़ यही है। इसने तुम लोगोंको अनेक कष्ट दिये हैं। इसे आज मार ही डालो।'

अर्जुनको भी यह अभीष्ट था। दुर्योधन यद्यपि उत्साहमें भरा था, उसके अंग सब अभेद्य कवचसे सुरक्षित थे और अर्जुनका दिव्यास्त्र मानवास्त्र भी उसपर व्यर्थ होगया किन्तु अन्तमें उसे आहत होकर भागना पड़ा।

अब भी जयद्रथ एक कोस दूर था और दुर्योधनकी रक्षाके लिए उसके पक्षकी अधिकांश सेना तथा महारथी आ गये थे। उन्होंने अर्जुनको घेर लिया था। श्रीकृष्णने अर्जुनको धनुषका ज्याघोष अधिक करनेका आदेश दिया और स्वयं पांचजन्य शंख अधरोंसे लगा लिया। इतनी प्रचण्ड ध्वनि मानो ब्रह्माण्ड फट जायगा। गाण्डीवका वह ज्याघोष तथा पांचजन्यका निनाद मानव मस्तिष्कके लिए असह्य था। शत्रु-सैनिक मूच्छित होकर गिर पड़े। रथोंके अश्व तथा गज अपनी ही सेनाको रौंदते व्याकुल भागने लगे। इस अवसरको पाकर अर्जुनका रथ वायुवेगसे शत्रुका घेरा तोड़कर आगे बढ़ गया। अब जयद्रथके रक्षक महारथियोंका सूची व्यूह सम्मुख था।

भूरिश्रवा, शल्य, कर्ण, वृषसेन, शल, कृपाचार्य और अश्वत्थामा इन सात महारथियोंने अपने पीछे जयद्रथको सुरक्षित कर रखा था। दुर्योधन भी वहाँ आ पहुँचा था। इस प्रकार अकेले अर्जुनको नौ महारथियोंसे युद्ध करना था।

व्यूहके मुखपर भी महासंग्राम छिड़ा था। वहाँ दिनके तृतीय प्रहरमें युधिष्ठिरने सचिन्त होकर अर्जुनका समाचार पानेके लिए सात्यकिको व्यूह-प्रवेश करनेको कहा। आचार्य द्रोणको पराजित करना सात्यकिके लिए संभव नहीं था। विकट संग्रामके अनन्तर अर्जुनके समान सात्यकिने भी आचार्यको एक ओर छोड़कर व्यूहमें प्रवेश किया। सात्यकिके लिए व्यूहमें आगे बढ़ना अपेक्षाकृत सुगम था। अर्जुन कौरव सेनाका बहुत बड़ा भाग समाप्त करते गये थे। वे सूचीव्यूह तक पहुँच चुके थे। अतः वहाँसे एक साथ कई महारथी सात्यकिको रोकने आगे नहीं आ सकते थे।

सात्यकिको अपने यादव महारथी कृतवर्मासे ही संग्राम करना पड़ा पहिले, किन्तु कृतवर्मा द्वारिकाकी सेनाके उन प्रधान योधासे शीघ्र पराजित होकर हट गया। त्रिगर्तोंकी गजसेना और जलसन्ध सात्यकिकी शराग्निमें स्वाहा होगये। कृतवर्मा पुनः लौटा राजा दुर्योधनको आया देख, किन्तु दोनोंको प्राण बचाकर भागना पड़ा। दुःशासन म्लेच्छोंकी पाषाणवर्षी सेना लेकर आया था पर जब सात्यकिने उस सेनाको समाप्त कर दिया, आहत दुःशासन भाग खड़ा हुआ।

सात्यकिको भेजे बहुत विलम्ब हुआ तो चिन्तित धर्मराजने भीमसेनको व्यूहमें जानेकी आज्ञा दी। भीमसेन तो अर्जुन नहीं थे कि आचार्य द्रोणका सम्मान करके उन्हें छोड़कर आगे बढ़ते। वे रथसे कूदकर आचार्यका रथ हाथसे उठाकर दूर फेंक देते थे। एकके पश्चात् दूसरा इस प्रकार द्रोणके आठ रथ फेंककर भीमसेनने ध्वस्त कर दिये और मुख्यद्वारसे व्यूहमें प्रवेश किया। व्यूहमें पहुँचते ही धृतराष्ट्रके ग्यारह पुत्रोंको मार दिया। इससे कौरव सेना भीमके आगेसे भाग खड़ी हुई।

भीमसेन आगे बढ़ते हुए सूची व्यूहके समीप तक पहुँच गये और अर्जुनको देखकर अपने सिंहनादसे उन्होंने युधिष्ठिरको सूचना दे दी। धर्मराजकी चिन्ता इससे घट गयी।

भीमसेनको रोकने कर्णको आगे आना पड़ा। कर्ण बार-बार पराजित होकर भागता था किन्तु फिर लौट आता था। अन्तमें भीमसेनका रथ नष्ट करके वह उन्हें मूच्छित कर सका किन्तु सावधान होनेपर वे अर्जुनके समीप पहुँच गये और उनके ही रथपर बैठ गये। कर्णके साथ युद्ध करते हुए भीमसेनने दुर्योधनके अनेक भाइयोंको यमपुर भेज दिया था।

सात्यकि भी अद्‌भुत पराक्रम करते बढ़ते ही आ रहे थे। उनके आगमनकी सूचना श्रीकृष्णने अर्जुनको दी तो अर्जुन राजा युधिष्ठिरके सम्बन्धमें चिन्तित हो उठे। लेकिन अब चिन्ता करनेसे कोई लाभ नहीं था।

सात्यकिको रोका सूची व्यूहसे आगे बढ़कर राजा भूरिश्रवाने। उन्होंने सात्यकिका रथ नष्ट कर दिया। उनको शस्त्रहीन करके पृथ्वीपर गिरा लिया और शिरच्छेदके लिए खड्ग उठाया। इसी समय श्रीकृष्णने अर्जुनको सावधान किया। अर्जुनने बाण मारकर भूरिश्रवाकी वह शस्त्र उठानेवाली भुजा काट दी। भूरिश्रवा खिन्न होकर आमरण अनशनका व्रत लेकर बैठ गया किन्तु सात्यकिने क्रोधवश उसका मस्तक काट दिया।

इसी समय श्रीकृष्णके मुखसे लगा उनका पांचजन्य शंख ऋषभ स्वरमें गूँजने लगा। दारुक अपने स्वामीका शंखनादका संकेत समझ गया। वह उनका गरुड़ध्वज रथ लिये प्रतीक्षा ही कर रहा था। उसे व्यूहमें आनेमें कोई बाधा नहीं पड़ी क्योंकि युद्धके नियमानुसार रथमें केवल सारथि हो तो रथ रोका नहीं जाता था। सात्यकिको श्रीकृष्णके दिव्यास्त्रोंसे सज्जित

रथ मिल गया। थोड़ी देरमें ही दारुकका भाई दूसरा रथ ले आया। सात्यकि उस दूसरे रथपर चले गये। दारुकको श्रीकृष्णने व्यूहसे बाहर भेज दिया। अब सात्यकि और भीमसेन उस रथपर बैठकर कौरव सेनाको रोकनेके लिए पर्याप्त थे।

दुर्योधन बहुत चिन्तित था। उत्साहित था। दिनका चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होगया था। अब यदि सूर्यास्त तक जयद्रथकी रक्षा की जा सके तो अर्जुन अपनी प्रतिज्ञानुसार जल मरेगा। उसने कर्णको उत्साहित किया। कर्णने कहा—'भीमसेनके भयंकर एवं विशाल बाणोंसे मेरा अंग-अंग आहत होचुका है। मेरा कोई अंग चेष्टा नहीं कर रहा है। मैं केवल कर्तव्य समझकर किसी प्रकार खड़ा हूँ। फिर भी आपके हितका शक्तिभर प्रयत्न करूँगा।'

अर्जुन भी पूरे उत्साहमें थे। वे भी श्रीकृष्णको शीघ्र जयद्रथ तक रथ ले जानेको कह रहे थे। लेकिन यह बहुत कठिन कार्य था। सब ओरसे कौरव महारथियोंने उन्हें घेर लिया था और उनपर अनवरत बाणवृष्टि कर रहे थे। अर्जुनका पराक्रम कल्पनासे परे था किन्तु कौरव महारथियोंमें भी कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा जैसे ६ महारथी थे और वे भी अपना पूरा पौरुष इस समय प्रकट कर रहे थे।

'अर्जुन! इन ६ महारथियोंको पराजित किये बिना जयद्रथको मारना संभव नहीं है।' श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर मुख किया—'सूर्य अस्ता-चलको जा रहे हैं। अतः जो कुछ हो, उसमें डरना मत और मेरी बात ध्यानसे सुनना।'

अर्जुनने कह दिया—'अच्युत! मैं सदा आपका आज्ञाकारी हूँ।'

श्रीकृष्णकी दृष्टि एकबार ऊपर उठी। अकस्मात् अन्धकार फैलने लगा। अब तक कौरव पक्षमें किसीको सूर्यकी ओर देखनेका समय ही नहीं मिला था। वे अर्जुनका वेग रोकनेमें व्यस्त थे और जानते थे कि पलक झपकनेका भी प्रमाद हुआ तो गाण्डीवसे छूटा बाण प्राण ही पी जायगा। अब अचानक अंधकार फैला तो उन्होंने मान लिया कि सूर्यास्त होगया। दुर्योधनने हर्षसे उछलकर शंखका विजयघोष प्रारम्भ कर दिया।

द्रोणाचार्य बहुत दूर थे। अब भी व्यूह द्वारपर घोर युद्ध चल रहा था। दुर्योधनका शंखनाद उन्होंने सुना तो कुछ समझ नहीं सके। यदि वे समझ पाते तो व्यूह-द्वार त्यागकर भी अपने इस बुद्धिहीन शिष्यको

समझाने भागते क्योंकि हुआ केवल यह था कि सूर्यके सम्मुख एक ओर इतना सघन मेघ आ गया था श्रीकृष्णकी इच्छासे कि जहाँ सूचीव्यूह था, वहाँ दूर-दूर तक सूर्यास्त होनेका भ्रम होने लगा था।

'अर्जुन सत्यप्रतिज्ञ हैं। वे अपनी प्रतिज्ञा छोड़ नहीं सकते। अतः अब इनके लिए शीघ्र चिता सज्जित करो!' दुर्योधनने ही सबसे पहिले आदेश दिया। उसे अर्जुनकी प्रतिज्ञा-रक्षाकी सबसे अधिक चिन्ता होगयी थी। वह साथ-साथ व्यंग करने लगा—'अर्जुन तुम तो व्यर्थ इस प्रतिज्ञाके पचड़ेमें पड़े। तुम्हारी शोभा विराट्नगरमें बृहन्नला बनकर रहनेमें ही थी। तुम कर्णको, अश्वत्थामाको, अथवा हमको कभी जीत नहीं सकते, यह तुम्हें बहुत पहिले समझ लेना था। अब तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्तिमें सहायक होनेके अतिरिक्त हम और कर भी क्या सकते हैं।'

अर्जुन रथसे उतर आये। श्रीकृष्ण अब भी रथपर ही अश्वोंकी रश्मि सम्हाले बैठे थे। दुर्योधनने उनकी ओर देखकर कहा—'पार्थ' तुम इस डींग मारनेवाले वासुदेवके बहकावेमें आकर आज प्राण खो रहे हो। यह कितना अहंकारी और धोखा देने वाला है.........।'

'दुर्योधन, बस!' अर्जुनका अत्यन्त क्रोधमें भराउग्र स्वर गूँजा—'अब एक शब्द भी तुमने श्रीकृष्णके सम्मानके विरुद्ध कहा या और कोई इस प्रकार बोला तो अब भी गाण्डीव मेरे करोंमें है और मैंने यह प्रतिज्ञा नहीं की है कि चितामें प्राणत्यागसे पूर्व पाशुपतास्त्रका प्रयोग नहीं करूँगा। भली प्रकार सुन लो! श्रीकृष्ण हम पाण्डवोंके सदा सर्वस्व हैं। हम इनके श्रीचरणोंमें ही चित्त लगाकर देहत्यागकी कामना करते हैं। इन सर्वसमर्थ सकलेश्वरकी इच्छाको कोई भी व्यर्थ करनेमें समर्थ नहीं है। अर्जुनका जीवन और मरण दोनों इनके करोंमें है।'

दुर्योधन भयसे काँप उठा। कृपाचार्यने उसकी भर्त्सना की। सब इस प्रसंगकी ओरसे उदासीन होकर चिता सजानेमें ही जुट गये। चिता क्षणोंमें ही प्रस्तुत होगयी। अर्जुनने धनुष रखा और कवच उतारनेको उद्यत हुए तो श्रीकृष्णने कहा—'विजय! विधवा नारीके समान चितारोहण तुम्हारे उपयुक्त नहीं है। क्षत्रिय वीरके समान कवच पहिने, धनुषपर अपना सर्वोत्तम अस्त्र चढ़ाये तुम्हें चितारोहण करना चाहिए।'

अर्जुनने धनुष उठा लिया। उनको स्वप्नमें देखे भगवान शंकरके पार्श्वसे प्रकट ब्रह्मचारीकी धनुष धारणकी भंगी और उसके द्वारा उच्चारित

मंत्र स्मरण आ गया। उन्होंने ठीक उसी प्रकार गाण्डीव पकड़ा, उसी मुद्रामें खड़े हुए और वाण धनुषपर चढ़ाकर उसे उसी मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर दिया। कौरवोंके लिए इसमें आपत्ति करनेका कोई कारण नहीं था। उनको यह सब व्यर्थ लगता था।

चितामें अग्नि लगानेको उद्यत दुःशासन प्रज्वलित उल्मुक लिये खड़ा था। जयद्रथ पीछेके स्थानसे आगे बढ़ आया। उसे किसीने कहा था—'अब सूर्यास्त होगया। तुम्हारे प्राण सुरक्षित हैं। अपने शत्रुको चिता-रोहण करते देख लो!'

'अर्जुन! अभी भगवान भास्कर अस्त नहीं हुए।' श्रीकृष्णका घनघोष स्वर गूँजा—'जयद्रथ तुम्हारे सामने है!'

अकस्मात अन्धकार हट गया और पश्चिम क्षितिजपर अस्तोद्यत सम्पूर्ण सूर्य बिम्ब प्रकट होगया। कौरव कुछ करते या जयद्रथ भागता, इससे पूर्व तो अर्जुनके धनुषसे वह दिव्यास्त्र छूट चुका था।

'धनंजय सावधान!' श्रीकृष्णने रथ बढ़ाया और हाथ पकड़कर अर्जुनको उसपर उठा लिया। वे कह रहे थे—'जयद्रथका मस्तक नीचे गिरा तो तुम्हारा सिर भी सौ टुकड़े हो जायगा। इसे आकाशमें ऊपर ही ऊपर युद्धस्थलसे बाहर समन्तक पंचक क्षेत्रमें सरोवरके समीप सन्ध्या करने बैठे इसके पिता वृद्धक्षत्रकी गोदमें इस प्रकार गिराओ कि उन्हें पता न लगे।'

दुर्योधनादि भौचक्के रह गये थे। जयद्रथका छिन्न मस्तक आकाशमें उठ चुका था और अर्जुन उसे बराबर वाण मारते हुए ऊपर ही ऊपर एक ओर उड़ाये जा रहे थे। श्रीकृष्ण नन्दिघोष रथको वेगपूर्वक चलाये जा रहे थे। उस रथको रोकनेवाला अब कोई नहीं था।

जब जयद्रथका जन्म हुआ था तब उसके पिताको सम्बोधित करके आकाशवाणी हुई थी—'आपका पुत्र कुल, शील, शौर्यमें श्रेष्ठ होगा किन्तु संग्राममें कोई क्षत्रिय श्रेष्ठ उसका मस्तक काट डालेगा।'

राजा वृद्धक्षत्र इससे सचिन्त रहते थे। युवा होनेपर दुर्योधनने अपनी बहिन दुःशलाका विवाह जयद्रथसे कर दिया था। इस महाभारत युद्धकी योजना बनते ही वृद्धक्षत्रने पुत्रका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिसे बाहर समन्तक पंचक क्षेत्रमें यह संकल्प करके तप करने लगे कि—'उनके पुत्रका मस्तक जिसके द्वारा भूमिपर गिरेगा, उसके सिरके तत्काल सौ टुकड़े हो जायँगे।'

अर्जुनने उस मस्तकको इतने वाण मारे कि वह चारों ओरसे वाणोंसे विद्ध वड़ा भारी कदम्ब पुष्प-सा दीखने लगा। उसे देखकर भी पहिचानना संभव नहीं था। अर्जुनने समन्तक पंचक क्षेत्रके समीप पहुँचकर वाण मारकर धीरेसे जयद्रथका वह सिर उसके सन्ध्यामें बैठे ध्यानस्थ पिताकी गोदमें गिराया।

वृद्धक्षत्र ध्यान करके उठ खड़े हुए। अचानक उनकी गोदसे उनके पुत्रका सिर पृथ्वीपर गिर पड़ा। साथ ही उनके सिरकी खोपड़ी भी सौ टुकड़े होगयी।

अब श्रीकृष्णके मुखसे लगा उनका शंख विजयनाद करता गूंजने लगा। अर्जुनने भी अपना देवदत्त शंख अधरोंसे लगा लिया था। कौरव अब तक सतर्क होचुके थे और क्रोधमें भर गये थे किन्तु श्रीकृष्ण अव अर्जुनको युद्धमें नहीं लगने देना चाहते थे। वे रथको युद्धस्थलसे बाहर ले चले। कौरवोंका सामना करनेके लिए सात्यकि और भीमसेन संग्राम भूमिमें थे ही और वे पर्याप्त थे।

विचित्र प्रसन्नता

श्रीकृष्णचन्द्रने सूर्यास्त होजानेपर शिविरकी ओर चलते हुए अर्जुनसे कहा—'विजय! सौभाग्यकी बात है कि तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। दुर्योधनने जो सैन्य संग्रह किया था, उसके सम्मुख समरमें सुर भी शिथिल हो सकते थे। त्रिलोकीमें तुम्हारे अतिरिक्त अन्य वीर नहीं है जो ऐसा दुष्कर कर्म कर सके। यहाँ जो नरेश एकत्र थे, उनमें अनेक इन्द्रको भी पराजित करनेमें समर्थ थे। अकेले उन सबको पराजित कर देना तुम्हारा ही पौरुष है। पुरुष श्रेष्ठ! तुम्हारा परंतप नाम सचमुच सार्थक है।'

स्वयं सब कुछ करके अपनोंको श्रेय देना, अपने आश्रितोंको आगे कर देना श्रीकृष्णका सदाका स्वभाव है। इनकी कृपादृष्टि रहे, इनके श्रीचरणोंसे चित्त दूर न चला जाय तो जीव अभिमानाक्रान्त नहीं होता

और अपनी सफलतामें इनके समर्थ करको देख पाता है। अर्जुनने कहा—'केशव! इसमें आश्चर्यकी तो कोई बात नहीं है। मैं इससे भी अधिक पराक्रम प्रकट कर सकता हूँ, यदि आप ऐसे ही सहायक संरक्षक हैं। कठपुतलीका पौरुष तो उसके संचालककी शक्ति है और आपकी शक्ति निःसीम है। वह जब अर्जुनके माध्यमसे प्रकट होती है तो उसकी समता कहीं कैसे हो सकती है। यह प्रभाव, यह पौरुष, यह विजय तो आपकी ही है और आप ही की अनुकम्पा है तो हम सदा आपकी बधाईके पात्र बने रहेंगे।'

श्रीकृष्ण यह सब सुना नहीं करते। वे तो जिसे अपना स्वीकार कर लेते हैं, उसके हाथमें उठा तृण भी उन्हें त्रिभुवनका सर्वोत्तम रत्न लगता है। उन्होंने, युद्धभूमिमें अर्जुनने जो पराक्रम प्रकट किया था, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। अर्जुनके द्वारा मारे गये लोगोंको दिखलाते, सखाका उत्साह बढ़ाते लौट रहे थे। आज नन्दिघोष रथ मन्दगतिसे लौट रहा था। स्वयं अर्जुनको आश्चर्य था कि उनके शरोंसे इतना संहार एक दिनमें सम्भव हुआ है।

युधिष्ठिरके समीप पहुँचकर श्रीकृष्णचन्द्र रथसे कूदे और अभिवादन करके हर्षोल्लसित स्वरमें बोले—'महाराजाधिराजका सौभाग्य सूर्य पूर्ण प्रकाशित है। आपका शत्रु मारा गया। आपके अनुजने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली।'

युधिष्ठिरके नेत्र भर आये। कुछ क्षण वे हर्षके वेगमें विह्वल बोल ही नहीं सके। अपनेको सम्हालकर बोले—'कमलनयन! आपके मुखसे यह समाचार पाकर मेरे हर्षका पार नहीं है। गोविन्द! आप जिनके आश्रय हैं, उनके लिए ऐसे संवाद सदा ही सुलभ हैं। हम तो आपके ही आश्रित हैं। आपके ही भरोसे हम इस युद्धमें उतरनेका साहस कर सके। आपका संरक्षण जिसे प्राप्त है, उसके लिए त्रिलोकीमें कुछ भी दुष्कर नहीं है।'

युधिष्ठिरने भाव विह्वल होकर श्रीकृष्णकी स्तुति की। श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन करने लगे तो श्रीकृष्णने उनकी ही स्तुति प्रारम्भ कर दी—'धर्मराज! आपकी तपस्या, धर्मपरायणता, साधुता, सरलताके प्रभावसे ही पापी जयद्रथ मारा गया। कौरव आपके अपमानके पापसे

दग्ध हो रहे हैं। भीष्म जैसा व्रतधारी भी आपके प्रतिपक्षमें जाकर आपकी अवमाननाके दोषसे मरा।'

श्रीकृष्णने अर्जुनके अस्त्रज्ञान, बाहुबल, स्थिरता, धैर्य, पराक्रम, कौशल, स्फूर्ति, बुद्धि वैभवका वन्दीके समान वर्णन किया। युधिष्ठिरने भाईको हृदयसे लगाकर उनकी पीठपर हाथ फेरा।

दूसरी ओर दुर्योधन बहुत व्याकुल होकर द्रोणाचार्यके समीप पहुँचा था। उसके दुःखका पार नहीं था। न केवल उसकी बहिन दुःशला विधवा होगयी थी, उसके विजय पानेके सब स्वप्न समाप्त होगये थे। युद्धके प्रारम्भमें उसके समीप पाण्डवोंसे चार अक्षौहिणी सेना अधिक थी किन्तु आज एक ही दिनके युद्धमें अकेले अर्जुनने उसकी आठ अक्षौहिणी सेनाका संहार कर डाला था। एक अक्षौहिणीके लगभग पहिले मारी जा चुकी थी। अब कठिनाईसे उसके पास दो अक्षौहिणी सेना बची थी। जबकि पाण्डवोंके पास जो युद्धारम्भमें सात अक्षौहिणी थी, उसमें से अभी चार अक्षौहिणीसे अधिक ही उनके पास शेष थी।

जिस संख्या बलपर दुर्योधन युद्धारम्भमें गर्व करता था, वह अब पाण्डुपुत्रोंके पक्षमें होगया था। अब उनके पास कौरवोंसे द्विगुणसे भी अधिक सैन्यबल था। दुर्योधनके लगभग आधे भाई भीमसेन अब तक मार चुके थे।

दुःखी क्षुब्ध दुर्योधनने आचार्य द्रोणको बहुत उपालम्भ दिया। उसने कहनेमें कोई संकोच नहीं किया कि—'आप पाण्डवोंका पक्ष लेते हैं। अर्जुन आपका प्रिय शिष्य है, अतः आपने जान-बूझकर उसे व्यूहमें जाने दिया। उसकी सफलताकी कामनासे ही आप व्यूहमुखपर आग्रहपूर्वक अड़े रहे। अर्जुनको रोकने नहीं आये।'

द्रोणाचार्य लगातार चार दिनसे कठोर परिश्रम करते हुए युद्ध कर रहे थे। दुर्योधन आज भी कई बार उन्हें उपालम्भ दे चुका था। इससे चिढ़कर उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली—'अब मैं पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करके अथवा प्राण त्याग करके ही कवच शरीरसे दूर करूँगा। युद्ध अब विरमित नहीं होगा।'

दुर्योधनको लगा कि आचार्यका यह आवेश बना रहे इसीमें उसका हित है। आवेश शान्त होनेपर फिर पाण्डवोंके प्रति उनमें कृपा उदय

हो जायगी। अतः उसने रात्रिको भी युद्ध चलता रहे—यह स्वीकार कर लिया। उसने जाकर कर्णसे मन्त्रणा की और युद्धकी भेरी बजवा दी।

यह युद्ध दुर्योधनके लिए बहुत भारी पड़ा। उसके पक्षके सब सैनिक और महारथी दिनभर अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोकनेमें प्राण-पणसे जुटे रहे थे। बहुत थक गये थे और बहुत घायल होगये थे। अर्जुनके धनुषकी शर वर्षाने उनके अंग-अंग छलनी कर दिये थे। विश्राम और उपचारका अवसर भी उन्हें नहीं मिला।

दूसरी ओर पाण्डव सेनामेंसे अर्जुन, भीमसेन और सात्यकिको ही व्यूहमें जाकर संग्राम करना पड़ा था। शेष सेनाके लोगोंने तो अपनी ओरसे ही द्रोणाचार्यपर बारबार आक्रमण किया और जब भी हारे, पीछे हट गये। उन्हें पीछे जाकर विश्राम तथा उपचारकी सब सुविधा उपलब्ध थी।

रात्रिके युद्धमें दुर्योधनने पृथक् मोर्चा सम्हाला, किन्तु युधिष्ठिरने उसे पराजित करके भागनेपर विवश कर दिया। पाण्डव सनिकोंका प्रधान आक्रमण आचार्य द्रोणपर ही था। इस रात्रि युद्धमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने सबसे प्रचण्ड पराक्रम प्रकट किया। उसने पाण्डवोंकी एक अक्षौहिणी सेना मार दी। घटोत्कचके पुत्र तथा उसकी राक्षसी सेनाका संहार कर दिया।

भीमसेनने रात्रि युद्धमें भी धृतराष्ट्रके अनेक पुत्रोंको मार दिया। उन्होंने दुर्योधन सहित उसके सब भाइयोंको मारनेकी प्रतिज्ञा की थी। धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देखते ही उनका क्रोध सीमापर पहुँच जाता था और वे संहारकी साकारमूर्ति होउठते थे। इस रात्रि युद्धमें तो उन्होंने शकुनिके भी सब भाइयोंको स्वर्ग भेज दिया।

आजकी विजयसे धर्मराज युधिष्ठिरमें असीम उत्साह आ गया था। इस उत्साहातिरेकमें वे सीधे आचार्य द्रोणसे युद्ध करने लगे थे और पराजित होकर भी पुनः आचार्यपर टूट पड़े थे। द्रोणाचार्यने दिव्यास्त्रोंका, ब्रह्मास्त्र तकका प्रयोग किया किन्तु धर्मराजने सबका उचित उत्तर दिया। ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रसे शान्त कर दिया।

श्रीकृष्ण अर्जुनका रथ लिये युधिष्ठिरके समीप पहुँचे और बोले—'महाराज! आपको आचार्य द्रोणसे दूर ही रहना चाहिए। मेरी बात

मानिए। आचार्य युद्धमें सदा आपको बन्दी बनानेके उद्योगमें रहते हैं। वे कब सफल हो जायँ, कोई नहीं कह सकता। इनका दिव्यास्त्र ज्ञान संसारमें दुर्लभ है। अत: इनके वधके लिए जो उत्पन्न हुआ है, वह धृष्टद्युम्न ही इनसे युद्ध करे। राजाके लिए राजासे युद्ध करना ही शोभास्पद है। अत: आप दुर्योधन जहाँ है, वहाँ पधारें। राजाको सहायक रहते अन्योंसे युद्ध करना उचित नहीं। कौरवोंकी सेनाको अर्जुन तथा भीमसेन भली प्रकार रोक लेंगे।'

धर्मराज युधिष्ठिरने श्रीकृष्णकी ओर देखा। ये भक्तवत्सल इतने सावधान, सचिन्त रहते हैं! चुपचाप युधिष्ठिर पीछे हट गये। अबतक अन्धकार बहुत बढ़ गया था। अत: दोनों सेनाओंमें जो पैदल सैनिक थे उन्होंने शस्त्र रख दिये और मशालें सम्हाल लीं। उनका काम रथों, अश्वों, गजोंके साथ प्रकाश करते चलना रह गया।

संग्राम तो संग्राम ही है। उसमें सभी की जय-पराजय होती रहती है। जब अस्त्र-शस्त्र खटकने लगते हैं, प्राणियोंके शरीरोंका अत्यल्प मूल्य भी नहीं रह जाता। कौन गिने कि कितने हत या आहत हो रहे हैं। कभी कोई बीस पड़ रहा है तो थोड़ी देरमें वही भागनेपर विवश होरहा है।

अपनी सेनाकी बहुत दुर्दशा देखकर दुर्योधनने फिर द्रोणाचार्यको उपालम्भ दिया। कर्णको भी प्रोत्साहित किया। द्रोण और कर्ण दोनों क्रोधमें आ गये तब पाण्डव सेनाको प्राण बचानेके लिए पलायनका पथ सूझा। बहुत कठिनाईसे भीमसेन सेनाको लौटा सके।

कर्णने आज दृढ़ स्वरमें कहा था—'मैं इन्द्रके द्वारा दी शक्तिसे अर्जुनको मार दूँगा।'

यह नित्यका क्रम था। युद्धारम्भके प्रथम दस दिन तो भीष्म पितामहके सेनापति रहते कर्णने युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी किन्तु पितामहके शय्या लेते ही कर्ण प्रधान योधा होगया था। पिछले तीन दिनसे कौरव शिविरमें प्रत्येक रात्रिको मन्त्रणा सभा बैठती थी। उसमें दुर्योधन, दु:शासनादिका कर्णसे एक ही आग्रह रहता था—'तुम कल प्रात: युद्धमें इन्द्र द्वारा प्राप्त अमोघ शक्तिसे अर्जुन अथवा श्रीकृष्णको अवश्य मार दो।'

दुर्योधनका तर्क था—'श्रीकृष्ण ही पाण्डवोंके पराक्रमकी जड़ हैं। उन्हें समाप्त कर दिया जाय तो अर्जुन भी असहाय होजायगा।'

कर्ण जानता था कि दुर्योधन कितना अज्ञानी है। वह समझता था कि सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्णका कोई अस्त्र कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उनपर प्रयोग करके तो वह इन्द्रकी शक्ति खो देगा। स्वयं शक्र जिनसे संग्राममें हार गये, उनकी शक्ति कितनी भी अमोघ हो, कैटभारिका भला क्या बिगाड़ लेगी। अत: इस ओरसे मौन रहकर कर्ण सदा कह देता था—'कल मैं अर्जुनपर शक्ति-प्रयोग करूँगा।'

श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं। वे कर्णके कुविचार तथा कौरव-शिविरकी कुमन्त्रणासे अवगत थे। उनके लिए अर्जुनकी रक्षा अनिवार्य थी। उन्होंने बहुत कम अवसर दिया जब अर्जुनको कर्णसे युद्ध करना पड़े। द्रोणाचार्यके सेनापतित्वके प्रथम दिन वे अर्जुनको आचार्यसे संग्राममें ही उलझाये रहे या अन्यत्र व्यस्त रखा। दो दिन संशप्तकोंने दुर्योधनके कहनेसे अर्जुनको युद्धके लिए ललकारा और अर्जुन दोनों दिन उनसे युद्ध करते रहे।

केवल आज चतुर्थ दिनके युद्धमें अर्जुनने मुख्य भूमिका निभायी किन्तु कर्णको जयद्रथकी रक्षाका दायित्व दे दिया गया था। वहाँ भी अर्जुन पहुँचे तब भीमसेन पीछेसे बढ़े आ रहे थे। कर्णको उन्हें रोकने बढ़ना पड़ा और भीमसेनके साथ युद्धमें कर्ण इतना आहत होगया था कि उसने स्वयं दुर्योधनसे कहा—'मैं इस समय कोई अंग हिलानेमें भी बहुत कष्टका अनुभव कर रहा हूँ।'

इन चार दिनोंमें बहुत कम अवसर आये थे जब कर्णको अर्जुनसे युद्ध करना पड़ा। उस समय भी श्रीकृष्णका सम्मोहन कर्णको शक्तिके प्रयोगका स्मरण ही नहीं रहने देता था। शीघ्र ही कृष्ण अर्जुनको कहीं अन्यत्र हटा देते थे। अब इस रात्रि युद्धमें कर्ण बहुत उत्तेजित था। जयद्रथके मारे जानेसे और स्वयं भीम द्वारा अत्यन्त आहत किये जानेसे बहुत कुछ होउठा था। वह प्रतीक्षा ही कर रहा था कि अर्जुन आगे आवें और उनपर शक्तिका प्रयोग करे। कौरवोंको विशेषत: दुर्योधनको उसने दृढ़ आश्वासन दे दिया था।

जयद्रथ-वधके पश्चात् ही श्रीकृष्ण उसकी कौरवोंपर होनेवाली प्रतिक्रियाके प्रति सतर्क होगये थे। वे अर्जुनको युद्धभूमिसे हटा ले गये थे। रात्रि-युद्धमें तो वे अर्जुनको कर्णके समीप किसी प्रकार नहीं जाने देना चाहते थे। अब जब द्रोणाचार्य और कर्णने प्रचण्ड आक्रमण किया तो अर्जुनको लेकर श्रीकृष्ण घटोत्कचके पास पहुँचे।

क्रुद्ध कर्ण साक्षात् महाकाल बना हुआ था। पाण्डव सेनामें त्राहि-त्राहि मची थी। धर्मराज युधिष्ठिर भयभीत होकर अर्जुनसे कर्णको रोकनेको कहने आये थे किन्तु सब सुनकर श्रीकृष्ण रथको घटोत्कचके समीप ले आये।

भीमसेनके उस अत्यन्त पराक्रमी राक्षसपुत्रके कन्धेपर अपना हाथ रखकर श्रीकृष्णने कहा—'वत्स! यह तुम्हारे पराक्रम प्रकट करनेका अवसर आगया है। तुम्हारे ये पूज्यजन संकटके समुद्रमें डूब रहे हैं। तुम्हीं इनको बचा सकते हो। तुम्हारे समीप राक्षसी माया और असुर अस्त्र-शस्त्र हैं। देखते ही हो कि कर्ण किस प्रकार विनाश कर रहा है। अतः तुम अपने पिता तथा अपने तेजके अनुरूप युद्ध करके सूतपुत्रको रोको। हिडिम्बानन्दन! प्रत्येक पिता संकटमें सहायताके लिए पुत्रकी इच्छा करता है। तुम आज पाण्डवोंके परित्राता बनो। यह रात्रिका समय राक्षसोंका बलवर्द्धक है। इस अर्धरात्रिमें तुम कर्णको मार डालो।'

अर्जुनने भी घटोत्कचको उत्साहित किया। उसे कर्णसे द्वैरथ युद्धको उकसाया। घटोत्कचने हाथ जोड़कर आज्ञा स्वीकार की—'आप दोनोंके आदेशसे मैं कर्णसे युद्ध करने जा रहा हूँ। मैं राक्षस हूँ, युद्धमें लड़नेवालोंको तो दूर, हाथ जोड़नेवालोंपर भी मुझे दया नहीं आती। मेरे आजके पराक्रमका पृथ्वीके लोग सदा स्मरण करेंगे।'

घटोत्कच राक्षस था और उसमें भी भीमसेनका अंश आया था। वह अस्त्रज्ञान तथा मायायुद्ध दोनोंका मर्मज्ञ था। इस रात्रिमें उसका बल बहुत बढ़ा था। श्रीकृष्ण और अर्जुनने उसे गौरव दिया, यह भावना उसके अन्तरको अत्यधिक उत्तेजित कर चुकी थी। दुर्योधनके पक्षमें लड़नेवाला प्रचण्ड राक्षस अलम्बुष घटोत्कचकी क्रोधाग्निमें प्रथम आहुति बन गया। बहुत भरोसा था कौरवोंको अलम्बुषपर किन्तु घटोत्कचने उसे क्षुद्र पशुके समान काट फेंका।

कर्णने घटोत्कचका सामना किया। वह अपने दिव्यास्त्रोंसे उसकी आसुरी मायाको अनेक बार नष्ट करता रहा किन्तु कर्णके पास भी क्या उपाय था इसका कि मायावी राक्षस अनेक मुख बनाकर उसके दिव्यास्त्रोंको निगलता चला गया।

दुर्योधनकी सहायता करने राक्षस श्रेष्ठ अलायुध रथपर बैठा आया। भीमसेनने उसे रोका किन्तु घटोत्कचको यह सहन नहीं था कि उसके रहते उसके पिताको युद्ध करना पड़े। उसने अलायुधको भी सरलतासे मार दिया।

कर्ण अलायुधके आनेपर अवकाश पाकर पाण्डव सेनाके संहारमें लग गया था। अलायुधको मारकर घटोत्कच फिर उसपर टूट पड़ा। कर्णने राक्षसकी मायाका बड़े साहससे निवारण किया, यद्यपि उसका रथ नष्ट होगया और अश्व मारे गये।

सब उद्योग करके भी कर्ण केवल अपनी ही रक्षा कर पा रहा था। राक्षस घटोत्कचने उसके दिव्यास्त्रोंका सामना करते हुए भी कौरव सेनाको कुचल डाला। सब कौरव महारथियोंको लगा कि आजकी रात्रिका प्रभात देखनेको उनके प्राण यह राक्षस रहने नहीं देगा।

घटोत्कच रात्रि बल पाकर प्रचण्डसे प्रचण्डतम होता जा रहा था। उसके प्रहार बढ़ते जा रहे थे। वह सम्पूर्ण दलपर शिला तथा शस्त्रोंकी वर्षा बढ़ाता ही जा रहा था। दूसरी ओर कर्ण दिनभरका घायल था। वह अपनेपर हुए राक्षसके आक्रमणको ही झेल लेता था, यही उसका अगाध साहस था।

दुर्योधन तथा उसके भाइयोंने व्याकुल होकर कर्णको पुकारा— 'महाबाहु कर्ण! इन्द्रसे प्राप्त अमोघ शक्तिसे इस राक्षसको मार दो। अर्जुन और भीमसेनसे तो हम पीछे निबट लेंगे किन्तु आधी रातके समय यह राक्षस तो हमें अभी मार डालेगा। इस घोर रूपी राक्षससे प्राण बचेंगे तब हम प्रभातमें पाण्डवोंसे युद्ध करेंगे। इसे तो अविलम्ब मार दो।'

कर्णको भी दूसरा उपाय नहीं दीखता था। वह भी अबतक अनुभव कर चुका था कि घटोत्कचसे रात्रि युद्धमें अपने साथ औरोंकी भी रक्षा वह कर नहीं सकता। सचमुच यदि राक्षस अभी कौरवोंको मार देता है तो सबेरे शक्ति बची भी रही तो किस कामकी। अत: कर्णने वह अमोघ वैजयन्ती नामक शक्ति हाथमें ली!

उस प्रज्वलित शक्तिको देखकर घटोत्कचने भागना चाहा किन्तु यह प्रयत्न व्यर्थ था। शक्तिका वेग अकल्पनीय था। उसके लगनेसे घटोत्कचका वक्ष विदीर्ण होगया किन्तु उस अदम्य साहस मायावी राक्षसने मरते मरते

भी अपना शरीर इतना बड़ा कर लिया कि हाथ-पैर फैलाकर गिरा तो कौरवोंकी एक अक्षौहिणी सेना अश्व, गज, रथ सहित उसके शरीरके नीचे पड़कर पिस गयी। भीमसेनके उस पराक्रमी पुत्रने मरते-मरते भी इस प्रकार पाण्डवोंका हित-साधन किया।

घटोत्कचकी मृत्युसे भी कौरवोंके लिए प्रसन्न होनेका कारण नहीं था। उनकी एक अक्षौहिणी सेना तो यह राक्षस अपने शरीरसे दबाकर मार गया। बहुत-सी पहिले मार चुका था। कठिनाईसे आधी अक्षौहिणी सेना बची थी और जिस शक्तिके बलपर अर्जुनके मारे जानेकी आशा थी, वह अब जा चुकी थी। अवश्य ही इस समय प्राण-रक्षा होजानेसे कौरव कर्णका उत्साहपूर्वक सत्कार करनेमें लग गये थे।

घटोत्कच जैसे पराक्रमी वीरके मारे जानेपर पाण्डव तो व्याकुल हो ही उठे, उनकी सेनाका एक भी वीर नहीं था जो रो न उठा हो। लेकिन अकेले श्रीकृष्ण ऐसे थे जो हर्षसे सिंहनाद करने लगे थे और उछलकर उन्होंने अर्जुनका आलिंगन किया था। रथको रोककर गर्जना करते हुए हर्षसे झूमकर वे नृत्य करने लगे।

अर्जुन अपने सखाकी इस अद्भुत प्रसन्नतासे बहुत खिन्न होकर बोले—'कृष्ण! हिडिम्बा-नन्दन घटोत्कचकी मृत्युने हम सबको शोकमग्न कर दिया है और प्रसन्न होकर आप इस अनवसरमें नाचने लगे हैं? हमारी विपत्तिमें तो आप प्रसन्न नहीं हुआ करते। आपके इस असाधारण प्रसन्नताका कोई बड़ा कारण होना चाहिए। वह कारण कितना भी गोपनीय हो, मुझे बतला दें। आपके इस हर्षसे मेरा धैर्य समाप्त हुआ जा रहा है। आपकी आजकी प्रसन्नता आश्चर्यजनक है।'

'मैंने आज अपने सखा अर्जुनको सुरक्षित प्राप्त कर लिया, इससे बड़ा हर्षका अवसर मेरे लिए कौन-सा होगा?' श्रीकृष्णने पुनः अर्जुनको हृदयसे लगाया—'तुम नहीं समझ पाते हो कि इन्द्र द्वारा प्राप्त वह शक्ति कितनी भयंकर थी। उसका कोई प्रतिकार संभव नहीं था। कर्णने उसे तुम्हारे वधके लिए ही सुरक्षित रखा था। वह तुमपर उसके प्रयोगको कृतनिश्चय था। आज वह शक्ति उसके हाथसे चली गयी। आज मैं सुखपूर्वक सो सकूँगा। जब तक वह शक्ति कर्णके समीप थी, मुझे तुम्हारी चिन्ताके कारण ठीक निद्रा कभी नहीं आ सकी।'

श्रीकृष्णने अर्जुनको विस्तारपूर्वक बतलाया कि किस प्रकार प्रतिदिन कौरव शिविरमें सब तथा कर्ण भी शक्ति-प्रयोग करके प्रातः अर्जुनको मार देनेका निश्चय करते थे और प्रतिदिन उन सबको ही सम्मोहित करके श्रीकृष्णको संग्रामकी दूसरी ही योजना बनवानी पड़ती थी ।

अन्तमें श्रीकृष्णने कहा—'घटोत्कच युद्धमें न भी मरता तो मैं अपने हाथसे इसे मार देता । मैंने इसके पुत्र बर्बरीकको युद्धारम्भमें ही तुम सबके सामने ही मार दिया था । मैंने अब तक केवल तुम लोगोंके स्नेहका सम्मान रखनेके लिए ही इसे नहीं मारा था । अन्यथा यह धर्मका , वेदका , ब्राह्मणोंका और यज्ञका द्वेषी , इनका विनाशक था । मैं वेद , सत्य , दम , शौच , धर्म , क्षमाके ही साथ हूँ । श्रुति , संत , सुर तथा विप्रोंका विरोधी कोई भी हो , मुझे सह्य नहीं है । तुमको स्मरण नहीं है कि इन्हीं कारणोंसे मैंने अपने पुत्र भौमासुरको भी मारा है ।'

अर्जुनने मस्तक झुका लिया । इतने स्नेहमय , भक्तवत्सलके प्रति उनको अपना आक्रोश बहुत अनुचित लगा । ये श्रीहरि तो स्वभावसे असुर-नाशक हैं । घटोत्कच धर्मद्रोही था , यह तो वे जानते ही हैं ।

श्रीकृष्णने बतलाया कि जरासन्ध , एकलव्य , शिशुपाल , शाल्व , दन्तवक्र प्रभृति कितने दुर्जय थे । वे जीवित होते तो दुर्योधनकी प्रार्थनापर उसकी सहायता करने अवश्य आते । तब पाण्डवोंकी विजय असम्भव हो जाती । इनमें-से प्रत्येक अमित पराक्रम और विश्व-विजयमें समर्थ था । इसलिए इनको अलग-अलग श्रीकृष्ण मारते आये । पाण्डवोंके इस दिनका ध्यान उन्हें सदासे रहा है । श्रद्धा-स्नेह विभोर अर्जुनके नेत्रोंसे अश्रु-प्रवाह चलने लगा था ।

सत्यासत्य

सत्य क्या है ? असत्य क्या है ? इसका निर्णय कर लेना सरल नहीं है। भगवान व्यासका कहना है—

न सत्यवचनं सत्यं नासत्यवचनं मृषा।
यो भूतहितमत्यन्तं तं सत्यं कवयो विदुः॥

हम जो कुछ जैसा जानते हैं, उसे वैसा ही कह देना सत्य नहीं है। इससे बहुत अनर्थ हो सकता है। चिकित्सक जानते हैं कि रोगीको उसके रोगकी गंभीरता बतला देना कितना अहितकर होता है। ऐसे ही अनेक बार अपनी जानकारीको ज्योंका त्यों कह देना अपने अथवा और किसीके लिए बहुत हानिका कारण हो सकता है।

हम जो कुछ जैसा जानते हैं, उसके विपरीत बोल देना ही मिथ्या नहीं है। यदि ऐसा करनेमें अपना निजी स्वार्थ मात्र नहीं है, किसी एक अथवा समूहका हित उद्देश्य है तो वह वाणी अतथ्य होकर भी सत्य है।

जिसमें प्राणियोंका आत्यन्तिक हित हो, जिससे कहो जाय उसका भी परिणाममें मंगल हो तो तत्वदर्शी उस वाणीको सत्य ही मानते हैं।

धर्म केवल देह, वाणी, मनकी क्रियामें ही निहित नहीं है। धर्म भावनामें अधिक, क्रियामें कम है। वैसे तो अर्थ, धर्म, काम ये तीनों पुरुषार्थ त्रिवर्ग कहे जाते हैं। अपवर्ग, मोक्षके पथिकके लिए तीनोंका ही मोह त्याज्य है। उसके लिए अर्थ और कामका राग जितना बाधक है, धर्मका राग उससे कम बाधक नहीं है। इन तीनोंका राग त्यागकर ही श्रीकृष्णके चरणोंमें अनुराग होता है।

जहाँ श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्तिमें ही धर्म प्रतिबन्धक बनकर त्याज्य हो जाता है, वहाँ स्वयं श्रीकृष्णके लिए धर्मका बन्धन कैसे हो सकता है। वे अच्युत धर्मके प्रभु हैं, सेवक नहीं। अतः उनकी दृष्टि धर्मकी स्थूल क्रिया-पर नहीं रहती। धर्मके परिणामको वे देखते हैं। कर्ताके आत्यन्तिक

हितको ही वे अपनाने योग्य मानते हैं। इसके सम्मुख क्रियाका वर्तमान रूप उनकी दृष्टिमें अनेक बार उपेक्षणीय होता है।

महाभारत युद्धके उस चतुर्दश दिनके बीत जानेपर रात्रि-युद्धमें दोनों दलके सैनिक बहुत थक गये थे। अर्जुनने युद्ध-विरामकी घोषणा करके सबको वहीं विश्राम करनेको कहा तो किसीने भी विरोध नहीं किया। कोई मुखसे भले न कहे, प्रतिपक्षके सैनिकोंके हृदयसे अर्जुनके लिए आशीर्वाद ही निकला। प्रथम दिनके प्रभातसे भी पूर्व जो युद्धमें आगये थे, वे पूरे दिन और आधीरात तक युद्धका कठोर श्रम करते-करते अत्यन्त क्लान्त होगये थे। बहुत आहत होगये थे। सब वहीं रण-भूमिमें ही जैसे भी बना, सोगये। वह दो घड़ीका विश्राम भी बहुत सुखद लगा।

इतना अथक प्रयास करनेपर भी जब आचार्य द्रोणके समीप दुर्योधन उपालम्भ देने पहुँचा तो उसकी कठोर बातें सुनकर आचार्य चिढ़ गये। उन्होंने खरी खरी सुना दी—'तुम पापी हो, इसलिए तुम्हें सर्वत्र पाप ही दीखता है। पाण्डव पुण्यात्मा हैं, धर्मपरायण हैं, शीलवान हैं, इसलिए कोई सत्पुरुष उनसे स्नेह न करे, यह सम्भव नहीं है। यह सत्य है कि मेरा उनपर स्नेह है, किन्तु युद्धमें स्नेह नहीं, कर्तव्य प्रधान होता है। युद्धमें भी पाण्डव मेरा सम्मान करते हैं और तुम्हारे लिए मैं प्राण देनेको भी प्रस्तुत हूँ तो भी तुम सन्देह करते हो, यह तुम्हारे पापिष्ठ अन्त:करणका द्योतक है।

'तुमने पासोंके साथ छलपूर्ण क्रीड़ा करायी तो कुछ सोचा था? भरी सभामें पांचाल राजकुमारीका अपमान किया, उसे दुर्वचन कहे तो उन पापोंका परिणाम तुम नहीं भोगोगे, कोई दूसरा भोगेगा? हम सब भी तुम्हारा समर्थन करके मारे जायँगे, यह जानता हूँ।

'दुर्योधन! तुमने बार-बार कहा है कि तुम, कर्ण और शकुनि केवल तीन ही पाण्डवोंको पराजित कर सकते हो। तुम्हें ऐसा करनेसे किसने रोका है? तुम तीनों मिलकर पाण्डवोंसे युद्ध करो। मैंने प्रतिज्ञा की है कि परपक्षको पराजित करके ही कवच उतारूँगा अन्यथा समरभूमिमें सदाको सो जाऊँगा। अब मुझसे और कोई आशा मत करो। मेरे पास

फिर उपालम्भ देने मत आना। कर्ण, शकुनि तथा और जो भी तुम्हें समर्थ सूझें, उन्हें लेकर अपना पराक्रम प्रकट करो।'

दुर्योधनने देख लिया कि आचार्य बहुत क्रुद्ध हैं। उनसे कुछ कहनेसे बात बिगड़ेगी ही। वह वहाँसे चला गया। सेना बहुत थोड़ी रह गयी थी। व्यूह बनाया नहीं जा सकता था। यद्यपि अश्वत्थामाने रात्रि युद्धमें पाण्डवोंकी दो अक्षौहिणी सेना मार दी थी किन्तु अब भी उनके पास कौरवोंसे लगभग चार गुना सैन्यबल अधिक था। अतः कर्ण, शकुनि आदिको लेकर पृथक् मोर्चा खोलना दुर्योधनको उचित लगा।

चन्द्रोदय होनेपर पुनः युद्ध चल पड़ा। पृथक् मोर्चा खोलनेमें कौरव ही कठिनाईमें पड़े। द्रोणाचार्यके सम्मुख धृष्टद्युम्न डटा था पांचाल वीरों तथा सोमकोंको लेकर। स्वयं युधिष्ठिर, अर्जुन और भीमसेन कर्णादिसे युद्ध करने पहुँच गये और चाहे जब द्रोणके समीप पहुँचने, अपने पक्षकी सहायता करनेको स्वतन्त्र होगये। दुर्योधनके दोनों मोर्चे दूर-दूर होगये। उनमें परस्पर सम्पर्क बनाये रखना संख्या बल कम होनेसे सम्भव नहीं रह गया।

द्रोणाचार्य आज अत्यन्त क्रुद्ध थे। वे बहुत आहत थे, थके थे और युद्धमें कवच न उतारनेका प्रण कर चुके थे। इससे वे सब मर्यादाएं भूल गये थे। सामान्य सैनिकोंके संहारके लिए भी दिव्यास्त्र ही नहीं ब्रह्मास्त्र तकका प्रयोग करने लगे थे। उनका वेग रोकनेको सभी पाण्डवोंको वहीं आना पड़ा। आज आचार्यने युधिष्ठिर तथा अर्जुनके विरुद्ध भी ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। ये दोनों अस्त्रज्ञ थे, ब्रह्मास्त्रसे ब्रह्मास्त्रको इन्होंने शान्त कर दिया, किन्तु द्रोणाचार्यने महाराज द्रुपदको मार दिया। पांचाल वीरोंपर अन्धाधुन्ध दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते चले गये।

पाण्डवोंमें सभी सशंक होउठे। आचार्य महान् अस्त्रवेत्ता हैं। वे कभी भी पाशुपत, नारायणास्त्र या ऐसा ही कोई अमोघास्त्र उठा ले सकते हैं। श्रीकृष्णने देखा कि उनके आश्रित पाण्डुपुत्र भयभीत हैं। अपने शरणागतोंका संकट उन्हें सह्य नहीं। उनके जन भय पावें, यह वे भव-भय-भंजन कैसे सह लें। आचार्य द्रोण पाण्डवोंको नष्ट कर देनेका निश्चय कर चुके हैं, यह भी उन सर्वज्ञने जान लिया। कोई कितना भी समर्थ हो,

श्रीकृष्णके चरणाश्रितोंको नष्ट करनेका संकल्प करके वह अपना विनाश ही बुलाता है, यह सत्य प्रकट होनेका अवसर आ गया।

द्रोणाचार्य स्वयं अपने लिए भी अनर्थका सृजन करने लगे थे। जो दिव्यास्त्र नहीं जानते थे, उनपर दिव्यास्त्रका प्रयोग पाप था, पतनका हेतु था। अपने लिए पतनका पथ प्रशस्त करनेमें लगे, दूसरोंके लिए संहारके स्वरूप बने, पुण्यात्मा, भगवदाश्रित पाण्डवोंका विनाश करनेको उद्यत द्रोणाचार्यको देह-बन्धनसे विमुक्त कर देना अनिवार्य आवश्यकता बन गया।

श्रीकृष्ण बोले—'द्रोणाचार्यने स्वयं युद्धारम्भमें महाराज युधिष्ठिरसे कहा है कि उनके हाथमें धनुष रहते इन्द्रादि देवता भी उन्हें पराजित नहीं कर सकते। वे शस्त्र-त्याग कर दें तभी उनका कोई वध कर सकता है। युद्धमें बहुत अप्रिय समाचार मिलनेपर वे धनुष रख देते हैं, यह अपना स्वभाव भी उन्होंने बतलाया है। अत: किसीको जाकर उनसे कहना चाहिए कि अश्वत्थामा मारा गया। एकमात्र पुत्र आचार्यको अत्यन्त प्रिय है। उसकी मृत्युकी बात सुनकर वे शस्त्र त्याग कर देंगे।'

अर्जुनको यह बात तनिक भी नहीं रुची लेकिन श्रीकृष्णकी बातका विरोध वे नहीं कर सकते थे। पाण्डवोंमें कोई नहीं था जो सर्वथा झूठ बोल सकता। भीमसेनने एक उपाय निकाला। पाण्डवोंके अपने पक्षमें ही थे मालवाके राजा इन्द्रवर्मा। उनके विशाल हाथीका नाम अश्वत्थामा था। भीमसेनने उसे मार डाला। इतनेपर भी बड़े संकोचसे, लज्जापूर्वक वे आचार्य द्रोणके समीप जाकर कह सके—'अश्वत्थामा मारा गया।'

अश्वत्थामा दुर्योधनके साथ दूर दूसरे मोर्चेपर युद्ध कर रहा था। उसकी मृत्युके समाचारसे आचार्यके प्राण सूख गये; किन्तु उनका पुत्र तो अमर है और भीम इतने मन्द स्वरमें, इतने संकोचसे तो इतनी बड़ी विजयकी घोषणा करनेवाले नहीं हैं, इन कारणोंसे आचार्यके मनमें सन्देह होगया। वे धृष्टद्युम्नपर प्रचण्ड वेगसे आक्रमण करनेमें जुट गये।

द्रोणाचार्यने पांचाल वीरोंके विनाशके लिए ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। वहाँ वीरोंके शव बिछ गये। इससे विश्वमें मर्यादाकी सुरक्षापर

दृष्टि रखनेवाले दिव्य ऋषि उद्विग्न होउठे। अग्निदेवको आगे करके विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि आदि वहाँ आये। उन्होंने द्रोणको धिक्कारा। उनसे शस्त्र-त्याग कर देनेको कहा। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'तुम्हारा मनुष्यलोकमें रहनेका समय पूरा होचुका। अब पाप मत करो।'

आचार्यने भीमसेनकी बात सुनी थी। ऋषियोंके वचन भी सुने। उनके मरणके लिए ही उत्पन्न धृष्टद्युम्न सम्मुख था। उदास होकर उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे पूछा—'मेरा पुत्र क्या सचमुच मारा गया ?'

द्रोणाचार्यका विश्वास था कि युधिष्ठिर किसी प्रकार झूठ नहीं बोलेंगे। इस समय श्रीकृष्ण अपना रथ युधिष्ठिरके रथसे सटाये बैठे थे। उन्होंने कहा—'आपको इस समय द्रोणके क्रोधसे अपने पक्षके वीरोंकी प्राण रक्षा करनी चाहिए। जो लोग स्वजन-परिवार त्यागकर आपकी सहायताके लिए युद्धमें मर मिटनेको उद्यत हैं, उनकी प्राण-रक्षाके लिए बोला गया झूठ पाप नहीं है। उससे बड़ा पाप है सचके भ्रममें पड़कर उन्हें मृत्यु-मुखमें डाल देना। आचार्य यदि ऐसे ही युद्ध करते रहे तो आधे दिनमें ही आपकी पूरी सेनाका विनाश कर डालेंगे।'

'महाराज! आपको सर्वथा मिथ्या नहीं बोलना है।' भीमसेनने समीप आकर धीरेसे कहा—'अपनी सेनाके इन्द्रवर्माके महागज अश्वत्थामा को मारकर मैंने आचार्यके सम्मुख जाकर कहा कि अश्वत्थामा मारा गया किन्तु मेरी बातपर विश्वास न करके वे आपसे पूछ रहे हैं। अतः आपको भगवान श्रीकृष्णकी आज्ञा स्वीकार कर लेनी चाहिए।'

युधिष्ठिरने हृदयमें बहुत व्यथाका अनुभव किया किन्तु श्रीकृष्णके आदेशको सर्वथा अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता था। उन्होंने उच्च स्वर सेकहा—'अश्वत्थामा मारा गया, फिर धीरेसे बोले—'किन्तु हाथी।'

श्रीकृष्णचन्द्रने अपना पांचजन्य शंख अधरोंसे लगा लिया था। युधिष्ठिरका 'किन्तु हाथी' ये धीरेसे बोले गये शब्द उसके भयंकर निनादमें कोई कैसे सुनता।

कहते हैं कि युधिष्ठिरके रथचक्र उनकी सत्यवादिताके प्रभावसे पृथ्वीसे सदा चार अंगुल ऊपर रहते थे। उनके मुखसे असत्य निकलते ही वे पृथ्वीसे सट गये। एक महापुरुषने इस विषयमें लिखा है—'युधिष्ठिरने

सच्चे मनसे श्रीकृष्णकी बात स्वीकार कर ली होती तो उनका रथ चार अंगुलके स्थानपर चौदह अंगुल ऊपर उठ गया होता।'

बात महापुरुषकी सच है। युधिष्ठिरने अपने सत्यको बड़ा माना, उसे महत्ता दी और तब भी उसके साथ छल किया। यदि वे धर्मके परमप्रभु श्रीकृष्णके आदेशपर आस्था करके बिना हिचके स्पष्ट पालन करते उसका तो उनकी किंचित भी धर्म-हानि नहीं होती।

नारायणास्त्रसे रक्षा

युधिष्ठिरके मुखसे यह सुनकर कि अश्वत्थामा मर गया, आचार्य द्रोणने अस्त्र नहीं फेंका था। वे युद्धमें लगे थे किन्तु दिव्यास्त्र उन्हें भूल गये। उनका त्रोण भी रिक्त होने लगा था। उनपर धृष्टद्युम्न प्रचण्ड आक्रमण कर रहा था। सात्यकि, भीमसेन आदि भी उन्हींपर टूट पड़े थे।

भीमसेनने फिर आचार्यको धिक्कारा। तव आचार्यने धनुष डाल दिया। वे ध्यानस्थ होकर बैठ गये। ध्यान करते हुए उन्होंने देहत्याग किया। इसी अवस्थामें धृष्टद्युम्नने उनका मस्तक काट दिया। पाँच दिन युद्ध करके महाभारत युद्धके पन्द्रहवें दिन दोपहरको द्रोणाचार्य मारे गये।

आचार्य द्रोणके मारे जानेपर कौरव सेना भाग खड़ी हुई। अश्वत्थामाको अपने पिताकी मृत्युका पता लगा तो वह क्रोधोन्मत्त हो उठा। उसे पाण्डवोंका धर्मात्मापन, युधिष्ठिरकी सत्यवादिता, सब पाखण्ड लगा। अश्वत्थामाने शपथपूर्वक समस्त पांचाल एवं पाण्डवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा की।

'मेरे पितापर प्रसन्न होकर भगवान नारायणने उन्हें अपना अमोघ अस्त्र दिया था।' अश्वत्थामाने दुर्योधनादिसे कहा—'वह नारायणास्त्र पिताने केवल मुझे दिया है। इसे सात्यकि, अर्जुन तो क्या, श्रीकृष्ण भी नहीं जानते। मैं इसका प्रयोग करके पाण्डवोंका अभी नाश कर दूंगा।'

केवल कर्ण अश्वत्थामाकी इस डींगसे प्रभावित नहीं हुआ। वह चुप था। कौरव सब प्रसन्न होगये। अज्ञ अश्वत्थामा—उसे कहाँ पता था कि श्रीकृष्ण स्वयं ही नारायणास्त्रके अधिदेव हैं। उसे निष्प्रभाव करना उनके लिए कठिन हो नहीं सकता। अश्वत्थामाके वचन सुनकर कौरव सेनामें उत्साह छा गया। वहाँ नगाड़े गूँजने लगे।

अश्वत्थामाके नारायणास्त्रका प्रयोग करते ही आकाश मेघाच्छन्न होउठा। प्रचण्ड पवन चलने लगा। पृथ्वीमें भूकम्प आ गया और समुद्र उद्वेलित होउठा। पर्वतोंके शिखर टूट टूटकर गिरने लगे।

पाण्डव सशंक होगये थे। आचार्यके वधसे दुःखी अर्जुन धर्मराज युधिष्ठिरकी भर्त्सना कर रहे थे। वे अपनेको भी धिक्कार रहे थे कि उनके देखते-देखते आचार्यका मस्तक काटा गया। केवल भीमसेन क्रुद्ध थे। धृष्टद्युम्न तो अपना कर्म उचित ही मानता था। सात्यकि उसे डांटने लगे तो दोनोंमें विवाद होगया। दोनों परस्पर मरने-मारनेपर उतर आये। श्रीकृष्ण-अर्जुनको मध्यमें पड़कर उन्हें शान्त करना पड़ा।

अश्वत्थामाके उत्साह देनेसे कौरव युद्ध करने आ गये थे। अश्वत्थामाके नारायणास्त्रसे सहस्र-सहस्र प्रज्वलित वाण, गोले, चक्र, गदा आदि प्रकट होकर आकाशमें छा गये। इससे पाण्डव सेना भस्म होने लगी। अर्जुन अब भी उदासीन खड़े थे।

युधिष्ठिर यह देखकर बहुत दुःखी हुए। उन्होंने पुकारकर कहा—'धृष्टद्युम्न! तुम पांचालोंकी सेनाके साथ भाग जाओ। सात्यकि! तुम भी यादवोंके साथ चल दो। मेरे आश्रय तो एकमात्र श्रीकृष्ण हैं। उनसे जो कुछ हो सकेगा, करेंगे। वे सम्पूर्ण जगतका कल्याण ही करते हैं तो अपने आश्रितोंकी उपेक्षा कैसे करेंगे। मैंने सदा ही अपनी कल्याण-कामना करनेवाले आचार्यका वध करवाया है, अतः अर्जुनकी मेरे प्रति जो शुभ-कामना है, उसे शीघ्र अग्नि-प्रवेश करके मैं पूरी करूँगा। मेरे भाई भी मेरे साथ अब भस्म होने जा रहे हैं।'

इसी समय श्रीकृष्णने दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर उच्च स्वरमें सबको सम्बोधित किया—'सब योद्धा मेरी बात सुनें। अपने अस्त्र-शस्त्र फेंक दो और वाहनोंसे उतर जाओ। वाहनहीन, शस्त्रहीनपर नारायणास्त्रका प्रभाव नहीं पड़ता। भूमिपर खड़े निहत्थे लोगोंको यह अस्त्र नहीं

मारेगा। यदि कोई युद्ध करेगा तो प्रतिकारसे इसका तेज प्रचण्ड होता जायगा। जो इसका मनमें भी सामना करना चाहेंगे, वे कहीं भी जायँ, यह उन्हें भस्म किये बिना नहीं छोड़ेगा।'

श्रीकृष्णचन्द्रकी बात सुनते ही योधाओंने अपने अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये और वाहनोंसे उतरकर भूमिमें खड़े होगये। अकेले भीमसेनको यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सिंह-गर्जना की—'कोई क्षत्रिय युद्धमें प्राण रहते अस्त्र त्याग दे, यह उचित नहीं है। अपने वाहनोंपर बैठे रहो। अस्त्र-शस्त्र उठाये रहो। मैं अपनी गदासे इस अस्त्रको नष्ट करूँगा।'

भीमसेनकी बात किसीने नहीं मानी। उन्होंने अर्जुनको भी ललकारा—'अर्जुन! गाण्डीव नीचे डालकर अपने उज्ज्वल यशको कलंकित मत करना!'

अर्जुनने शान्त स्वरमें कहा—'भाईजी! गौ, ब्राह्मण, साधु और नारायणास्त्रके सम्मुख अस्त्र-शस्त्र न उठानेका तो मैंने नियम कर रखा है।'

रथमें ही धनुष, त्रोण रखकर अर्जुन भी नीचे आ गये। श्रीकृष्ण भी रथसे उतर गये। अकेले भीमसेन गदा उठाये सिंह गर्जन कर रहे थे। वे अश्वत्थामाके सम्मुख पहुँचकर उसपर वाण-वृष्टि करने लगे। अश्वत्थामाने हँसकर उनसे बात की। जैसे वायुके झोंकेसे अग्नि बढ़ती है, भीमके प्रतिकारसे वह अस्त्र प्रचण्डतर होने लगा। उसका समस्त तेज भीमसेनपर केन्द्रित होगया क्योंकि पूरी पाण्डव सेनाके दूसरे सब लोग शस्त्र त्यागकर भूमिपर खड़े थे। भीमसेन उस तेजसे आच्छादित होकर अदृश्य प्राय होगये। रथ, सारथि, अश्व सब दावाग्निसे घिरे पशुके समान उस अस्त्रतेजसे घिर गये।

श्रीकृष्ण यह देखते ही दौड़े। अर्जुन भी उनके पीछे आये। दोनोंने उस अस्त्रतेजमें प्रवेश करके भीमसेनको पकड़ा। भीमसेन अब भी गर्जना कर रहे थे। इससे अस्त्रतेज उग्र होता जा रहा था।

श्रीकृष्णने डांटा—'भीमसेन! तुम मेरी भी नहीं सुनते? मना करनेपर भी युद्ध बन्द क्यों नहीं करते? यदि बलसे सामना सम्भव होता तो क्या तुम्हारे ये छोटे भाई धनुष डाल देते। हठ मत करो। रथसे उतरो और चुप रहो।'

श्रीकृष्णने रथसे भीमको हाथ पकड़कर नीचे खींच लिया। अर्जुनने उनके हाथसे गदा छीनकर रथमें डाल दी। भीमसेनको श्रीकृष्णने अपने शरीरसे छिपाया तो वे सिर झुकाकर खड़े होगये। उनके शान्त होते ही नारायणास्त्र शान्त होगया। दिशाएँ स्वच्छ होगयीं। वायु शीतल चलने लगी।

आग्नेयास्त्र निष्प्रभाव

नारायणास्त्र शान्त हुआ तो पाण्डवोंकी सेनाने कौरवोंपर धावा बोल दिया। दुर्योधनने अश्वत्थामासे कहा—'ये सब आपके पिताके हत्यारे हैं। इनपर फिर एकबार इसी अस्त्रका प्रयोग करो।'

'राजन ! इस अस्त्रका पुनः प्रयोग नहीं किया जा सकता।' अश्वत्थामाने कहा—'दुबारा प्रयोग करनेपर यह अपने ऊपर ही आता है। आज सम्पूर्ण शत्रु समाप्त होगये होते यदि श्रीकृष्णने इसकी शान्तिका उपाय न बतला दिया होता।'

'तब कोई दूसरा और अस्त्र उठाओ।' दुर्योधनने प्रोत्साहित किया—'तुम तो अस्त्रवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ हो और ये पाण्डव तथा पांचाल तुम्हारे पिताको मारकर अब मंगल मना रहे हैं। तुम्हारे पास दिव्यास्त्रोंका अभाव तो है नहीं।'

अश्वत्थामा अपने पिताका वध करनेवाले धृष्टद्युम्नको देखते ही उसे मारने दौड़ पड़ा। अत्यन्त क्रुद्ध द्रोणपुत्रने धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा भीमसेनको बहुत अधिक आहत करके पीछे हटनेपर विवश कर दिया। दूसरे कई प्रधान महारथी मार दिये। इससे अर्जुन आगे आये। उन्होंने अश्वत्थामाको ललकारा—'तुममें जितना बल, विज्ञान, वीरता हो वह सब प्रकट कर लो। आज तुम बहुत उद्दण्ड होगये हो। मैं तुम्हारा दर्प दलन कर दूँगा।'

अश्वत्थामा पहिले ही वहुत कुपित था। पिताकी मृत्युके कारण और अपने अमोघ अस्त्रके व्यर्थ कर दिये जानेके कारण भी। अब अर्जुनकी चुनौती सुनकर सावधान होकर रथपर बैठ गया। जल लेकर आचमन करके पवित्र हुआ। आग्नेयास्त्रको मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार करनेके संकल्पसे उसने वह अस्त्र चलाया।

वह अस्त्र अग्निके समान प्रज्वलित था। छूटते ही उससे सहस्त्रों जलते हुए वाण निकल निकलकर आकाशमें छा गये। चारों ओर धूम रहित आगकी ऊँची लपटें उठने लगीं। उन लपटोंने अर्जुनका रथ घेर लिया। वायु अत्यन्त उष्ण होगया। सूर्यका तेज मन्द पड़ गया। दिशाएँ जलने लगीं, जलाशयोंका जल तप्त होकर खौलने लगा।

उस अस्त्रसे असंख्य वाण, दिशा, विदिशा और आकाशमें बरस रहे थे। वे सब वाण सर्वत्र अग्नि फैला रहे थे। मनुष्य, अश्व, हाथी सब चीत्कार करते इधर-उधर दौड़ रहे थे और भस्म होकर गिरते जा रहे थे। ऐसा लगता था कि महाप्रलय प्रारम्भ होगयी है।[1]

कौरव हर्षसे सिंहनाद करने लगे थे। अर्जुनका रथ तथा एक अक्षौहिणी सेना उन प्रचण्ड लपटोंमें अदृश्य होगयी थी। चारों ओर घोर अन्धकार छा गया था। लेकिन अर्जुन अपने रथपर स्वस्थ बैठे थे। उन्होंने अश्वत्थामाके सम्पूर्ण अस्त्रोंके उपशमका संकल्प करके ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया।

सहसा वह आग्नेयास्त्र एवं उससे निकले सम्पूर्ण वाण अदृश्य होगये। दिशाएं स्वच्छ होगयीं। वायु शीतल चलने लगा। जलका खौलना समाप्त होगया, किन्तु पाण्डवोंकी एक अक्षौहिणी सेना इस प्रकार भस्म होगयी थी

---

१. महाभारतको ध्यानसे पढ़नेपर लगता है कि आग्नेयास्त्र तथा ब्रह्मास्त्र भी कई प्रकारके थे। युद्धमें सामान्य आग्नेयास्त्रका तथा ब्रह्मास्त्रका अनेक बार उपयोग हुआ है। यह उनसे सर्वथा भिन्न अमोघ आग्नेयास्त्र था। ऐसे ही अश्वत्थामाने अमोघ ब्रह्मास्त्र या ब्रह्मशिर नामक अस्त्रका भी प्रयोग आगे जाकर किया। आज केवल परमाणु बमका प्रयोग होनेपर इस अवस्थाकी कल्पना की जा सकती है।

कि वहाँ भूमिपर केवल श्वेत भस्म मात्र शेष थी। अश्व, रथ, गज अथवा सैनिकोंके अस्त्र-शस्त्रके चिह्न भी नहीं बचे थे। लेकिन श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा उनके रथके किसी भागको कोई स्वल्प क्षति भी नहीं हुई थी। ज्वाला शान्त होनेपर नन्दिघोष रथ अपने अश्व, ध्वजा, पताकादिसे वैसे ही सुशोभित था।

कपिध्वज रथको सकुशल, सुरक्षित देखकर पाण्डवोंके हर्षकी सीमा नहीं थी। वे तथा अर्जुन और श्रीकृष्ण भी शंखनाद करने लगे। अश्वत्थामा तो हक्का-वक्का थोड़ी देर स्तब्ध बैठा रह गया। उसकी समझमें ही नहीं आता था कि यह कैसे संभव हुआ।

आश्चर्यका आवेग समाप्त होते ही अश्वत्थामाने अपने हाथका धनुष फेंका और—'धिक्कार है ! धिक्कार है ! यह सब मन्त्र, दिव्यास्त्रादि मिथ्या हैं।' यह चिल्लाता हुआ युद्धभूमिसे भाग खड़ा हुआ। अब उसमें अर्जुनकी ओर देखनेका भी साहस नहीं रहा था। उसे लगता था कि अब रुका तो अवश्य अर्जुन अपने किसी दिव्यास्त्रसे मार ही देगा।

आप अपने अपराधीको क्षमा कर दे सकते हैं, किन्तु जिसने आपका अपराध किया है, वह आपको क्षमा नहीं करेगा। पापीको उसका पाप ही भयभीत बना देता है। अश्वत्थामाको अपने दिव्यास्त्रोंका अत्यधिक गर्व था। इतने महान् अस्त्रको निष्प्रभाव देखकर उसे अपनी मृत्युका भय लगा।

पैदल भयाक्रान्त अश्वत्थामा भागता जा रहा था। अचानक भगवान् व्यास सामने मिल गये। उनको प्रणाम करके अत्यन्त दीन स्वरमें उसने पूछा—'भगवन् ! इसे माया कहें या दैवेच्छा, मेरी समझमें कुछ नहीं आता है।'

'बात क्या है ?' व्यासजीने हँसकर कहा—'तुम इतने व्याकुल क्यों भाग रहे हो ?'

'मेरे द्वारा प्रयुक्त अमोघ आग्नेयास्त्र केवल एक अक्षौहिणी सेनाको भस्म करके शान्त कैसे होगया ?' अश्वत्थामाने पूछा—'मैंने उसे समस्त प्रत्यक्ष-परोक्ष शत्रुओंके संहारके संकल्पसे छोड़ा था। मुझसे कोई भूल हुई अथवा संसारके नियमोंमें किसी महान् परिवर्तनकी यह सूचना है ? होना तो यह चाहिए था कि सभी पाण्डव सेना सहित भस्म हो जाते; किन्तु

अस्त्राग्निके मध्यमें रहकर भी श्रीकृष्ण, अर्जुन अपने रथ सहित सुरक्षित कैसे रह गये ?'

'बात बहुत महत्वपूर्ण है। शान्त होकर सुनो।' भगवान व्यासने कहा—'अर्जुनका नन्दिघोष रथ उन्हें अग्निदेवने अश्वोंके साथ दिया था। अग्निदैवत अस्त्रकी ज्वाला उसे कैसे जला देती ? तुम्हें इतना भी पता नहीं कि उस रथकी ध्वजापर जो वानर बैठता है, वह कौन है ? वे साक्षात् अनिलात्मज—सम्पूर्ण लंका उन्होंने त्रेतामें जला दी और उनका एक रोम भी नहीं जला।'

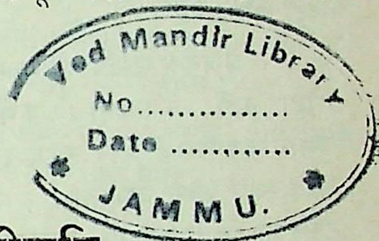
व्यासजीने बहुत गम्भीर होकर कहा—'बहुत पहिले भगवान ब्रह्मा सुरों और ऋषियोंके साथ भूभार हरणार्थ प्रार्थना करने मन्दराचलपर आये थे। उनपर कृपा करके भगवान नारायणने दर्शन दिया और उन्हें पृथ्वीपर अवतार लेकर धराका भार दूर करनेका आश्वासन दिया। श्रीकृष्ण साक्षात् परमपुरुष नारायण हैं और उनका प्रिय सखा अर्जुन नर है।

'अश्वत्थामा ! तुमने अपने पिता अथवा अन्य किसी महर्षिके मुखसे श्रीकृष्णका चरित नहीं सुना ? ब्रजमें दो बार इन्होंने दावाग्नि पान कर लिया था। यह तो श्रीकृष्णका अनुग्रह कि तुम्हारे अमोघास्त्रका सम्मान रखनेके लिए उन्होंने एक अक्षौहिणी सेनाको भस्म होजाने दिया। यह भी उनके भू-भार हरणका ही कार्य था। अन्यथा वे संकल्प करते तो आग्नेयास्त्र एक तृण भी जलानेमें समर्थ नहीं था अथवा वे सर्वसमर्थ चाहते तो वह अस्त्र उसी समय तुमपर और तुम्हारी सेनापर भी उल्टा आ सकता था। वे अस्त्रोंके मन्त्र एवं देवताओंका सम्मान न रखते होते—उन साक्षात् नारायण-के विरुद्ध उनके ही अस्त्रका उपयोग करनेकी धृष्टता करके तुम आग्नेयास्त्रका प्रयोग करनेको बचे रहते ?'

अश्वत्थामा भयसे काँप उठा। उसके शरीरका रोम-रोम खड़ा हो गया। वह जानता है कि मन्त्र प्रेरित अस्त्र प्रयोक्ताके संकलपका अनुगमन करता है, किन्तु प्रबलतम संकल्प प्रयोक्ताके संकलपको अभिभूत कर ले तो अभिचारको जैसे लौटा दिया जाता है, अस्त्र भी तो लौटाया जा सकता है।

'श्रीकृष्ण अविनाशी हैं।' भगवान व्यासने कहा—'उन परमपुरुषको पराभव देना संभव नहीं है। उनके आश्रित, उनके द्वारा संरक्षित जनोंको कोई दिव्यास्त्र अथवा देवता मार नहीं सकता।'

अश्वत्थामाने भगवान व्यासके चरणोंमें प्रणाम किया। वह सिर झुकाये समर-भूमिकी ओर लौट पड़ा। अज्ञानी जीवका स्वभाव ही है कि वह परमात्माके प्रभाव, कृपा आदिको बार-बार सुनता है; किन्तु उसका कोई भी अंश धारण नहीं कर पाता। वह शीघ्र ही सब भूल जाता है। अतः यदि अश्वत्थामा भी व्यासजीका उपदेश शीघ्र भूल गया तो आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है।



कर्णको स्वीकृति

द्रोणाचार्यके संग्राम-भूमिमें खेत रहनेपर दुर्योधनने कर्णको अपने दलका प्रधान सेनापति बनाया। अपने सेनापतित्वके प्रथम दिन कर्ण कोई उल्लेखनीय ऐसा कार्य नहीं कर सका, जो दुर्योधनको उत्साहित करता।

दूसरे दिन प्रातःकाल स्वयं कर्ण दुर्योधनके समीप जाकर बोला— 'मैं इन्द्रकी दी हुई शक्ति खो बैठा हूँ, अतः अवश्य आज अर्जुन मेरे ऊपर ही धावा करेगा। अतः आप कामकी बात सुनिये।'

कर्णका कहना था कि वह दिव्यास्त्रज्ञानमें अर्जुनके समान ही है। शत्रुके पराक्रमको कुचलनेमें, स्फूर्तिमें, युद्ध-कौशलमें तथा अस्त्र चालनमें अर्जुनसे अधिक श्रेष्ठ है। बल, विक्रम, विज्ञान, पराक्रम एवं लक्ष्य-वेधमें भी अर्जुन उसके समान नहीं है। इसमें कर्णका अहंकार उससे अति-शयोक्ति करा रहा था, यह माना जा सकता है।

कर्णने यह भी कहा कि उसके पास वह विजय नामक धनुष है, जिसे विश्वकर्माने इन्द्रके लिए बनाया था और जिससे इन्द्रने असुरोंपर विजय प्राप्त की। परशुरामजीके द्वारा प्राप्त वह धनुष पार्थके गाण्डीवसे उत्तम है। इसीसे भगवान परशुरामने पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियहीन किया था।

अपनी श्रेष्ठता सूचित करके कर्णने अपनी दुर्बलतायें भी गिनायीं। उसने बतलाया कि अर्जुनके धनुषकी प्रत्यञ्चा दिव्य है। कर्णको पता नहीं था कि अर्जुनके पास सदा सौ प्रत्यञ्चा रहती थीं।

'अर्जुनके त्रोण अक्षय हैं।' कर्णने कहा—'उनके वाण कभी समाप्त नहीं होते। इसका यही प्रतिकार है कि वाणोंसे भरे छकड़े मेरे रथके पीछे सदा चलते रहें।

'अर्जुनके समीप अग्निका दिया दिव्य रथ है। वह किसी ओरसे तोड़ा नहीं जा सकता।' कर्ण कहता गया—'उसके रथके अश्व मनके समान वेगवान हैं और उनमें कोई मर भी जाय तो उसके स्थानपर दूसरा अश्व स्वयं प्रकट होजाता है। आप ऐसी व्यवस्था कर दें कि मेरा रथ टूटते ही दूसरा रथ मुझे मिलता रहे।'

कुछ ऐसी बातें भी कर्णने गिनायीं जिनका कोई प्रतिकार नहीं था। उसने कहा—'अर्जुनके रथकी पताका तथा ध्वजा दिव्य है। वह न कहीं रुकती है, न काटी जासकती। उस ध्वजदण्डके साथ जो वानर बैठता है, वह बड़ा ही विस्मयमें डालने वाला तथा भयंकर है। उसकी ओर देखनेसे ही बड़े-से-बड़े वीरका साहस समाप्त होजाता है; किन्तु मैं उसकी ओर नहीं देखूँगा। अच्छा यही है कि वह भी शान्त बैठा रहता है और अपने नेत्र नीचे ही रखता है।'

'सबसे कठिन समस्या सारथिकी है।' कर्णने अन्तमें स्वीकार किया, 'अर्जुनके रथपर सारथि बनकर सम्पूर्ण सृष्टिके सर्जक एवं पालक श्रीकृष्ण बैठते हैं। वे उसके रक्षक हैं। उनकी शक्तिकी क्षमता तो कहीं सम्भव नहीं है। किन्तु सारथ्य-कर्ममें अवश्य मद्रराज शल्य श्रीकृष्णकी समता कर सकते हैं। आप प्रयत्न करें कि वे मेरे सारथि बन जायँ।'

अश्व-विद्यामें मद्रराज शल्य श्रीकृष्णके समान हैं। यह इतनी भी समानता किसीके लिए अत्यन्त महत्तापूर्ण स्थिति थी। और यह कहना उसकी बहुत बड़ी स्तुति थी। कर्णका यह प्रस्ताव कुरुराज दुर्योधनने शल्यको सुनाया तो वे सुनते ही क्रुद्ध होउठे—'तुम मेरा अपमान करते हो। मैं सूतपुत्रका सारथि बनूंगा? कर्ण किस बातमें मुझसे श्रेष्ठ है।'

शल्य तो युद्ध त्यागकर चले जानेको ही उद्यत होगये; किन्तु दुर्योधनने बहुत अनुनय विनय करके उन्हें रोका। उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा

की। अपना काम निकालनेके लिए उन्हें कर्णसे सब बातोंमें श्रेष्ठ भी स्वीकार कर लिया। अन्तमें बोला—'कर्ण अस्त्र-ज्ञानमें अर्जुनसे श्रेष्ठ है और आप अश्व-विद्यामें श्रीकृष्णसे बढ़कर हैं, अतः मेरा प्रिय करनेके लिए यह कार्य कृपा करके स्वीकार कर लें।'

शल्य प्रसन्न होकर बोले—'दुर्योधन! तुम सबके सामने मुझे अश्व-विद्यामें श्रीकृष्णसे बढ़कर बतला रहे हो, यह मेरा बहुत बड़ा सम्मान तुमने किया। अतः मैं कर्णका सारथि बनना स्वीकार करता हूँ, किन्तु मैं चाहे जैसी कड़ी बात कहूँ, कर्णको उसे चुपचाप सुनना होगा।'

शल्य जैसे मानधनीने सारथि बनना स्वीकार कर लिया, यही बहुत बड़ी बात थी। कर्णको उनकी शर्त चुपचाप मान लेना पड़ा।



बातका बतंगड़

बड़े लोगोंमें भी कभी-कभी बिना बात बतंगड़ बढ़ जाता है और वह बड़े भारी अनर्थका कारण होजाता है। अत्यन्त उपेक्षणीय बातोंको कारण बनाकर विश्वमें अनेकों बार विनाशने महाताण्डव किया है। ऐसे महा अनर्थका अवसर पाण्डवोंके मध्य भी आगया और अत्यन्त तुच्छ बातको लेकर ही आया; किन्तु श्रीकृष्ण जहाँ सदा सावधान संरक्षक हैं, वहाँ अनर्थ कभी अपने पैर जमा नहीं सका। उसके सब प्रपञ्च शीघ्र वायुमें विलीन होजाते हैं।

महाभारत युद्धका सत्रहवाँ दिन था। कर्णके सेनापति बननेपर तो दो दिन ही वह युद्ध कर सका था। उसके सेनापतित्वका दूसरा दिन। धर्मराज युधिष्ठिरने युद्धके प्रारम्भमें ही कर्णको ललकार दिया। उन्होंने कर्णको अपने आघातसे मूर्च्छित भी कर दिया; किन्तु उसे फिर नहीं मारा। सचेत होकर कर्णने धर्मराजके रथके दोनों चक्र-रक्षक मार दिये। युधिष्ठिरका धनुष तथा कवच काट दिये। कवच कटजानेपर बाणोंके

द्वारा आहत होकर युधिष्ठिर रक्त स्नात होगये। कर्णने उनका रथ भी नष्ट कर दिया।

युधिष्ठिर दूसरे रथपर चढ़कर भागे; किन्तु कर्णने उनका पीछा किया। उसने शस्त्र कवच हीन युधिष्ठिरके कन्धेपर हाथ रख दिया। कर्ण चाहता तो युधिष्ठिरको बन्दी बना लेता। दुर्योधनने उसे यह करनेको कहा भी था; किन्तु कर्णको कुन्तीको दिये अपने वचन स्मरण आगये। शल्यने भी उसे रोका—'धर्मराज तुम्हें दृष्टिसे भी भस्म कर सकते हैं।'

कर्णमें जहाँ सब सद्गुण थे, वहाँ एक बड़ा दुर्गुण भी था। वह बोलनेमें वाणीपर नियंत्रण नहीं रख पाता था। इस सम्बन्धमें बहुत अशिष्ट था। अनेक बार उसे स्वयं अपनी अशिष्टतापर पश्चात्ताप हुआ है। उसने युधिष्ठिरका भी अपमान किया। उन्हें उल्टी-सीधी सुनाई—'उच्च कुलमें उत्पन्न होकर, क्षत्रियधर्ममें स्थित होकर प्राण बचानेके लिए भाग कैसे रहे हो? तुम क्षत्रियधर्ममें निपुण नहीं हो। ब्राह्मणोचित स्वाध्याय तथा यज्ञ करना ही जानते हो। अब लड़ाईमें मत आना। वीरोंको कभी भूलकर भी मत ललकारना। हम जैसोंसे कड़ी बात कहोगे तो उसका यही फल होगा। अब शिविरमें अथवा अर्जुनके समीप चले जाओ।'

कर्णके द्वारा अत्यन्त आहत तथा अपमानित होकर राजा युधिष्ठिर शिविरमें लौट आये। उनका शरीर इस समय युद्ध करने योग्य नहीं था और अपमानके कारण अन्तःकरण अतिशय क्षुब्ध था।

युधिष्ठिर भीमसेन प्रभृतिको कौरवोंपर आक्रमण करनेके लिए उत्तेजित करके शिविरमें आये थे। उस समय अर्जुन संशप्तकोंके साथ संग्राममें व्यस्त थे। भीमसेनने कर्णपर आक्रमण किया। उनके आघातसे कर्ण मूर्च्छित होगया। शल्य उसे वहाँसे हटा ले गया।

संशप्तकोंके साथ युद्धमें लगे होनेपर भी श्रीकृष्णकी दृष्टि मुख्य युद्ध भूमिपर लगी थी। वे अर्जुनको मुख्य युद्धका समाचार देते जारहे थे। उन्होंने राजा युधिष्ठिरके युद्धमें लगनेकी बात कही। उन्होंने यह भी कहा कि कर्ण धृतराष्ट्रके महारथी पुत्रोंको उत्तेजित कर रहा है कि वे युधिष्ठिरको मार डालें।

श्रीकृष्णने कहा—'धृतराष्ट्रके पुत्रोंने घेरकर युधिष्ठिरपर आक्रमण कर दिया है। वे आतुर होगये हैं, इस समय उन्हें विशेष सेवाकी आवश्यकता है। अब शीघ्रता करनेका समय है; किन्तु पाञ्चाल तथा पाण्डव. वीर उनकी सहायता को दौड़ पड़े हैं। हर्षकी बात है कि धर्मराज युधिष्ठिर जीवित हैं।'

श्रीकृष्णने भीमसेनके प्रबल पराक्रम तथा शत्रुसंहारकी बहुत प्रशंसा की। उनके युद्धका पूरे विस्तारसे वर्णन सुनाया।

कर्ण सम्भवतः युधिष्ठिरको पकड़ भी लेता; किन्तु शल्यने उसे उसी समय कह दिया—'तुमको तो अर्जुनसे युद्ध करना है और अर्जुन वहाँ सेनाका संहार कर रहे हैं।' उसी समय दुर्योधनको भीमसेनने आक्रान्त कर रखा था। कर्णको दुर्योधनकी सहायताके लिए दौड़ना पड़ा। उसके चले जानेपर युधिष्ठिर सहदेवके तीव्रगामी रथपर बैठकर शिविरमें लौट आये थे।

संशप्तकोंको पराजित करके अर्जुनने कर्णकी ओर ध्यान देना चाहा तो श्रीकृष्णने कहा—'कर्णने राजा युधिष्ठिरको बहुत घायल कर दिया है। उनसे मिलकर, उन्हें धैर्य देकर तब कर्णसे युद्ध करना।'

अब सेनामें ढूँढ़नेपर भी धर्मराज नहीं मिले। भीमसेनके समीप पहुँचकर पूछनेपर पता लगा कि वे शिविर लौट गये हैं और किसी प्रकार ही जीवित होंगे। अर्जुन चाहते थे कि भीमसेन शिविरमें जाकर बड़े भाईको देख आवें; किन्तु भीमसेनने कह दिया—'मैं यदि गया तो शत्रु भयभीत होकर भागा मानेंगे। मैं संशप्तकोंको भी रोके रहूँगा। तुम्हीं शिविर हो आओ।'

धर्मराज युधिष्ठिरका समाचार चिन्ता जनक था। उनको देखना आवश्यक था। अतः अर्जुनके कहनेसे श्रीकृष्णने रथ शिविरकी ओर हाँक दिया। शिविरमें पहुँचकर श्रीकृष्ण और अर्जुनने युधिष्ठिरके चरणस्पर्श किये तो धर्मराजने समझा कि धनञ्जय कर्णको मारकर आये हैं। उन्होंने दोनोंका स्वागत किया। कहा—'तुम लोगोंने सकुशल रहकर कर्णको मार दिया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। वह परशुरामजीसे अस्त्र-विद्या प्राप्त कर चुका था। कौरवोंका वही अग्रणी था। वह संसारका श्रेष्ठतम वीर था। हमारे पक्षके लिए तो कालरूप ही था।'

कर्णने कितनी पीड़ा दी थी आज, कैसा अपमान किया था, वह सब युधिष्ठिर कह गये। कर्ण मारा गया, इस अनुमानके कारण वे ऐसे प्रसन्न तथा आवेशमें आगये थे कि देर तक बोलते ही गये। उन्होंने श्रीकृष्ण अथवा अर्जुनको न तो बोलनेका अवसर दिया, न दोनोंके मुखपर ही ध्यान दिया कि वहां विजय की प्रसन्नता है भी या नहीं।

जब बोलकर अन्तमें उन्होंने कहा—'अब यह बतलाओ कि तुमने सूत पुत्रको किस प्रकार मारा?' तब अर्जुनको बोलनेका अवकाश मिला। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'कर्ण मारा नहीं गया है। हम तो आपको अत्यन्त आहत सुनकर देखने आगये हैं। संशप्तकोंके साथ संग्राममें मैं लगा था और भाई भीमसेन कर्णका सामना बड़े शौर्यसे कर रहे हैं।'

जब कोई बहुत बड़ी आशा कर लेता है तो आशा-भंग होनेपर उसे बड़ा धक्का लगता है। कर्णके मारे जानेका अनुमान करके युधिष्ठिरने समझ लिया था कि अब विजय हो ही चुकी। यह आशा नष्ट होगयी। कर्णके द्वारा किया गया अपमान और आघात जैसे फिर ताजा होगया। अकेले भीमसेनको उस दुर्दान्तके सम्मुख अर्जुन छोड़कर यहाँ आगये, इससे भी बड़ी झल्लाहट हुई। इन सब कारणोंसे युधिष्ठिर अपनेको सम्हाल नहीं सके।

'तुम्हारे पौरुषको, पराक्रमको, बार-बार की गयी कर्ण-वधकी प्रतिज्ञाको, अस्त्रज्ञानको और गाण्डीव धनुषको धिक्कार है।' युधिष्ठिर उबल पड़े—'तुम अकेले भीमसेनको वहाँ उस कराल कालके सम्मुख छोड़कर चले आये! तुमने कर्णको मारे बिना शिविरकी ओर मुख ही कैसे किया? कर्ण तुमसे नहीं मारा जाता तो अपना गाण्डीव धनुष और किसीको दे दो।'

'गाण्डीव और किसीको दे दो!' यह सुनते ही अर्जुन क्रोधसे काँपने लगे। उनके नेत्र अंगार होगये। उन्होंने तलवार कोषसे खींच ली।

श्रीकृष्ण कभी असावधान नहीं होते। भ्रम, प्रमाद, करणापाटव विप्रलिप्सादि अवगुण एवं दुर्बलतायें पुरुषमें—जीवमें रहती हैं। ये उन पुरुषोत्तमका स्पर्श नहीं करतीं। उन्होंने अर्जुनसे कुछ कड़े स्वरमें कहा—'परंतप! यह तो कोई पर पक्ष है नहीं, फिर तुम यह शस्त्र किसपर उठा रहे हो?'

अर्जुनने कहा—'केशव ! मैंने प्रतिज्ञा कर रखी है कि जो कोई भी मुझे गाण्डीव दूसरेको देदेनेको कहेगा, उसे मैं जीवित नहीं छोड़ूँगा। जैसे भाई भीमसेन अपनेको निमूछिया और पेटू कहना नहीं सहपाते, वैसे ही मैं भी इसे सहन नहीं कर सकता। आप साथ ही हैं, आपने देखा है कि मैंने कहाँ पौरुष प्रकट करनेमें कोई त्रुटि की है।'

'धिक्कार हैं तुम्हें !' श्रीकृष्णने कोई ध्यान नहीं दिया कि अर्जुनके नेत्रोंसे क्रोध एवं ग्लानिसे अश्रु टपकने लगे हैं। वे भर्त्सना करने लगे—'यही बुद्धि है तुम्हारी ? वृद्धोंकी सेवा करके यही सीखा है तुमने ? तुम भी समझते हो कि तुम्हें धर्मका ज्ञान है ? पिताके समान पूज्य ज्येष्ठ भ्राता-के सम्मुख शस्त्र उठाते तुम्हें लज्जा नहीं आती ? तुम इतने अज्ञानी हो कि एकसाधारण अपराधीके समान अपने सम्मान्य एवं चक्रवर्ती नरेशको मारने-को उद्यत होगये और यह धृष्टता मेरे सामने करने चले हो ?'

अर्जुनने तत्काल अनुभव कर लिया कि उनसे बहुत बड़ी भूल होगयी। अपने अपराधका आभास होजानेपर भी अपनी प्रतिज्ञाका असमंजस तो था ही ! भरे हुए कंठसे बहुत विनीत बनकर बोले—'हृषीकेश ! आप गुरु, पिता-माताके समान हम सबके हितैषी हैं। आपकी कृपा अपार है। आपके ही श्रीचरण हमारे आश्रय हैं। आप कोई ऐसा उपाय बतलावें कि मेरी प्रतिज्ञा भी भंग न हो और मुझे भ्रातृवधका अत्यन्त दारुण कर्म भी न करना पड़े।'

'धनञ्जय ! गुरुजनोंका शस्त्रसे वध नहीं किया जाता।' श्रीकृष्णने कहा—'जो सदासे अपने द्वारा सम्मानित होते आये है, उनका अपमान कर देना, उन्हें तू कह देना ही उनका वध है। तिरस्कारसे उनका गौरव गल गया, यह उनके मरण जैसा ही है।'

अर्जुनने शस्त्र कोषमें कर लिया। सिर झुकाकर, विना सामने देखे, किसी प्रकार वड़े भाईसे कह गये—'तू बोल मत ! मुझे क्रोध मत दिखा। तू स्वयं संग्रामसे पीछे हट आया है, फिर तू मुझे उपालम्भ कैसे दे सकता है।'

तीन वार वड़े कष्टसे तू कहते-कहते अर्जुनका अन्तःकरण इतना व्याकुल हो उठा जैसे विदीर्ण हो जायगा। असह्य ग्लानिसे वे अभिभूत होगये। उन्होंने कवच उतार दिया और फिर तलवार कोषसे खींची।

श्रीकृष्णने हँसकर हाथ पकड़ लिया 'अब फिर कोई बचपन सूझा है ? फिर यह शस्त्र ग्रहण क्यों ?'

अर्जुन छूटकर रो पड़े—'जिन देव तुल्य अग्रजके लिए मैं सदा जीवन अर्पण कर देना अपना सौभाग्य मानता रहा हूँ, उनका अपमान करके जीवित रहना मेरे लिए सम्भव नहीं है। आप अपने इस अधम सखाको अब शरीर त्यागकी अनुमति दें। कोई भी आत्मघातसे कमका विकल्प मुझे शान्ति नहीं दे सकता।'

'तब आत्मघात कर लो' हँसकर ही श्रीकृष्णने कहा 'इसमें शस्त्र सम्हालनेकी आवश्यकता क्या है ? विषकी औषधि विष होता है। अतः एक दोषका मार्जन उसके समान दूसरे दोषसे होसकता है। सत्पुरुषोंके लिए स्वयं अपनी प्रशंसा करना शास्त्रने आत्मघात माना है। तुमने वाणीसे ही बड़े भाईका अपमान किया है, अतः वाणीसे आत्मप्रशंसा रूप आत्मघात करके उस अपराधका मार्जन कर लो।'

अर्जुनने अपने शौर्य, बल, पराक्रमकी प्रशंसामें थोड़ेसे शब्द कहे और इससे इतनी लज्जाका इन्हें अनुभव हुआ कि दोनों हाथोंमें अपना मुँह छिपाकर बैठ गये। वे स्वयं अपनी प्रशंसा करके युधिष्ठिर अथवा श्रीकृष्णके सम्मुख खड़े रहने में अपने को असमर्थ अनुभव करने लगे।

'धनञ्जय ! अपने आवेशको सम्हालना सबसे बड़ा पौरुष है।' श्रीकृष्णका स्वर गम्भीर होगया—'तुम अपने जिस अग्रजका अपमान करके भी जीवित रहना नहीं चाहते, उनकी हत्या करके तुम्हारी क्या दशा होती ?'

रोते-रोते अर्जुनने दोनों चरण पकड़ लिये जनार्दनके—'पुरुषोत्तम ! मैं उस क्षण भी कृत निश्चय था कि अग्रजको मारकर तत्काल अपना सिर भी काट दूंगा। इन पूज्यका अपराध करके हम भाइयोंमें कोई जीवित नहीं रहना चाहेगा; किन्तु आप भक्त वत्सल हम अज्ञानियोंके अपराधका परि-शोधन करने हमारे मध्य उपस्थित हैं, इतना महान सौभाग्य हमें मिला है।'

धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुनके क्रुद्ध होकर तलवार खींचते ही स्तब्ध होगये थे। जीवनमें यह पहली बार कोई भाई उनपर रुष्ट हुआ था। उन्होंने द्यूत खेलकर इन भाइयोंको वन-वन भटकाया, द्रौपदीका उतना अपमान हुआ, तब भी कोई एक शब्द नहीं बोला। उनके ये सब भाई

उनके कितने अनुगामी, कितने विनम्र, कितने सुशील हैं! आज भी सब उनके ही लिए संग्राममें शत्रुओंके असह्य प्रहार सह रहे हैं। एक दिनके कर्णके आघातसे वे स्वयं इतने व्याकुल होउठे और भीष्म, द्रोण, कर्णादि सबका सबसे भयंकर प्रहार तो अर्जुन पर ही होता है। ऐसे भाईकी इतने कटु शब्दोंमें भर्त्सना की उन्होंने!

अर्जुनने 'तू' कहकर उनका अपमान किया, यह बात महत्त्वकी नहीं थी। प्रतिज्ञा रक्षाके लिए श्रीकृष्णके आदेशसे वह अपमान करके अर्जुन इतने व्याकुल हुए कि आत्महत्यापर उतर आये, यह बात महत्त्वकी थी। इतने श्रद्धालु, सुशील भाईको कठोर वचन कहनेका दुःख युधिष्ठिरको अत्यन्त व्याकुल बना रहा था।

'भैया! मैं सदा तुम लोगोंको दुःख ही देता रहा हूँ।' रोते-रोते युधिष्ठिरने कहा—'मैं स्वार्थी हूँ, दुर्व्यसनी हूँ, निष्ठुर हूँ। मेरे कारण तुम भाइयोंने बचपनसे ही बराबर क्लेश सहा है। द्यूत खेलकर तो मैंने अपनी अज्ञताकी सीमा कर दी। तुम लोगोंने शत्रुओंका अपमान सहा, वन-वन भटकनेका कष्ट भोगा। मेरे लिए तुम वृहन्नला बने और उग्र तप करने गये। आज भी मेरे ही लिए तुम सब भाई निरन्तर शराघात सह रहे हो। सब प्रपञ्चोंकी, विपत्तियोंकी जड़ मैं ही हूँ।'

धर्मराजने मुकुट उतार दिया था। वे अत्यन्त खिन्न बोले—'तुम सब अब अपने इस अयोग्य, निष्ठुर, अधम अग्रजको क्षमा करना। सम्राट् होने योग्य भीमसेन ही हैं। विजय प्राप्त करके उनका अभिषेक कर देना। मैं अब वनमें जारहा हूँ। वहाँ तपस्या करके पापोंका परिमार्जन करनेका प्रयत्न करूँगा।'

युधिष्ठिर उठ खड़े हुए। उन्होंने उपचार करने वाले चिकित्सकके कुछ कहनेका प्रयास हाथके संकेतसे रोक दिया। अपनी शैय्यासे वे उठे ही थे कि श्रीकृष्णने उनके चरण पकड़ लिये—'यदि मुझपर आपका कुछ भी स्नेह है तो चुपचाप शैय्यापर लेट जायँ और मेरी बात सुनें।'

'सर्वेश्वर! पुरुषोत्तम!' हड़बड़ाकर धर्मराजने श्रीकृष्णके दोनों हाथ अपने हाथोंमें ले लिये और वैसे उन्हें पकड़े हुए ही शैय्यापर लेट गये। उनके नेत्रोंसे अजस्र अश्रुधारा चालू हो थी। कठिनाईसे वे कह सके—'तुम्हारी बात सुननेके लिए जीवके कर्ण जब बधिर होजाते हैं, तभी तो वह भवाटवीमें भटकता है। तुम्हारे शब्द श्रवणोंमें पड़ें—उसका अहो भाग्य!'

'महाराज ! आप अपने अनुजोंको जानते हैं।' श्रीकृष्णने कहा—'आप भली प्रकार जानते हैं कि यदि आप वनमें जाते हैं तो आपके शेष चारों भाई आपका पदानुसरण किये बिना रह नहीं सकते। इससे केवल आपके शत्रुओंका ही भला होगा। अतः आप यह विचार सर्वथा त्याग दें। अब अर्जुनको आज्ञा दें युद्ध भूमिमें जानेकी और आशीर्वाद दें।'

अर्जुनने बड़े भाईके चरणोंमें मस्तक रखा और प्रतिज्ञा की—'आज कर्णको मारकर ही मैं सायंकाल श्रीकृष्णके साथ शिविर लौटूँगा।'

युधिष्ठिरने उठकर अर्जुनको हृदयसे लगाया। उन्हें विजयी होनेका आशीर्वाद दिया और युद्धभूमिकी ओर विदा करते हुए बोले—'धनञ्जय ! इन श्रीकृष्णचन्द्रकी सहायता, संरक्षण हमें प्राप्त है, अतः सफलता तुम्हारे चरण अवश्य चूमेगी। तुम चलो ! मैं भी कुछ विश्राम करके शीघ्र आरहा हूँ। श्रीकृष्णके करोंमें तुम्हें सौंपकर मैं निश्चिन्त हूँ।'

हनुमानका आवेश

भीमसेन अकेले युद्धमें पड़े तो उनका पौरुष अत्यधिक अदम्य होउठा था। उन्होंने सारथिसे रथमें रखे सब अस्त्र-शस्त्रोंकी जाँच कर लेनेको कहा और यह सुनकर संतुष्ट होगये कि प्रचुर शस्त्र उनके समीप हैं। कौरवोंकी सेना उन्हें घेरने लगी थी और वे भी उसे नष्ट कर देनेपर तुले थे।

भीमसेनने कहा—'इस समय मैं देवताओंसे एक ही कामना करता हूँ कि अर्जुन आजायँ।'

भीमसेनको एक ही चिन्ता थी—'पता नहीं राजा युधिष्ठिरका क्या हुआ। वे बाणोंसे बहुत आहत होगये थे। उन्हें अर्जुन देखने गये थे और अभी तक लौटे नहीं। राजाका कोई अनिष्ट न हुआ हो।'

भीमके सारथि विशोकने हँसकर कहा—'आपकी मनःकामना पूर्ण होगयी। श्रीकृष्ण आपके पक्षमें हैं। अतः सुरोंको आजकल आप सबकी प्रार्थना तत्काल सुनलेनेका अच्छा अभ्यास होगया है। आप अपने सव्य-साची अनुजके धनुषका भयंकर ज्याघोष सुन सकते हैं। वह देखिये ! उनके ध्वजदण्डके साथ बैठा रहने वाला बानर ध्वजापर चढ़कर चारों ओर देख रहा है। उसकी दृष्टिसे दूसरे तो दूर, मैं स्वयं बहुत डर रहा हूँ।'

भीमसेन हँसे—'वे श्रीरामदूत पवनपुत्र होनेके कारण मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं तथा हमारे पूज्य हैं। उनके असीम पौरुषका तो अनुमान करना भी सम्भव नहीं; किन्तु उनसे डरो मत! वे इस युद्धमें शान्त ही रहेंगे।'

विशोकने कहा—'जानता हूँ कि वे अपने पक्षधर हैं; किन्तु उनका विकट भयंकर मुख तथा उग्र दृष्टि देखकर सभीके हृदय काँपने लगते हैं। शत्रुकी गजसेना उनकी दृष्टिसे ही डरकर भाग रही है।'

श्रीहनुमानजी अर्जुनके रथकी ध्वजापर प्रायः चुपचाप शिर नीचे किये श्रीकृष्णचन्द्रको देखते हुए बैठे रहते थे। कभी-कभी ही वे ध्वजापर चढ़ते थे और चारों ओर देखने लगते थे। यह वे कुतूहल वश करते थे; किन्तु उस समय कौरव सेनामें भगदड़ पड़ जाती थी। उनकी दृष्टि ही सबको बहुत अधिक डरा देती थी।

प्रारम्भसे ही अर्जुनके सब प्रतिपक्षी श्रीहनुमानजीपर भी वाण-वर्षा करते रहे थे। वे इस भयानक वानरको अपने आघातसे भगा देनेका उद्योग करते थे। यह असफल उद्योग भीष्म और द्रोणने भी कम नहीं किया था और कर्णने भी कुछ उठा नहीं रखा इसमें; किन्तु वज्रदेह श्रीआञ्जनेयके शरीरपर त्रेतामें मेघनाद और रावणके शराघातसे ही व्रण नहीं होता था तो ये द्वापरान्तके मानव प्राणी तो अत्यन्त अल्प प्राण थे। इनके वाण तो छोटी कंकड़ियों जैसे भी नहीं लगते थे। केशरी कुमारने कभी इस ओर ध्यान ही नहीं दिया।

श्रीकृष्णने अर्जुनको बहुत उत्साहित किया था। अर्जुनके पराक्रमकी प्रशंसा की। शल्यने पहली बार कर्णको प्रोत्साहित किया। उसे अर्जुनको रोकनेका उत्साह दिलाया।

कर्णने स्वीकार किया कि अर्जुन संसारका अद्वितीय महारथी है। अर्जुनके समान दूसरा योधा नहीं है। अर्जुनकी प्रशंसा करते करते कर्णने कहा—'समस्त संसार मिलकर जिनके गुणोंको सहस्र वर्षोंमें भी नहीं गिन सकते, जो शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण करने वाले हैं, वे अनन्त पराक्रम साक्षात् भगवान नारायण ही अर्जुनके सारथि बनकर उसकी रक्षा करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण और अर्जुनका सामना मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है।'

कर्णने निर्णय कर लिया था कि मैं इन्हें आज मार दूँगा या ये मुझे मार देंगे। अर्जुनको श्रीकृष्ण बराबर उत्साहित कर रहे थे। अर्जुनकी भयंकर वाण-वर्षासे कौरव सेनामें भगदड़ पड़ चुकी थी और सब सैनिक भागकर कर्णके समीप आगये थे।

कणने अपने पक्षको आश्वासन तो दिया; किन्तु अर्जुनने उसे ललकारकर उसके सामने ही उसके पुत्र वृशसेनका वध कर दिया। इससे कर्ण अत्यन्त क्रुद्ध होउठा, किन्तु उसका क्रोध भी आज कौरवोंकी रक्षा नहीं कर सका। भीमसेनने दुःशासनकी भुजा उखाड़ ली और उसका वक्ष विदीर्ण करके उसका रक्त पीकर उन्मत्तकी भाँति नाचने लगे। उनका वह अत्युग्र रक्त स्नात स्वरूप देखकर सब कौरव सेना भाग खड़ी हुई। कर्णके पुकारनेपर भी कोई नहीं रुका। युद्धमें कर्ण अकेला रह गया।

एकाकी पड़कर भी कर्ण न डरा, न घबराया। उसने अत्यन्त भयंकर वाण वर्षा प्रारम्भ की। अन्तमें उसके वाणोंसे श्रीकृष्णका कवच कट-कर गिर पड़ा और उनके सुकुमार अंगोंपर तीक्ष्ण शर लगने लगे। श्रीपवन-पुत्र एक टक नीचे अपने इन आराध्यकी ही ओर देख रहे थे। इनके कवच-हीन श्रीअंगपर कर्ण निरन्तर वाण मारता ही जारहा है, यह उन्हें सहन नहीं हुआ। अकस्मात् वे उग्रतर गर्जना करके दोनों हाथ उठाकर कर्णको मार देनेके लिए उठ खड़े हुए।

हनुमानकी भयंकर गर्जनासे ऐसा लगा मानो ब्रह्माण्ड फट गया हो। कौरव तो पहले ही भाग गये थे, पाण्डव पक्षकी सेना भी भयसे भागने लगी। कर्णके हाथसे धनुष छूटकर गिर गया। शल्य बड़ी कठिनाईसे गिरते अश्वोंको सम्हाल सके।

श्रीकृष्णने तत्काल उठकर अपना दक्षिण हस्त उठाया और हनुमानजीको स्पर्श करके सावधान किया—'रुको! तुम्हारे क्रोध करनेका समय नहीं है।'

श्रीकृष्णके स्पर्शसे हनुमानजी रुक तो गये; किन्तु उनकी पूँछ खड़ी होकर आकाशमें हिल रही थी। उनके दोनों हाथोंकी मुट्ठियाँ बँधी थीं। वे दाँत कट-कटा रहे थे और आग्नेय नेत्रोंसे कर्णको घूर रहे थे। शल्य और कर्ण दोनोंके शरीर काँपने लगे थे और स्वेद धारा चल रही थी। दोनोंने दृष्टि नीचे कर रखी थी।

'हनुमान ! मेरी ओर देखो।' श्रीकृष्णने कुछ कड़े स्वरमें कहा— 'तुम इस प्रकार देखोगे तो कर्ण कुछ क्षणमें तुम्हारी दृष्टिसे ही मर जायगा। यह त्रेता नहीं है। तुम्हारे पराक्रमको तो दूर तुम्हारे तेजको भी कोई यहाँ सह नहीं सकता। तुमको मैंने इस युद्धमें शान्त रहकर बैठे रहनेको कहा है।'

हनुमानजीने नीचे देखा और देखते ही शान्त होगये। उनके सम्मुख तो वही स्वस्थ सुन्दर श्याम श्रीअंग है। स्मरण आया—लंकामें भी प्रभु ऐसे ही रणक्रीड़ा करते थे। इन्द्रजीत या रावणके पराक्रमका सम्मान करनेके लिए श्रीअंगपर वाणोंको सहते थे, रक्तस्राव एवं क्षत दिखलाते थे अपने अंगोंमें; किन्तु सन्ध्या-कालमें युद्धान्त होनेपर स्पष्ट होजाता था कि उनके सच्चिदानन्दघन श्रीविग्रहको कोई शरस्पर्श भी नहीं कर सका है। वह कोई पार्थिव शरीर है कि वाण उसमें विकार उत्पन्न कर सकेंगे। प्रभु तो यहाँ भी वही रणक्रीड़ा कर रहे हैं।

बड़ा पश्चात्ताप हुआ—'मैंने आज्ञाकी अवज्ञा की है।' हनुमानजी फिर उठ खड़े हुए और अपने दोनों हाथोंके वज्र नख उन्होंने अपनी ही छाती-पर लगाया। वे अपना वक्ष विदीर्ण कर देना चाहते थे।

'हनुमान ! मेरे बच्चे !' श्रीकृष्णके करने फिर उनका स्पर्श किया और उन अनन्त स्नेह-सिन्धुका सुधास्रावी स्वर श्रवणोंमें पड़ा—'तुम शान्त बैठो ! बैठे रहो ! तुम्हारा शरीर अपना नहीं है कि तुम उसे नष्ट कर दोगे। मैं चाहता हूँ कि—'तुम मेरे समीप बने रहो। तुम्हें मेरी ओर देखना चाहिए। मैं कोई संकेत कर सकता हूँ किसी भी क्षण, कभी भी मुझे तुम्हारी कोई सेवा आवश्यक हो सकती है।'

इस स्वरने हनुमानजी को सर्वथा शान्त कर दिया। वे ऐसे सिकुड़कर बैठ गये जैसे कोई शिशु कुछ ऊधम करनेके पश्चात माताका उपालम्भ पाकर संकुचित होकर बैठ जाता है। अव उन्होंने यदा-कदा ध्वजापर चढ़-कर चारों ओर देखना भी बन्द कर दिया। वैसे भी इस प्रकार देखकर उन्हें कोई प्रसन्नता नहीं होती थी। उन्हें लंकाका संग्राम स्मरण आता था और उस समयके राक्षस प्रति-पक्षियोंकी तुलनामें चारों ओर दौड़ते भागते, गरजते ये मनुष्य, गज आदि अत्यन्त छुद्र लगते थे। जैसे किसी मनुष्यको चींटियोंके दो दलोंका परस्पर युद्ध उपेक्षणीय प्रतीत हो। प्रायः खिन्न होकर

ही वे सदा ध्वजासे उतरकर दण्डके समीप बैठ जाते थे। उन्होंने अनुभव ही नहीं किया था कि उनके इस प्रकार चारों ओर देखने मात्रसे कितना आतंक फैलता था सेनामें। हाथियों की सेना तो अपने पक्ष को कुचलती भाग ही खड़ी होती थी।

'प्रभु कभी भी कोई सेवा संकेतसे सूचित कर सकते हैं।' यह बात मनमें आते ही श्रीकेशरीकुमार अत्यन्त सतर्क होगये, उनकी दृष्टि अपलक श्रीकृष्णके मुखपर लग गयी।

श्रीकृष्णने दूसरा कवच धारण कर लिया। हनुमानजीके शिर झुकाकर शान्त बैठ जानेपर भी कर्णको कुछ क्षण लगे अपनेको स्वस्थ करके धनुष उठानेमें। शल्यने भी अपने मुखका स्वेद पोंछा।



नागसे रक्षा

कर्णने स्वस्थ होकर अर्जुनपर प्रहार करना प्रारम्भ किया; किन्तु सव्यसाची उसका सफल प्रतिकार करते हुए अपने आघातको तीव्र करते जारहे थे। अर्जुनने शर वर्षासे कर्णके रथको लगभग ढक दिया। कर्णको भगवान परशुरामसे प्राप्त आथर्वणास्त्रका प्रयोग करना पड़ा अर्जुनके वाणोंको नष्ट करनेके लिए।

इतना भयंकर संग्राम अर्जुन-कर्णका उस समय छिड़ा हुआ था कि आकाश तथा दिशाएँ वाणोंसे भर उठीं। देवता तक इस अद्‌भुत युद्धको देखने आकाशमें आगये।

कर्णके समीप एक सर्पमुख वाण था। उसे अत्युग्र विषमें बुझाया गया था। यह एक प्रकारका अमोघ नागास्त्र ही था, जिसे काटा नहीं जासकता था। कर्ण इस वाणको सदा स्वर्ण तरकशमें चन्दन काष्ठके चूरेमें अकेला ही रखता था और प्रतिदिन उसकी पूजा करता था। आजके युद्धमें जब किसी प्रकार कर्ण अर्जुनको पराजित नहीं कर सका तो उसे अपने इस अमोघ सर्पमुख वाणका स्मरण हुआ।

खाण्डव-दाहके समय अर्जुनने नागराज तक्षककी पत्नी को मार दिया था। वह अपने पुत्र अश्वसेन नागको उलटा निगलकर भाग रही थी। अर्जुनके वाणसे फण कट जानेसे वह तो मर गयी; किन्तु अश्वसेनकी केवल पूँछ कटी थी और इन्द्र द्वारा की गयी प्रवलतम वर्षाका लाभ उठाकर वह माताके शरीरसे निकल भागनेमें सफल होगया था।

नाग अत्यन्त क्रोधी होते हैं और अपनी शत्रुता प्रायः नहीं भूलते। अश्वसेन तभीसे अर्जुनका प्रबलशत्रु होगया था। अर्जुनको मार देनेका अवसर ही देखता रहता था। उसकी एक बड़ी कठिनाई थी कि उसके पिता तक्षक इन्द्रके मित्र थे। अर्जुन इन्द्रका अतिशय अनुग्रह भाजन होगया था। इन्द्रने अश्वसेनकी भी वाण बचाकर भागनेमें सहायता की थी। इस उपकार तथा पिताकी मैत्री को भूलकर वह अर्जुनको कभी काट भी ले तो देवराज अमृतके द्वारा जीवित कर सकते थे अथवा अश्विनी-कुमारोंको उपचारके लिए भेज देते।

अपनी माताको मारनेवाले पार्थसे प्रतिशोध लेनेका अवसर ही अश्वसेन ढूँढता रह गया। उसे यह कर्ण अर्जुनके युद्धका अवसर मिला। इस समय यदि वह कर्णका वाण बनकर अर्जुनको अपने विषसे भस्म कर देता है तो इन्द्र कोई भी सहायता नहीं कर सकेंगे; क्योंकि कर्णको कुपित करके उसके पिता सूर्यनारायणको देवराज भी असंतुष्ट नहीं कर सकते।

भूमिके नीचेके लोक हैं अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। इनमें-से पाँचवाँ लोक महातल कद्रूके पुत्र तक्षक, सुषेणादि क्रोधवश नामक नाग गणोंका है और इनमें अधिक अनेक शिर वाले हैं। नागराज तक्षकका पुत्र अश्वसेन अर्जुनकी शत्रुताके कारण महातलसे उसी समय अवसर देखकर पृथ्वीपर आया और कर्णके उस सर्पमुख वाणसे एक होकर वाण ही बनकर उस स्वर्ण तरकशमें प्रविष्ट होगया।

कर्णने उसी समय उस वाणको धनुषपर चढ़ाया। इस प्रकार अश्वसेन नाग ही धनुषपर चढ़ चुका है, यह देखकर देवता हा-हाकार करने लगे।

कर्णके सारथि बने महाराज शल्यने भी उस भयंकर वाणको देखा। वे कुछ सोचकर कर्णसे बोले—'कर्ण सावधान, तुम्हारा यह शर शत्रुके कण्ठमें नहीं लगेगा। तनिक चित्तको ठीक करके फिर लक्ष्य सन्धान करो जिससे यह शत्रुका सिर काट सके।'

शल्य सुप्रसिद्ध महारथी थे। अकारण वे लक्ष्य-सन्धानकी भूल नहीं सूचित करते होंगे, यह कर्णको सोचना चाहिए था। आज शल्यने कर्णको प्रशंसा करके उत्साहित भी किया था; किन्तु कर्ण बहुत अधिक अभिमानी था। शल्य उसकी प्रायः निन्दा करते रहे थे, अतः उनसे चिढ़ता भी था। उसे लगा कि आज इस समय शल्य उसकी भूल बतलाकर उसे लक्ष्य-सन्धानमें अज्ञ सिद्ध करना चाहते हैं। उसने गर्व पूर्वक कहा—'जैसे वीर कपटपूर्वक युद्ध नहीं करते, वैसे ही कर्ण पुनः लक्ष्य-सन्धान नहीं करता।'

वर्षोंसे जिस वाणकी कर्णने पूजा की थी, जिसपर वह इन्द्रकी शक्तिके समान ही भरोसा रखता था, उसे अर्जुनपर छोड़ते हुए चिल्लाया—'अर्जुन ! अब तू मारा गया।'

अन्तरिक्षमें पहुँचते ही उस वाणसे विषैली नीली लपटें उठने लगीं। श्रीकृष्णने यह देखा और अपनी ओर अपलक देखते पवनपुत्रकी ओर दृष्टि उठायी। इतना संकेत हनुमानजीके लिए पर्याप्त था। उन्होंने रथको अपने पैरसे तनिक-सा दबा दिया। इससे रथके पहिये थोड़े भूमिमें धँस गये। श्रीकृष्णने उझककर अश्वोंपर भार दिया तो वे भी घुटने टेककर झुक गये, मानों उन्हें ठोकर लगी हो।

'धन्य प्रभु ! धन्य जनार्दन आपका कौशल ! भक्त वत्सल धन्य हो आप !' देवता गगनसे एक साथ पुकार उठे।

वह वाण आया और अर्जुनका रथ कुछ झुकजानेसे, कण्ठपर लगनेके स्थानपर मुकुटपर लगा। मुकुट शिरसे पृथ्वीपर गिर पड़ा। वह दिव्य मुकुट जिसे सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने सावधानीपूर्वक इन्द्रके लिए बनाया था। अर्जुन जब दैत्योंके साथ संग्राम करने स्वर्गसे चले थे तो सुरेन्द्रने वह मुकुट प्रसन्न होकर अपने हाथों अर्जुनको पहनाया था। तीनों लोकोंमें प्रशंसित, सदा दिव्य सुरभि प्रसारित करने वाला, स्रष्टाकी तपस्या एवं सावधानीसे बना वह सूर्यचन्द्रके समान समुज्ज्वल मुकुट कर्णके उस वाण तथा अश्वसेन नागकी विषाग्निसे जलता हुआ भूमिपर गिरकर नष्ट होगया।

अर्जुनको इससे कोई घबराहट नहीं हुई। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक अपने शिरपर श्वेत उष्णीष (साफा) बाँध लिया। सुर, महर्षि तथा स्वयं अर्जुन भी समझते थे कि मृत्युके मुखसे उन्हें उनके सारथि बने सर्वसमर्थ सखाने ही बचाया है।

अश्व तो एक झटकेमें झुककर पुनः उठ खड़े हुए थे और श्रीकृष्णने धँसे पहिये ऊपर उठा लिये थे बिना रथसे उतरे। उन्होंने अर्जुनको फिर सावधान किया।

अश्वसेन नाग असफल होकर लौटा तो फिर कर्णके त्रोणमें प्रवेश करना चाहता था। कर्णने यह देख लिया। कड़ककर पूछा—'तुम कौन ?'

अश्वसेन बोला—'मैं आपका सहायक हूँ। अच्छी प्रकार लक्ष्य ठीक करके तुमने शर सन्धान नहीं किया था, इससे मैं अर्जुनका मस्तक नहीं उड़ा सका। मुझे एक अवसर और दो। अच्छी प्रकार लक्ष्य-सन्धान करो। इस बार तो मैं आपके शत्रुको समाप्त कर दूँगा।

नागने अपना परिचय दिया। अर्जुनसे अपनी शत्रुताका कारण बतलाया। महामनस्वी कर्णने कहा—'नाग ! मेरे अनजानमें तुम मेरे बाणपर बैठ गये थे। कर्ण दूसरेके बलका आश्रय लेकर विजय नहीं पाना चाहता। तुम्हारा सन्धान करके मैं एक नहीं सौ अर्जुनको भी मार सकता होऊँ तो भी मैं एक बाणका दुबारा सन्धान नहीं कर सकता, यह मेरा व्रत है। मेरे पास सर्प बाण है और मुझमें पौरुष है। मैं स्वयं शत्रुका शमन करूँगा। तुम स्वेच्छानुसार जाओ।'

कर्णको पता नहीं था कि सर्पमुख बाण अब उसके समीप नहीं है। वह समझता था कि यह नाग बाण बना था; क्योंकि नागोंमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी जन्मसे सिद्धि होती है। सर्पमुख बाणपर ही अश्वसेन बैठ गया था सूक्ष्म बनकर। अतः वह बाण तो अब रहा नहीं था; किन्तु कर्ण इसे जानता भी होता तो भी अश्वसेनकी सहायता वह स्वीकार नहीं करता। जब उसे स्वर्ण त्रोण देखनेपर सत्यका पता लगा, तब भी अश्वसेन-की सहायता अस्वीकार करनेपर उसे कोई पश्चात्ताप नहीं हुआ।

कर्णकी अस्वीकृतिसे अश्वसेन अत्यन्त क्रुद्ध होउठा। वह अपना भयंकर रूप प्रकट करके अर्जुनकी ओर उड़ चला।

'धनञ्जय सावधान !' श्रीकृष्णने नागको दिखलाते हुए कहा—'खाण्डव दाहके समय तुम्हारे शरसे इसकी केवल पूँछ कटी थी। अब बाण मारकर शरीरसे ही इसे मुक्त कर दो, अन्यथा यह तुम्हारी शत्रुता अपने भीतर लिये सदा संतप्त होता रहेगा।'

अर्जुनने अन्तरिक्षमें आड़े-तिरछे उड़कर आते उस नागको देखा। एक साथ ६ वाण उनके धनुषसे छूटे। एक वाणने नागके फणके चिथड़े उड़ा दिये और पांचने शरीरके ६ टुकड़े काट दिये। अश्वसेनकी शत्रुता उसके जीवनके साथ समाप्त हुई।

कर्ण मारा गया

कर्णने अपनेको ब्राह्मण वतलाकर भगवान परशुरामसे अस्त्र-ज्ञान प्राप्त किया था। पता लगनेपर उन्होंने शाप दे दिया था कि प्राणान्तका समय आनेपर उसे ब्रह्मास्त्र भूल जायगा।

कर्णके प्रमादसे आखेटके समय उसका एक वाण मृगके स्थानपर एक ब्राह्मणकी गायको लग गया था। ब्राह्मणने शाप दिया था कि 'मरनेका समय आनेपर युद्धभूमिमें उसके रथका पहिया पृथ्वीमें धँस जायगा।'

कर्ण वीर था। सुप्रसिद्ध दानी था। जीवनमें किसी भी याचकको उसने 'नहीं' कहकर लौटाया नहीं था। श्रीकृष्णके स्वरूपको वह जानता था। केवल अर्जुनसे उसके मनमें प्रबल स्पर्धा थी। इसे दोष नहीं कहा जा सकता; किन्तु भगवदाश्रित व्यक्तिका—भक्तका विरोध कभी भी कल्याणकारी नहीं होता।

कर्णका एक बड़ा दोष था कि वह कुसंगमें पड़ गया था। दुर्योधनके सभी कुटिल कर्मोंका समर्थक रहा था। दूसरे वह अत्यन्त कटुभाषी था। तीसरे भक्तापराधी था। ये तीनों ही दोष भगवानको उससे रुष्ट कर देनेके लिए पर्याप्त थे। वैसे वह भी भीष्मके समान श्रीकृष्णके सम्मुख मरना ही श्रेयस्कर मानता था।

नागवाणके असफल होनेपर, नागके मारे जानेपर कर्णने फिर अर्जुनपर वाण-वृष्टि प्रारम्भ की। अर्जुनने भी अपने मुकुटके नष्ट करनेका प्रतिशोध तत्काल लिया। कर्णका शरीर अपने वाणोंसे अत्यन्त आहत कर

दिया और उसका मुकुट, कुण्डल तथा कवच भी वाणोंसे टुकड़े-टुकड़े काट दिये। अर्जुनके आघातसे कर्ण मूर्च्छित होगया। उसके हाथसे धनुष छूटकर गिर पड़ा।

अर्जुन जहाँ प्रसिद्ध वीर थे, वहीं अत्यन्त सदय तथा धर्म भीरु भी थे। उनके प्रेमके अतिरिक्त उनके सद्गुणोंने भी श्रीकृष्णको उनका समर्थक सखा बना दिया था। आहत, मूर्च्छित कर्णपर विजयने वाण वर्षा बन्द कर दी।

श्रीकृष्णने ललकारा—'विजय! यह शिथिलता क्यों? जो धर्मयुद्धके नियम न मानता हो, जिसने शस्त्रहीन तुम्हारे पुत्र अभिमन्युको मारनेमें संकोच नहीं किया, उस शत्रुके ऊपर दया व्यर्थ है। उसे संकटमें देखकर रुको मत! मार डालो उसे।'

अर्जुनने यह आज्ञा स्वीकार कर ली; किन्तु कर्णके रथको केवल वाणोंसे चारों ओरसे ढक दिया। चेतना लौटनेपर कर्णने इन वाणोंको काट दिया और अर्जुन तथा श्रीकृष्णपर प्रहार करने लगा।

संकटमें धर्म और भगवान स्मरण आजायँ तो विपत्ति चाहे जितनी बड़ी हो, विदीर्ण होजाती है। कर्णके साथ उलटी बात हुई। उसको ब्रह्मास्त्र भूल गया। उसके रथका वाम चक्र भूमिमें धँसने लगा तो सारथि शल्य तथा रथके अश्व लड़खड़ाने लगे। कर्ण धर्मको रक्षार्थ पुकारता, इसके स्थानपर बुद्धि भ्रमके कारण धर्मको कोसने लगा। वह धर्मकी निन्दा करने लगा। धर्मकी निन्दा तो व्यक्तिके ओज, तेज, वीर्य, श्री सबको क्षय ही करती है।

श्रीकृष्ण अर्जुनको बारबार उत्तेजित कर रहे थे। कर्ण भी अत्यन्त क्रोधमें भरा उग्रतम आघात कर रहा था। इतनेमें कर्णके रथका पहिया पृथ्वीमें और धँस गया। अब रथ गतिहीन होगया। शल्य भले सारथि बन गये थे; किन्तु रथका पहिया निकालनेको उनसे कहा नहीं जासकता था। कर्ण स्वयं रथसे कूदा और पहियेको निकालनेका प्रयत्न करने लगा।

इस अवसरपर कर्णने कातर होकर अर्जुनसे कहा—'धनञ्जय! तुम बहुत बड़े धनुर्धर हो! तुम्हें धर्मका सम्यक् बोध है। जब तक मैं यह पहिया निकाल लूँ, तब तक क्षणभरको रुक जाओ। युद्धमें भागते, भयातुर, शरणागत, प्राणरक्षाको पुकारते, शस्त्रहीन, कवच कट गये

योधापर वीर पुरुष प्रहार नहीं करते। तुम दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हो। उदार पुरुष हो। संसारके श्रेष्ठतम शूर हो। तुम रथपर हो, मैं भूमिपर हूँ। मैं आहत हूँ, मेरा कवच कट गया है, इस समय घबराया हूँ। अतः मेरे ऊपर प्रहार उचित नहीं है।'

'धन्यवाद ! धन्यवाद सूत पुत्र ! तुम्हें सौभाग्यसे धर्मका स्मरण तो आया !' श्रीकृष्ण अत्यन्त व्यंगपूर्वक बोले—'विपत्तिमें पड़नेपर कुपुरुष धर्मकी निन्दा करते हैं। अपने कुकर्मोंका भी कुछ स्मरण है तुम्हें ? जो नीच पुरुष दूसरोंको अधर्मपूर्वक मारता है, उसे संकटमें पड़नेपर धर्मकी सहायता नहीं मिलती। उसे धर्म ! धर्म ! पुकारनेका कोई अधिकार नहीं !'

धर्मके परम प्रभु अच्युतने गिनाना प्रारम्भ कर दिया —'पाण्डव बारह वर्ष वनमें रहकर, एक वर्ष अज्ञात वास करके लौटे थे। उनका राज्य तुमने लौटाने नहीं दिया, तब तुम्हारा धर्मज्ञान कहाँ गया था ? भीमसेन-को विष देने, सर्पोंसे डँसवानेमें तुमने सम्मति दी थी तो कहाँ गया था तुम्हारा धर्म ? वारणावतके लाक्षागृहमें रातको सोते पाण्डवोंको अग्नि लगाकर जला डालनेका तुमने प्रबन्ध किया तब तुम्हारा धर्म कहाँ था ? तुम जब कौरवोंकी द्यूत-सभामें द्रौपदीको कटुवचन कह रहे थे और उसे घूर-घूरकर देख रहे थे तो बड़े धर्मातमा थे ?

'तुम आज युद्ध-धर्मकी बात कर रहे हो ; किन्तु अभिमन्यु बालक था, अकेला था, तुम अनेक महारथियोंने उसका रथ नष्ट करके घेरकर मार डाला तो तुम्हारा धर्म कहाँ था ?

'अब धर्मकी दुहाई देकर बकवाद करनेसे कोई लाभ नहीं। तुम धर्मकी कोई सहायता पाने योग्य नहीं हो और न किसी प्रकार दयाके पात्र हो।'

कर्णने लज्जासे शिर झुका लिया। उसके पास कोई उत्तर नहीं था। उसके हृदयने कहा—'श्रीकृष्णकी शालीनता है कि वे नहीं कहते कि अभी आजके इसी युद्धमें उनका कवच कट गया था, तब भी मैं उनपर बाण मारनेका कुकर्म कर रहा था। इसीसे तो अर्जुनकी ध्वजापर शान्त बैठा रहनेवाला वानर क्रुद्ध होउठा था।'

श्रीकृष्णने अर्जुनको ललकारा—'इसपर दया मत करो। दिव्यास्त्रसे ही इसे मार दो।'

कर्णने फिर रथपर चढ़कर थोड़ा युद्ध किया; किन्तु रथका पहिया भूमिसे निकाले बिना मार्ग नहीं था। अर्जुनकी मारसे उसके सब सहायक भाग गये थे। दूसरा कोई रथ आस-पास नहीं था अपने पक्षका कि कर्ण उसपर चला जाता। उसे विवश होकर रथका पहिया निकालने भूमिपर उतरना पड़ा।

दूसरी ओर श्रीकृष्णके द्वारा उत्तेजना दिये जानेपर अर्जुनने यम-दण्डके समान भयंकर आञ्जलिक नामक ढाई हाथ लम्बा विशाल वाण धनुषपर चढ़ाया। वह कालाग्निके समान भयानक वाण चढ़ाकर अर्जुनने अपने तप, गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ तथा मित्र वात्सल्यकी शक्ति भी संकल्प पूर्वक उससे संयुक्त कर दी। उस वाणने कर्णका मस्तक काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया। महाभारत युद्धके सत्रहवें दिन अपने सेनापतित्वके दूसरे दिन, दिनके तीसरे प्रहर महावीर कर्ण समर-भूमिमें छिन्न मस्तक सदाको सोगया। सब लोगोंने देखा कि कर्णके कबन्धसे एक तेज निकलकर दिशाओंको आलोकित करता हुआ सूर्यमण्डलमें जाकर विलीन होगया।

श्रीकृष्ण और अर्जुन शंखनाद करने लगे थे। पाण्डव पक्षके शूर हर्षमें भरकर सिंहनाद करने लगे। विजय दुन्दुभि बजने लगी। बहुतसे योधा आकर अर्जुनको गले लगाने लगे। भीमसेन भयंकर सिंहनाद करते हुए नाचने-कूदने लगे थे।

अर्जुनने कर्णको मारनेसे पूर्व उसके रथकी ध्वजा काट दी थी। कर्णके मरते ही रथका पहिया पृथ्वीसे छूट गया था। उस टूटी ध्वजावाले रथको लेकर शल्य दुर्योधनके पास समाचार देने चले गये। वे अत्यन्त दुःखी थे। दुर्योधनके आगे आकर पुकारने, ललकारने, समझानेपर भी उसकी सेनाके लोग अर्जुन तथा भीमके भयसे भाग गये। फलतः दुर्योधनको उस दिन युद्ध विरामकी घोषणा करनी पड़ी। उसकी सेना लौटी तो पाण्डव सेना भी अपने शिविरकी ओर हर्षनाद करती लौटी।

श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'राजा युधिष्ठिर कर्णके साथ तुम्हारा युद्ध देखने आगये थे; किन्तु अधिक आहत होनेसे फिर शिविरमें लौट गये। अब हम उनके पास चलें।'

श्रीकृष्ण-अर्जुन शिविरमें पहुँचे तो आहत युधिष्ठिर पलंगपर सोरहे थे। दोनोंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। उठकर युधिष्ठिरने दोनोंको हृदयसे लगाया। श्रीकृष्णने विस्तारसे युद्धकी घटना तथा कर्णका मारा जाना सुनाकर कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आप पाँचों भाई सकुशल हैं और आपके सब प्रधान शत्रु मारे गये। आपको जिसने आज इतना आहत किया था; वह सूत पुत्र छिन्न मस्तक पड़ा है। उसके शरीरमें कितने बाण लगे हैं, यह चलकर आप देख लीजिये।'

युधिष्ठिरके नेत्र भर आये। श्रीकृष्णकी दाहिनी भुजा पकड़कर दो क्षण वे मूक बने रहे। फिर बोले—'देवर्षि नारद तथा भगवान व्यासने भी मुझे बतलाया है कि आप साक्षात् नारायण हैं। आपने अर्जुनका सारथ्य स्वीकार किया, हमारी विजय तो तभी सुरक्षित होगयी थी। आप सुरक्षाके लिए सावधान हैं, अतः अर्जुनका विजयी होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।'

राजा युधिष्ठिर स्वर्णके सज्जित रथपर बैठकर श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके साथ रणभूमि देखने गये। तब तक सायंकाल होचुका था। दुर्योधनने सुगन्धित तेल भरकर कर्णके शरीरके आस-पास स्वर्ण निर्मित सैकड़ों दीपक रखवाये थे। उनके प्रकाशमें ही कर्णका बाणोंसे स्थान-स्थानपर विदीर्ण शरीर उन लोगोंने देखा।

'गोविन्द! आप सर्वेश्वर ही नहीं; मेरे अपने स्वामी हैं।' युधिष्ठिरने कहा—'आपकी कृपासे ही यह विजय हुई।' वहाँसे वे लोग शिविरमें लौट आये।

शल्य भी समाप्त

अश्वत्थामाकी सम्मतिसे दुर्योधनने मद्रराज शल्यको अपना सेनापति बनाया। यह समाचार पाण्डव शिविरमें पहुँचा तो युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा प्रमुख शूरोंके साथ श्रीकृष्णके समीप गये। इसमें एक संकोचकी बात थी; क्योंकि शल्य माद्रीके सगे भाई होनेके कारण नकुल-सहदेवके मामा थे।

'श्रीकृष्ण ! अब शत्रुके सेनापति शल्य बनाये गये हैं।' धर्मराजने कहा—'सब सेनाओंमें मद्रराजका विशेष सम्मान है। अतः अब संग्राम शैलीके सम्बन्धमें आपकी क्या सम्मति है !'

श्रीकृष्णने कहा—'शत्रुको कभी अल्प शक्ति समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए। आर्तयनके पुत्र शल्य अत्यन्त तेजस्वी तथा पराक्रमी हैं। उन्हें युद्धके अनेक अद्भुत कौशल ज्ञात हैं। मैं उन्हें भीष्म, द्रोण अथवा कर्णसे कम नहीं मानता। युद्धमें उनके सम-बल शूर मुझे आप ही लगते हैं। क्रोधमें भरे मद्रराज शल्यका सामना करनेमें केवल आप ही समर्थ हैं। अतः मामा समझकर उनपर दया दिखाना उचित नहीं है। मेरी बात मानकर आप महारथी शल्यका सामना करें और क्षात्रिय धर्मपर स्थिर रहकर उन्हें मार डालें। आजके संग्राममें आपको अपना तपोबल और क्षात्रबल दिखलाना चाहिए।

दुर्योधनने सब सैनिकोंको एकत्र किया। प्रातःकाल सबने शपथ ली कि पाण्डवोंसे कोई अकेला होकर नहीं लड़ेगा। सब साथ रहकर एक दूसरेकी सहायता करते हुए लड़ेंगे। जो ऐसा नहीं करेगा उसे पाँचों महापाप तथा पाँचों उपपातक लगेंगे।

कर्णके मारे जानेपर दोनों पक्षोंमें सेनाका बल कौरवोंका ही अधिक था। उनके पास पाण्डवोंसे दुगुनीसे भी अधिक सेना रह गयी थी; किन्तु पाण्डवोंमें जहाँ प्रायः सभी विद्यमान थे, कौरव सेनाके अधिकांश प्रसिद्ध महारथी मारे जाचुके थे।

युद्ध प्रारम्भ हुआ। आरम्भका उत्साह शीघ्र शिथिल होने लगा। भीमसेन तथा अर्जुनके सम्मुख कौरव सेनाका व्यूह टिक नहीं सका। नकुलने कर्णके अब तक बचे तीनों पुत्रोंको मार दिया।

शल्यका सामना युधिष्ठिर कर रहे थे। भीमसेन उनकी सहायता करनेमें लगे थे। कौरव पक्षसे महारथी द्रुमसेन शल्यकी सहायता करने आकर युधिष्ठिर द्वारा मारा गया।

शल्यने सचमुच प्रचण्ड पौरुष प्रकट किया। उनकी मारसे पाण्डव सेना युधिष्ठिरके पुकारनेपर भी मैदान छोड़कर भागने लगी। अब युधिष्ठिरने सम्राट्के समान आदेश किया—'नकुल और सहदेव मेरे रथ-चक्रकी रक्षा त्यागकर अब अपने मामाके साथ अच्छी प्रकार युद्ध करें। मेरे रथके चक्रोंकी रक्षाका भार सात्यकि तथा धृष्टद्युम्नपर रहा। अर्जुनको मेरा पृष्ठरक्षक रहना चाहिए। भीमसेन मेरे आगे चलेंगे। इस प्रकार मैं अब शल्यको मारकर ही संग्रामसे पीछे हटूँगा।'

सम्राट्का आदेश सबने स्वीकार किया।

शल्य अनेक बातोंमें विशिष्ट थे। उनके रथपर लक्ष्य वेध करने वाला यन्त्र था जो अनवरत असंख्य वाण एवं गोले बरसाता था।[1] उस यन्त्रकी मारसे प्रबल शत्रु समूह भी भाग खड़ा होता था।

शल्यने युधिष्ठिर तथा भीमसेनका भी कवच काट दिया। युधिष्ठिरका धनुष भी कट गया। कृपाचार्यने उनके सारथिको भी मार डाला। उनके रथके अश्व मारे गये। इस संकटमें भीमसेनने सहायता की। उन्होंने शल्यका धनुष काट दिया और सारथिको मारकर रथ-अश्व सबको नष्ट कर दिया।

यह सब युद्धमें होता ही है। कभी एक पक्ष बीस पड़ता है, कभी दूसरा। अन्तमें युधिष्ठिरने प्रलयाग्निके समान अमोघ शक्ति उठायी। पाण्डवोंने सदा उसकी पूजा की थी। उसके प्रहारसे मद्रराज शल्यका वक्ष फट गया। उनका सारा अंग छिन्न-भिन्न होगया।

कौरवोंका अन्तिम सेनापति प्रभातके प्रथम प्रहरके अन्तमें ही मारा गया। युद्ध फिर भी चलता रहा। मद्रराज शल्यका छोटा भाई और

---

१. इसकी तुलना आज मशीनगनसे की जा सकती है।

उनके अनुचर भी खेत रहे। धृष्टद्युम्नके हाथों शाल्व मारा गया। शकुनिने घूमकर पाण्डवोंपर पीछेसे आक्रमण किया ; सहदेवने उसे तथा उसके पुत्र उलूकको भी सेनाके साथ मार दिया।

यह युद्ध जब दो प्रहरके पश्चात समाप्त हुआ, भीमसेनने दुर्योधनके अतिरिक्त धृतराष्ट्रके सब पुत्र मार दिये थे। कौरवोंके पक्षमें एकत्र पूरी ग्यारह अक्षौहिणी सेना समाप्त होगयी थी। दुर्योधनके दलमें उसके अतिरिक्त कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ये तीन ही बचे थे। वे भी दुर्योधनसे बहुत दूर पड़ गये थे।

उस समय भी पाण्डवोंके पास दो सहस्र रथी, पाँच सहस्र अश्वसवार तथा दशसहस्र पदातिसेना शेष थी। सञ्जयको सात्यकिने बन्दी बना लिया था ; किन्तु भगवान व्यासके कहनेसे वह छोड़ दिया गया। धृतराष्ट्रका दासीपुत्र युयुत्सु प्रारम्भमें ही पाण्डवोंके पक्षमें आगया था। वही बचा था और युधिष्ठिरने उसे कौरव-स्त्रियोंको नगरमें लेजानेकी आज्ञा दे दी थी।

दुर्योधनको मतिभ्रम

कर्णके मारे जानेका समाचार राजा धृतराष्ट्रको सञ्जयने उसी रात्रिमें सुनाया था। देवी गान्धारी उस समय पतिके पास ही थीं। उन्होंने सुनकर शोकमग्न राजाके सम्मुख ही कहा—'सञ्जय ! कर्ण ही मेरे पुत्रोंकी एक मात्र आशा था। उसके न रहनेपर दुर्योधन बहुत दुःखी होगा। अपनी ही दुर्मतिसे उसने पूरे वंशका नाश करवा दिया ; किन्तु अब उसे स्वयं पाण्डवोंका सामना करना होगा। भीम बहुत क्रोधी है। उसने मेरे सब पुत्र मार दिये। वह दुर्योधनको सम्मुख समरमें पाकर छोड़ नहीं सकता। मैं सम्मति भी दूँ कि अब भी पाण्डवोंसे सन्धि कर ले तो उसे दुर्योधन नहीं सुनेगा।'

सञ्जयने कहा—'कृपाचार्यने यही सम्मति आज ही दी थी ; किन्तु आपके ज्येष्ठ पुत्रका कहना है कि मैंने पाण्डवोंको इतना सताया है, इतना

अपमानित किया है, इतनी अवज्ञा की है उनकी कि अब वे इस विजयको पाकर मेरी सन्धिकी बात सुन नहीं सकते। वे मेरा उपहास करेंगे और मैं भी अब उनके द्वारा उपकृत होकर कैसे जीवन धारण करूँगा। जिस भीमने मेरे सब भाई मार दिये, उसके व्यंग सुनते हुए जीवित रहनेसे मर जाना कहीं उत्तम है। यह शत्रुता तो इतनी बढ़ गयी है कि उसे मेरी या उनकी मृत्यु ही मिटा सकती है। युद्धके अतिरिक्त अब दूसरा मार्ग नहीं।'

'वह अत्यन्त हठी है।' गान्धारीने कहा—'दूसरेकी सम्मति मानना उसने सीखा ही नहीं। सञ्जय! मेरा मातृत्व मुझे अधीर बना रहा है। उससे जाकर कहो कि कल युद्धमें जानेसे पूर्व ही वह एक बार मेरे सामने सब वस्त्र उतारकर आजाय। मैं उसे नेत्रोंकी पट्टी खोलकर देख लूँगी। पुत्रके शरीरको वज्रप्राय बना देनेके लिए एक क्षणको नेत्र बाँधे रहनेका आजीवन चलनेके लिए लिया गया नियम भंग करूँगी। जानती हूँ कि यह मोह है; किन्तु विपत्तिमें पड़े पुत्रको सुरक्षित करनेके लिए यह करूँगी।'

राजा धृतराष्ट्र तथा सञ्जय दोनोंने इसका अनुमोदन कर दिया। रात्रिमें ही सञ्जयने जाकर दुर्योधनको उसकी माताका सन्देश सुनाया। मद्रराज शल्यको सेनापति बनाकर दुर्योधन बहुत सबेरे—अन्धकार रहते ही रथमें बैठा और हस्तिनापुरकी ओर चल पड़ा।

श्रीकृष्ण लीलामय हैं। वे कब क्या करेंगे, दूसरा कोई कैसे जान सकता है। कर्ण-वधके पश्चात पाण्डवशिविरमें सब निश्चिन्त सोये थे; किन्तु श्रीकृष्ण रात्रिमें ही उठे और दारुकको उन्होंने अपना रथ सज्जित करनेको कहा। अपने रथपर बैठकर वे युद्धभूमिकी परिक्रमा करने निकल पड़े।

दुर्योधनका मार्गमें श्रीकृष्णका गरुड़ध्वज रथ मिला। उसने केशवको हाथ जोड़कर प्रणाम किया। वे हृषीकेश हँसकर बोले—'मैं तो इस समय यह देखने निकला था कि इस भूमिका किधरका भाग आज युद्धके उपयुक्त है। अधिकांश भूमि तो मृतकों, टूटे रथों तथा शस्त्रोंसे पटी पड़ी है; किन्तु लगता है कि तुमने अब पाण्डवोंसे युद्धका विचार त्याग दिया है। तुम्हें ठीक समझ देरसे आती है। अपने पिताके पास जारहे हो कि वे मध्यमें पड़कर युधिष्ठिरसे तुम्हारी सन्धि करा दें। बहुत उत्तम विचार है; किन्तु कह नहीं सकता कि भीमसेन इसे मान लेंगे या नहीं।'

"मैं प्राण रहते उस पेटूसे सन्धि नहीं करूँगा।' दुर्योधनने चिढ़कर कहा—'मुझे माताने बुलाया है।'

'एक ही बात है।' श्रीकृष्णने कहा—'राजा धृतराष्ट्र मध्यस्थ बनें या देवी गान्धारी ; किन्तु तुम पहले ही उन दोनोंमें-से किसीकी सुन लेते तो बेचारा दुःशासन भीमके हाथों उस प्रकार मारा न जाता।'

'केशव, आपका अनुमान सत्य नहीं है।' अब उत्तेजनामें दुर्योधन कह गया—'मेरी माता वीर माता हैं। वे मुझे समर विरत होनेका आदेश इस विषमावस्थामें नहीं देंगी। वे महासती तो एक बार मेरे अनावरित शरीरपर दृष्टिपात करके सम्पूर्ण देहको वज्र बना देना चाहती हैं जिससे उनका यह पुत्र अकेले ही सब पाण्डवोंका मान-मर्दन करनेमें समर्थ होजाय।'

'बहुत उत्तम विचार है।' श्रीकृष्णने गम्भीर होकर कहा—'वे महासती विपत्तिमें पड़े पुत्रको इससे उपयोगी वरदान और क्या दे सकती हैं। वे सचमुच इसमें समर्थ हैं ; किन्तु दुर्योधन ! जिस माताने पतिगृह आनेपर सदाके लिए अपने अन्धे पतिके पदानुसरणमें अपने नेत्र बाँध लिये, जिसने अपने शिशुओंका भी शरीर कभी नहीं देखा, उस माताकी मर्यादा, उसके सतीत्वका भी तुम्हें कुछ ध्यान है ? उन्होंने तो संसारको कभी देखा ही नहीं ; किन्तु तुमने तो देखा है। युवा पुत्र माताके सम्मुख दिगम्बर खड़ा होजाय, यह उचित लगता है तुम्हें ? फिर ऐसी माताके सम्मुख जिसने तुम्हें शैशवमें भी नहीं देखा है। तुम समझदार हो, अतः माताके गौरवका भी ध्यान रखना।'

श्रीकृष्ण इतना कहकर दारुकको रथ आगे बढ़ानेके लिए कहने लगे। दुर्योधनने ही उन्हें रोका—'केशव ! आप मेरे भी सम्बन्धी हैं। मुझे क्या करना चाहिए, यह बतलाते जायँ।'

'कोई विशेष बात नहीं।' श्रीकृष्णने चलते-चलते कह दिया—'माताके सम्मुख कच्छधारण करके जाना। इससे मर्यादा बनी रहेगी।'

दुर्योधन माताके सम्मुख कच्छ पहने, शेष सब वस्त्र उतारकर पहुँचा। माताको प्रणाम करके बोला—'अम्ब ! आपके आदेशानुसार मैं वस्त्रहीन होकर उपस्थित हुआ हूँ।'

देवी गान्धारीने पट्टी सरकायी और नेत्र खोले। एक दृष्टि दुर्योधनके शरीरपर डालकर नेत्र बन्द करके पट्टी ठीक करते हुए पूछा—'पुत्र ! तुम्हें मार्गमें कोई मिल गया था ?'

'श्रीकृष्णचन्द्र मिले थे माता !' दुर्योधनने कहा—'उन्होंने ही सम्मति दी कि मैं सर्वथा नग्न आपके सामने जाकर आपका असम्मान न करूँ। कच्छ मैंने इसीलिए शरीरपर रखा है।'

'वे सर्वेश्वर ! उनकी इच्छा पूर्ण हो !' गांधारीने कहा—'तेरा कच्छसे ढका शरीरका भाग दुर्बल रह गया ; किन्तु अब जा।'

स्वयं गान्धारीको यह क्षणभरका नियम-भंग अधीर कर रहा था। अपना मोह वश किया गया कर्म उन्हें खिन्न किये था। वे चुप रह गयीं। दुर्योधन तुरन्त लौट आया।

युधिष्ठिरको उलाहना

शल्यके मारे जाने और सब सेनाके समाप्त होजानेपर दुर्योधनने देखा कि वह सर्वथा अकेला है। उसे पता नहीं था कि उसके पक्षमें कोई बचा भी है। जिधर भी दृष्टि जाय, चारों ओर दूर तक रक्त, टूटे रथ, कटे फटे अश्वों, गजों, मनुष्योंके शवकी ढेरी ही दीखती थी। कुत्ते, गीध, शृगाल, कौए, चीलोंके झुण्ड उतर आये थे। बड़ा भयंकर दृश्य था।

दुर्योधन स्वयं बहुत घायल होचुका था। उसका कवच युद्धमें कट गया था। अश्व, सारथि मारे जाचुके थे। रथ नष्ट होगया था। वह बहुत अधिक थका था। किसी भी क्षण पाण्डव आकर उसे धर दबोचेंगे, यह भय था ही। अतः अपनी गदा उठाये वह पैदल ही चल पड़ा। उसने सरोवरके जलमें जल-स्तंभन विद्याका आश्रय लेकर कुछ समय विश्राम करनेका विचार किया। उसे उस समय विश्राम सबसे अधिक आवश्यक था। कोई भी नवीन योजना सोचनेको भी समय चाहिए।

सञ्जयको भगवान व्यासने छुड़वा दिया था। वे भी पैदल लौट रहे थे। मार्गमें दुर्योधन उन्हें मिल गया। सञ्जयने बतलाया कि उसके पक्षमें कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा बचे हैं। तीनों साथ हैं। दुर्योधनने अपने छिपनेका स्थान बतला दिया सञ्जयको और कह दिया कि सञ्जय उन तीनोंको तथा उसके पिताको वह स्थान बतला दें।

कोई रहस्य तब रहस्य नहीं रह जाता, जब उसे दो से अधिक व्यक्ति जान लेते हैं। तब बहुत प्रयत्न और सावधानी रखनेपर भी उसकी गोपनीयताके भंग होनेका छिद्र निकल ही आता है। सञ्जयसे समाचार पाकर अश्वत्थामा आदि दुर्योधनसे मिलने सरोवरके समीप आये। उनसे बातचीत करने दुर्योधन जलसे ऊपर उठा। वनसे आखेट करके लौटते कुछ व्याधोंने दूरसे यह सब देख लिया। उन्हें दुर्योधनके छिपनेका स्थान ज्ञात होगया।

दुर्योधन कहीं भागकर छिप गया है, यह बात शीघ्र पाण्डवोंके ध्यानमें आगयी। तत्काल उन्होंने दुर्योधनका पता देने वालेको पुरस्कृत करनेकी घोषणा करा दी चारों ओर। वे उस प्रधान शत्रुको थोड़ा भी समय नहीं देना चाहते थे।

भीमसेनको आखेट बहुत प्रिय था। फलतः वनमें आखेट करनेवाले व्याधोंसे उनकी मैत्री थी। दुर्योधनका पता पाते ही वे व्याध सीधे पाण्डव शिविरमें भीमसेनको पूछते आये। उन्होंने पता बतला दिया, पुरस्कृत हुए। पाण्डवों तथा श्रीकृष्णको उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उस सरोवरके समीप पहुँचा दिया। पानीमें छिपे दुर्योधनको युधिष्ठिरने श्रीकृष्णकी सम्मतिसे ललकारा।

मानी दुर्योधन यह कैसे सह ले कि कोई उसे कायर, डरपोक कहे! उसका कहना था कि वह केवल कुछ काल विश्राम करना चाहता है; किन्तु उसे पाण्डव समय देनेको प्रस्तुत नहीं थे। दुर्योधनने यह भी कहा कि वह अब वनमें चला जायगा। राज्य युधिष्ठिर ले लें; किन्तु युधिष्ठिरने तथ्य सुना दिया—'अब तुम्हें यह उदारता सूझी है? किस राज्यपर तुम्हारा अधिकार रह गया है कि हमें वह दे रहे हो? तुमने जो अन्याय, अपमान, अधर्म हमारे साथ किये हैं, वह सब स्मरण करो। अब तुम क्षमा पाने योग्य हो? निकलो और युद्ध करो।'

दुर्योधनने अन्तिम तर्क दिया—'आप सब बहुत हैं। सशस्त्र हैं। रथपर हैं। मैं अकेला हूँ। थका हूँ। रथ-शस्त्र-कवच रहित हूँ।'

युधिष्ठिरने कह दिया—'तुम जो शस्त्र पसन्द हो ले लो! हममें-से जिससे चाहो, उससे द्वन्द्व-युद्ध करो। डरपोक बनकर जलमें छिपे मत रहो। हम तुमपर दया नहीं करेंगे।'

दुर्योधन क्रुद्ध होकर जलसे निकल आया। कोई उसे डरपोक कहे, दयाका पात्र बतलावे, यह उसे असह्य था। उसने कहा—'तुममें-से जो चाहे वह आजाय। मेरी गदा मेरे साथ है। दूसरा आयुध मुझे पसन्द नहीं है।'

युधिष्ठिरने उसे कवच दिया। बोले—'मैं एक वरदान तुम्हें और देता हूँ। तुम यदि हममें-से एकको भी मार दोगे तो सम्पूर्ण राज्य तुम्हारा हो जायगा। शेष हमारे सब भाई वनमें चले जायँगे।'

श्रीकृष्णको युधिष्ठिरका यह वचन देना बहुत बुरा लगा। वे सदासे युधिष्ठिरका बहुत सम्मान करते थे; किन्तु इस अवसरपर भर्त्सना करने बोले—'महाराज! आपका द्यूत-क्रीड़ाका व्यसन गया नहीं? एक बार जुआ खेलकर आपने अपने सब भाइयोंको वन-वन भटकाया बारह वर्ष और तब भी आपको संतोष नहीं हुआ? आज फिर आपने जुआ प्रारम्भ कर दिया? आप फिर दाव लगा रहे हैं?

'दुर्योधनने चाहे जिससे युद्ध करनेकी इच्छा न व्यक्त करके आप, अर्जुन, नकुल या सहदेवमें-से किसीको ललकार दिया होता गदा युद्धके लिए तो क्या होता? आप चारोंमें-से कोई दो घड़ी भी उसके साथ टिक पाता? फिर आपने बड़ी उदारतासे वरदान दे दिया कि कोई एक भी मारा जाय तो शेष सब सारा राज्य देकर वनमें चले जायँगे। यह क्या है? यह आपका जुआ खेलना नहीं है?

'भीमसेन बलमें दुर्योधनसे कुछ ही अधिक हैं; किन्तु दुर्योधन शिक्षामें, स्फूर्तिमें भीमसे अधिक है। आप तो जानते हैं कि सब ओरसे निराश मरणोद्यत दुर्बल शत्रु भी कितना भयंकर होता है। आपने तो सबको संकटमें डाल दिया।'

युधिष्ठिरने सिर झुका लिया। उन्होंने अपनी भूल समझ ली। उनको सचमुच क्या स्वत्व था सब भाइयोंके राज्य त्यागकर वन चले जानेका

वचन देनेका। जो भाई सदा उनके लिए कष्ट भोगते रहे हैं, उनके लिए प्राणपर खेलकर संग्राममें शराघात सहते रहे हैं, उनके स्वत्व, प्राण, शरीरके साथ यह जुआ क्यों? वे सब समीप हैं और उनसे पूछा तक नहीं। स्वयं श्रीकृष्ण समीप हैं, वही पाण्डवोंके आश्रय दाता, रक्षक हैं और उनकी सम्मतिके बिना शत्रुको इतनी बड़ी सुविधा दे दी उन्होंने।

बड़े भाईको अत्यन्त खिन्न सिर झुकाये, निरुत्तर, उदास भीमसेनसे नहीं देखा गया। वे उठ खड़े हुए। गदा उठाकर गर्जना करते बोले—'मधुसूदन! आप चिन्ता न करें। मेरी गदा दुर्योधनकी गदासे डेढ़गुनी भारी है। मैं इसे शीघ्र मार दूँगा।'

इसी समय भगवान बलराम वहाँ आगये। पाण्डवोंने, श्रीकृष्णने, दुर्योधनने भी उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने कहा—'मैं तीर्थयात्रा करता निकला तो भीम और दुर्योधन युद्ध करनेवाले हैं, यह सुनकर यहाँ आया हूँ। मेरी सम्मतिमें तुम दोनों समान बली हो। भीमसेन शरीर बलमें अधिक हैं तो दुर्योधन शिक्षा बलमें बीस है। अतः यह युद्ध व्यर्थ है। इसका कोई परिणाम नहीं दीखता। जहाँ दोनोंके ही आहत या हत होने की सम्भावना हो, वहाँ युद्ध नहीं करना चाहिए।'

किसीने भी इसका उत्तर नहीं दिया। भीमसेन और दुर्योधन दोनोंने गदायें उठाली थीं। यह देखकर श्रीबलराम बोले—'तुम दोनों युद्ध ही करना चाहते हो तो यहाँ मत लड़ो। समन्तक पञ्चक क्षेत्र समीप ही है। वहाँ चलो। उस परम पावन क्षेत्रमें मरनेसे भी प्राणीका कल्याण होता है।'

यह बात सबने स्वीकार कर ली। सब वहाँसे समन्तक पंचक तीर्थके पास पहुँचे। यहाँ भीम और दुर्योधनका गदा युद्ध प्रारम्भ होगया। इसी समय अर्जुनने पूछा—'पुरुषोत्तम! आप इन दोनों वीरोंमें किसे श्रेष्ठ समझते हैं।'

श्रीकृष्णका आक्रोश समाप्त नहीं हुआ था। उन्होंने कहा—'तुम्हारे बड़े भाई तो सब कहीं जुआ ही खेलने लगते हैं। इन्होंने दुर्योधनको वचन देकर फिर सबके लिए संकट बुला लिया। सीधे युद्धमें मुझे भीमसेनकी विजय सन्दिग्ध लगती है। वैसे भीमसेनने दुर्योधनकी जघा तोड़ देनेकी प्रतिज्ञा की है।

अतः अब यदि गदा युद्धके नियमोंपर अड़े न रहकर वे अपनी प्रतिज्ञाको प्रधानता दें तो उनकी विजय होसकती है।'

अर्जुनने उठकर भीमसेनको दिखलाते हुए अपनी जंघापर ताल दिया। इस संकेतको भीमसेनने तो समझा ही, दुर्योधनने भी ताड़ लिया। वह अपनी जंघाकी सुरक्षाके लिए अधिक सावधान होगया।

श्रीकृष्ण जानते थे कि दुर्योधनके शरीरमें केवल वही भाग दुर्बल है। वही तोड़ा जासकता है; किन्तु यह उन्होंने किसीसे कहा नहीं। यह रहस्योद्घाटन उचित नहीं था। जो संकेत दिया गया था, उतना पर्याप्त था।

दुर्योधन प्राणपर खेलकर ही युद्ध कर रहा था। उसके आघातसे भीमसेन अत्यन्त व्याकुल होगये। कठिनाईसे अपनेको उन्होंने स्थिर किया और तब उछलकर दुर्योधनके समीप जाकर उसकी कटिसे किञ्जित नीचे गदाका पूरा प्रहार किया। इससे दुर्योधनकी दोनों जंघायें टूट गयीं। वह भूमिमें गिर पड़ा।

महाभारत युद्धका मूल कारण और उसका वह महानायक अठारहवें दिनके सूर्यास्तके पूर्व ही भग्नजानु भूमिमें गिर गया।

श्रीबलरामका कोप-शमन

श्रीसंकर्षणका प्रिय शिष्य था दुर्योधन! उसकी कटिसे नीचे प्रहार करके भीमने उसकी जंघा तोड़ दी, यह देखकर श्रीबलराम उठे और दोनों हाथ उठाकर बोले—'धिक्कार है! धिक्कार है भीमसेनको! गदायुद्धका साधारण सर्वमान्य नियम है कि नाभिसे नीचे प्रहार न किया जाय; किन्तु भीम तो मूर्ख है। यह किसी नियमको जानता-मानता नहीं। यह मनमानी करता है।'

दुर्योधनकी ओर देखकर, उसकी दुर्दशाके कारण उन दयामयकी आँखें क्रोधसे अंगारके समान लाल होउठीं। वे अपने अनुजसे बोले—

'कृष्ण ! दुर्योधन मेरे समान ही बलवान है। यहाँ अन्यायपूर्वक उसे गिराकर मेरा भी अपमान किया गया है। शरणागतके साथ किया गया अपराध शरणदाताका भी तिरस्कार है।'

इतना कहकर उन्होंने अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाया। स्मरण करते ही उसमें उनका आयुध हल आगया। उसे लेकर वे भीमसेनकी ओर दौड़े। भीमसेनने सिर झुका लिया था। पाण्डवोंमें-से कोई कुछ कहने या करनेकी स्थितिमें नहीं था। सब भयातुर होउठे थे।

'आर्य ! आप मेरी प्रार्थना पहिले सुन लें !' श्रीकृष्णचन्द्रने आगे आकर बड़े भाईको दोनों भुजाओंमें भरकर रोक लिया। फिर उनके सम्मुख बहुत विनम्र होकर बोले—'आप स्वयं पाण्डवोंके पक्षमें थे जब अन्यायपूर्वक इन्हें कपट-द्यूतमें हराकर वनमें भेज दिया गया था। बुआ कुन्तीका विस्मरण आपको नहीं करना चाहिए। भीमसेनने उस सभाभवनमें सबके सामने दुर्योधनकी दुष्टतासे क्रुद्ध होकर प्रतिज्ञा की थी कि यह जो जांघें वस्त्रहीन करके द्रौपदीको दिखा रहा है, उन्हें मैं अपनी गदासे तोड़ दूँगा। सत्पुरुष अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हैं। यह क्षत्रियका धर्म है। महर्षि मैत्रेयने भी दुर्योधनके अपमानसे रुष्ट होकर शाप दिया था—'भीम तेरी जाँघें गदासे तोड़ देगा।' उनका शाप अन्यथा तो नहीं होसकता था। आप बहिन सुभद्राको भी इस समय भूल गये हैं। वह दु:खिया क्या सदा पितृ गृह रहेगी ? अत: आप शान्त होजायँ।'

अपने अनुजके आगे इन अनन्तका आवेश कभी टिका नहीं है। श्रीकृष्णको सम्मुख देखकर क्रोध नहीं किया जासकता। वे भुजा फैलाकर रोकें तो इनको एक ओर कर देना सम्भव नहीं है। इनकी उपेक्षा, इनका तिरस्कार तो स्वप्नमें भी सोचा नहीं जासकता। श्रीबलरामका हल उठानेवाला हाथ नीचे आगया। नेत्रोंकी अरुणिमा घटने लगी। स्वर बहुत कुछ साधारण होचला। इनसे अधिक कौन समझेगा कि श्रीकृष्ण जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे मार देना तो दूर, किञ्चित कष्ट देना भी किसीकी शक्ति-सीमामें नहीं है। लेकिन अभी रोष गया नहीं था। बोले—'भीमसेनने धर्मको विकृत करके अर्थ और कामको भी दूषित कर दिया है और तुम उनका पक्ष लेते हो ?'

'पाण्डवोंको अन्ततः अपनी प्रतिज्ञाके ऋणसे भी तो मुक्त होना है।' श्रीकृष्णने उसी विनम्र स्वरमें कहा—'आर्य ! संसार जानता है कि आप धर्मात्मा हैं, शान्त हैं और इस समय आपने किसीको भी दण्ड न देनेका संकल्प कर रखा है। तीर्थ-यात्रामें हैं आप और वह तो प्रभास पहुँचकर पूरी होगी।'

बड़े भाईका सम्मान सुरक्षित रखकर उन्हें उपालम्भ दिया गया था कि भीमसेनने धर्मकी मर्यादा भंग भी की हो तो आपके द्वारा वे दण्डित नहीं होसकते। आप इस समय किसीको भी दण्ड देकर स्वयं अपने संकल्पको तोड़ेंगे। स्वयं भी धर्मकी मर्यादा नष्ट करेंगे। जो भूल नैमिषारण्यमें होगई, उसका तो आप प्रायश्चित कर रहे हैं।[1] अब पुनः वैसी भूल मत कीजिये।'

बलरामजीने हाथका हल छोड़ दिया। वे शान्त होगये। लेकिन उन्हें पूरा सन्तोष नहीं हुआ था। वहाँ उपस्थित लोगोंकी ओर मुख करके बोले—'भीमसेनने अधर्मपूर्वक प्रहार किया है, अतः संसारमें सदा कपट-युद्ध करनेवाला कहा जायगा। इसने अपना यश कलंकित कर लिया। सरलतापूर्वक धर्मयुद्ध करते हुए मारे जानेके कारण दुर्योधन सद्गति प्राप्त करेगा।'

यह कहकर श्रीबलराम वहाँसे चल पड़े। उन्होंने पाण्डवोंकी शिविर चलनेकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। उनके चले जानेपर भीमसेनने दुर्योधनको देखा। वे अब तक उसके समीप ही सिर झुकाये खड़े थे। उनका क्रोध फिर भड़क उठा। उन्होंने दुर्योधनको बहुत कठोर वचन कहे। समीप जाकर बायें पैरसे उसके मुकुटको ठुकरा दिया और उसके सिरको पैरसे दबाकर रगड़ा। उसके कन्धेपर रखी गदा लेली। उसे कपटी कहकर बार-बार उसका सिर पैरसे दबाते, रगड़ते रहे।

युधिष्ठिर सिर झुकाये चिन्तामग्न थे। उन्हें श्रीकृष्णने सावधान किया—'राजन् ! आप चुपचाप अधर्मका अनुमोदन क्यों कर रहे हैं ?

---

१. 'श्रीद्वारिकाधीश' में यह कथा आचुकी है कि नैमिषारण्यमें पहुँचनेपर भी बलरामजीने सूत रोमहर्षणको मार दिया। उसके प्रायश्चित्त स्वरूप वे भारतके तीर्थोंकी यात्रा करने निकले थे।

बेचारे दुर्योधनके सब भाई और सहायक मारे जाचुके हैं। वह स्वयं आहत मूर्च्छित प्राय है। ऐसी विपन्नावस्थामें पड़े शत्रुका अपमान उचित नहीं है। उसके सिरको भीमसेन पैरसे ठुकराकर अधर्म कर रहे हैं।'

'मुझे भी यह अच्छा नहीं लगा।' युधिष्ठिरने खिन्न कण्ठसे कहा—'किन्तु दुर्योधनके द्वारा दिये गये बार-बारके कष्ट एवं अपमानके कारण भीमके हृदयमें जो उसके लिए भयंकर क्रोध था, उसका ध्यान करके मैंने उनके इस समयके कर्मकी उपेक्षा की। उनके क्रोधको निकल जाना चाहिए था।'

श्रीकृष्णको बहुत खेद हुआ। वे उदासीन होकर एक ओर हट गये। भीमसेनने विजयोल्लासमें उल्लसित होकर जब युधिष्ठिरके सम्मुख आकर उन्हें प्रणाम करते हुए बधाई दी तो धर्मराजने उन्हें हृदयसे लगाया। कहा—'यह इन केशवकी कृपा है कि तुम माताके ऋणसे उऋण हुए। शत्रु मारा और तुम्हारी विजय हुई।'

सब भाइयोंने अंकमाल दी भीमसेनको; किन्तु श्रीकृष्णने इसका अवसर नहीं दिया। वे उठे और रथकी ओर जाते हुए बोले—'अब यहाँ देर तक नहीं रुकना चाहिए। सूर्यास्तका समय समीप है। शीघ्र चलकर कौरव-शिविरको अभी ही अधिकृत कर लेना उचित है।'

अर्जुनका रथ भस्म

श्रीकृष्णके कहते ही सब समन्तक पञ्चक क्षेत्रसे उठकर अपने-अपने रथोंपर बैठे और कौरव-शिविरकी ओर चल पड़े। श्रीकृष्णको अभी सारथ्य करना था अर्जुनके रथका। उनके साथ पाण्डव अपने रथोंपर थे। पाण्डवोंके पीछे सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, द्रौपदीके पुत्र तथा अन्य योधा थे। सब अपने शंख बजा रहे थे। सबमें बड़ा उत्साह था।

कौरव-शिविर श्रीहीन, शान्त था। युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर युयुत्सु वहाँसे रानियोंको तथा अन्य लोगोंको पहिले ही राजधानी हस्तिना-पुर लेगया था। वहाँ शिविरको सविधि विजेता पाण्डवोंको सौंपनेके लिए

कुछ वृद्ध मन्त्री बैठे थे। अन्तःपुरके रक्षक नपुंसक थे और दुर्योधनके सेवक थे जो हाथ जोड़े, मलिनवस्त्र पहिने शिविरसे बाहर पंक्तिबद्ध खड़े थे।

वहाँ पहुँचकर सबके रथ रुके। श्रीकृष्णने अर्जुनका कपिध्वज नन्दि-घोष रथ दूसरे रथोंसे कुछ दूर पृथक खड़ा किया। राजा युधिष्ठिर तथा अन्य रथोंके लोग नीचे उतर पड़े। सब आश्चर्यसे देखने लगे अर्जुनके रथकी ओर; क्योंकि श्रीकृष्ण अभी रथपर ही बैठे थे।

सदाका नियम है कि सारथि पहिले रथसे उतरता है और रथीको हाथका सहारा देकर उतारता है। अब तक श्रीकृष्ण इस नियमका बराबर पालन करते आरहे थे। आज उन्होंने कहा—'अर्जुन! आज तुम पहिले रथसे उतर जाओ! अपना धनुष और अक्षय त्रोण भी साथ ले लो!'

'अच्छी बात!' अर्जुनने अपने सखाकी बात स्वीकार कर ली। श्रीकृष्ण अकारण ऐसी बात नहीं करते, यह वे जानते थे। यह उन्हें अवश्य लगा कि कुछ अकल्पनीय घटित होने वाला है। उनके ये लीलामय मित्र कुछ करनेवाले हैं; किन्तु ये जो कुछ करेंगे, उसमें अपना हित ही होगा, इसमें कहने-सोचनेकी तो कुछ बात नहीं है।

'यहाँ नहीं, यहाँसे थोड़ी दूर हटकर खड़े हो!' अर्जुन रथपरसे उतरकर धनुष लिये समीप खड़े त्रोण बांधने लगे तो श्रीकृष्णने कहा—'संशक होनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम्हें शस्त्र-सज्ज नहीं होना पड़ेगा।'

अर्जुनके दूर हटते ही रथ-रश्मि छोड़कर श्रीकृष्ण रथसे कूदे और अर्जुनके पास जाकर खड़े होगये। इसी समय पूरे रथमें-से ज्वालाएँ उठने लगीं। रथके ध्वजदण्डके समीप बैठा दिव्य बानर श्रीकृष्णके कूदते ही आकाशमें उछलकर अन्तर्हित होगया था। उस विशाल रथके सब उपकरण—पहिये, धुरी, जुआ आदि अश्वोंके साथ कुछ ही पलोंमें भस्म होगये। वहाँ पृथ्वीपर उसकी भस्म मात्र रह गयी।

'यह क्या हुआ?' सब लोग दौड़कर अर्जुनके आसपास पहुँच गये। सब चकित उस धू-धू जलने रथको देखते रहे थे। अर्जुनने दोनों हाथ जोड़-कर श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया और बोला—'गोविन्द! यह क्या रहस्य है? अकस्मात अकारण रथ क्यों जल गया?'

'विजय ! यह रथ आज नहीं जला है।' श्रीकृष्णने कहा—'यह तो आचार्य द्रोणके दिव्यास्त्रसे ही जल चुका था। कर्णने भी इसे भस्म करनेका कम प्रयत्न नहीं किया; किन्तु उसे पता नहीं था कि भस्मकी ढेरीको भस्म नहीं किया जा सकता।'

'भस्मकी ढेरी ?' अर्जुन तथा दूसरे भी भूमिपर बिखरी भस्मकी ढेरीको घूरकर देखने लगे। इतनी शीघ्र जलकर रथ भस्मकी ढेरी बन गया और वह निर्धूम भस्म-राशि शीतल सम्मुख पड़ी है, क्षणोंमें ही उसमें से अग्निकी कणिका तक समाप्त हो गयी, यह तो सम्मुख था। अर्जुनने आश्चर्यसे पूछा-'हम दोनों तबसे इस भस्मकी ढेरीपर बैठते थे ?'

'हाँ' श्रीकृष्णने कहा—'इसे मैंने तबसे तुम्हारे प्रयोजनकी पूर्ति पर्यन्तके लिये अपने संकल्प-बलसे जल जानेसे रोक रखा था। तुम्हारे रथका कोई अश्व मारा जाय तो उसके स्थानपर दूसरा अश्व स्वतः प्रकट हो जाता था; किन्तु तुम स्मरण कर सकते हो कि द्रोण-युद्धके पश्चात् तुम्हारे रथका कोई अश्व मारा ही नहीं गया। आज तुम्हारे प्रयोजनकी पूर्ति हो गयी। यदि मैं आज रथसे तुमसे पहिले उतर जाता—रथ तो मेरे बैठे रहने तक ही भस्म होनेसे बचा था।'

श्रीकृष्णने मध्यमें जो शब्द अनकहे छोड़ दिये थे, वे स्वयं सबकी समझमें आ गये। अर्जुनके साथ सभी सिहर उठे। अब अर्जुनको रथसे प्रथम उतारनेका प्रयोजन प्रकट हो चुका था।

श्रीकृष्णने हँसते हुए राजा युधिष्ठिरको हृदयमे लगाया। बोले—'महाराज ! आपके शत्रु समाप्त हो गये। आप विजयी हुए। आप अपने भाइयोंके साथ इस संग्रामसे सकुशल बच गये। यह सब आपके पुण्योंका प्रताप है। उपप्लव्य शिविरमें युद्धारम्भसे पूर्व जब अर्जुनके साथ मैं आपके पास आया था, तब आपने मुझे मधुपर्क देकर सत्कृत करके कहा था—'कृष्ण ! अर्जुन आपका भाई तथा मित्र है। इसे प्रत्येक विपत्तिसे बचाना।' मैंने उस दिन आपका आदेश स्वीकार कर लिया था। मैंने उस समय दिये गये अपने वचनोंको पूरा कर दिया है। अब आगे क्या करना है, इसका आप शीघ्र विचार करें।'

युधिष्ठिर क्या कहें। इन अच्युतने अकेले अर्जुन की ही नहीं, उन सबकी सदा संकटके समय रक्षा की है। धर्मराजको सब विपत्तियोंके अवसर

स्मरण आगये। अपनोंकी रक्षा—यह तो श्रीकृष्णका शाश्वत व्रत है। ये न बचाते, वनमें दुर्वासाके कोपसे पाण्डव युद्ध करनेको बचे होते? द्रोणाचार्य और कर्णने कितनी ही बार तो ब्रह्मास्त्र तकका उपयोग किया था। अश्वत्थामाके नारायणास्त्रका निवारण कौन जानता था? पाण्डुपुत्रोंकी, अर्जुनकी पल-पलकी सुरक्षा और सफलता इनका कृपा-प्रसाद ही तो है।

साश्रुलोचन, गद्गद् स्वर युधिष्ठिरने कहा—'मैंने उस समय अकेले अर्जुनको आपको सौंपा था। अब हम सब भाई आपकी शरण हैं। आपही हमारे आश्रय हैं। आप हमको सदा ऐसे ही अपनाये रहें, यही मेरी प्रार्थना है।

श्रीकृष्णकी सम्मतिसे पाण्डवोंने कौरव-शिविरमें प्रवेश किया। वहाँ चाँदी, सोना, हीरा आदि रत्न-मणियोंकी अपार राशियाँ थीं। उत्तम आभूषण, वस्त्र, अन्न, अस्त्र-शस्त्र प्रभृतिका अपार भण्डार था। असंख्य दास-दासियाँ थीं। अक्षय धनका यह भण्डार पाण्डवोंकी कल्पनासे परे था। सब लोग वह देखकर आनन्दके मारे उछलने लगे।

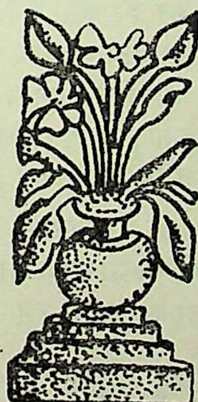
युद्धके समय क्या कब आवश्यकता पड़ेगी, यह कहा नहीं जा सकता। किसी भी क्षण किसी सेवक अथवा सम्मान्य पुरुषको विशेष—बहुत विशेष उपहार देकर पुरस्कृत अथवा सम्मानित करना पड़ सकता है। सैनिकोंके लिये आहार, वस्त्र, अस्त्र, चिकित्साके अतिरिक्त भी बहुत-सी सामग्री आवश्यक होती है और वह सर्वोत्तम होनी चाहिए। युद्ध कब तक चलेगा, कुछ पता नहीं होता। दुर्योधन राजा था। पाण्डवोंकी भी पहिली सम्पत्ति उसे मिली थी। वह तो पाण्डवोंके वन जानेके दिनसे उनसे युद्धकी योजना बनानेमें लग गया था। पूरे तेरह वर्षसे वह युद्धोपकरण तथा उपयोगी सामग्री संग्रह करनेमें सतत संलग्न था (उसके शिविरमें अपार सम्पत्ति थी। अस्त्र-शस्त्र, औषधियां, रत्न, वस्त्रका अक्षय भण्डार था वहाँ और उसमें दुर्लभतम वस्तुयें बहुत अधिक थीं।

पाण्डव जन्मसे ही दुःखी थे। वनमें पिताका प्राणान्त हुआ तब वे शिशु थे। धृतराष्ट्रने उनके साथ सदा विषम व्यवहार ही किया था। श्रीकृष्णकी कृपासे विश्वकर्माने इन्द्रप्रस्थ बनाया, मयने राज-सभा प्रस्तुतकी और इन अच्युतके ही अनुग्रहसे युधिष्ठिरके भाइयोंने दिग्विजय करके उन्हें राजसूय यज्ञ सम्पन्न कराया। वे सम्राट हुए। राजसूय यज्ञमें इतनी अधिक

सम्पत्ति उपहारमें आयी कि उसे देखकर दुर्योधनका हृदय जलने लगा था ; किन्तु भोगना तो दूर, पाण्डुके पुत्रोंने उस सम्पत्तिको ठीक देखनेका भी अवसर नहीं पाया। राजसूय यज्ञके कुछ ही दिन पीछे तो वह कपटद्यूत हुआ और ये वनवासको बाध्य हुए।

पाण्डवोंके युद्ध-शिविरमें भी सामग्री थी, धन था ; किन्तु वह कम भले न पड़ा हो, अत्यल्प ही तो था। महाराज विराट्ने जो अभिमन्युके विवाहमें दहेज दिया, महाराज द्रुपद तथा दूसरे सम्बन्धियोंसे प्राप्त सहायता तथा इन श्रीकृष्णचन्द्रका स्नेह-दान। पाण्डव तो वनवास करके आये थे। उनके पास अपना क्या था।

सेना जब विजय करके शत्रु-शिविरमें प्रवेश करती है, उच्छृंखल हो जाती है। उस समय उसपर अंकुश नहीं रखा जा पाता ; किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। सब हर्षसे उछलते, सिंहनाद करते रहे ; किन्तु न तो कोई कुछ लूटनेमें लगा, न किसी दास-दासीको किसीने तंग किया। सब लोग बहुत थके थे। अब सबको विश्रामकी अत्यधिक आवश्यकता थी। शत्रु-शिविरपर अधिकार करके सब अपने शिविर पहुँचे और रथोंको खोलनेमें लग गये।



पाण्डव-परित्राण

पाण्डवोंकी रक्षाका कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ था। सच तो यह है कि शरणागतकी रक्षाका कार्य श्रीकृष्णका कभी न समाप्त हुआ, न होगा। प्राणी अपने अज्ञानके कारण जानता ही नहीं कि कब कौन सी आपत्ति आनेवाली है ; किन्तु जिसने उन सर्वज्ञके श्रीचरणोंका आश्रय ले लिया है, उसकी रक्षाके लिये तो वे सदा सावधान हैं।

शिविर पहुँचते ही श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'अपने मंगलके लिए आजकी रात हमलोगोंको यहाँसे बाहर ही रहना चाहिए।'

'अच्छी बात' बिना तर्क किये अच्युतका आदेश मान लेनेमें ही मंगल है, यह पाण्डव समझते थे। सात्यकि, श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरादि पाँचों भाइयोंने वह रात्रि ओघवती नदी * के किनारे व्यतीतकी।

ओघवती नदीके किनारे पहुँचकर युधिष्ठिरने कहा—'माधव ! देवी गान्धारी सती हैं और सम्पूर्ण जीवन उन्होंने तपस्या की है। वे चाहें तो शाप देकर त्रिभुवनको नष्ट कर दे सकती हैं। भीमसेनने उनके सब पुत्र मार दिये हैं और दुर्योधनको तो अन्यायपूर्वक मारा है, यह उन्होंने सुन ही लिया होगा। उनको आपके अतिरिक्त दूसरा कोई शान्त नहीं कर सकता। वे क्रोधमें आकर हम सबको नष्ट कर दे सकती हैं। इस समय भगवान व्यास वहीं होंगे। आपही इस विपत्तिसे वहाँ जाकर हमें बचावें।'

राज्यकी राजधानी तो हस्तिनापुर ही थी ; किन्तु नगर-प्रवेशसे पूर्व आवश्यक था कि देवी गान्धारीकी ओरसे आश्वस्त हो जाया जाय। श्रीकृष्णचन्द्रने दारुकको बुलाकर अपना रथ प्रस्तुत कराया। वे रात्रिके

---

* कुरुक्षेत्रसे कुछ ही दूर स्थित यह नदी परम पवित्र है ; किन्तु इसे सरस्वती भ्रमवश कहा ही जाता है। **'पञ्चनद्यः सरस्वत्यः'** पाँच नदियोंका नाम सरस्वती है। १-बदरीनाथसे ऊपर माना गाँवके पास २-एक ब्रजमें जहाँ नन्द बाबा को अजगरने पकड़ा था। ३-सिद्धपुरमें ४-द्वारिकामें ५-प्रयागमें गुप्त अन्तः सलिला।

प्रारम्भमें ही हस्तिनापुर पहुँचे। धृतराष्ट्रको अपने आगमनकी सूचना देकर राज-सदनमें उन्होंने प्रवेश किया। भगवान व्यास उस समय वहीं थे। श्रीकृष्णने व्यासजी, धृतराष्ट्र तथा गान्धारीके चरणोंमें प्रणाम किया।

धृतराष्ट्रका हाथ पकड़कर वे दयामय फूट-फूटकर देरतक रोते रहे। व्यासजीने ही उन्हें आश्वासन दिया। तब जल लेकर नेत्र धोकर, आचमन करके धृतराष्ट्रसे बोले—'कालने जो कुछ किया, आपसे अविदित नहीं है। पाण्डुपुत्र तो सदासे आपके आज्ञानुवर्ती रहे हैं। उन्होंने बहुत प्रयत्न किया इस कुलको विनाशसे बचानेका। वे निर्दोष थे, फिर भी उन्हें कपट-द्यूतमें लगाकर वनवास दिया गया। उन्होंने असमर्थ पुरुषोंके समान भटकते हुए अनेक कष्ट सहे। अज्ञातवास भी पूरा हो गया तो मैं स्वयं युद्ध टालने आपकी सेवामें उपस्थित हुआ और केवल पाँच गाँव मैंने माँगे; किंतु मेरी प्रार्थना ठुकरा दी गयी। यह कालकी ही प्रेरणा थी कि आप भी उस समय लोभमें आ गये।

भीष्म द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर, सोमदत्त, वाह्लीक आदि सबने आपको बहुत समझाया, वे सब संधिके लिये प्रार्थना करते रहे; किन्तु आपने किसीका कहना नहीं माना। युद्ध प्रारम्भ हो गया, तब भी आप सावधान नहीं हुए। काल इसी प्रकार मनुष्यको मोहान्ध कर देता है।

महाराज! पाण्डवोंका कोई अपराध नहीं है। वे धर्म या न्यायसे गिरे नहीं हैं। उनके प्रति मनमें कोई दुर्भाव हो भी तो उसे दूर कर दीजिये। अब उनके ही हाथों आप दोनोंको पिण्ड प्राप्त होनेवाला है। उन्हींसे आपको पुत्रकी सेवा मिलेगी और उन्हींसे वंश चलेगा।

आप धर्मराज युधिष्ठिरका स्वभाव जानते हैं। यह भी जानते हैं कि आपके चरणोंमें उनकी कितनी भक्ति है। वे इतने शोक-संतप्त हैं कि मुझे उनके लिए चिन्ता है। उन्हें रात-दिन कभी शान्ति नहीं। आप तथा देवी गान्धारीके लिए वे बहुत शोक करते हैं। लज्जाके कारण आपके सम्मुख आनेका साहस उनको नहीं हो रहा है।

देवी गान्धारीसे, श्रीकृष्ण बोले—'देवि! आज संसारमें तुम्हारे समान तपस्विनी स्त्री दूसरी नहीं है। तुम्हारे समान पुण्यवती स्त्रीने उस दिन सभामें दोनों पक्षोंका हित करनेवाला वचन कहा; किन्तु दुर्भाग्यकी

प्रेरणासे दुर्योधनने उसे नहीं माना। तुमने ही कहा था—'मूर्ख ! जिधर धर्म होता है, विजय उसी पक्षकी होती है।'

तुम्हारी बात असत्य नहीं हो सकती थी। अतः मनमें शोक मत करो। पाण्डवोंके प्रति कोई दुर्भाव मनमें मत लाना।'

गान्धारीने बहुत खिन्न स्वरमें कहा—'केशव ! आप ठीक कहते हैं। अबतक मेरे मनमें बहुत व्यथा थी। मेरा वात्सल्य मुझे क्रोधसे जला रहा था। पाण्डवोंके अनिष्टकी बात मैं सचमुच सोच रही थी; किन्तु तुम्हारी बातें सुनकर मेरा आवेश जाता रहा। मेरी बुद्धि स्थिर हो गयी। मैं क्रोधमें अपना ही अनिष्ट कर लेती। आपने मुझे बचा लिया। ये राजा अंधे हैं, वृद्ध हैं और सब पुत्रोंके मारे जानेसे शोक-संतप्त हैं। अब पाण्डवोंके साथ इनके भी आप ही संरक्षक हैं।'

गान्धारी इतना कहकर व्याकुल हो गयीं। वे अञ्चलसे मुख ढककर रोने लगीं। श्रीकृष्ण उन्हें अनेक प्रकारसे समझाते रहे। ऐसे अवसरपर किसे स्मरण रहता है कि रात्रि कितनी व्यतीत हो गयी है।

अचानक श्रीकृष्ण उठ खड़े हुए। उनका इस प्रकार उठ खड़ा होना व्यासजीको भी अद्‌भुत लगा। धृतराष्ट्रने तो टटोलकर उनका हाथ पकड़ा। कोई कुछ पूछे, इससे पहिले ही भगवान व्यासके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करके वे धृतराष्ट्रसे बोले—'महाराज ! मैं जानेकी आज्ञा चाहता हूँ। इस समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके मनमें बहुत पापपूर्ण विचार उठा है। वह रात्रिमें सोते हुए असावधान पाण्डवोंको मार देना चाहता है।'

'जनार्दन ! आप शीघ्र जाकर उनकी रक्षा करें !' धृतराष्ट्र और गान्धारी दोनोंने एक साथ कहा—'अब हमारे भी वही सहारे रह गये हैं। उनकी रक्षा करके हमें फिर आप अवश्य दर्शन दें।'

श्रीकृष्ण वहाँसे पाण्डवोंके समीप आ गये। वे समीप हों तो किसीका कुविचार कोई अनिष्ट करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है।



अश्वत्थामासे रक्षा

दुर्योधनके घायल होकर गिर जानेपर जब पाण्डव श्रीकृष्णके साथ वहाँसे चले आये तब उसको देखने सञ्जय वहाँ पहुँच गये थे। सञ्जयके द्वारा दुर्योधनने अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मातक अपना समाचार भेजा। तीनों साथ ही थे। साथ ही दुर्योधनके समीप पहुँचे।

दुर्योधनकी दशा देखकर अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध आया। उसने पाञ्चालोंके वधकी प्रतिज्ञा की। दुर्योधनने कृपाचार्यको जल लानेको कहा और उनके द्वारा ही अश्वत्थामाका सेनापति पदपर अभिषेक कराया।

अश्वत्थामाकी आन्तरिक अभिलाषा प्रारम्भसे कौरव महासेनापति बनने की थी। द्रोणाचार्यके मारे जानेपर तो उसने कर्णसे विवाद भी किया था; किन्तु तब दुर्योधनने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया और कर्णके मारे जानेपर उसका साहस साथ नहीं दे सका। अतः उसने स्वयं शल्यको महासेनापति बनानेकी सलाह दी। आज जब सेना थी ही नहीं, स्वयं दुर्योधन मरणासन्न था, अश्वत्थामाकी वह अभिलाषा पूर्ण हुई। अपने मामा कृपाचार्य और कृतवर्मा, केवल इन दो-को अनुगत बनाकर वह कौरव महासेनापति पदपर अभिषिक्त हुआ।

दुर्योधनके समीपसे तीनों कौरव-शिविरकी ओर चले थे; किंतु तभी शङ्ख एवं वाद्यघोष करते पाण्डव उस शिविरपर अधिकार करने आ गये। तीनोंको लगा कि उनपर ही आक्रमण करते वे आ रहे हैं। तीनों एक साथ भागे और भागते चले गये। बहुत दूर वनमें जाकर एक खूब सघन वट-वृक्षके नीचे तीनोंने रात्रि व्यतीत करनेका निश्चय किया।

तीनों ही बहुत थके थे। बहुत अधिक घायल भी हो चुके थे आज दोपहरतकके युद्धमें। उनको विश्रामकी आवश्यकता थी। कृपाचार्य और कृतवर्मा सो गये; किन्तु अश्वत्थामा चिन्ता तथा क्रोधके कारण जागता रहा।

कोई भी निमित्त किसके हृदयके सद्भाव अथवा दुर्भावको कब जगा देगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। अश्वत्थामा सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञाता था। धनुर्वेदके सब अङ्गोपाङ्गोंका उसे ज्ञान था। द्रोणाचार्यने उसके अतिरिक्त केवल अर्जुनको ब्रह्मास्त्रका वह श्रेष्ठतम महास्त्र प्रदान किया था जो अमोघ था। साथ ही तप करके आचार्यने भगवान शङ्करसे अपने इस पुत्रके लिए अमरत्वका वरदान प्राप्त कर लिया था।

वेद-वेदांगका ज्ञान, अद्वितीय अस्त्रवेत्ता होना तथा अमरत्वका वरदान भी अश्वत्थामाके हृदयके ओछेपनको मिटा नहीं सका। जहाँ वह अत्यन्त उच्चाभिलाषी था, वहीं बहुत अधिक क्रूर तथा कायर भी था। युद्धमें जब भी कठिनाईमें पड़ा, भाग खड़ा हुआ। उसके हृदयमें धर्मपर दृढ़ रहनेका बल कभी नहीं आया और अकरणीय करनेमें भी उसका क्रूर हृदय कभी हिचका नहीं।

जिसके हृदयमें जैसे संस्कार होंगे, बाहरी निमित्तोंसे वह वैसी ही तो प्रेरणा लेगा। वटवृक्षपर बहुतसे कौए सो रहे थे। रात्रिमें कोई उलूक आकर उन्हें मारने लगा। यह निमित्त अश्वत्थामाको उत्तेजित करनेके लिए पर्याप्त था। उसने कृपाचार्य तथा कृतवर्माको जगाकर बतलाया कि उसने उलूकके द्वारा यह शिक्षा ली है कि रात्रिमें असावधान सोते हुए पाण्डवों और पाञ्चालोंपर आक्रमण करके उन्हें मार डालना चाहिए।

कृपाचार्यने उसे बहुत समझाया। उसे धर्म तथा नीतिका उपदेश किया; किंतु जब कोई किसी असत्कार्यको करनेपर उतारू हो जाता है, अपने समर्थनके लिए तर्कोंका अभाव तो उसके समीप रहता नहीं। अश्वत्थामाने कृपाचार्यका प्रतिवाद किया और रथ जोड़कर अकेले ही जानेको उद्यत हो गया। अन्ततः कृपाचार्य तथा कृतवर्मा अपने इस महासेनापतिका अनुगमन करनेको धर्मतः बाध्य थे।

पाण्डव-शिविरके महाद्वारपर साक्षात् भगवान् रुद्र मूर्तिमान उपस्थित थे। वे महाकाल अपने आप आये थे और श्रीकृष्णके स्नेहवश वहाँ द्वारपर खड़े हो गये थे। वस्तुतः वे वहाँ असमंजसमें खड़े थे। इस समय पाण्डव-शिविरमें जो सो रहे थे, सबका जीवन-काल समाप्त हो चुका था। उन्हें आत्मसात् करने आये थे भगवान महाकाल; किन्तु स्वयं सीधे श्रीकृष्णके अपने कहे जानेवालोंको मारना उन्हें स्वीकार नहीं था। अतः वे द्वार-रक्षक होकर खड़े हो गये थे।

अश्वत्थामा आवेशमें था। उसने उन रुद्रपर ही आक्रमण कर दिया; किंतु उन्होंने केवल यह किया कि अश्वत्थामाने जो भी आयुध उनपर चलाये उसे वे निगलते चले गये। अपनी ओरसे अश्वत्थामापर कोई आघात उन्होंने नहीं किया। अश्वत्थामाके सब अस्त्र-शस्त्र समाप्त हो गये, तब वह स्तुति करने लगा। इसपर भी जब भगवान रुद्र चुप खड़े रहे तो अश्वत्थामाने उन्हें आत्मबलि देनेका निश्चय किया।

अश्वत्थामा निराश हो गया था। वह समझता था कि इस रात्रिमें असावधान, थके, बहुत कुछ घायल शत्रुओंको भी वह मार नहीं सका तो फिर कुछ नहीं कर सका था। पाञ्चालोंको समाप्त कर देनेकी वह दुर्योधन के सामने शपथ ले चुका था, आज वह प्रतिज्ञा पूरी न हुई तो कभी नहीं होगी। ऐसा असफल जीवन लेकर वह क्या करेगा।

वहाँ एक वेदी दीख गयी उसे। उसपर थोड़े काष्ठ एकत्र करके उसमें अग्नि लगाकर वह बैठ गया प्रज्वलित अग्निमें—'**इमं शरीरं शिवाय स्वाहः !**' वह शतरुद्रीका पाठ कर रहाँ था।

भगवान शिवने ही उसे अमरत्वका वरदान दिया था। अग्नि उनकी एक मूर्ति ही हैं। अतः अग्निसे अश्वत्थामा भस्म नहीं हो सकता था। उसके इस शरीरार्पणसे वे महाकाल प्रसन्न हो गये। उनके यहाँ आनेका उद्देश्य भी पूरा हो रहा था। उन्होंने अश्वत्थामाको माध्यम बनाना निश्चित किया। उसे अग्निसे उठाया। एक तलवार दी और स्वयं उसके शरीरमें रात्रि-भरके लिये आविष्ट हो गये।

अश्वत्थामाने कृपाचार्य और कृतवर्माको बाहर नियुक्त किया—'जो भी भागनेका प्रयत्न करे, उसे आप दोनों मार दें।'

स्वयं अश्वत्थामा शिविरमें चला गया। वैसे ही वह निसर्गक्रूर था और इस समय तो उसमें रुद्रावेश था। शिविरमें महासंहार उस रात्रि वह करता रहा। किसी भागते, हाथ जोड़तेपर भी उसने कृपा नहीं की। सेवकों तकको वह मारता गया। उसने देखा ही नहीं कि कौन सेवक है और कौन सैनिक है। कृपाचार्य, कृतवर्माने शिविरमें आग लगादी। उस अग्निके प्रकाशमें भयङ्कर भूतके समान अश्वत्थामा संहार करता रहा। जिसने भी भागनेका प्रयत्न किया, वह कृपाचार्य अथवा कृतवर्माके हाथों मारा गया। रात्रिके तीसरे प्रहरके अन्ततक यह संहार चलता रहा

तीनों जब वहाँसे चले तो शिविर जल रहा था और वहाँ कोई जीवित नहीं बचा था। केवल धृष्टद्युम्नका सारथि किसी प्रकार कृतवर्माकी दृष्टि बचाकर निकल भागा था।

तीनों वहाँसे सीधे दुर्योधनके समीप पहुँचे। अश्वत्थामाने बड़े गर्वसे पाण्डव-शिविरमें सबको मार देनेका अपना पराक्रम सुनाया। दुर्योधन प्रसन्न हुआ—'आचार्य-पुत्र ! धन्य हैं आप। आपने हमारे सब शत्रुओंको समाप्त कर दिया। मेरा प्रतिशोध पूरा कर दिया आपने।'

अश्वत्थामाने कहा—'यदि श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा पाण्डवोंके साथ वहाँ होते तो मैं कदाचित सफल नहीं होता। मैंने पाञ्चालोंको ही नहीं मारा, पाञ्चालीके सभी पुत्रोंको मारकर पाण्डवोंका वंश समाप्त कर दिया।'

'हाय आचार्य-पुत्र ! तुमने हमें जल देनेवाला भी कोई नहीं रखा !' दुर्योधनने सिरपर हाथ पटक लिया। हर्ष और शोकके सङ्गममें ही उसकी मृत्युका विधान था। अतः इस समय दोनोंके मिलनेसे उसके प्राण शरीरसे विदा हो गये।

'अब राजा नहीं रहे।' कृपाचार्य ही पहिले बोले—'प्रयोजन भी पूरा हो गया। अतः अब न कोई सेना है, न सेनापति। अब हम तीनों स्वतन्त्र हैं। हमें पाण्डवोंके क्रोधसे अपनी रक्षाका स्वयं प्रबन्ध करना चाहिए।'

कृपाचार्यके लिए अधिक भय नहीं था। वे हस्तिनापुरमें अपने घर आ गये। उन आचार्यका कोई अपराध भी हो तो पाण्डव उनका अपमान नहीं करेंगे। कृतवर्माको स्वयं श्रीकृष्णने दुर्योधनको दी जानेवाली सेनाका सेनापति बनाकर भेजा था। जबतक दुर्योधन जीवित रहा, उसके हितका पूरा प्रयत्न कृतवर्माका कर्तव्य था। अब जब दुर्योधन मर गया, उसकी सेनाका अन्तिम विसर्जन हो गया, कृतवर्माका यहाँ कर्तव्य समाप्त हो गया। वह द्वारिकाके लिए चल पड़ा। उसे कोई दोष या उपालम्भ नहीं दे सकता था। उसके लिए कोई भय नहीं था।

भय था अकेले अश्वत्थामाके लिए। वह भली प्रकार यह समझता था कि प्रातः जब पाण्डव अपने शिविरमें लौटेंगे, उसकी खोजमें कुछ उठा नहीं रखेंगे। उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। अतः वह अपने रथसे जितनी भी दूर भाग सकता था, भागता चला गया।

धृष्टद्युम्नका सारथि किसी प्रकार भागकर बचा था। उसने जाकर धर्मराज युधिष्ठिरसे पुकार की रोते-चिल्लाते—'महाराज! अश्वत्थामाने क्रूर पशुकी भाँति सबको सोते समय मार दिया! आपके शिविरमें कोई नहीं बचा।'

सूर्योदयसे पूर्व समाचारही यह मिला। श्रीकृष्णके साथ सब पाण्डव सीधे शिविर आये। सात्यकिने उपप्लव्यके शिविरमें जाकर समाचार दिया। सब स्त्रियाँ वहीं थीं। वे रोती-क्रन्दन करती वहाँसे किसी प्रकार आ गयीं। सबसे अधिक चिन्ताजनक स्थिति द्रौपदी की थी। उनके पाँचों पुत्र मार दिये गये थे। वे बार-बार उनके शवोंके समीप मूर्छित होकर गिरती थीं—'हाय! इन्होंने मेरी कुक्षिसे जन्म लेकर भी यह अपमृत्यु प्राप्त की। श्रीकृष्णके सम्मुख मरते, इन सर्वेशकी सेवा करते, इनका स्मरण करते, यह सौभाग्य भी इन्हें नहीं मिला!'

भीमसेन, अर्जुन, युधिष्ठिर सभी द्रौपदीको आश्वासन दे रहे थे। सहसा वह सिंहनीके समान दहाड़ उठी—'मेरे पुत्रोंका मारनेवाला जीवित है और आप सब मुझे शोक-त्यागका उपदेश करते हैं।'

'वह जीवित नहीं रहेगा!' क्रोधसे काँपते भीमसेनने गदा उठायी—'मैं उसे मार दूँगा, भले वह पातालमें भी जाकर छिपा हो।' वे उसी समय रथपर बैठकर चल पड़े। अश्वत्थामाके रथ-चक्रके चिह्नोंका अनुगमन करनेको उन्होंने सारथिसे कह दिया।

'देवि! द्रोणपुत्रका सिर ला दूँगा मैं तुम्हारे समीप।' अर्जुनने भी प्रतिज्ञा की—'उसपर पैर रखकर तब पुत्रोंकी अन्त्येष्टिका तुम स्नान करना।'

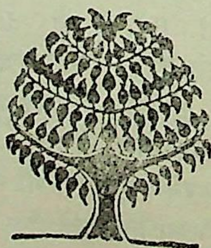
अबतक श्रीकृष्ण चुप थे। अब उठे और उन्होंने दारुकको रथसज्जित करनेके लिए कहा। युधिष्ठिरसे बोले—'महाराज! अकेले भीमसेनका इस प्रकार जाना बहुत भयङ्कर है। द्रोणपुत्र अत्यन्त क्रूर है और उसे धर्माधर्मका कोई विचार नहीं रहता। उसके पास अमोघ, त्रिभुवन भयङ्कर ब्रह्मास्त्र है और वह उसका उपयोग करनेमें एकक्षण भी नहीं हिचकेगा। भीमसेन इस अस्त्राग्निमें रुईके समान भस्म हो सकते हैं। अतः मैं अर्जुनके साथ जा रहा हूँ। केवल अर्जुनके समीप वह ब्रह्मशिरास्त्र है। दूसरा कोई अश्वत्थामा के अस्त्रका प्रतिकार कर नहीं सकता।'

सचमुच अश्वत्थामाने उस अमोघास्त्रका प्रयोग करनेमें कोई हिचक नहीं दिखलाई। उसके रथके अश्व तो दौड़ते-दौड़ते थककर गिरे और मर गये थे। वह पैदल ही वनमें जाकर छिपा था। भीमसेनको उसके समीपतक पहुँचनेमें बहुत देर लगी, यही कुशल हुई। भीमसेनके सारथिको अश्वत्थामाके रथ-चक्र-चिह्नोंका पीछा करते पहिले समन्तक-पञ्चक क्षेत्रमें दुर्योधनके शवतक जाना पड़ा। वहाँसे फिर वनकी ओर वह मुड़ा। इस सबमें अर्जुनको लिए अपने गरुड़ध्वज रथपर बैठे श्रीकृष्ण भी भीमसेनके समीप आ गये।

अश्वत्थामा युद्ध करनेकी स्थितिमें नहीं था। उसने क्रुद्ध भीमसेनका सिंह-गर्जन सुना और गाण्डीव चढ़ाये अर्जुनको आते देखा तो जलसे आचमन करके अमोघ ब्रह्मास्त्रका संधान किया। उस अस्त्रके प्रलयकारी तेजको देखकर अर्जुन भी काँप उठे। उन्होंने पूछा—'मधुसूदन! यह प्रचण्ड तेज कैसा है जो हमारी ओर बढ़ा आ रहा है? मैं इसे समझ नहीं पाता हूँ। आप ही अब हमारी रक्षा करें!'

'अर्जुन सावधान!' श्रीकृष्ण बोले—'यह अश्वत्थामा द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र है। वह इसे लौटाना नहीं जानता। तुमने कभी उपयोग नहीं किया, इसलिये इसे पहिचानते नहीं हो। केवल इसी अस्त्रसे इसका प्रतिकार सम्भव है। तुम भी ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करो और फिर दोनोंको लौटा लो।'

अर्जुनको यही करना पड़ा। श्रीकृष्णकी सन्निधिने ही भीमसेन और उनको आज बचाया।



ब्रह्मास्त्रसे पुनः रक्षण

अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रसे ही शान्त करके अर्जुनने उसे पकड़ लिया और अपने उत्तरीयसे ही उसे रथपर बाँध दिया। श्रीकृष्णका स्वभाव भी अद्‌भुत है। ये कब ठीक कहते हैं और कब किसीकी परीक्षा लेते हैं, कहना कठिन है। इस समय अर्जुनकी धर्म-परीक्षा लेनेकी आपको सूझ गयी। बोले—'धनञ्जय ! मार दो इसे। इसने सोये हुए तुम सबके पुत्रोंको व्यर्थ मारा है। उनकी हत्यासे न इसका कुछ लाभ हुआ, न इसके स्वामी दुर्योधनका ही कोई भला हुआ। यह आततायी है और तुम्हारे प्रियजनोंका हत्यारा है। इसपर दया मत करो। तुमने द्रौपदीसे प्रतिज्ञा की है इसका सिर लाने की।'

'केशव ! यह चलेगा तो सिर भी इसका चल ही रहा है।' अर्जुनने बहुत शान्त स्वरमें उत्तर दिया—'इसने कुछ भी किया हो, हमारे गुरुका पुत्र है। अत: इसके सम्बन्धमें द्रौपदीको ही निर्णय करना चाहिए।'

'द्रौपदी क्या निर्णय करेगी !' भीमसेनने गर्जना की—'इसे मरना है। मैं इसे जीवित नहीं छोड़ सकता।'

लेकिन निर्णय यही रहा कि अपराधीके रूपमें अश्वत्थामाको राजा युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित किया जाना चाहिए। अश्वत्थामाकी कान्ति नष्ट हो गई थी। वह सिर झुकाये हुए था। अब किसीकी ओर देखनेका भी उसमें साहस नहीं था। अर्जुनने इसी रूपमें उसे ले जाकर द्रौपदीके सम्मुख खड़ा कर दिया—'यह है तुम्हारे पुत्रोंका हत्यारा !'

भक्तके स्वभावमें बदला लेना नहीं होता। वह भक्त ही नहीं, जिसका स्वभाव भगवानके स्वभावसे एक न हो गया हो। भगवान यदि प्राणीके अपराध देखने लगें, किसीका भी कभी उद्धार सम्भव नहीं। उन करुणावरुणालयको तो कृपा ही करनी आती है। द्रौपदी भक्त थी। उसके सब पुत्र जिसने मारे थे, पुत्रोंके शव सामने पड़े थे ; किन्तु अश्वत्थामाका

वह श्रीहीन लज्जासे झुका मस्तक देखना उसे असह्य हो गया। उसके हृदय-में कृपा उमड़ पड़ी।

'ये आचार्य पुत्र !' द्रौपदीने अश्वत्थामाके चरणोंमें सिर झुकाया—'इन्हें छोड़ दीजिये ! शीघ्र छोड़ दीजिये ! पुत्रके रूपमें स्वयं द्रोणाचार्य ही तो हैं यहाँ सम्मुख, जिनकी कृपासे आप सबने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है। मैं माता हूँ, अपने पुत्रोंके मारे जानेसे कैसी मर्मान्तिक पीड़ा होती है, इसका अनुभव कर रही हूँ। वैसी ही पीड़ा इनकी माता कृपाचार्य जीकी बहिनको भी होगी, यदि इनको मार दिया गया। मेरे पुत्र तो अब जीवित नहीं हो सकते। जगतमें दूसरी कोई माता मेरे कारण मेरे समान दुःखिया नहीं बननी चाहिये। इनका बन्धन शीघ्र खोल दीजिये। ये हम सबके लिए सम्मान्य हैं।'

अश्वत्थामाके नेत्रोंसे भी अश्रु झरने लगे। इस महनीयके पुत्र मारे उसने ! लेकिन भीमसेनके नेत्र अङ्गार हो रहे थे। उन्होंने गर्जना की—'इस नराधम पापीको क्षमा नहीं किया जा सकता।'

धर्मराज युधिष्ठिर तथा दूसरे सब लोग द्रौपदीकी कृपासे द्रवित हो गये थे। उन्होंने कहा—'धन्य पाञ्चाली।'

अर्जुनने श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर सिर उठाया तो ये लीलामय बोले—'गुडाकेश ! शास्त्र मेरी ही वाणी है। उसमें दोनों आज्ञा हैं कि आततायीको मार ही देना चाहिए तथा वेदज्ञ ब्राह्मण अपने गर्हित कर्मोंसे पतित भी हो जाय तो उसे शरीर-दण्ड नहीं देना चाहिए। तुमको अपनी अश्वत्थामाको मार देनेकी प्रतिज्ञा भी सत्य करनी है। द्रौपदीको भी प्रसन्न करना है तथा भीमसेनकी भी बात रखनी है।'

संकेत पर्याप्त था। ब्राह्मणको शरीर-दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, यह विधान जहाँ शास्त्रमें किया गया है, वहीं विधान है कि प्राण-दण्डका अपराध करनेपर ब्राह्मणका धन छीनकर, उसके केश मुँडवाकर अपमान-पूर्वक उसे निकाल दिया जाय। अश्वत्थामाका धन था उसके सिरके केशमें लगी रहनेवाली मणि। यह मणि किसी सम्राट्के सम्पूर्ण कोषसे भी अधिक मूल्यवान थीं। अर्जुनने अश्वत्थामाके केशोंको, दाढ़ी, मूँछ तथा सिरके केश भी तलवारसे काटकर उसे कुरूप कर दिया। उसकी मणि ले ली और बन्धन खोलकर उसे अपमानपूर्वक चले जानेको कह दिया। अश्वत्थामा वहाँसे सिर झुकाये चला गया।

अब द्रौपदी प्रभृति स्त्रियोंके साथ पाण्डवोंने अश्वत्थामाके द्वारा मारे गये लोगोंकी अन्त्येष्टि क्रिया की। गङ्गा-किनारे सैकड़ों चिताएँ सजायी गयीं। जो भी शरीर जल जाने अथवा कट-फट जानेसे पहिचाने नहीं जा सके, उनको एक ही विशाल चितामें चढ़ा दिया गया।

पुत्र, पौत्र, सगे-सम्बन्धी सबकी चिताएँ वहाँ धू-धू करके जल रही थीं। पाण्डव-पक्षमें वे पाँच ही भाई तो बचे थे सात्यकि और श्रीकृष्णके साथ। अनेकोंकी स्त्रियोंने सहमरण किया। बहुत थोड़ी थीं; जिन्हें किसी प्रकार समझाकर सती होनेसे रोका जा सका।

यह उत्तर क्रिया समाप्त हुई तो श्रीकृष्णने धर्मराजसे द्वारिका जानेकी अनुमति चाही; किन्तु युधिष्ठिरको कुछ कहनेका अवकाश नहीं मिला। पाण्डवोंके पाँचों भाइयोंने देखा कि उनकी ओर प्रज्वलित पाँच बाण बड़े वेगसे बढ़े आ रहे हैं। बहुत शीघ्रतासे पाँचों भाइयोंने धनुष चढ़ाये; किन्तु यह उद्योग निष्फल था। जो भी दिव्यास्त्र उन आते बाणोंको काटनेके लिए प्रयोग किये गये, वे उन बाणोंके समीप पहुँचकर उनकी ज्वालामें भस्म हो गये।

बात यह थी कि अश्वत्थामा पाण्डव-शिविरसे अपमानित करके निकाला गया तो दूर तक सिर झुकाये चलता गया। उसे पता नहीं था कि कहाँ जा रहा है। उसके हृदयमें विचारोंका अन्धड़ चल रहा था। कभ उसे द्रौपदीके शब्द स्मरण आते और अपने कर्मपर उसे अत्यन्त ग्लानि होती। दूसरी ओर मणिका छीना जाना और केश काटकर कुरूप बनाकर अपमानपूर्वक निकाला जाना उसे अत्यधिक क्रुद्ध करता था और तब मुट्ठियाँ बाँधकर, दाँत पीसकर वह बड़बड़ाने लगता था।

अश्वत्थामा सत्पुरुष नहीं था। वह स्वभावसे स्वार्थी और क्रूर था। अतः लज्जा और ग्लानिके आगन्तुक भाव बहुत शीघ्र दब गये। उसके हृदयमें अपनी मणिका जो मोह था, वह क्रोध बनकर बढ़ता गया। अन्तमें उसने आचमन किया और जिसको व्यर्थ नहीं किया जा सकता, जिसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं, वह ब्रह्मशिरास्त्र उसने पाण्डव-विहीन पृथ्वी करनेके सङ्कल्पसे प्रयोग किया। वही दिव्यास्त्र पञ्चधा होकर पाण्डवोंकी ओर बढ़ा आ रहा था।

श्रीकृष्णचन्द्रने पाण्डवोंका यह सङ्कट देखा। उन्होंने अपना चक्र उठाया। प्रलयकालकी महाज्वाला भी मन्द लगेगी श्रीकृष्णके प्रज्वलित

चक्रके सम्मुख। पाण्डवोंको लगा कि वे प्राणघातक बढ़े आते पाँचों बाण चक्रकी ज्वालामें शान्त हो गये।

भगवान व्यास उसी समय अश्वत्थामाके सम्मुख आ खड़े हुए—'धिक्कार है, तुझे। तू ब्राह्मण होकर इतना क्रूर-कर्मा है!'

अश्वत्थामा क्रोधपूर्वक बोला—'सुरेन्द्रका समस्त वैभव मेरी मणिके सम्मुख तुच्छ था। उसे छीनकर जिन्होंने मेरा अपमान किया, उन्हें मैं जीवित नहीं छोड़ सकता।'

'मूर्ख! तू पहिले अपने प्राणोंकी चिन्ता कर!' भगवान व्यासने डाँटा—'तू ब्राह्मण है या वैश्य? अर्थका—मणिका इतना लोभ है तुझे कि उसके लिए मरनेको उद्यत हो गया है।'

'मरनेको?' अश्वत्थामाने इधर-उधर देखा और काँपने लगा। वह सदाका डरपोक, प्रलयकालीन दुर्धर्ष तेज उसे अपनी ओर बढ़ता आता दीखा।'

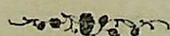
'तू क्या समझता है कि श्रीकृष्णको पराभव देकर उनके आश्रितोंको तू मार सकता है?' व्यासजी कह रहे थे—'शीघ्र अपना अस्त्र शान्त कर, अन्यथा श्रीकृष्णका चक्र तुझे मिले शिवके अमरत्वके वरदानकी भी मर्यादा नहीं मानेगा।'

'भगवन्! मेरा यह अस्त्र अमोघ है। इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं है।' अश्वत्थामाका स्वर काँप रहा था—'मैं इसे शान्त करना भी नहीं जानता।'

'तब अपना सङ्कल्प सीमित कर।' व्यासजीने समझाया—'जो सचराचर सम्पूर्ण सृष्टिके सञ्चालक, पालक, प्रलयकर्ता हैं, उन सर्वेशके सम्मुख कोई सृष्टिका अस्त्र अमोघ नहीं हो सकता। पाण्डवोंकी रक्षामें वे सावधान हैं। उनको मारनेका सङ्कल्प नहीं त्यागता तो तेरा अस्त्र तुझे ही भस्म करके अपनी अमोघता सार्थक करनेवाला है।'

'मैं इसे उत्तराके गर्भपर प्रयुक्त करता हूँ।' अश्वत्थामाने सङ्कल्प परिवर्तित किया—'पाण्डव-वंशका एकमात्र बीज है उस गर्भमें। उसके नष्ट होनेपर भी पृथ्वी पाण्डवोंसे रहित हो जायगी।'

'अच्छा, ऐसा ही कर!' व्यासजीने अनुमोदन कर दिया। अश्वत्थामाका अस्त्र पाण्डवोंको त्यागकर दूसरी ओर एकाकार होकर उन्मुख हो गया।



अश्वत्थामाको शाप

अचानक उत्तरा दौड़ती हुई आई और श्रीकृष्णके सम्मुख पृथ्वीपर गिर पड़ी। यह शील, सौजन्यकी साक्षात्मूर्ति! अभी महाभारत युद्धके पूर्व ही विवाह हुआ था उसका और युद्धमें विधवा हो गयी। बालिका उत्तरा अवश्य सती हो गयी होती; किन्तु भगवान व्यासने रोक दिया था उसे यह कहकर कि उसके उदरमें अभिमन्युका अंश है। अब तो उत्तराका यह गर्भ ही पाण्डुके वंशका बीज था। द्रौपदीके सब पुत्र मारे ही जा चुके थे। पाण्डवोंका दूसरी पत्नियोंसे भी कोई वंशधर नहीं बचा था।

'शरण! शरणागतवत्सल शरण!' बड़ी कठिनाईसे जिसे द्रौपदी और सुभद्रा किसी प्रकार उग्रतम व्रतोंसे बचाती थीं, वह सबकी स्नेहभाजना, श्वेतवस्त्रा, आभरणहीना, कृशकाय उत्तरा अत्यन्त कातर स्वरमें पुकारती आई और चरणोंके सम्मुख भूमिपर गिर पड़ी।

'मा भैः!' श्रीकृष्णका मेघ गम्भीर स्वर गूंजा और उनका दाहिना हाथ उत्तराके ऊपर छाया करता फैल गया।

उत्तरा उठी। अत्यन्त भय-विह्वल होकर उसने पीछे देखा और चीत्कार कर उठी—'यह प्रज्वलित बाण! यह मेरे उदरकी ओर ही आ रहा है। शरणदाता! आप मेरे स्वामीकी इस धरोहरको बचा लें! उत्तराको मरनेका भय नहीं है। यह अधमा तो मरकर धन्य ही होगी। अपने आराध्यके चरणोंमें पहुँचेगी; किन्तु यह बाण—यह तो उनके इस अंशको भस्म करने आ रहा है!'

वह बाण दूसरे किसीको दीख नहीं रहा था। वह तो अश्वत्थामाका ब्रह्मशिरास्त्र था—दिव्यतम अस्त्र। केवल उत्तरा उसे देख रही थी। लेकिन श्रीकृष्णके अभय हस्तके फैलते ही उसे लगा कि वह बाण उसके उदरमें प्रविष्ट हो गया है। एक भयंकर जलन—असहनीय ज्वाला; किन्तु केवल क्षणार्धके लिये। श्रीकृष्णने कमल-लोचन बन्द किये, कुछ

ध्यानस्थसे हुए और उत्तराको लगा कि उसके उदरमें उठी ज्वाला शान्त हो गयी है।

उत्तराका सर्वाङ्ग अद्भुत तेजसे उद्भासित हो उठा। उसका वह दीन, खिन्न वदन, वह मुरझाया मन क्षणार्धमें परिवर्तित हो गया। उसे लगा कि उसके भीतर आनन्दका अपार स्रोत फूट पड़ा है।

वहाँ कोई नहीं था जिसने देवी देवकीको तब देखा हो जब कंसके कारागारमें वे बन्दिनी थीं और वसुदेवजीके स्पर्शसे उनमें अच्युतांश आया था। अन्तर्वत्नी देवकीको देखने वाले होते वहाँ तो वे अवश्य समझ जाते कि उसी अच्युतांशको उपलब्ध करके उत्तरा भी धन्य हो गयी है।

यह तो उत्तराके गर्भमें स्थित परीक्षितने देखा था कि एक महातेज इन्हें दग्ध करने पहुँचा ही था कि अचानक एक कमल-लोचन, चतुर्भुज नवघन सुन्दर, पीताम्बर परिधान, अंगुष्ठ परिमाण ज्योतिर्मय अद्भुत पुरुष वहाँ गर्भमें आ गया। वह उत्तराके गर्भमें आया पुरुष—परीक्षितके पश्चात् माताके उस उदरमें आया उनका अनुज—अत्यन्त तीव्रवेग था। उन्मुक्तके समान वह अपने हाथकी गदा घुमाते परीक्षितके चारों ओर अविराम घूमने लगा। उसकी गदा इतनी तेजोमय कि वह भस्म करनेको बढ़ा आता तेज गदाके तेजके पास आकर अन्धकार जैसा लगता था।

अथक था वह तेज। वह प्रध्वन्सको धावित तेज असह्य था और पता नहीं कितना अगाध था ; किन्तु यह गदा घुमाता चारो ओर घूमने वाला अत्यन्त सुकुमार सुन्दर अंगुष्ठ जितना बड़ा पुरुष भी थकने वाला नहीं था। यह भी उसी तीव्र गतिसे बराबर घूमता ही रहता था।

उत्तराको यह सब कुछ पता नहीं था। उसको तो एक अनिर्वचनीय सुधाधाराने परिप्लुत कर दिया था। वह ऐसे आह्लादकारी स्पर्शका अपने भीतर अनुभव करके विभोर हो उठी थी कि वह किसी भी प्रकार वाणीमें नहीं आ सकता। उसका सन्तुष्ट, स्मितशोभित श्रीमुख और अलौकिक कान्ति, पाण्डवोंको, द्रौपदीको, सुभद्राको, सभीको आश्वस्त कर चुकी थी। उस बालिकाने पुनः पृथ्वीमें मस्तक रखकर प्रणाम किया अपने श्वसुर तुल्य श्रीकृष्णको और वहाँसे संकोचपूर्वक चली गयी।

श्रीकृष्ण तुरन्त अपने रथमें बैठे। वनमें भगवान व्यास जहाँ अश्वत्थामाके सामने खड़े थे, वहाँ उतरे रथसे और अश्वत्थामासे अत्यन्त

कठोर स्वरमें बोले— विप्राधम ! महाराज विराट्की पुत्री उत्तरा जब उपप्लव्य नगरमें थी तो एक तपस्वी ब्राह्मणने उसे आशीर्वाद दिया था कि— 'वत्से ! तेरी कुक्षिसे कुरुवंशके क्षय हो जानेपर उसका वंशधर उत्पन्न होगा।' उस उत्तम ब्राह्मणकी बात असत्य नहीं होगी।'

अश्वत्थामा बिगड़कर बोला—'आप सर्वशक्तिमान अवश्य हैं और आपने पाण्डवोंपर प्रयुक्त मेरे अस्त्रको व्यर्थ कर दिया ; किन्तु मेरे इस अस्त्रको आप भी व्यर्थ नहीं कर सकते। यह उत्तराके गर्भको अवश्य नष्ट कर देगा।'

'द्रोणपुत्र ! मैं इसे भी नष्ट कर दे सकता हूँ।' श्रीकृष्णका क्रुद्ध स्वर गूँजा और भगवान व्यास तक काँप गये ; किन्तु उन्हें कोई प्रार्थना नहीं करनी पड़ी। सर्वेश्वरने स्वयं कहा—'किन्तु इस अस्त्रको नष्ट कर देनेसे सृष्टिकी सम्पूर्ण मर्यादा नष्ट हो जायगी. अतः तेरा अस्त्र अमोघ बना रहे। सृष्टिकर्ताके स्वरूपभूत इस अस्त्रको मैं नष्ट नहीं करूँगा, यह उत्तराके गर्भपर तब गिरेगा जब गर्भस्थ बालक उत्पन्न हो रहा होगा। बालक मरा हुआ उत्पन्न होगा और उसे मैं पुनः जीवित कर दूँगा।'

अश्वत्थामाने सिर झुका लिया श्रीकृष्ण यह करनेमें समर्थ हैं, इसमें उसे सन्देह नहीं था। इसी समय उन कैटभारिके स्वरमें शाप-वाणी प्रकट हुई—'अश्वत्थामा ! तू कायर है। पापी है। बाल-हत्यारा है। तुझे अपने पापका फल भोगना पड़ेगा। तीन सहस्र वर्ष तक तुम पृथ्वीमें भटकते फिरोगे और कहीं किसी पुरुषसे तुम्हारी कोई बात नहीं होगी। तुम्हारे सर्वांगसे रक्त तथा पीवकी गन्ध निकलती रहेगी। तुम मनुष्योंके सम्मुख जानेका साहस भी नहीं कर सकोगे। दुर्गम वनोंमें एकाकी रहोगे।

उत्तराके गर्भमें स्थित बालक तो उत्पन्न होकर दीर्घायु प्राप्त करेगा। वह सम्पूर्ण वेद-वेदांगका ज्ञाता होगा और तुम्हारे मामा कृपाचार्य ही उसे अस्त्र-शस्त्रोंका समस्त ज्ञान देंगे। दुरात्मन ! वह तुम्हारे नेत्रोंके सम्मुख कुरुवंशके सिंहासनपर बैठेगा और साठ वर्ष तक पृथ्वीका पालन करेगा। तुम्हारे अस्त्रकी ज्वालासे दग्ध उसके शरीरमें मेरा सत्य अमृत-सिंचन करेगा।'

श्रीकृष्णचन्द्रने भगवान व्यासको मस्तक झुकाया और रथपर बैठ गये। उनके चले जानेपर व्यासजीने अश्वत्थामासे कहा—'तुमने मेरी भी

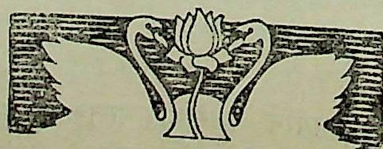
बात नहीं मानी। ब्राह्मण होकर तुमने भ्रूण-हत्याका प्रयास किया है, अतः भगवान वासुदेवका शाप अवश्य सत्य होगा। तुमने क्षात्रधर्म स्वीकार कर लिया और उससे भी भ्रष्ट हो गये, अतः तुम्हारे पास तुम्हारी रक्षा करने वाला ब्रह्म-तेज नहीं है।'

अश्वत्थामा मरे मनसे बोला—'श्रीकृष्णकी बात सत्य हो। अब मैं मनुष्योंमें केवल आपके साथ रहूँगा।'

'यह भी सम्भव नहीं है।' व्यासजीने अश्वत्थामाको सर्वथा निराश कर दिया—'श्रीकृष्णके शापको सत्य होनेके लिये तुम्हारी स्वीकृति आवश्यक नहीं है। अपने शरीरकी ओर देखो। सम्पूर्ण शरीरमें तुम्हारे फफोले उठने लगे हैं। ये शीघ्र ही दुर्गन्धि-भरे घाव बन जाने वाले हैं। उन सर्वात्मा वासुदेवका विरोध करके कोई त्रिभुवनमें किसीकी सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकता। तुम्हें ब्रह्मलोक अथवा कैलासमें भी शरण नहीं मिलने वाली है। मैं तुम्हें अपने साथ रखनेका साहस कैसे कर सकता हूँ। श्रीकृष्णने तुम्हें मनुष्योंसे ही दूर रहनेका शाप दिया है; किन्तु तुम किसी सुर-असुर या महर्षिके समीप जाना चाहोगे तो केवल अपमान मिलेगा तुम्हें।'

अश्वत्थामाके नेत्र भर आये—'भगवन्! तीन सहस्र वर्ष थोड़े नहीं होते। इसके पश्चात् यह अधम शाप-मुक्त होकर आपके समीप आवे तो आप इसे आश्रय देनेका अनुग्रह करें, यह प्रार्थना है।'

भगवान व्यासने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली—'**अश्वत्थामा!** श्रीकृष्ण किसीको दण्ड नहीं देते। अज्ञ जीव जब अपने कर्मोंसे अत्यधिक कलुष लपेट लेता है, तब उसके परिमार्जनका ही विधान वे दयामय करते हैं। तुम्हारे लिये भी उन्होंने कृपापूर्वक ही यह विधान किया है। इस अवधिको भोगकर तुम परिपूत हो जाओगे। तुम्हारा हृदय शुद्ध हो जायगा इससे।'



भीमसेनकी रक्षा

सञ्जयने ही धृतराष्ट्रको दुर्योधनकी मृत्युका समाचार दिया। उसीने शोकमग्न उन अन्धे राजाको सुझाया कि 'अब युद्धमें मारे गये लोगोंका प्रेतकर्म कराया जाना चाहिए।'

अत्यन्त शोकाकुल धृतराष्ट्रको किसी प्रकार विदुरने समझाया और फिर गान्धारीके साथ सभी स्त्रियोंको लेकर वे लोग कुरुक्षेत्रकी ओर चल पड़े। देवी कुन्तीको भी धृतराष्ट्रने साथ ले लिया था; क्योंकि गान्धारीको वही सम्हाल सकती थीं।

सहस्रों विधवा नारियोंका वह आर्तक्रन्दन करता समूह—विदुर जैसे तत्त्वज्ञ भी व्याकुल हो गये वहाँ। उसमें वृद्धाएँ थीं, युवा थीं, बालिकाएँ तक थीं। युद्धमें पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र सभी मारे गये थे। उन सबकी विधवाएँ थीं। कौन किसे समझावे और क्या समझावे। सब समान दुःखी। सब चाहे जिसके कण्ठसे लिपटकर या पृथ्वीपर पछाड़ खाती विलाप कर रही थीं।

जिन महिलाओंपर देवताओंकी भी दृष्टि नहीं पड़ी थी, वे आज केश खोले, आभरणहीना, अनाथा युद्धभूमिकी ओर सबके सामने जा रही थीं। मार्गमें ही ये लोग थे कि युधिष्ठिरको समाचार मिल गया। 'वृद्ध अन्धे धृतराष्ट्र सबका अन्त्येष्टि-संस्कार कराने हस्तिनापुरसे चल चुके हैं।' यह समाचार मिलते ही युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ चल पड़े। उनके साथ ही श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा युयुत्सु भी अपने रथोंसे चले।

पाण्डवोंको अबतक अवकाश ही नहीं मिला था। अश्वत्थामाने रात्रिमें उनके शिविरमें जो महासंहार किया था, उसका समाचार पाकर वे आये थे और तभी अश्वत्थामाके अपकर्मके कारण उसे दण्ड देने क्रुद्ध भीमसेन दौड़ पड़े थे। अश्वत्थामा बन्दी हुआ। द्रौपदीकी दयासे छोड़ दिया गया और फिर उसने ब्रह्मशिरास्त्रका प्रयोग किया। श्रीकृष्णकी कृपासे

इस विपत्तिसे रक्षा हुई तो सब लोग शिविरमें रात्रिमें मारे गये स्वजनोंका संस्कार करनेमें लग गये ।

लगभग मध्याह्नके समय धृतराष्ट्रके हस्तिनापुरसे कुरुक्षेत्रकी ओर जानेका समाचार मिला था । युधिष्ठिर अविलम्ब भाइयोंके साथ रथोंमें बैठकर चल पड़े थे । युद्धमें जो भी मारे गये थे, वे किसी भी पक्षसे मारे गये हों, अब सबके अन्तिम संस्कारका दायित्व पाण्डवोंपर था । उनके पक्षके लोग भी कम नहीं मरे थे वहाँ और मरा हुआ शत्रु भी सत्पुरुषके लिए पराया नहीं होता, दुर्योधनादि तो उनके स्वजन ही थे ।

श्रीकृष्णने एक सावधानी की थी । दुर्योधनने भीमसेनकी एक लौह-मूर्ति सर्वथा भीमके समानाकारकी ही बनवा रखी थी और वह उसपर गदा मार-मारकर गदा-युद्धका अभ्यास करता रहा था । मूर्ति इतनी सुदृढ़ थी कि वर्षोंतक दुर्योधनके गदाघातसे भी उसका कुछ बिगड़ा नहीं था । जब सायंकाल ओघवती नदीके तटसे युधिष्ठिरके कहनेसे श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गान्धारीको शान्त करने गये तो वहाँसे लौटते समय राजभवनके द्वारपर खड़ी वह मूर्ति अपने रथमें रख लाये थे । वह मूर्ति उनके रथमें ही अब भी थी और इस यात्रामें भी साथ थी । उसकी ओर ध्यान देनेका अवसर ही नहीं मिला था ।

महाराज युधिष्ठिरके लिए बहुत दुःखद–बहुत कठिन अवसर था वह जब गङ्गा-किनारे पहुँचनेपर सहस्रों क्रन्दन करती विधवाओंने उन्हें चारों ओरसे घेर लिया । सबका एक ही स्वर—'आप धर्मराज हैं ? अपने पितामह, चाचा, ताऊ, गुरु, भाई, पुत्र, मित्र सबको मरवा डाला आपने और द्रौपदीके पुत्रों तथा अभिमन्युको भी खोकर अब धर्मराज्यकी स्थापना करेंगे आप ?'

बड़ी कठिनाईसे उन रोती, पृथ्वीपर पछाड़ खाती नारियोंके अपार समूहको युधिष्ठिरने भाइयोंके साथ पार किया । सबने सिर झुका रखा था और इन लोगोंके हृदयकी वेदनाका भी अन्त नहीं था । किसी प्रकार ये लोग धृतराष्ट्र तक पहुँचे ।

युधिष्ठिरने बड़े आदरपूर्वक अपने पिताके बड़े भाई धृतराष्ट्रके चरणोंमें अपना नाम लेकर प्रणाम किया । धृतराष्ट्र पुत्र-शोकसे बहुत अधिक व्याकुल थे । उन्होंने उदासीन भावसे युधिष्ठिरको गले लगाया ; किंतु तभी उनके ललाटपर क्रोधसे आकुञ्चन आ गया । उनकी भौंहे कठोर

हो गयीं। इसे श्रीकृष्णने देख लिया। प्रणाम करनेके लिए युधिष्ठिरके पश्चात् भीमसेनको जाना था, वे बढ़े तो श्रीकृष्णने हाथ पकड़कर उन्हें रोक लिया। दारुकको संकेतसे बुलाकर रथमें रखी लौह-मूर्ति उतार लानेको कह दिया।

अर्जुन, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण, सात्यकि सबने प्रणाम किया धृतराष्ट्रको। वे भी अत्यन्त उदासीन बने सबको गले लगाते गये। अन्तमें उन्होंने ही पूछा—'भीमसेन नहीं आया ?'

'वे आये हैं !' कहकर श्रीकृष्णने वह लौह-मूर्ति आगे बढ़ा दी। धृतराष्ट्रने उस मूर्तिको भुजाओंमें भरकर पूरे बलसे अपने वक्षसे क्रोधमें दबाया। वे इस वृद्धावस्थामें भी इतने बलवान थे कि जो मूर्ति वर्षोंतक दुर्योधनके गदाघातसे नहीं टूटी थी, वह उनके दबावसे कड़कड़ाकर खण्ड-खण्ड हो गयी। लेकिन इस अतिशय दबावके कारण उनके मुखसे रक्त निकलने लगा। उस समय सञ्जयने उन्हें सम्हाला।

'हाय भीम ! मुझ अधमने यह क्या किया !' क्रोधका आवेश शान्त होते ही धृतराष्ट्र फूट पड़े—'मैंने अपने ही पराक्रमी पुत्रकी हत्या कर दी। मुझे धिक्कार है। मैं इस जीवनको बचाकर अब क्या करूँगा।'

'महाराज आप शोक न करें !' श्रीकृष्णने शान्त गम्भीर स्वरमें कहा—'आप अत्यन्त क्रुद्ध हैं, यह मैंने देख लिया था। अतः मैंने भीमसेनको आपके समीप जानेसे रोक लिया। मैं जानता था कि आपकी भुजाओंके मध्य पहुँचकर वे जीवित नहीं बचेंगे। आप मेरी धृष्टता क्षमा करें। आपके पुत्रने जो भीमसेनकी लौह-मूर्ति बनवा रखी थी, वही मैंने इस समय आपके आगे कर दी। वह मूर्ति टूट गयी। पुत्र-शोकने आपके मनको धर्मसे विचलित कर दिया था ; किंतु मैं जानता था कि आप सत्पुरुष हैं और यदि आपके हाथसे भीमका वध हो गया तो आप अपनेको क्षमा नहीं कर पावेंगे।

यह विनाश तो आपके प्रमादसे हुआ। आपने समझानेपर भी मेरी बात उस समय नहीं मानी। आपने भीष्म, द्रोण, विदुर आदि शुभैषियोंकी सलाह भी अनसुनी कर दी। अतः आप भीमसेनपर क्रोध क्यों करते हैं। भीमसेनने तो उस अपराधका बदला ही लिया है, जिसे आपके पुत्रोंने आपके समक्ष, आपके संरक्षणमें भरी सभामें द्रौपदीको अपमानित करके किया था। आप अपने और अपने दुष्ट पुत्रोंके अपराधोंपर दृष्टि ही नहीं देते ?

पाण्डवोंका कुछ अपराध था कि आपने उन्हें राज्यसे निर्वासित करके वनमें भेज दिया था ? पाण्डुके पुत्र आपको पूज्य मानकर आपका सम्मान करते रहे, इसलिए आपको उस सम्मानका दुरुपयोग करनेका स्वत्व हो गया और आपने उन्हें द्यूत खेलनेको आज्ञा देकर विवश किया ? अब भी आप उनके सम्मानका दुरुपयोग ही करनेपर उतारू हैं ?'

श्रीकृष्णका स्वर बहुत कठोर हो गया था। उनके स्वरमें भर्त्सना थी, चेतावनी थी। धृतराष्ट्र इतने अज्ञानी नहीं थे कि इस चेतावनीको न समझ सकें। वे अन्धे हैं, सभी पुत्रोंके मारे जानेसे अनाश्रित हैं, उन्हें अब पाण्डवोंकी कृपापर ही अवलम्बित रहना है, अब वे यह क्रोध किस बलपर दिखाते हैं ? उन्हें अपने स्वजनोंकी अन्त्येष्टिके लिए भी युधिष्ठिरकी अनुमति तथा सहायता अपेक्षित है और वे हैं कि पाण्डवोंके शीलका दुरुपयोग करके दुष्टता ही किये चले जारहे हैं ?

यह कठोर स्वर चेतावनी थी कि धृतराष्ट्रको अब और क्षमा नहीं किया जायगा। युधिष्ठिर अपने सौजन्यके कारण भले कुछ न कहें, कुछ न करें ; किंतु श्रीकृष्ण किसीको भी दण्ड देनेमें कभी असमर्थ नहीं होते और अब धृतराष्ट्रको अपने अपराध समझना चाहिए। उन्हें अधिक उद्दण्डता नहीं करने दी जायगी।

'माधव ! तुम ठीक ही कहते हो।' धृतराष्ट्रका स्वर ढीला हो गया—'भीमसेनको बचाकर तुमने मेरी भी प्राणरक्षा कर ली। मेरा क्रोध शान्त हो गया। मैं तो अब तुम्हारे और पाण्डवोंके ही आश्रित हूँ। मुझ अन्धेका अपराध तुम्हें क्षमा करना चाहिए।'

धृतराष्ट्रने भीमसेनसे मिलनेकी इच्छा की। भीमने उन्हें प्रणाम किया तो रोते-रोते उन्होंने भीमसेनको गले लगाकर मस्तकपर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया—'तुम सबका कल्याण हो।'

युधिष्ठिरके, विदुरके, कुन्तीके नेत्र भर आये थे। इन वासुदेवने यहाँ भी अकल्पित विपत्तिसे भीमसेनको बचाया।



गान्धारीका शाप

गान्धारीके मनमें भी कम क्रोध नहीं था पाण्डवोंके प्रति ; किन्तु भगवान व्यासने उसे समझाया। उसने भी भीमसेनके प्रति ही अधिक आक्रोश प्रकट किया ; क्योंकि भीमसेनने दुर्योधनको अन्यायपूर्वक मारा था ; किन्तु जब भीमने कहा—'मैंने यह काम इसलिए किया कि आपका पुत्र मुझे मार ही न डाले। वह सदा हमें दुःख देता रहा था और मैंने तभी उसकी जंघा तोड़नेकी प्रतिज्ञा की थी, जब सभामें द्रौपदीको उसने जाँघ दिखायी थी।'

भीमसेनकी विनय तथा स्पष्टीकरण किसी पुत्रहीना माताके शोकको कैसे समाप्त कर देते। जिसके सौ पुत्र थे, उनमें-से एक भी शेष नहीं रहा, उसे क्रोध नहीं आवेगा ? उसने क्रुद्ध स्वरमें कहा—'राजा युधिष्ठिर कहाँ है ?'

युधिष्ठिर यहाँ इतनी विधवाओंका आर्तनाद सुनकर, उनका उलाहना पाकर स्वयं बहुत व्यथित थे। वे हाथ जोड़े सामने आकर बोले—'देवि ! आपके पुत्रोंका संहार करानेवाला क्रूरकर्मा युधिष्ठिर आपके सामने है। पृथ्वीके सब राजाओंका विनाश कराके राज्य चाहनेवाला यह अधम आपके शापका पात्र है। मैं अपने सुहृदोंका शत्रु हूँ। अपने ही स्वजनोंको मरवाकर अब मुझे राज्य, सुख या जीवन, किसीकी भी इच्छा नहीं है। आप मुझे शाप दें।'

गान्धारी क्रोधके कारण लम्बी श्वास ले रही थी। उसने पट्टीमें भीतर नेत्र खोल लिए थे। युधिष्ठिर उसके चरणोंमें गिरना चाहते थे, तभी गान्धारीकी दृष्टि उनके हाथके नखोंपर पड़ी। इससे उनके सुन्दर नख काले पड़ गये। यह देखकर अर्जुन भयके कारण श्रीकृष्णके पीछे होगये। भीमसेन, नकुल, सहदेव भी छिपने लगे।

इस प्रकार पाण्डु-पुत्रोंका भयातुर होना लक्षित करके गान्धारीको दया आगयी। उसने सबको आश्वासन दिया। इसके अनन्तर सब माता कुन्तीके समीप गये। देवी कुन्ती पाण्डव जब वनमें गये थे, तबसे ही हस्तिनापुरमें ही थीं। युद्धकालमें भी वे वहीं थीं। वर्षोंके पश्चात् इतनी

विपत्ति भोगकर युद्धमें विजयी पुत्र मिले थे ; किन्तु यह विजय भी नीरस, उल्लासहीन होचुकी थी। द्रौपदी, सुभद्रादि पुत्र-वधुएँ अपने पुत्रोंके मारे जानेसे शोककातरा थीं। चारों ओर जो सहस्रशः विधवाएँ क्रन्दन कर रही थीं, वे भी अपने ही स्वजनोंकी स्त्रियाँ थीं।

देवी कुन्तीका हृदय भर आया था। वे अञ्चलसे मुख ढककर बार-बार फूटकर रो उठती थीं। पुत्रोंने साश्रुनेत्र माताको प्रणाम किया तो उन्होंने भी सबके अङ्गोंपर स्नेहवश बार-बार हाथ फेरा। सबके ही अङ्ग शस्त्रोंके आघातसे आहत थे।

पुत्र-वधुओंने भी कुन्तीको प्रणाम किया और सब फफककर रो पड़ीं। इस व्यथाके समय गान्धारीने समझाया—'तुम सब मेरी ओर देखो! जैसी तुम हो, वैसी ही मैं भी पुत्रहीना हूँ। अब कौन किसे धैर्य दे। यह सब कालकी ही प्रेरणासे हुआ। तुम सब यही मानकर सन्तोष करो कि मेरे अपराधसे इस श्रेष्ठ कुलका संहार हुआ।'

इसी समय भगवान व्यासकी आज्ञासे महाराज धृतराष्ट्र तथा श्रीकृष्णको आगे करके सब पाण्डव वहाँ एकत्र स्त्रियोंको लेकर युद्धभूमिकी ओर चल पड़े। वहाँ उन विधवाओंने अपने पति, पिता, भाई, पुत्र आदिका शव देखा तो दिशायें उनके चीत्कारसे भर गयीं।

करुणाकी सीमा नहीं थी। जिन्होंने कदाचित ही किसीको दुःखी देखा था, उन राजकुलकी वधुओंके सम्मुख योजनदीर्घा भूमि शवोंसे पटी पड़ी थी। रक्तसे सनी, टूटे शस्त्र-खण्डों तथा ध्वस्त रथोंसे भरी उस भयानक भूमिमें अश्वों, गजोंके कटे-फटे शवोंके मध्य अत्यन्त साधारण ढङ्गसे उन अबलाओंके सम्मान्य स्वजनोंके विकृत शरीर पड़े थे। वे शरीर भी स्थान-स्थानसे कटे-फटे, अङ्गहीन थे और अबतक भी कुत्ते, गीध, शृगालादिका समुदाय स्वच्छन्दतापूर्वक उन्हें नोचने-घसीटनेमें लगा था।

वे सबकी सब नारियाँ ऐसी थीं कि स्वस्थ दशामें इस भूमिका वर्णन सुनकर भी चीत्कार करके अवश्य मूर्छित हो जातीं ; किन्तु इस समय वे सब उन्मादिनी हो गयी थीं। उसी रक्त-जमे दलदलमें वे हाहाकार करती पिशाचिनियोंकी भाँति दौड़ने लगी थीं। अपने स्वजनोंका शरीर अथवा सिर ढूंढ़ती वे भागती थीं, भटकती थीं, ठोकरें खा-खाकर गिरती थीं। उनके पद, वस्त्र, शरीर रक्तसे सनते जारहे थे ; किन्तु उन्हें अपनी सुधि ही कहाँ रही थी।

कोई पति अथवा पुत्र या भाईका सिर पा जाती थी तो उसे गोदमें लिए उसका शरीर ढूँढ़ रही थी और किसीने शरीर पहिचान लिया तो उसे सिर नहीं मिल रहा था। वे सुकोमल राजकुलवधुएँ, उनकी वह दशा, उनका वह क्रन्दन—उसकी कल्पना भी अत्यन्त दारुण है।

युधिष्ठिर ही नहीं, उनके सब भाई और दूसरे भी मूर्छित हो गये होते यदि कर्तव्यकी कठोर प्रेरणाने उन्हें कर्ममें न लगा दिया होता। यद्यपि शीतकाल था ; किंतु युद्धभूमिसे भयङ्कर दुर्गन्धि उठने लगी थी। सहस्रशः सेवक लग गये थे बहुत बड़ी चितायें सजानेमें। अब किसी अत्यन्त प्रतापी नरेश अथवा अपने प्रिय स्वजन सम्बन्धीके लिए भी पृथक चिता सजाना सम्भव नहीं रहा था।

देवी गान्धारीने श्रीकृष्णको अपने समीप बुला लिया और वे कहने लगीं—'ये मेरी विधवा बहुएँ बाल बिखेरे व्याकुल भाग रही हैं और विलाप कर रही हैं। इस युद्धस्थलको देखकर मैं तो शोकसे भस्म हुई जा रही हूँ। पता नहीं पूर्व जन्मोंमें मैंने कितने पाप किये थे कि मुझे अपने पुत्र, पौत्र, भाइयोंका यह महासंहार देखना पड़ा।'

दुर्योधनका शव समन्तक-पञ्चक क्षेत्रसे वही सेवक उठा लाये। वह राजा था, अतः उसके लिए एक अकेली चिता सजायी गयी। जब गान्धारी-को उसके ज्येष्ठ पुत्रके शवके समीप पहुँचाया गया तो वह मूर्छित होकर भूमिमें गिर पड़ी। वह बोली—'मधुसूदन! जब यह बन्धु-विध्वंसक संग्राम प्रारम्भ हो गया तो मेरे इस पुत्रने हाथ जोड़कर मुझसे कहा था—'माताजी! मुझे युद्धमें विजयी होनेका आशीर्वाद दो।'

मैंने माँ होकर भी कहा था—'विजय वहीं होती है, जहाँ धर्म रहता है; किंतु यदि तुम बिना घबड़ाये सम्मुख युद्धमें मारे गये तो तुम्हें देवताओंके समान उत्तम गति अवश्य प्राप्त होगी।'

यह मेरा पुत्र मूर्धाभिषिक्त राजाओंके आगे चलता था और उनको आज्ञा देता था। इसके लिये मुझे शोक नहीं है। शोक तो मुझे नेत्रहीन महाराजके लिए है कि उनका कोई सहारा ही नहीं रह गया।'

गान्धारीका सौभाग्य ही था कि वह युद्धभूमि देख नहीं सकती थीं। उन्होंने पति-गृह आनेके क्षणसे जो अपने नेत्रोंपर पट्टी बाँध ली थी, वह महान पुण्य ही उनको इस दारुण दृश्यको देखनेसे बचाये था। लेकिन उनके

श्रवण अधिक सतेज हो गये थे, जैसे अन्धोंके हो जाया करते हैं। यह विशेषता आज उनके लिए अभिशाप बन गयी थी। वे अपनी सभी पुत्र-वधुओंका चीत्कार पृथक-पृथक पहिचान सकती थीं। विधवा पुत्री दुःशलाका दारुण क्रन्दन भी कानोंमें पड़ रहा था।

गान्धारीने श्रीकृष्णसे इन पुत्र-वधुओंकी, पुत्रीकी व्यथाका उल्लेख किया, उसने अन्य सम्बन्धी नरेशोंकी नारियोंका आर्तनाद सुनकर उनके भी पतियोंके मारे जानेका वर्णन किया। यह सब करते हुए उसका हृदय फटा जा रहा था। अन्तमें उसे क्रोध आ गया। उसका क्रोध किञ्चित भी अस्वाभाविक नहीं था।

गान्धारी अत्यन्त क्रोधमें भरकर बोलीं—'कृष्ण! कौरव और पाण्डव परस्परकी फूटके कारण ही नष्ट हुए; किंतु तुमने समर्थ होते हुए भी इनकी उपेक्षा क्यों कर दी? मेरी और महाराजकी बुद्धि मानलो मारी गयी थी या मेरे पुत्रने हमारी नहीं सुनी तो भी तुम तो उसे बलपूर्वक रोक सकते थे। तुम स्वयं अतुल पराक्रमी हो। तुम्हारे पास अत्यन्त सशक्त सेना थी। तुम सर्वसमर्थ हो। अपने सङ्कल्पसे, सैन्यबलसे तुम उन्हें दबा सकते थे। तुमने जानबूझकर मेरे वंशका विनाश होने दिया, इसे रोका नहीं तो तुम भी इसका फल भोगो!'

श्रीकृष्ण शान्त खड़े रहे। गान्धारीने शाप दिया—'तुम्हारे सम्मुख तुम्हारे स्वजन इसी प्रकार लड़कर मरेंगे, जैसे मेरे स्वजन मरे हैं। तुम स्वयं उनका संहार करोगे! तुम्हारे सामने तुम्हारे कुलकी स्त्रियाँ विधवा हो जायँगी। आजसे छत्तीसवें वर्ष तुम भी अनाथके समान आहत होकर देहत्याग करोगे। इन भरतकुलकी स्त्रियोंके समान ही तुम्हारे कुलकी स्त्रियाँ भी रोती बिलखती पतियोंका शव ढूँढ़ती फिरेंगी।'

परम सती गान्धारीका शाप सुनकर अविचलित स्वस्थ स्वरमें कुछ भर्त्सनासे करते श्रीकृष्ण बोले—'राजपुत्री! तुमने शाप देकर अपना सञ्चित तप व्यर्थ नष्ट कर लिया। यह सब तो होनेवाला ही था। मैंने यदुकुलके इस अंतको भी पहिलेसे वैसे ही अनुमोदित कर दिया है जैसे कुरुकुलके ध्वंसको स्वीकार किया।' गान्धारी उन प्रलयके भी अनुमोदककी वाणी सुनकर सिर पकड़ कर बैठ गयी। वे पुरुषोत्तम-माया-मोहसे सर्वथा परे। उन्हें कहीं भय या शोक स्पर्श करता है।

—∞—

बर्बरीकका सिर

मनुष्यके मनकी अद्भुत अवस्था है। कभी-कभी वह इतनी असंगत बातोंमें उलझ जाता है कि परिस्थितिसे उसकी कोई संगति किसी प्रकार बैठाना सम्भव नहीं रह जाता।

वहाँ कुरुक्षेत्रकी युद्ध-भूमिमें चारों ओर शव बिछे पड़े थे और सहस्रों नारियाँ क्रन्दन करती, दौड़ती, मूर्छित होकर बार-बार गिर रही थीं। ऐसे करुण एवं वीभत्स वातावरणमें भी एक चर्चा प्रारम्भ हो गई—'युद्धमें किसने सबसे अधिक पराक्रम प्रकट किया ?'

चर्चा पहिले सेवकोंमें ही प्रारम्भ हुई। जो सेवक शवोंको उठाकर चिताओंपर चढ़ा रहे थे, उनमें ही चर्चा चलने लगी कि अधिक संहार किसने किया ? युद्धमें विजयका श्रेय किसको है।

'इसे भीमसेनकी गदा लगी होगी।' अब गदा किसीकी भी लगी हो ; किन्तु कोई शव गदाघातसे कुचला, फटा पड़ा है तो शव उठानेवाले सेवक उसके संहारका श्रेय भीमसेनको ही देंगे। युद्धमें दूसरे भी गदाका उपयोग करते रहे हैं, यह बात जैसे किसीके ध्यान देने-योग्य ही नहीं रह गई।

'यह गाण्डीव धन्वाके बाणसे विद्ध हुआ।' जहाँ भी शरीरमें बाण लगा हुआ न मिले और यह लगे कि बाणसे मारा गया है, वहाँ मान लिया गया कि यह अर्जुनका पराक्रम है।

युद्धमें बहुत अधिक गजसेना भीमसेनने मारी थी, यह सत्य है ; किन्तु दूसरोंने तथा अर्जुनने भी गजदलपर हाथ ही न उठाया हो, ऐसी बात तो नहीं थी ; किन्तु सेवकोंको भला इधर ध्यान देनेकी क्या आवश्यकता।

भीमसेन भी धनुर्धर थे और अच्छे धनुर्धर थे। उनके धनुषसे कम बाण-वर्षा नहीं हुई ; किन्तु किसीके शरीरमें विद्ध बाण उनका दीख जाय

तभी उसको भीमने मारा, यह माना जाय तो बहुत कम शव ऐसे मिलने ही वाले थे।

दूसरोंपर कम ध्यान गया। सेवकोंमें दो दल हो गये। एक दल विजयका श्रेय भीमसेनको दे रहा था और दूसरा अर्जुनको। वे शव उठाने, समेटनेका काम तो कर ही रहे थे। पाण्डव-पक्षके वीरोंका शरीर चुपचाप उठाते थे; किन्तु कौरव-पक्षके किसीका शव उठाते समय—'यह भीमसेनके सम्मुख पड़ गया था!' अथवा 'इसे भी साहस हो गया था सव्यसाचीके सम्मुख जानेका।' इस प्रकारकी बातें सेवक बोल उठते थे। उच्च स्वरमें ही अपने साथियोंको सुनाते बोलने लगे थे।

ये सब सेवक प्रायः हस्तिनापुरसे आयेथे। कल तक सब दुर्योधनके विनम्र आज्ञापालक थे; किन्तु संसारका यही नियम है कि वह सत्तारूढ़-को स्वामी मानकर उसीकी स्तुति करता है। उसीके सामने सिर झुकाता है। जो सत्ताच्युत हो गया, संसार उसे भूलनेमें दो क्षणकी भी देर नहीं करता। अब इन सेवकोंके लिए कौरव-पक्षमें कहीं कोई स्मरणीय ही नहीं रहा।

ये बिचारे तो क्षुद्र सेवक हैं। बड़े-बड़े विद्वान् और मानधनी भी प्रायः यही करते हैं। अनजानमें ही मनुष्यकी ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है, ऐसा कहना भी अनुचित नहीं होगा।

सेवकोंका यह स्वर बार-बार श्रवणोंमें पड़ते-पड़ते बड़ोंमें भी संस्कार बनने लगा। उनमें किसीने कुछ कहा तो नहीं; किन्तु मन्थन सबके मनमें होने लगा कि युद्धमें विजयका श्रेय सर्वाधिक किसे दिया जाना चाहिये। इसमें दो ही नाम थे—भीमसेन और अर्जुन और दोनोंके मध्य यह निर्णय कर देना सरल नहीं था। क्योंकि अर्जुनने यदि भीष्म और कर्णको मारा था तो दुर्योधन, दुःशासनादि सभी धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भीमसेनने ही समर-शय्या दी थी।

नियम यह है कि सेनामें किसीके भी पौरुषसे विजय प्राप्त हो, सेनापतिकी विजय मानी जाती है; किन्तु पाण्डवपक्षके प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न तो अब जीवित नहीं थे। युद्धकालमें भी प्राधान्य उनका नहीं था। प्रधानता तो भीमसेन तथा अर्जुन की ही रही थी। इन दोनोंमेंसे ही किसी एकने अथवा दोनोंने मिलकर विरोधीके बड़े आक्रमणोंको विफल

किया था और भीष्म, द्रोण, कर्णादिके बनाये विकट व्यूहोंको विध्वस्त किया था।

दूसरों तक ही यह चर्चा-चिन्तन चलकर शान्त हो जाता तो कोई बात नहीं थी; किंतु इसका प्रभाव भीमसेन और अर्जुनके भी मनपर पड़ने लगा है, यह श्रीकृष्णने देख लिया। वे स्वजनोंकी सदा सावधान-सम्हाल रखनेवाले कृपासिन्धु समझ गये कि भले यह अहङ्कारका बीज अभी अल्प दीख रहा हो; किन्तु अवसर मिलने पर अनर्थकारी महातरु बन सकता है। इसमें-से स्पर्धा, द्वेष जैसे विषफल फलेंगे। अतः इसका उन्मूलन ही उत्तम।

श्रीकृष्णने स्वयं सहदेवसे कहा—'ये सेवक बहुत देरसे यह चर्चा कर रहे हैं कि युद्धमें विजयका श्रेय भीमसेन या अर्जुनमें-से किसको है।'

'आपकी क्या सम्मति है?' सहदेवने पूछ लिया।

'इसमें किसीकी सम्मतिकी क्या आवश्यकता है?' श्रीकृष्णने कहा—'सम्पूर्ण युद्धका एक तटस्थ दर्शक है। दूसरे, हम सब युद्धमें व्यस्त रहते थे। हमें कहाँ अवकाश था कि दूसरेके पराक्रमकी ओर उस समय ध्यान देते। अतः हममें-से कोई भी ठीक निर्णय करनेकी स्थितिमें नहीं है; किंतु वह द्रष्टा ठीक निर्णय कर सकता है।'

'कौन है वह?' सहदेवने पूछा। अबतक सब पाण्डव श्रीकृष्णके समीप आ गये थे। सबकी रुचि इस विषयमें जाग गयी थी।

'बर्बरीकका वह मस्तक।' श्रीकृष्णचन्द्रने युद्ध-क्षेत्रसे कुछ दूर ऊँचेपर टंगे सिरकी ओर संकेत किया। अब सबको स्मरण आ गया कि युद्धारम्भमें इस सिरने उनके सामने ही युद्ध देखनेकी इच्छा प्रकट की थी और उसे जीवित रहनेका वरदान देकर श्रीकृष्णने ही अपने हाथों वहाँ टाँगा था।

'हम सब उसके पास चलकर उसीसे पूछ लें।' श्रीकृष्णके यह कहनेपर सब उनके साथ चल पड़े। 'वह भले भीमसेनके पौत्रका मस्तक हो, अब इस अवस्थामें पहुँचकर वह असत्य बोलेगा या पक्षपात करेगा, ऐसी कल्पना ही नहीं की जा सकती थी।'

सब उस मस्तकके समीप पहुँचे तो श्रीकृष्णचन्द्रने ही उससे पूछा—'तुमने युद्ध देख लिया। क्या देखा इस युद्धमें? युद्धमें विजय-प्राप्त करनेका श्रेय तुम किसके पराक्रमको देते हो?'

बहुत विकट अट्टहासका स्वर उस सिरसे गूँजा ; किन्तु शीघ्र वह शान्त हो गया। उसने कहा—'दयामय ! आप यह पूछने तो यहाँ नहीं आये हैं। आप पूछनेका बहाना करके यहाँ अवश्य पधारे हैं ; किन्तु आप इस प्रकार बहाना बनानेमें कैसे निपुण हैं, यह मैं अब समझ गया हूँ। आप तो यहाँ आये हैं मुझे दर्शन देकर मुक्ति-दान करने और कहते हैं कि कुछ पूछने आये हैं।'

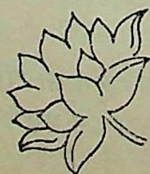
'मैंने युद्ध कहाँ देखा।' दो क्षण मौन रहकर वह मस्तक बोला—'कोई युद्ध हुआ ही कहाँ। एक बालकों-जैसी क्रीड़ा हुई। कुछ लोगोंने मरे लोगोंको मारा और मानने लगे कि वे महापराक्रमी हैं। उन्होंने बहुत वीरता प्रगट की है।'

'मुर्दोंको मारा हम लोगोंने ?' भीमसेनने चिल्लाकर पूछा—तुमने क्या देखा ? अपनी पहेली स्पष्ट करके समझाओ !'

'आप मेरी अवज्ञा क्षमा करें।' मस्तकने नम्रतापूर्वक कहा—'मैंने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्रका सहस्रार चक्र अनवरत चल रहा है। वह दोनों दलोंमें जिसको भी मार देता है, उसी प्राणहीनको आपमें-से या परपक्षमें-से किसीका अस्त्र-शस्त्र लगकर टुकड़े काटता है। देवी द्रौपदी केश खोले खप्पर लिए दौड़ती रहती थीं और चक्र जिसे भी मारता था, उसका रक्त खप्परमें भरती जाती थीं। उनका अद्‌भुत खप्पर अबतक भी अपूर्ण ही है।'

वह मस्तक इतना कहकर सहसा अपने स्थानसे उछला और अदृश्य हो गया। उसे तो अब भगवान मुण्डमालीकी मालामें अपना स्थान लेना था। वहाँ उपस्थित सबके मस्तक झुक गये। सबने श्रीकृष्णको प्रणाम किया। उनका गर्व गलित हो चुका था।

'द्रौपदी महाकाली हैं !' पाण्डवोंने उस दिनसे कभी द्रौपदीको पत्नी नहीं माना और न उनसे सेवा लेनेका साहस किया।



युधिष्ठिरका अनुताप

इसमें सन्देह नहीं कि अर्जुन, युधिष्ठिरकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, श्रद्धालु तथा श्रेष्ठ अधिकारी थे। अकारण श्रीकृष्णने उन्हें सखाके रूपमें नहीं अपनाया था। धर्मकी प्रतिष्ठा धर्मराजमें ही भले हो; किंतु स्वजनोंका वध सम्मुख देखकर जो संताप अर्जुनके मनमें युद्धारम्भमें ही जागा था, वही संताप युधिष्ठिरके मनमें सबकी मृत्युके पश्चात् शवोंकी राशि, सहस्रों जलती चिताएँ तथा लाख-लाख रोती विधवा स्त्रियोंको देखकर जागा।

कुरुक्षेत्रके रणस्थल-श्मशान-स्थान कहना अधिक उपयुक्त है—से लौटकर युधिष्ठिर अत्यन्त व्याकुल हो गये। उस मरण-भूमिमें उन शोकोन्मत्त विधवा महिलाओंसे मिले उपालम्भ-वचनोंने बाणोंके समान उनके मर्मको विद्ध कर डाला था। अब अपने स्वजनोंके संहारके पश्चात् राज्य, सम्पत्ति, सुख किसीमें कोई रस नहीं रह गया था। युधिष्ठिरको शान्ति पानेका एक ही मार्ग उचित लगता था कि वनमें जाकर तप करते हुए शरीरको सुखा दिया जाय। यह प्रायश्चित्त सफल हो या असफल, दूसरा मार्ग दीखता नहीं था।

युधिष्ठिर वनमें चले जायँ तो उनके भाइयोंमें कोई भी नगरमें रहकर राज्य-पालन करनेको प्रस्तुत नहीं था। वे सभी सदासे अग्रजके पदानुगामी रहे थे और युद्धमें परपक्षके संहारमें उनमें किसने कमी रखी थी कि धर्मराजको प्रायश्चित्तकी आवश्यकता है तो उसे नहीं है।

युधिष्ठिर कभी भाइयोंकी स्थितिपर विचार न करनेवालोंमें रहे हैं। उन्होंने सदा अपने सम्बन्धमें, अपने कर्तव्यको लेकर ही सोचा है। अतः इस समय भी उनकी व्याकुलताका आधार अपना अपराध-ज्ञान ही था।

वृद्ध अन्धे धृतराष्ट्र तथा नेत्रोंपर पट्टी बाँधे रहनेवाली महासती गान्धारी—इन दोनोंके सब पुत्र मारे गये। इनको सहारा, सहायताका मिलना आवश्यक है। लाख-लाख अनाथ, विधवायें जो अनाश्रिता हो गयी

हैं, उनका पालन होना चाहिये। देशके अधिकांश राज्योंके राजा, युवा राजकुमार तथा सैनिक मारे जा चुके। वहाँ अव्यवस्था न उत्पन्न हो, प्रजा दस्युओंसे उत्पीड़ित न हो, यह इस समय सबसे बड़ा कर्त्तव्य सिरपर आ गया है, इन सब बातोंकी ओर युधिष्ठिरका ध्यान नहीं था। जैसे युद्धारम्भमें अर्जुन मोहग्रस्त होकर कर्तव्य-विस्मृत हो गया था, अब युधिष्ठिर शोक-संतप्त होकर कर्तव्य भूल बैठे।

देवर्षि नारदने समझाया, अर्जुनने अग्रजके सब कुछ त्यागकर वनमें जानेका विरोध किया। भीमसेन बड़े भाईके वनवासी, मुनि अथवा संन्यासी होनेके कट्टर विरोधी थे। नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीने भी समझाया। अर्जुन तथा भीमने दण्डनीतिका समर्थन किया; किंतु युधिष्ठिर बड़े थे। उन्होंने भीमसेनकी भर्त्सना की। उन्हें फटकार दिया। अर्जुनका समझाना भी प्रभावहीन रहा। भगवान व्यासके उपदेश करनेपर भी जिनका हृदय शान्त नहीं हो रहा था, वे अर्जुनकी बात सुनकर कैसे शान्त हो जाते।

महर्षि व्यासजीने विस्तृत दृष्टान्त देकर युधिष्ठिरको प्रजापालनके लिए प्रोत्साहित किया। लेकिन युधिष्ठिरको एक ही धुन थी—'राज्य और भोग रक्त-सने हैं। पति पुत्रहीना अबलाओंका विलाप मुझे चैन नहीं लेने देता।'

जब अर्जुनने देखा कि भगवान व्यासका प्रयत्न भी असफल हो रहा है, तब उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'माधव! हमारे अग्रज शोक-सागरमें डूबे जा रहे हैं। आप ही अब कर्णधार बननेकी कृपा करें।'

युधिष्ठिरकी श्रीकृष्णमें दृढ़ आस्था थी। वे इन पुरुषोत्तमकी आज्ञा अत्यन्त धर्म-संकटमें भी टाल नहीं सके थे। श्रीकृष्ण उनके समीप जाकर बैठ गये और प्रेमपूर्वक उनका हाथ अपने हाथमें लेकर बोले—'महाराज! शरीरको तथा चित्तको सुखा देनेवाले, बुद्धिको भ्रान्त कर देनेवाले शोकका आप त्याग कर दें। शोक तो धर्म नहीं है। यह तमोगुणका कार्य है और घोर तमसमें ले जानेवाला है। अतः आप सावधान होकर मेरी बात सुनें।'

युधिष्ठिर पहिली बार चौंके। उन्हें लगा कि वे कहीं भूल कर रहे हैं। श्रीकृष्ण कहते गये—'अच्छा या बुरा, पुण्य या पाप जो हो गया, वह अब अनहुआ तो हो नहीं सकता। जो मारे जा चुके, वे आपके शोक करनेसे जीवित नहीं हो जायँगे। आप वनमें जाकर तप करेंगे तो उन मृत लोगों-

की विधवाओं तथा उनके अबोध बालकोंका विलाप बन्द हो जायगा ? उनका कोई हित होगा ? अथवा इस समय बुद्धिको स्थिर करके उन सबके पालन-पोषण-रक्षणकी व्यवस्था अधिक आवश्यक है ?

आप तपस्या करके प्रायश्चित्त करना चाहते हैं, यह विचार बहुत उत्तम है। अपनेसे कोई अपराध हो जाय तो सत्पुरुष उसका परिमार्जन करना ही चाहते हैं; किन्तु अपकर्मके अनुसार उसका प्रायश्चित्त होता है। आपने अपने शरीरके द्वारा युद्धमें बहुत कम भाग लिया और किसीका भी भोग छीनकर सुख नहीं भोगा है। तब शरीरको व्रत करके कृश करनेसे लाभ ? आप वनमें—एकान्तमें जाकर इन विधवाओं, अनाथ बालकोंके व्यंग-बाण तथा तिरस्कारसे बचकर रहेंगे, यह तप होगा अथवा इनके मध्य इनकी उपेक्षा सहते हुए इनके पालन-संरक्षणको सदा सचिन्त रहेंगे, यह तप होगा ? जिनके प्रति अपराध हुआ है, उनके शेष स्वजनोंकी सेवा कर्त्तव्य है अथवा उन सबकी उपेक्षा करके वनमें जाकर समय व्यतीत कर देना।

महाराज ! आप एक सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। सामान्य व्यक्तिके कार्योंका प्रभाव भी उसके स्वजन सम्बन्धियोंपर पड़ता है। आप तो इस समय सम्पूर्ण राज्यके सम्राट हैं। अतः आप केवल अपनेको लेकर क्यों विचार करते हैं ? सम्पूर्ण प्रजाको भी लेकर आप सोचें।'

'हृषीकेश ! मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गयी है।' युधिष्ठिर रो पड़े—'शोकने मुझे दृष्टिहीन बना दिया है। आप परम प्रकाशस्वरूप हैं ! आप मुझे प्रकाश प्रदान करें ! मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

श्रीकृष्णके लिये यह समर्पण पर्याप्त है। उन्होंने युधिष्ठिरको दृष्टान्त देकर समझाया—'युद्धमें शत्रुके शस्त्रोंसे मारे गये शूर उत्तम गति प्राप्त करते हैं, यह आप जानते हैं। अतः उनके सम्बन्धमें कोई चिन्ता आपको नहीं करनी चाहिए। राजा सृञ्जय पूर्वकालमें पुत्रके मरनेसे शोक-संतप्त थे। उन्हें देवर्षि नारदने जो कुछ सुनाया था, उसे आपको मैं सुना रहा हूँ। देवर्षिने राजा सृञ्जयसे कहा था—

'सुख-दुःखसे कोई मुक्त नहीं है। कालने किसीको नहीं छोड़ा। सृञ्जय ! प्राचीन कालमें राजा सुहोत्र अत्यन्त अतिथि-वत्सल थे। उनके राज्यमें इन्द्रने सरिताओंमें स्वर्ण बहाया था और कछुए, केकड़े, मगर, घड़ियाल, मछलियाँ तक स्वर्णकी बना दी थीं, अबतक इन प्राणियोंके सुनहले वंशधर बचे हैं और नदियोंकी रेणुकामें कुछ स्वर्ण मिलता है। राजा सुहोत्रने

वह सब स्वर्ण यज्ञमें दान कर दिया था। वे तथा उनका पुत्र, अर्थ, धर्म काम तथा मोक्षमें भी तुमसे बहुत श्रेष्ठ थे, परन्तु वे भी मर गये।

उशीनरके पुत्र राजा शिविकी बात तुमने सुनी होगी। वैसा उदार दानी भी अजर नहीं हुआ। काल उन्हें भी खा गया।

दुष्यन्तके पुत्र भरतने सहस्र अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञ किये थे। सम्पूर्ण पृथ्वीका वह एकछत्र शासक भी अन्तमें मृत्युसे नहीं बचा।

दूसरोंकी बात तो दूर, मर्यादापुरुषोत्तम दशरथ-नन्दन भगवान राम प्रजाको पुत्रसे भी प्रिय मानते थे। उनके राज्यमें न कोई विधवा थी, न अनाथ-मेघ समयपर वर्षा करते थे। अन्न समयपर पकता था। अकाल, अग्नि, जल, रोग आदिका भय लोग भूल ही गये थे। सबकी आयु स्वस्थ सबल रहते सहस्रों वर्षकी हो गयी थी। विवाद स्त्रियोंमें भी नहीं होता था। प्रजा धर्म तत्पर थी। सब लोग सदा निर्भय, पूर्णकाम, सन्तुष्ट, सत्यवादी तथा सत्कर्ममें लगे रहते थे। वृक्ष सब ऋतुओंमें पुष्प-फलोंसे लदे रहते थे। गायें भरपूर दूध देती थीं। बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ किये उन्होंने। ग्यारह सहस्र वर्ष उन दूर्वादलश्याम, अरुणनयन, आजानुबाहु, नित्यकिशोर, सिंहस्कन्ध श्रीरामने अयोध्याका राज्य किया; किंतु उन्हें भी अन्तमें पृथ्वीको छोड़ना पड़ा।

राजा भगीरथने गङ्गाजीको अपनी पुत्री बनाकर पृथ्वीपर उतारा। यज्ञानुष्ठान करते इतना दान किया कि उसकी गणना ही कठिन है; किंतु वे भी अन्तमें परलोक पधारे।

सृञ्जय! उन राजा दिलीपका भी अब नाम ही सुना जाता है; जिनके महान कर्मोंका ब्राह्मण अब तक वर्णन करते हैं। उनके यज्ञमें देवता प्रत्यक्ष भाग लेने आते थे। यज्ञयूप तथा सब पात्र स्वर्णके थे। उनके यज्ञमें छः सहस्र देवता, गन्धर्व तो नृत्य करते थे। वे सत्यवादी दिलीप जिनके भवनमें वेदध्वनि, धनुषके प्रत्यञ्चाका घोष और याचकोंका कोलाहल कभी विरमित नहीं होता था, स्वर्ग सिधार गये।

राजा मान्धाताका नाम सब जानते हैं। इन्द्रने अपनी तर्जनीसे झरती सुधा पिलाकर उन्हें पाला था। उस महान् पराक्रमीने अङ्गार, मरुत्त-गण, अङ्ग और वृहद्रथ को भी परास्त कर दिया था। सूर्यके उदय होनेसे अस्त होने तककी समस्त पृथ्वी मान्धाताकी थी। सैकड़ों अश्वमेध एवं

राजसूय यज्ञ उन्होंने किये। दस योजन लम्बे और एक योजन ऊँचे स्वर्णके मत्स्य बनवाकर उन्होंने दान किये। ऐसे महान पराक्रमीको भी मृत्युने नहीं छोड़ा।

परम भागवत नाभागके पुत्र राजा अम्बरीषका नाम किसने नहीं सुना होगा। उनके यज्ञमें मूर्धाभिषिक्त नरेश सहर्ष सेवकोंका कार्य करते थे। उस यज्ञमें किंचित सेवा भी जिन्हें मिली, वे भी देवयान मार्गसे हिरण्यगर्भके लोकमें जानेके अधिकारी हो गये। ऐसे महत्पुरुषको भी कालने नहीं छोड़ा।

चित्ररथके पुत्र शशबिन्दुके एक लाख रानियाँ थीं और प्रत्येकके दस-दस पुत्र थे। उन कुमारोंने भी सौ-सौ विवाह किये। अपार दहेज आया पुत्रोंके विवाहमें और वह सब धन राजाने अश्वमेधयज्ञ करके दान कर दिया। इतना काम-भोग, इतना अर्थ और धर्म ; किंतु मृत्युसे वह भी बचा नहीं।

अमूर्तरमके पुत्र राजा गयके ऊपर प्रसन्न होकर अग्निदेवने उन्हें अक्षय धन तथा धर्ममें अविचल श्रद्धाका वरदान दिया था। सहस्र वर्षतक पूर्णिमा, अमावस्या तथा चातुर्मास्यमें गयने अखण्ड यज्ञ तथा दान किया। प्रतिदिन प्रातःकाल वे असंख्य गोदान करते थे। उनके धन-दानकी कोई तुलना नहीं ; किन्तु मरना उनको भी पड़ा।

राजा सगरके साठ सहस्र पुत्र थे। सम्पूर्ण पृथ्वीपर उनका शासन था। समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी उन्होंने खाईके समान खुदवा डाली, इसीसे वह सागर कहलाता है। अपने यज्ञोंमें उन्होंने शुद्ध स्वर्णसे बने सौध दान किये। वे सागर भी मर गये।

वेन-पुत्र आदिराज पृथुने पुत्री बनाया पूरी धरित्रीको। इसीसे यह पृथ्वी कहलाती है। समस्त प्रजाका रञ्जन करनेके कारण वे राजा कहे गये। पृथ्वी बिना जोते, बोये उनके राज्यमें अन्न देती थी। औषधियोंमें रस भरा था। समुद्रके किनारे मोती और पर्वतोंपर ऊपर ही रत्न बिखरे रहते थे। मनुष्य इच्छानुसार घरोंमें या खेतोंमें रहें, उन्हें आतप, वर्षा, वायु कष्ट नहीं देते थे। पृथुके जाते समय नदियाँ बहना बन्द करके मार्ग देती थीं और समुद्रका जल स्थिर होकर उनके रथको जाने देता था। उनके अश्वमेध-यज्ञके अन्तमें साक्षात् श्रीहरि पधारे। कालने उन पृथुको भी पृथ्वीपर कहाँ छोड़ा।'

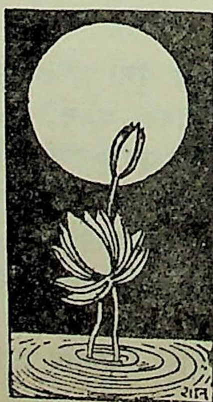
देवर्षि नारदका यह उपदेश सुनाकर श्रीकृष्णने कहा—'राजन् ! आप जिनका भी स्मरण करके शोककर रहे हैं, उनमेंसे भीष्म, द्रोण, कर्णादि कोई इन ऊपर कहे गये लोकोत्तर पुरुषोंकी तुलनाके किसी अंशमें नहीं आते और जब वे ही अमर नहीं रहे तो दूसरे कैसे रह सकते हैं।

आपने कुरुक्षेत्रमें उस बर्बरीकके सिरका कथन सुना है। मनुष्यको केवल काल ही मारता है। युद्धमें जिनका काल आ गया था, वही मारे गये। उनको कोई बचा नहीं सकता था। आप अपनेको निमित्त मानकर व्यर्थ दुःखी हो रहे हैं।

आप अब इस अविचारसे उत्पन्न शोकका त्याग करें। यह तामस भाव किसीका कभो कल्याण नहीं करता। तपस्या उत्तम है ; किंतु वह जब शोक, मोह लोभ, या क्रोधके आवेश-वशकी जाती है तो कर्ताको कुपथमें लगाकर नरकका हेतु बनती है।

आपको यह शोक इस समय कर्तव्यसे पराङ्मुख कर रहा है। अतः आप इसे त्यागकर नगर-प्रवेश करें और राज्यका शासन सम्हालकर पीड़ितोंको संरक्षण दें।'

युधिष्ठिरको आश्वासन प्राप्त हुआ। भगवान व्यासने उन्हें प्रायश्चित्त-विधान बतलाया और भीष्मके समीप जाकर धर्मका रहस्य जाननेको कहा। धर्मराजने शासन सम्हालना स्वीकार किया।



भक्त-भक्तिमान्

धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान व्यास तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी सम्मति स्वीकार की। वे अपने भाइयोंके साथ हस्तिनापुर आये। अतिशय भव्य स्वागत किया प्रजाने उनका।

विधिपूर्वक युधिष्ठिरका हस्तिनापुरके सिंहासनपर अभिषेक हुआ। उन्होंने प्रजाके समक्ष धृतराष्ट्रको पिताका सम्मान दिया और सबके लिए परमादरणीय घोषित किया। भीमसेन युवराज बनाये गये तथा विदुरजी महामन्त्री पदपर प्रतिष्ठित हुए।

सबका सत्कार करके युधिष्ठिरने सबको यथोचित पुरस्कृत किया। धृतराष्ट्रकी अनुमति लेकर भीमसेनको दुर्योधनका भवन, अर्जुनको दुःशासनका सौध, दुर्मर्षणका सदन नकुलको और सहदेवको दुर्मुखका भवन दे दिया। ये सभी राजभवन स्वर्ण-सज्जित, विपुल सम्पत्तिसे भरपूर और सेवक-सेविकाओंके समूहसे युक्त थे। श्रीकृष्णचन्द्र सात्यकिके साथ अर्जुनके भवनमें चले गये।

युधिष्ठिरने धृतराष्ट्र-गान्धारी तथा विदुरकी सेवामें सारा राज्य ही सर्मपित कर दिया था। वे इनके आदेशानुसार ही शासनका सञ्चालन करते थे। धृतराष्ट्रको उनके पुत्रोंने कभी इतना सम्मान नहीं दिया था। वे कठपुतली मात्र रह गये थे; किन्तु अब उनका संकेत भी अनुल्लङ्घनीय हो गया था।

युधिष्ठिर तथा उनके सभी भाइयोंके लिए श्रीकृष्ण सर्वस्व थे। उनकी अनुकम्पासे ही राज्य मिला था और विपत्ति विदा हुई थी। लेकिन वे अच्युत इतने अपने थे कि किसी सम्मान-सत्कारकी औपचारिकताको उसमें स्थान नहीं था।

राज्याभिषेकका महोत्सव समाप्त हुआ। भाइयोंको, प्रधान पुरुषोंको, सेवकोंको, प्रजाको सब प्रकारकी सुविधा देकर, सन्तुष्ट करके महाराज

युधिष्ठिर बहुत रात्रि व्यतीत हो जानेपर निश्चिन्त हो सके और तब अर्जुनके भवनमें भगवान श्रीकृष्णके समीप गये।

वह सुन्दर, सुसज्जित कक्ष रत्नदीपोंसे प्रकाशित था। उसमें रत्नालंकृत स्वर्ण शय्यापर श्रीकृष्ण सीधे शान्त बैठे थे। वह पीताम्बर-परिवेष्टित नवघन-सुन्दर श्रीअङ्ग—उसके प्रत्येक भागसे अपार तेज निःसरित हो रहा था। इतनी शोभा, यह अलौकिक कान्ति—रत्नाभरण-भूषित, कौस्तुभ कण्ठ श्रीकृष्णकी छवि इस प्रकार एकान्तमें शान्त चित्त आज ही देखनेको मिली थी। धन्य-धन्य हो गये धर्मराजके नेत्र। सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो गया। कितनी देर वे हाथ जोड़े द्वारके ही समीप खड़े रह गये, स्वयं उन्हें इसका पता नहीं लगा।

हाथ जोड़े ही धर्मराज समीप आये और कहने लगे—'भगवन्! आपकी कृपासे हमारे सब सङ्कट कट गये! आपने हमें राज्य दिलाया और आपके अनुग्रहसे हम विजयी हुए…।'

अचानक बोलते-बोलते युधिष्ठिर चुप हो गये। श्रीकृष्णके समीप पहुँचकर सभीको सदा एक कठिनाई होती है कि इनका सर्वाङ्ग दर्शन प्रायः नहीं होता। नेत्र इनके जिस अङ्गपर पहुँचते हैं, वहींके होकर रह जाते हैं और तब पता कैसे लगे कि ये सौन्दर्य-सिन्धु कर क्या रहे हैं।

युधिष्ठिर आये थे तो एक दृष्टिमें देख लिया था कि शय्यापर श्रीकृष्णचन्द्र बैठे हैं; किंतु नेत्र उसी समय इनके श्रीचरणोंमें लग गये। वैसे ही हाथ जोड़े धर्मराज समीप आ गये और बोलने—स्तुति करने लगे थे।

अब सहसा चौंक गये। ऐसा तो कभी नहीं हुआ था कि युधिष्ठिरके आनेपर श्रीकृष्ण शय्यापर चुपचाप बैठे रहें। ये तो युधिष्ठिरके आनेपर उठ जाते हैं, अभिवादन करते हैं, आदरपूर्वक आसन देते हैं और बैठाकर तब बैठते हैं। आज क्या बात है? आज बोलते क्यों नहीं। युधिष्ठिरने नेत्र उठाये और देखकर शान्त खड़े रह गये।

अद्‌भुत छवि है। भगवान पुरुषोत्तम सीधे शय्यापर सिद्धासन लगाये बैठे हैं। क्रोड़ीमें विकच कमलके समान करद्वय पड़े हैं। श्रीविग्रह सीधा है। नेत्र बन्द हैं; किंतु उनसे बड़े-बड़े बिन्दु गिर रहे हैं। सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित है और उससे स्वेद-प्रवाह चल पड़ा है।

'ये निखिल ब्रह्माण्ड-नायक ध्यान कर रहे हैं ?' युधिष्ठिर आश्चर्यसे स्तब्ध देखते रह गये। 'भला इन भुवनेश्वरको किसका ध्यान करना है ?'

'पुरुषोत्तम ! सब योगीन्द्र, मुनीन्द्र आपका ध्यान करते हैं।' श्रीकृष्णके शरीरमें कुछ गति आनेपर, उनके नेत्र खोलनेपर युधिष्ठिरने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रार्थना की—'सर्वथा काष्ठ या पाषाण मूर्तिके समान स्थिर, निष्कम्प, पुलक प्रफुल्ल आपका श्रीविग्रह अभी था। आप जगतके आदि कारण, सर्वेश्वरेश्वर किसका ध्यान कर रहे थे ? मैं आपका शरणागत हूँ। आपको शिरसे प्रणाम करके आपके इस ध्यानका रहस्य जाननेकी प्रार्थना करता हूँ।'

श्रीकृष्णचन्द्रने बहुत शिथिल भावसे दो-चार बार पलकें झपकायीं। इस प्रकार क्रोड़ीसे कर उठाये जैसे इसमें भी उन्हें प्रयत्न करना पड़ रहा है। बहुत शिथिल स्वरमें बोले—'शरशय्यापर पड़े भीष्म मेरा ध्यान कर रहे हैं, अत: मेरा मन भी उनमें ही लग गया है।'

अब भीष्मका मनमें स्मरण है, उनकी चर्चा प्रारम्भ हो गयी तो श्रीकृष्णको यह भी स्मरण नहीं रहा कि युधिष्ठिर हाथ जोड़े खड़े हैं। उनको बैठनेके लिए भी कहना चाहिए। भक्तको भगवद्गुणगान में यह तन्मयता भले न प्राप्त हो, इन भोले भगवानको तो भक्तका स्मरण भर आना चाहिए। भक्ति देवी वास्तविक रूपमें तो भगवानमें ही रहती हैं। भगवान भक्ति करते हैं—सच्ची भक्ति अपने भक्तोंकी। भक्तमें तो बड़े भाग्यसे भक्तिका अवतरण कभी हो पाता है।

श्रीकृष्ण भीष्मकी भक्तिमें विभोर बोल रहे—'भगवान परशुरामसे निरन्तर तेईस दिन युद्ध करके भी जो अपराजित रहे, भगवती भागीरथीने जिन्हें गर्भमें धारण किया, सृष्टि-कर्ताके साक्षात् पुत्र ब्रह्मर्षि वशिष्ठसे जिन्होंने साङ्ग सम्पूर्ण वेदोपवेदोंकी शिक्षा प्राप्त की, महर्षि च्यवन तथा शुक्राचार्यसे जिन्होंने यथावत् धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र सीखा, सनत्-कुमार एवं मार्कण्डेयसे जिनको अध्यात्म-विद्या तथा यति-धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ, परशुराम और देवराज इन्द्रके धनुर्वेदके उन शिष्य, आजन्म ब्रह्मचारी, मृत्युजयी, धर्मात्माओंके शिरोमणि, त्रिकालज्ञ भीष्मका मन मुझमें लगा था, अतः मैं भी मनसे उनके समीप पहुँच गया था।'

श्रीकृष्णको इस समय केवल भीष्मकी सुधि थी। उन्होंने कहा—'धर्मराज ! गङ्गातनय भीष्मके साथ धर्मका सूर्य अस्त होने जा रहा है

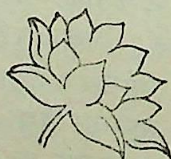
आप चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम करें और आपको धर्म, अर्थ, नीति, अध्यात्म आदिके सम्बन्धमें जो कुछ पूछना हो, उनसे पूछ लें। मैं यह इसलिए कह रहा हूँ कि ऐसा अवसर फिर नहीं आवेगा। भीष्मके समान समस्त पुरुषार्थोंका परमोपदेष्टा संसारमें दूसरा नहीं मिलेगा।'

युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए बोले—'आप जो कुछ कह रहे हैं, पितामह भीष्मके सम्बन्धमें भगवान व्यासने भी मुझसे यही कहा है। अन्य विद्वानोंसे भी मैंने ऐसा ही सुना है। अतः आप यदि मुझपर अनुग्रह करना चाहते हैं तो मेरे साथ चलनेकी कृपा करें। आपको आगे करके ही मैं भाइयोंके साथ पितामहका दर्शन करना चाहता हूँ। सूर्यके उत्तरायण होते ही वे देह-त्याग करेंगे, अतः उनको भी आपका दर्शन होना चाहिये।'

वहाँ शरशय्यापर पड़े भीष्मने अपना मन एकान्त भावसे श्रीकृष्णमें लगा रखा था और वे स्तुति कर रहे थे। उनके आस-पास वेदोंके ज्ञाता, तपस्वी, श्रद्धा-संयम-सम्पन्न ऋषि-मुनियोंका समुदाय एकत्र था। उन संसारके सम्मान्य प्रसिद्धतम महर्षियोंके मध्य पड़े भीष्म स्पष्ट स्वरमें भगवान वासुदेवकी स्तुति कर रहे थे।

भीष्मका स्तवन श्रीकृष्णको उनके समीप पहुँचनेको आतुर बनाये था। वे शय्यासे उठ खड़े हुए—'महाराज! हम सब उन महात्माका दर्शन करने चलेंगे।'

युधिष्ठिरने ही दारुकको श्रीकृष्णका रथ सजानेका आदेश दिया। वे स्वयं दूसरे भाइयोंको लेकर अपने-अपने रथोंपर बैठ गये।



भीष्मपर अनुग्रह

मार्गमें समन्तक-पञ्चक क्षेत्र पड़ा । श्रीकृष्णने उन पाँचों सरोवरोंकी उत्पत्ति, परशुरामका इक्कीस बार पृथ्वीके क्षत्रियों का संहार करके इनको उनके रक्तसे भरनेकी बात बतलायी । युधिष्ठिरके पूछनेपर मार्गमें उन्हें पूरा परशुराम-चरित सुनाया ।

ओघवती नदीके परम पावन तटके समीप भीष्मको शरशय्यापर पड़े दूरसे देखते ही सब रथोंसे उतर गये । समीप आकर पहिले वहाँ बैठे महर्षियोंको प्रणाम किया, फिर भीष्मके चारों ओर बैठ गये ।

श्रीकृष्ण भीष्मके चरणोंके समीप जाकर खड़े हो गये और बोले—'आपका मन स्वस्थ तो है? मनुष्यको द्विविध दुःख होते है, तनका दुःख और मनका दुःख । आपका शरीर तो शरोंसे विद्ध है ही; किंतु मनका दुःख बहुत प्रबल होता है । शरीरके कष्टकी उपेक्षा की जा सकती है, लेकिन मनकी पीड़ा असह्य होती है । वैसे मनुष्य शरीरमें चुभे छोटे-से काँटे-का कष्ट भी कठिनाईसे सह पाता है । अतः जो शरशय्यापर पड़ा है, उसकी पीड़ाका क्या पूछना ; किन्तु आप असाधारण व्यक्ति हैं । शरीरका कष्ट प्रारब्ध-प्राप्त है, इसे समझते हैं । शरीरसे मनको तटस्थ रखनेमें समर्थ हैं । आपका ज्ञान अनन्त है । पूर्ण स्वस्थ, रोगहीन शरीर पाकर सहस्रों स्त्रियोंके मध्य रहते हुए आप ऊर्ध्वरेता रहे हैं । आपके समान सत्यवादी, धर्मात्मा, शूर, पराक्रमी दूसरा त्रिभुवनमें सुना भी नहीं गया । आप स्वभाव-सिद्ध मृत्युको भी रोक देनेमें समर्थ हुए ।

आप समस्त सद्‌गुणोंके स्वरूप, वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्रोंके परम ज्ञाता हैं । अतः आपसे मेरा एक निवेदन है ।'

श्रीकृष्ण अधिक समीप पहुँच गये । उनका स्वर बहुत विनम्र था—'ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर अपने स्वजनोंके विनाशसे बहुत दुःखी हैं । आप जैसे भी हो—इनका शोक दूर कीजिये । आपको समस्त शास्त्रोंमें जो कुछ है, वह रहस्य-सहित ज्ञात है । योग, सांख्य तथा सब वर्णाश्रमोंके व्यवहारके

विषयमें आप पूर्ण परिचित हैं। इतिहास-पुराणोंका पूरा अर्थ आप जानते हैं। संसारमें सन्देहग्रस्त विषयोंका समाधान आपके समान करने वाला दूसरा नहीं है। अतः आप युधिष्ठिरको समझाइये।'

भीष्मने तनिक-सा सिर उठाया। इतना भी उनके लिए बहुत कष्ट-साध्य था। हाथ जोड़कर स्तुति करते बोले—'श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारा ही स्तवन कर रहा था और तुम मुझ असमर्थको दर्शन देने स्वयं उपस्थित हो गये। दयामय ! आपकी अनुकम्पासे जानता हूँ कि सचराचर सम्पूर्ण सृष्टि आपका ही स्वरूप है। इसके स्रष्टा, पालक, संहर्ता आप ही हैं। श्रुति आपका निःश्वास है। सर्वरूप होकर भी आप सबसे परे है। सबके परमाश्रय आप पुरुषोत्तमको मैं प्रणाम करता हूँ।

योगेश्वरेश्वर ! आपने मेरे सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह तो सब आपका ही प्रसाद है। आप अब इस समय तो लीला-नाटच मत करो। मैं आपका शरणागत हूँ, अतः मेरा कल्याण हो, वह आप करो।'

भीष्मके स्तवनसे सुप्रसन्न श्रीकृष्ण बोले—'आपको मेरी पराभक्ति प्राप्त है। आप मेरे दिव्य स्वरूपका दर्शन कर रहे हैं। प्राणीके परम श्रेयकी यह पराकाष्ठा है। अब आपका शरीर केवल छप्पन दिन और रहेगा। आपके इस लोकसे चले जानेपर समस्त ज्ञान लुप्त हो जायगा। अतः आपसे धर्म का विवेचन कराने सब लोग यहाँ आये हैं। आपको युधिष्ठिरको उपदेश करना चाहिए।'

भीष्मने फिर हाथ जोड़ा—'सर्वसमर्थ ! आपकी बड़ी बाहें हैं। आप ही कल्याण-स्वरूप अच्युत हैं। आपकी वाणी सुनकर मैं आनन्दमग्न हो रहा हूँ। कोई देवराजके समीप देवलोकका वर्णन करे—इस प्रकार आपकी उपस्थितिमें मैं उपदेश करनेका साहस करूँ तो उपहासास्पद ही लगूँगा।

मधुसूदन ! मेरा सम्पूर्ण शरीर बाण-विद्ध है। इससे सर्वाङ्गमें अत्यन्त पीड़ा हो रही है। इस वेदनासे मन व्याकुल है। बुद्धि काम नहीं देती। अब मैं कुछ सोचने-कहनेमें समर्थ नहीं हूँ। मेरा बल घटता जा रहा है। जिह्वा बोलनेमें बड़ा कष्ट अनुभव करती है।

आप मुझपर कृपा कीजिये ! आपके सम्मुख उपदेश करते देवगुरु बृहस्पतिको भी लज्जा आवेगी। मैं तो केवल आपकी शक्तिसे ही जीवित हूँ। मुझे अब दिशाओंका ज्ञान भी नहीं रहा। अभी सुन पाता हूँ, अतः यहीं आप युधिष्ठिरको उपदेश करें तो मेरे श्रवण भी आपकी वाणी सुनकर

सार्थक हों। आप शास्त्रोंके भी शास्त्र हैं। धर्मका ठीक-ठीक रहस्य आपके अतिरिक्त किसीको ज्ञात नहीं। आप निखिल गुरुके होते कोई भी शिष्य उपदेश करनेका अधिकारी कैसे हो सकता है।'

ऋषि-मुनियोंको इसमें भी परम प्रसन्नता थी। वे जमकर बैठे थे। भीष्म उपदेश करें या श्रीकृष्ण, शास्त्रोंका रहस्य सुननेका ऐसा सुअवसर पुनः नहीं प्राप्त होना था। उनमेंसे एक भी कहीं हिलने वाला नहीं था।

श्रीकृष्णने कहा—'तात! आप सब विषयोंके ज्ञाता हैं, अतः आपकी बात आपके ही योग्य है। आपने बाणोंके लगनेसे होनेवाली वेदनाकी बाधा ठीक बतलायी है। मैं वरदान देता हूँ—इसे आप अस्वीकार मत करना! अब आपको न वेदना होगी, न दाह। मूर्छा, पीड़ा तथा क्षुधा-पिपासाका कष्ट भी आपको नहीं होगा। आपकी बुद्धि सम्पूर्ण जागृत रहेगी। सब प्रकारके ज्ञान आपके अन्तःकरणमें प्रकाशित रहेंगे। आप जो कुछ कहना-सोचना चाहेंगे, आपकी मेधा कहीं कुण्ठित नहीं होगी। आपका चित्त शुद्ध सत्वगुणमें स्थित रहेगा। रजस-तमसकी छाया भी वहाँ नहीं पड़ेगी। आप बन्धन तथा मोक्षका भी दिव्य दृष्टिसे साक्षात्कार कर सकेंगे।'

श्रीकृष्णके दानकी—उनकी उदारताकी भी कहीं सीमा है। समस्त ऋषि-महर्षि धन्य-धन्य कहकर स्तुति करने लगे। आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी।

प्रातः पाण्डवोंने आज सन्ध्यादि भी समन्तक-पञ्चक क्षेत्रमें स्नान करके किया था और अब सूर्यास्तका समय समीप था। ऋषि-महर्षियोंको सायंकालीन स्नान-सन्ध्या करना था। युधिष्ठिरको सबके आहारकी व्यवस्था करनी थी। सबके साथ अब यह एकाहारका क्रम तो आजसे ही चल पड़ा था।

श्रीकृष्ण-सहित पाण्डवोंने सब महर्षिगणोंको प्रणाम किया। ऋषि-महर्षि कल आनेको कहकर चले गये तो ये लोग भी भीष्मकी अनुमति लेकर अपने रथोंपर आसीन हुए। आज चतुरङ्गिणी सेना और सेवकोंका समूह भी पाण्डवोंके साथ आया था।

दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर श्रीकृष्णने सबसे पहिले सात्यकिको भेजा पता लगाने कि धर्मराज भीष्मके समीप चलनेको प्रस्तुत हुए या नहीं। रात्रि भर भी ये भक्तवत्सल सम्भवतः भीष्मका ही चिन्तन करते रहे होंगे।

धर्मराज युधिष्ठिरने रथोंको सजानेके साथ यह आदेश भी दे दिया—'सेना और सेवक साथ नहीं जायँगे। पितामहके द्वारा उपदिष्ट गूढ़ रहस्यों-को सुननेके अनिच्छुक लोगोंकी भीड़ नहीं जुटाना है। केवल हम लोग चलेंगे।'

सब लोग भीष्मके समीप पहुँचे तो वहाँ ऋषिगण पहिले ही आ चुके थे। उन्हें प्रणाम करके सब बैठ गये। श्रीकृष्णने भीष्मसे पूछा—'आपकी रात्रि सुखसे व्यतीत हुई? आपकी वेदना और व्याकुलता दूर हुई? आपकी स्मृति एवं विवेक अब जागृत हैं?'

भीष्मका कण्ठ भाव-विह्वल हो गया—'वासुदेव! मेरे शरीरकी व्यथा, दाह तथा मनकी व्याकुलता, मोह, थकावट आदि सब आपकी कृपासे कल सायं ही मिट गये थे। अब मैं भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंकी बातोंको स्पष्ट देख रहा हूँ। आपके वरदानके प्रभावसे वेद, वेदाङ्ग, इति-हास-पुराण तथा सभीके धर्मोंका स्वरूप सरहस्य अब मेरे हृदयमें प्रकाशित है। वर्णों, आश्रमोंके धर्म, राजधर्म, कुलधर्म, स्त्री-शूद्रादिके धर्म, जीवकी कर्म-गतियाँ और मोक्षके साधन भी मेरे अन्तःकरणमें उद्भासित हैं। आपके सङ्कल्प करते ही मैं स्वस्थ, सबल तथा बोलनेमें समर्थ हो गया था; किन्तु दाता! यह सब आपकी दयाका प्रसाद है। अतः यह बतलानेकी कृपा करें कि आप अपने श्रीमुखसे युधिष्ठिरको उपदेश क्यों नहीं करते हैं? भीष्मके मुखसे ही यह अपना दिया ज्ञान सुननेका आपका आग्रह क्यों है?'

श्रीकृष्ण बहुत समीप आ गये। अत्यन्त स्नेहपूर्वक बोले—'गङ्गा-नन्दन! यश तथा क्षेमका मूल मैं ही हूँ। सत् तथा असत् सबका मैं ही उपादान हूँ। अतएव मैं तो यशसे परिपूर्ण हूँ ही। अब मेरी इच्छा है कि आपका सुयश बढ़े। जबतक यह पृथ्वी रहेगी, सम्पूर्ण लोकोंमें आपकी अक्षय कीर्ति रहेगी। आपका उपदेश मेरी वाणी श्रुतिके समान ही सम्मान्य होगा। उसका श्रवण तथा पालन करनेवाले उत्तम गति प्राप्त करेंगे।

यहाँ ये महर्षिगण, मुनिमण्डल बैठा है। ये मरनेसे बचे नरेश लोग हैं। आपके समीप ये धर्मकी जिज्ञासा लेकर आये हैं। इन्हें उपदेश कीजिये। आप अवस्थामें सबसे बड़े हैं। शास्त्रोंका आपने परम्परा-प्राप्त रीतिसे अध्ययन किया है। सदाचारका पालन किया है। जन्मसे अबतक आपका जीवन निर्दोष रहा है। आपने ऋषियोंकी दीर्घकाल तक सेवा की है। अतः

आप उपदेश करनेके उचित अधिकारी हैं। चाहे जिसके मुखसे सुना धर्म श्रद्धा उत्पन्न न करनेके कारण सफल नहीं हुआ करता।'

शास्त्रने और सत्पुरुषोंने भी कहा है कि विद्वान पुरुषसे जब कोई विनम्रतापूर्वक पूछे तो उसे उचित अधिकारीको धर्मोपदेश करना चाहिए। अधिकारी व्यक्तिके पूछनेपर भी उपदेश न करनेवालेको बहुत दोष लगता है।

आप बोलनेकी स्थितिमें हैं। जानते हैं और इस समय दूसरा कोई आवश्यक कार्य आपको नहीं है। आपने मौन रहनेका नियम भी नहीं ले रखा है। ये ऋषि-मुनि तथा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ जिज्ञासु बनकर आए हैं। ये उपदेश-श्रवणके अधिकारी हैं। आपमें इनका आदर भाव है। ये अपने सब आवश्यक कार्योंको त्याग कर यहाँ आ बैठे हैं। सब संयमी हैं। सदाचारी हैं। इनपर विश्वास किया जा सकता है कि प्राप्त ज्ञानका सदुपयोग ही करेंगे। अतः आप इन्हें अवश्य उपदेश करें।'

वक्ता कैसा होना चाहिए और श्रोतामें—जिज्ञासुमें क्या विशेषता होनी चाहिए, यह भी श्रीकृष्णने स्पष्ट कर दिया। भीष्मके लिए तो इन ज्ञान-घनकी अनुमति—इनका आदेश ही पर्याप्त था। उपदेश तो इन्हींको करना है। भीष्मके मुखसे ये बोलना चाहते हैं तो इनकी इच्छा पूर्ण हो। इन निखिल नियामकके हाथका यन्त्र बन जानेमें ही तो प्राणीका परम कल्याण है।

शरीर प्राण न रहनेपर बिखर जाता है। इसे अग्निकी आहुति बना दिया जाता है। कुछ थोड़ी अस्थियाँ बचती हैं—वे फूल सुरसरिको समर्पित कर दिये जाते हैं। जो लोग शरीरको समाधि देकर सुरक्षित रखते हैं, वे देहके आधारपर ही कल्पान्त तक आत्माको वहाँ रहनेवाला माननेवाले आसुर परम्परा में आते हैं। वे शरीरका स्मारक बनावें अथवा इसकी स्मृति सुरक्षित करें; किंतु जो श्रुति-शास्त्रमें श्रद्धा रखने वाले हैं, श्रीकृष्णके चरणोंकी जिनके चित्तमें प्रीति है, वे जानते हैं कि शरीरके साथ उसकी स्मृतिका पूर्ण विसर्जन आवश्यक है।

पुनर्जन्म प्राणीका प्राप्य नहीं है। वह जीवका कर्म-बन्धन है। प्राणीका दौर्बल्य है। उसका उच्छेद, उससे परित्राण उद्देश्य है। मनुष्यका परम प्राप्य—चरमोद्देश्य है निर्वाण अर्थात् नाम-रूपका सर्वथा निःशेष हो जाना। व्यक्तित्वका सर्वथा निर्मूलन।

भीष्ममें कहाँ अपने नामका मोह था। रूपका-शरीरका मोह होता तो वे शरशय्या स्वीकार करते ? किन्तु श्रीकृष्णको अपनी सृष्टिके सुमङ्गलकी भी चिन्ता करनी रहती है। ये सर्वेश्वर सभी प्राणियोंके कल्याणके लिए जैसे समय-समयपर स्वयं अवतरित होते हैं, वैसे ही अपने भुवन-पावन भक्तोंका यश-विस्तार भी करते रहते हैं। इनका अपना चरित, अपनी लीलाका स्मरण जहाँ जीवका मङ्गल करता है, इनसे अभिन्न इनके भक्तोंका स्मरण भी जीवको इनके ही प्रति तो समर्पित करता है।

भक्तका सुयश बढ़ाना चाहते हैं ये उत्तमश्लोक, यह स्वाभाविक है। यशेच्छा बन्धन तो तब है, जब वह अपने हृदयमें हो। भीष्म उपदेश करनेके प्रति सर्वथा अनिच्छुक ; किंतु शिशुका शृङ्गार करके जब माताको स्वयं प्रसन्नता प्राप्त करनी है तो उस वात्सल्य-भाजन बच्चेको दयामयी जननीका वह प्रसाद अङ्गीकार ही करना चाहिये।

भीष्म अत्यधिक भाव-विभोर हो गये। कई क्षणों तक वे मौन बने रहे। उनके बाण-विद्ध शरीरमें रोमाञ्च लक्षित नहीं हो सकता था ; किंतु उनके अपलक नेत्रोंका अश्रु-प्रवाह उनके कपोलोंको आर्द्र कर रहा था। श्रीकृष्णने आगे बढ़कर अपने पटुकेसे उनके अश्रु पोंछ दिये। भीष्मको जो सुख मिला, उसका वर्णन वाणी नहीं कर सकती।



भीष्मकी स्तुति

श्रीकृष्णचन्द्रके कहनेपर भीष्मने युधिष्ठिरका सङ्कोच दूर किया कि युद्ध करके उन्होंने अपने कर्तव्यका ही पालन किया है। युद्धमें क्षत्रियको अपने सम्मुख आने वालेपर पूरी शक्तिसे प्रहार करना ही चाहिए। यदि प्रतिपक्षी बुद्धिमान है तो वह इसे वीर-पूजा ही मानता है।

'ये सर्वेश्वर सौन्दर्यघन श्रीकृष्ण' भीष्मने भरित कण्ठसे कहा—'युधिष्ठिर ! तुमने नहीं देखा कि मैं अपने सबसे तीक्ष्ण बाण पूरी शक्तिसे इनके श्रीविग्रहपर ही मारता रहा और ये मेरे आराध्य हैं, इसमें तो दुर्योधनको भी सन्देह नहीं था। संग्राममें शर ही सुमन होते हैं और उनसे ही सम्मुख आये सम्मान्यकी सम्यक् पूजा उचित है। तुमने कोई अपराध या अनुचित

कार्य नहीं किया। जैसे ये मेरे सर्वस्व मेरी उस अर्चासे सुप्रसन्न हैं, मैं भी तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम सङ्कोच मत करो। तुम्हें जो पूछना हो, पूछो।'

युधिष्ठिरने पूछना प्रारम्भ किया और उनके प्रश्नोंका उत्तर भीष्म विस्तारसे, नाना कथा, आख्यान, उदाहरण देकर विस्तारपूर्वक देने लगे। यह क्रम पूरे पचपन दिन चलता रहा। प्रातःकाल स्नान-सन्ध्या करके सब ऋषि-मुनि, पाण्डव तथा श्रीकृष्ण आ जाते थे और सायङ्काल वहाँसे विदा हुआ करते थे।

युधिष्ठिरके प्रश्नोंके उत्तर-क्रममें राजोचित शिष्टाचारके वर्णनसे भीष्मने प्रारम्भ किया। राजाका नीतिपूर्ण व्यवहार, राज्य-शासनके साधन, नीतिशास्त्र, चारों वर्णों एवं आश्रमोंके धर्म, साधारण धर्म, राजधर्म तथा उसमें सभी आश्रमोंके धर्मोंका समावेश, राजाकी आवश्यकता, राजाके प्रधान कर्तव्य, दण्डनीतिका प्राधान्य, राजाके विशेष गुण, राजाके लिए पुरोहितकी आवश्यकता, विविध प्रकारके लोगोंसे राजाके व्यवहारका आदर्श, आपद्धर्म, मित्र-अमित्रके लक्षण, मन्त्रीकी जाँच, सभासदोंके लक्षण, राजाकी व्यवहार-नीति, नगरका आदर्श, राष्ट्र-रक्षा तथा उसकी उन्नतिके उपाय कर लेनेका ढङ्ग, राजधर्म, धर्म-पालनके लाभ, युद्धनीति, युद्धमें हुई हिंसाका प्रायश्चित्त, युद्धमें मरनेवालोंकी गति, सैन्य-सञ्चालन-रीति, योद्धाके लक्षण, विजयके चिह्न, असहाय स्थितिमें पड़े शासकका कर्तव्य, कूटनीति आदि राजधर्मोंका विस्तारपूर्वक भीष्मने पहिले अनेक दृष्टान्त देकर वर्णन किया।

इसके अनन्तर माता-पिता-गुरुकी सेवा, सत्यासत्य-निर्णय दुःखोंसे छूटनेके उपाय, मनुष्य-स्वभावकी पहिचान, शील-निरूपण, शरणागत-रक्षा, लोभके दोष, शिष्ट पुरुषके लक्षण, अज्ञानके दोष, इन्द्रिय-दमन, तप-सत्यकी महिमा, काम-क्रोधके दोष, पाप और उनके प्रायश्चित्त, मित्र-लक्षण आदि धर्मोंका निरूपण हुआ।

कल्याण-कामी पुरुषके कर्तव्य, सुख-दुःखका विवेचन, त्यागकी महिमा, सन्तके आचरण, संसारके मूल तत्त्वोंका प्रसंख्यान, जीवकी नित्यता, आचार-विधि, अध्यात्म-ज्ञान, ध्यानयोग, जपका माहात्म्य, परमात्म-तत्वका निरूपण, आत्मदर्शनके साधनका बहुत गम्भीर निरूपण किया भीष्मने।*

---

* महाभारतका पूरा शान्ति पर्व भीष्मका उपदेश है। वह बहुत रोचक तथा अत्यन्त उपयोगी ज्ञानका समुद्र ही है।

अन्तमें भीष्मने भगवान नारायणसे विश्व की उत्पत्तिका वर्णन करके उन श्रीहरिके वाराह, वामनादि अवतारोंका चरित सुनाया। सदाचारका वर्णन किया। दोषोंसे छूटनेका उपाय, ज्ञान, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, दम, तपका वर्णन करके कालकी महिमा कही। कालका स्वरूप, सृष्टिकी उत्पत्ति, प्रलयका वर्णन किया।

योग, ध्यान, नाना प्रकारकी धारणाएँ, ज्ञान द्वारा मोक्ष, ज्ञानके साधन, कर्म-ज्ञानका अन्तर, बतलाते हुए विस्तारसे मोक्ष-पुरुषार्थके सभी साधनोंका निरूपण किया।

भीष्मके उपदेशमें स्त्रीधर्म, राजधर्म, वर्णाश्रमधर्म, आपद्धर्म तथा विभिन्न परिस्थितियोंमें पड़े सभी लोगोंके धर्मोंका यथावत वर्णन दृष्टान्त-सहित विस्तारसे आ गया। धर्म-पुरुषार्थका कोई अङ्ग छूटा नहीं।

वर्णाश्रमधर्मके निरूपणमें सबके अर्थ एवं कामका वर्णन भी आ गया; क्योंकि सनातन धर्म धर्मानुकूल ही अर्थोपार्जन तथा इन्द्रिय-भोगको श्रेयस्कर मानता है। धर्म पुरुषार्थ ही अर्थ-कामका नियामक है। धर्मको त्यागकर अर्थ एवं कामका अर्जन-उपयोग सर्वथा ही पतनका हेतु माना गया है।

भीष्मजीने प्रवृत्ति-प्रधान तथा निवृत्ति-प्रधान दोनों प्रकारके धर्मोंका पूरा निरूपण किया। निवृत्ति प्रधान धर्मकी श्रेष्ठता स्वीकार की; क्योंकि ब्रह्मज्ञानमें सबका अधिकार है और मोक्ष ही मनुष्यका परम प्राप्य—अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। मोक्ष-धर्मके निरूपणमें संन्यासीके स्वभाव, आचरण, धर्मका विस्तारसे वर्णन किया।

ब्राह्मी स्थितिके वर्णनमें भीष्मने वृत्रासुरकी कथा सुनाई। उसके विपरीत कर्म-प्रवृत्तिमें लगनेसे होनेवाली गतिका वर्णन करते हुए प्रजापति दक्षके यज्ञका ध्वंस सुनाया। मोक्षके विस्तारसे निरूपणमें अनेक तत्त्वज्ञोंके उपदेश उद्धृत किये।

सांख्य, योग, क्षर-अक्षर विवेक, आत्मा-अनात्मा-विवेक, इनका वर्णन हुए बिना तो तत्त्व-ज्ञानका निरूपण ही सम्भव नहीं था। मोक्षके साधनोंका वर्णन करते हुए भगवद्भक्तिका वर्णन किया भीष्मजीने। भगवान नारायण-के स्वरूप, उनके वैकुण्ठ, श्वेत द्वीप आदि धामोंका वर्णन करके अन्तमें श्रीकृष्णकी महिमाका बहुत विस्तारसे वर्णन किया।

यह सब वर्णन करते छप्पनवाँ दिन आया। सूर्य उत्तरायण हुए। स्वेच्छासे शरीर त्यागनेमें समर्थ भीष्मने अब देहत्यागका उपयुक्त अवसर उपस्थित देखकर श्रीकृष्णसे कहा—'कृष्ण! अब आप मेरे समीप, मेरे नेत्रोंके सम्मुख खड़े रहें। मैं आपके सुप्रसन्न श्रीमुख तथा इस चतुर्भुज श्रीविग्रहका दर्शन करते हुए देहत्याग करना चाहता हूँ।'

ऋषि-मुनियोंसे भीष्मने अनुमति ली। युधिष्ठिरको उनके भाइयोंके साथ फिरसे आश्वासन दिया और तब एकाग्र मनसे श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे।

सबको अपना आराध्य रूप ही प्रिय होता है। अन्तिम समय उस आराध्य रूपमें ही चित्तका लगना श्रेयस्कर है। भीष्मके सम्मुख स्वस्थ, सुप्रसन्न श्रीकृष्ण खड़े थे। नेत्रोंसे उनका दर्शन करते हुए भी भीष्मका चित्त श्रीकृष्णके उस रूपमें तन्मय हो गया जो उनका चिन्त्य-आराध्य रूप था। भीष्मकी प्रेम-भरी वाणीका स्पष्ट स्वर गूँजने लगा—*

'भगवन्! अपने सुखके लिए जब आप क्रीड़ा करनेकी इच्छासे प्रकृतिकी ओर देखते है, तब यह संसारका प्रवाह प्रारम्भ होता है। इसमें सात्वत-शिरोमणि होकर अवतीर्ण आप भूमामें समस्त तृष्णाओंको त्यागकर मेरी बुद्धि ऐसी ही लगी रहे।

त्रिभुवनसुन्दर, तमाल-नीलवर्ण, रविरश्मि-उज्ज्वल, ज्योतिर्मय, पीताम्बर-परिधान, अलकोंसे आवृत अब्जानन आप अर्जुनके सखामें मेरी अव्याहत प्रीति बनी रहे।

युद्धभूमिमें अश्वोंके खुरों उड़ी धूलिसे आच्छन्न अलकें जिनके स्वेद-सुशोभित श्रीमुखके चारों ओर छायी हैं, मेरे तीक्ष्ण शरोंसे बराबर भिन्न होते त्वचा वाले, कवचधारी वे श्रीकृष्ण मेरी आत्मा हैं।

अपने सखा अर्जुनकी बात सुनकर अपने और शत्रु-पक्षकी सेनाके मध्य रथ लाकर खड़ा करके जो अपनी आँखोंसे ही शत्रु-सैनिकोंकी आयुका अपहरण कर रहे हैं, उन पार्थ-सखामें मेरी प्रीति अविचल हो।

सम्मुख समुपस्थित सेनाको देखकर स्वजनोंके संहारकी आशंकासे समरमें दोष-दृष्टि करके विमुख होते सखाकी कुबुद्धिका जिन्होंने अध्यात्म-ज्ञानसे अपहरण कर लिया, वे परमपुरुष मेरे रहें।

* श्रीमद्भागवत १।९।३२ से ४२

अपनी मर्यादा मिटाकर, मेरी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिए रथसे कूद-कर चक्र उठाये जैसे सिंह हाथीको मारने दौड़े, वैसे मेरी ओर दौड़ते, उत्तरीय-रहित श्रीकृष्णके वे दौड़ते चरण मेरे चित्तमें स्थिर रहें।

अत्यन्त तीक्ष्ण शराघातसे कवच कट गया था। सम्पूर्ण श्रीविग्रह क्षतोंसे भर गया था। मुझ आततायीको ऐसी अवस्थामें मार देनेको आवेश-में भरे दौड़े आते भगवान मुकुन्द मेरी गति हैं।

विजयके रथके सारथि बने, करोंमें रथ-रश्मि तथा चाबुक लिए वह दर्शनीय शोभा देखते जो भी मारे गये, वे सब इनके स्वरूपको प्राप्त हुए, मुझ मरणासन्नकी भी इन्हींमें प्रीति हो।

इनकी ललित गति, मन्द मुस्कान, प्रणय-भरी दृष्टिसे अत्यन्त सम्मानिता गोपियाँ उन्मत्तके समान इनकी लीलाओंका अनुकरण करती हुई इनमें तन्मय हो गयीं।

समस्त मुनिगण एवं नृप-श्रेष्ठ युधिष्ठिरके राजसूयमें एकत्र थे। उनमें जिन्होंने अग्रपूजा स्वीकार की—वे साक्षात् मेरे नेत्रोंके सम्मुख ये परम दर्शनीय आत्मा उपस्थित हैं।

प्रत्येक नेत्रमें जैसे एक ही सूर्य नेत्राधिष्ठाता है, वैसे ही प्रत्येक देहधारीके हृदयमें अधिष्ठित पृथक-पृथक देही रूपसे प्रतीयमान इन एक ही पुरुषोत्तममें सम्यक् अवस्थिति प्राप्त करके मेरी भेद-दृष्टि-मोह-अविद्या नष्ट हो गयी।'

यह स्तुति समाप्त करके भीष्मकी वाणी शान्त हो गयी। उनका श्वास भला शरीरसे बाहर कहाँ जाता। वे तो सर्वात्मा, सर्वव्यापक श्रीकृष्णमें लीन हो चुके थे। कुछ देर श्रीकृष्ण वैसे ही उनके समीप स्थिर खड़े रहे। जैसे वे भी भीष्ममें समाहित हो रहे हों।

'राजन्! आपके पितामह अब नहीं रहे।' देरमें भीष्मके समीपसे हटने पर श्रीकृष्णने कहा। इसका अनुमान सबने कर लिया था; क्योंकि गगनमें देववाद्य बजने लगे थे और आकाशसे अनवरत भीष्मके शरीर पर सुरोंने सुमनवृष्टि की थी।

युधिष्ठिर अत्यन्त शोक-विह्वल हो गये। उन्हें भगवान व्यासने आश्वासन दिया। श्रीकृष्णने समझाया। ऋषि-मुनिगण श्रीकृष्णकी अनुमति लेकर वहाँसे अपने आश्रमोंको चले गये।

ऐसा जीवन और ऐसा मरण संसारमें सदा दुर्लभ रहेगा, जैसा भीष्मने पाया। श्रीकृष्णने स्वयं अपने करोंसे उनके लिए वहीं परमपुण्य-सलिला ओघवतीके पुलिन पर चिता सजायी और उनके शरीरको अन्तिम स्नान करानेमें पाण्डवोंके साथ सम्मिलित हुए।

भीष्मकी उत्तर क्रिया युधिष्ठिरने सविधि सम्पन्न की ; किन्तु श्रीकृष्णने भीष्मके निमित्त तिलाञ्जलि दी—उन श्रीकृष्णने, जिन्होंने अपने कुलमें किसीको यह सम्मान नहीं दिया। भीष्मके लिए दी गयी वह सत्य सङ्कल्पकी जलाञ्जलि—वह तो सदाके लिए सबके श्राद्ध की विधि बन गयी। किसीका भी श्राद्ध भीष्मको अञ्जलि दिये बिना आज भी पूरा नहीं हुआ करता।



अपने नामोंकी व्याख्या

युधिष्ठिरने जब शासन सम्हाल लिया और राज्यमें सब ओर शान्ति हो गयी ; तब श्रीकृष्ण और अर्जुन हस्तिनापुरसे निकले। वे सुरम्य पर्वतों पर और वनोंमें विचरते, आखेट करते, कुछ दिन शान्तिका समय विनोदमें व्यतीत करके इन्द्रप्रस्थ आ गये। इन्द्रप्रस्थ अब राजधानीसे दूर पाण्डवोंके लिए एकान्तमें सुखपूर्वक रहनेका स्थान हो गया था। अर्जुनके ऊपर वैसे भी शासनका कोई विशेष दायित्व नहीं था। उन्हें सुरक्षाका भार दिया गया था और इस ओरसे अभी कोई आशङ्काका कारण नहीं था। अतः वे श्रीकृष्णके साथ इन्द्रप्रस्थमें निश्चिन्त रह सकते थे।

एक दिन अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा 'गोविन्द ! आप भूत तथा भविष्यके भी स्वामी हो। सम्पूर्ण प्राणियोंका सृजन करनेवाले हो। जगतके आश्रय, सञ्चालक, अभय देनेवाले, अविनाशी हो। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंमें आपके जो नाम गुण-कर्मानुसार आये हैं, महर्षिगण जिनका गान करते हैं, उनकी व्याख्या मैं आपके ही श्रीमुखसे सुनना चाहता हूँ।'

श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन ! श्रुति-इतिहास-पुराणादिमें तथा ज्योतिषादि शास्त्रोंमें महर्षियों द्वारा वर्णित मेरे बहुतसे नाम हैं। गुण-कर्मानुसार मेरे नाम अनन्त हैं। उन सबकी गणना तो मैं भी नहीं कर सकता। उनमेंसे प्रधान-प्रधान नामोंकी व्याख्या मैं तुम्हें सुना रहा हूँ।'

१. **नारायण**—सृष्टिके आदिमें सबसे पहिले नर-पुरुषसे जल उत्पन्न हुआ। अतः जलका एक नाम नार है। उस नार (जल) को अयन बनाकर मैं सोया, अतः मेरा एक नाम नारायण है।

निर्गुण-सगुण स्वरूप विश्वात्मा ही नारायण हैं, मेरे इसी रूपसे सचराचर सृष्टि उत्पन्न हुई है। इन्हींको पुराण पुरुष और विराट् कहते हैं। इन कारणाब्धिशायी नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ, जिससे सृष्टिकर्ता ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआ।

ब्रह्माका एक दिन बीतने पर संसारके प्रलयके लिए आवेशमें आये नारायणके ललाटसे संहारकारी रुद्र प्रकट हुए। इस प्रकार नारायणके प्रसादसे ब्रह्मा और क्रोधसे रुद्रकी उत्पत्ति हुई। ये दोनों नारायणसे अभिन्न उनके स्वरूप ही हैं।

इनमेंसे रुद्रके कपर्दी, जटिल, मृड, श्मशानी, दक्ष-यज्ञध्वंसी आदि अनेक नाम हैं। इन देवदेव महेश्वरकी पूजा करनेसे नारायणकी भी पूजा हो जाती है। सम्पूर्ण जगतकी आत्मा मैं अपने इन आत्मरूप रुद्रका ही पूजन करता हूँ। जो रुद्रको जानता है, वह मुझे जानता है। जो रुद्रका भजन करता है, वह मेरा भजन करता है। रुद्र और नारायण रूपसे एक ही मैं—दो रूप धारण किये हूँ।

अर्जुन! तुम जानते ही हो कि मैंने पुत्र-प्राप्तिके लिए रुद्रकी आराधना की थी क्योंकि उन सदाशिवके अतिरिक्त मुझे वरदान देनेमें दूसरा कोई समर्थ नहीं है।

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि देवता और ऋषि भी मुझ विष्णुकी–नारायणकी ही पूजा करते हैं। सदा सबके लिए सेव्य मैं ही हूँ। मुझ शरणदको छोड़कर मेरे भक्त किसी अन्य देवताका भजन नहीं करते। ब्रह्मा, शिव तथा दूसरे देवताओंके उपासक भी अंतमें मुझे ही प्राप्त करते हैं। सबका एकमात्र आश्रय सनातन परमतत्त्व मैं नारायण ही हूँ।

२. **वासुदेव**—जो आच्छादित करे अथवा निवासभूत हो, उसे वासु कहते हैं। मैं ही सूर्यरूपसे अपनी किरणोंके द्वारा सम्पूर्ण जगतको आच्छादित करता हूँ तथा मुझमें ही सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं, इसलिये मेरा नाम वासुदेव है।

[वसु कहते हैं अन्तःकरणको। उसमें जो दिव्य प्रकाश स्वरूप है, वह अन्तर्यामी वासुदेव है, यह व्याख्या अधिक प्रचलित है।]

३. **विष्णु**—मैं सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति और उत्पत्तिका स्थान हूँ। मैंने पृथ्वी, आकाशको सबको व्याप्त कर रखा है। मैं ही परम प्रकाशक हूँ। समस्त प्राणी अन्तमें मुझे ही पाना चाहते हैं तथा मैं सबको आक्रान्त करके स्थित हूँ। इसलिये मुझे विष्णु कहा जाता है।

४. **दामोदर**—दम-इन्द्रिय-दमनके द्वारा लोग मुझे पाना चाहते हैं, अतः मेरा नाम दामोदर है।

[मैया यशोदाने उदर-पेटमें दाम-रस्सी बाँधकर ऊखलसे बाँध दिया था, इसलिये दामोदर कहलाते हैं, यह व्याख्या व्रजकी है और भक्तोंकी अपनी व्याख्या भी ऐसी ही है—उदर-हृदयमें प्रेमकी रस्सीसे जो बँध जाया करते हैं, वे दामोदर हैं।]

५. **पृश्निगर्भ**—अन्न, वेद, जल और अमृतका नाम है पृश्नि। ये सर्वदा मेरे गर्भमें रहते हैं, अतः मेरा नाम पृश्निगर्भ है।

[देवी पृश्निके गर्भसे अवतरित होनेके कारण पृश्निगर्भ नाम सामयिक है; किन्तु अनन्तके नित्य नाम सामयिक नहीं हो सकते। अतः श्रीकृष्ण उनकी नित्य-व्याख्या बतला रहे हैं।]

६. **केशव**—सूर्य, चन्द्र तथा अग्निकी किरणें मेरे केश हैं। उस केशसे युक्त होनेके कारण मुनिगण मुझे केशव कहते हैं।

[कः–प्रजापति ब्रह्मा, व–विष्णु, ईश–शिव, इन तीनोंका जो स्वरूप है और इनका भी जो प्रशासन-कर्ता है—वह केशव। यह वैष्णवोंकी व्याख्या है।]

७. **हृषीकेश**—सूर्य और चन्द्र मेरे नेत्र हैं। ये दोनों जगतको ताप तथा शीतलता देकर हर्षित करनेके कारण 'हृषी' कहे जाते हैं। ये मेरे केश हैं, अतः मैं हृषीकेश कहलाता हूँ।

[हृषीक–इन्द्रियाँ, इनका ईश–स्वामी हृषीकेश—यह सीधा अर्थ मन तथा जीवका भी बोधक होनेसे भ्रम पैदा करनेवाला हो सकता है।

८. **हरि**—मन्त्रों द्वारा यज्ञमें आह्वान करनेपर मैं अपना भाग हरण करता हूँ तथा मेरे शरीरका वर्ण भी हरित है, इससे हरि कहलाता हूँ।

[जो स्मरण करते ही पापोंका हरण कर ले, वह हरि। यह व्याख्या पुराणोंमें भगवान व्यासने की है।]

९. **ऋतधामा**—प्राणियोंके बलको **धाम** कहते हैं और ऋतका अर्थ है सत्य। मेरा धाम ऋत है, यह समझकर विद्वान मुझे ऋतधामा कहते हैं।

१०. **गोविन्द**—रसातलमें डूबी पृथ्वीका मैंने वाराहावतार लेकर उद्धार किया, अतः गो-पृथ्वीको विन्द-प्राप्त करानेवाला होनेसे मुझे गोविन्द कहा गया।

[गो-गायोंका इन्द्र गोविन्द, यह श्रीमद्भागवतकी व्याख्या है। गो-इन्द्रिय, विन्द-प्राप्त हो—जो इन्द्रियोंसे भी प्राप्त हो—सगुण साकार रूपमें दर्शन दे सके, वह गोविन्द—यह व्याख्या भी है ही।]

११. **शिपिविष्ट**—रोमहीन प्राणीको शिपि कहते हैं। यह निराकार-का उपलक्षण है। विष्टि अर्थात् व्यापक। निराकार रूपसे सर्वव्यापक होनेसे मेरा नाम शिपिविष्ट है।

१२. **अज**—मैंने न कभी पहिले जन्म लिया, न अब लिया, न आगे लूंगा, इसलिए अजन्मा होनेसे मेरा नाम अज है।

अवतार-धारण जन्म नहीं है। यह तो रूपका स्वेच्छानुसार आवि-र्भाव-तिरोभाव है। कर्मपरतन्त्र होकर शरीर-धारण करना ही जन्म है।]

१३. **सत्य**—मैंने कभी असत् शब्द मुखसे नहीं निकाला। सत्यस्वरूपा, मेरी वाणी है। सत्-असत् दोनों मेरे ही भीतर स्थित हैं, इसलिए ऋषिगण मुझे सत्य कहते हैं,

१४. **सात्त्वत**—मैं सदा सत्त्वमें स्थित हूँ। सत्त्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, सात्त्वत ज्ञान-पाञ्चरात्र संहितासे मेरे स्वरूपका बोध होता है, अतः मेरा एक नाम सात्त्वत है।

[सात्त्वत-सत्वगुणी भक्तोंके आराध्य होनेसे भी श्रीकृष्ण सात्त्वत हैं।]

१५. **अच्युत**—सबसे श्रेष्ठ है धर्म और सबका अधिष्ठान है ब्रह्म। उस धर्मसे तथा ब्रह्मसे—अपने स्वरूपसे मैं कभी च्युत न होनेके कारण अच्युत कहलाता हूं।

१६. **अधोक्षज**—अधः पृथ्वी, अक्ष-आकाश, ज-जीतने या धारण करनेवाला। आकाश तथा पृथ्वी दोनोंको धारण करनेके कारण ऋषि मुझे अधोक्षज कहते हैं।

अथवा अ-लय-स्थान, धोक्ष-पालन-स्थान, ज-जन्म-स्थान, उत्पत्ति-स्थिति-लय तीनोंका एकमात्र स्थान होनेसे मुझे अधोक्षज कहते हैं।

[अक्षज-इन्द्रियजन्य ज्ञानके अधः पीछे रहकर जो इन्द्रियोंका प्रकाशक है वह अधोक्षज अंतर्यामी।]

१७. **घृतार्चि**—प्राणियोंका पोषक घृत मेरे स्वरूपभूत अग्निकी ज्वालाको जगानेवाला है, इसलिए मुझे घृतार्चि यज्ञकर्ता कहते हैं।

१८. **त्रिधातु**—आयुर्वेदके विद्वान वात, कफ, पित्त इन धातुओंसे ही प्राणियोंका जीवन मानते हैं। इन तीनोंका आधार होनेसे मुझे त्रिधातु कहते हैं।

१९. **वृषाकपि**—धर्मको वृष कहा जाता है। कपि शब्दका अर्थ है श्रेष्ठ। इसलिए सर्वोत्तम धर्मस्वरूप जानकर प्रजापति कश्यपने मुझे वृषाकपि कहा है।

२०. **अनाद्यमध्यानन्त** —मैं जगत्का साक्षी, सर्वव्यापक एवं शास्ता ईश्वर हूँ। देवता तथा असुर भी मेरे आदि, मध्य तथा अन्तको नहीं जानते। इसलिये मुझे अनादि, अमध्य, अनन्त कहा जाता है।

२१. **शुचिश्रवा**—मैं केवल पवित्र कारण करने योग्य वचनोंको श्रवण करता हूँ। किसीके अपवित्र कर्मोंको सुनता ही नहीं, इसीसे मेरा नाम शुचिश्रवा है।

[इसका पर्याय ही है उत्तमश्लोक अर्थात् जो जीव्के उत्तम कर्मोंको ही आलोकित करता है-देखता है। जीवके कुत्सित कर्मोंपर दृष्टि ही नहीं डालता।]

२२. **एकशृङ्ग** —पूर्वकालमें मैंने एक सींग वाले वाराहका (एक सींग वाले मत्स्यका भी) रूप धारण किया था, अतः मेरा नाम एकशृङ्ग हो गया।

२३. **त्रिककुद**—वाराहावतारमें ही मेरे तीन ककुद (बैलके गर्दनके पश्चात्का ऊँचा भाग) थे।

२४. **विरञ्चि**—सांख्य शास्त्रका विचार करनेवाले जिनको प्रजापति विरञ्चि कहते हैं, वह मैं ही हूँ।

२५. **कपिल**—आदित्य मण्डलमें स्थित ज्योतिर्मय पुरुष, विद्या शक्ति सम्पन्न होनेसे मुझे कपिल कहा गया है।

२६. **हिरण्यगर्भ**—योगीजन जिनकी पूजा करते हैं, श्रुतिमें जिनकी स्तुति है वह (समष्टि-संस्कारका मूल बीज) हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ।

२७. हयग्रीव—वरदाता होनेसे तथा हयशीर्ष रूपमें अवतार लेनेसे मुझे हयग्रीव कहा जाता है।

२८. **धर्मज**—प्राचीनकालमें धर्मके पुत्र रूपमें मैंने अवतार लिए। उस नर-नारायण युग्म रूपसे गन्धमादन पर्वतपर अखण्ड तप किया है मैंने। इस अवतारमें धर्मका पुत्र होनेसे मेरा नाम धर्मज हुआ।'

श्रीकृष्णने अंतमें बतलाया—'इक्कीस सहस्र ऋचाओं वाला ऋग्वेद है। एक सहस्र शाखाओं वाला सामवेद है। यजुर्वेदमें एक सौ एक शाखाएँ हैं। पञ्चकल्पात्मक अथर्ववेद है। इन चारों वेदोंमें मेरा ही गान किया गया है।'

यह सब तो हुआ ; किंतु अपने सुप्रसिद्ध नाम कृष्णकी व्याख्या ही नहीं की आपने। क्योंकि अर्जुनका भी एक नाम कृष्ण है, वे भी शरीरसे श्यामवर्ण हैं इससे उन्होंने भी नहीं पूछा। भगवान व्यास भी श्यामवर्ण हैं, उनका नाम भी कृष्ण है, अतः वे भी मौन रह गये हैं।

कृष् अर्थात् कर्षक अथवा सत्ता और ण अर्थात् निर्वृत्ति-आनन्द। जो आनन्द की सत्ता है, आनन्दघन है वह कृष्ण। जो आकर्षणकी सत्ता है, मूर्तिमान आकर्षण है, वह कृष्ण। इतना तो इसमें आना ही चाहिए था।



अनुगीता

श्रीकृष्ण भक्तवत्सल इतने कि अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें रहते एक दिन बोले—'धनञ्जय! तुम्हारे साथ रहनेपर मुझे निर्जन वनमें भी सुख मिलता है ; फिर यहाँ तो तुम सब भाई हो, बुआजी हैं। तुम्हारा यह सभा-भवन स्वर्गसे भी सुन्दर है। लेकिन विजय! यहाँ आये मुझे बहुत दिन बीत गये। पिताजी, मेरे अग्रज तथा अन्य द्वारिकाके लोगोंको मैंने बहुत दिनोंसे नहीं देखा है, अतः द्वारिका जाना चाहता हूँ।'

सङ्कोच-निधान इतने कि सर्वेश्वर होकर भी सखासे अनुनय करने लगे—'तुम मुझे धर्मराजसे द्वारिका जानेकी आज्ञा दिला दो। मेरी सब

सम्पत्ति और यह शरीर भी धर्मराजकी सेवामें समर्पित है। वे मेरे परम प्रिय तथा माननीय हैं। मेरे प्राणोंपर सङ्कट आ जाय तो भी मैं उनका अप्रिय नहीं कर सकता। द्वारिका जानेकी बात कहकर मैं उनके हृदयको कष्ट नहीं दे सकता। यहाँ अब मेरा रहनेका प्रयोजन पूरा ही हो गया है।'

अर्जुनने बहुत मन मारकर यह प्रस्ताव स्वीकार किया। वे साश्रु नेत्र प्रणाम करके बोले—'पुरुषोत्तम! युद्धारम्भके समय आपने मुझे जो उपदेश किया था, वह अपनी बुद्धि-दोषसे मुझे विस्मृत हो गया। उसे पुनः सुननेकी मनमें बार-बार उत्कण्ठा होती है। आप द्वारिका जानेको कह रहे हैं, अतः मुझे वह सब एक बार फिरसे सुना देनेकी कृपा करें।'

श्रीकृष्ण यह सुनकर प्रसन्न नहीं हुए। उनका स्वर कुछ खिन्न था— 'अर्जुन! मैंने उस समय योगयुक्त होकर परमतत्त्वका वर्णन किया था। उसे पुनः स्मरण कर पाना तथा दुहरा देना सम्भव नहीं है। अतः उस विषयका ज्ञान करानेके लिए मैं दूसरी पद्धतिसे एक प्राचीन सम्वाद सुनाता हूँ।'

श्रद्धा-सहित श्रवण किया गया ज्ञान निष्फल नहीं होता। अर्जुनमें गीता-श्रवणके समय श्रद्धा सम्पूर्ण थी ; किंतु श्रवणको मनन, निदिध्यासन-का समय नहीं मिला। युद्धके घोर कर्तव्यमें व्यस्त हो जानेसे वह उपदिष्ट ज्ञान अवरुद्ध हो गया ; किंतु प्रतिबन्धकी निवृत्ति होनेपर उसका प्रकाश तो स्वतः होनेवाला था। अतः उसे दुहराना आवश्यक नहीं था।

श्रद्धाका अभाव हो, अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे अधिकारी श्रोता न हो, अथवा अपने प्रश्नमें ही आग्रह हो तो श्रुत ज्ञानका ग्रहण नहीं होता। अर्जुनमें श्रद्धा थी और कोई पूर्वाग्रह भी नहीं था ; किन्तु इस समय केवल कुतूहल था, वैराग्यकी प्रबलता-प्रबुद्ध विवेक तथा तीव्रतम जिज्ञासा नहीं थी। अतः उनके अन्तःकरणको प्रेरणा देनेवाले उपदेशकी ही आवश्यकता थी। वे सामान्य सत्सङ्गके इस समय अधिकारी थे। जिस स्थितिमें तत्त्वज्ञ गुरु अत्यन्त अभीप्सु शिष्यको ज्ञानोपदेश करता है, वह अवस्था अर्जनकी नहीं थी। इसलिये श्रीकृष्ण ने कह दिया कि वे उस उपदेशको स्मरण नहीं कर सकेंगे।

श्रीकृष्णने कहा कि प्राचीन समयमें एक धर्मात्मा तपस्वी ब्राह्मण काश्यप किसी सिद्ध ब्रह्मर्षिके पास गये। वे सिद्ध पुरुष जितेन्द्रिय, तत्त्वज्ञ, शास्त्रके ज्ञाता तथा समर्थ थे। अपनी सेवासे काश्यपने उन्हें सन्तुष्ट किया।

सन्तुष्ट होकर वे काश्यपसे बोले—'तात ! मनुष्य शुभ कर्म करके इस लोकमें सुख तथा देवलोकमें उत्तम भोग भोगते हैं। अशुभ कर्मके फलस्वरूप यहाँ दु:ख पाते हैं तथा मरनेपर नरककी यातनाएँ भोगकर पशु-पक्षी, कीट-वनस्पति आदि योनियोंमें जन्म लेते हैं। किसी भी लोकमें प्राणी सदा नहीं रहता। मोह तथा तृष्णावश अशुभ कर्म तथा पुण्य संस्कारोंसे शुभ कर्म करके जन्म-मृत्युके चक्रमें अनादिकालसे पड़ा जीव भटक रहा है।

मैं भी ऐसे ही भटकता रहा हूँ। बार-बार जन्म और बार-बार मृत्युका कष्ट सहा। नाना भोग भोगे, अनेक माताओंका दूध पिया। ऐसा कोई कष्ट और अपमान नहीं जो मैंने न सहे हों। नरक, स्वर्ग सब देखे। सब रोग तथा मानसिक वेदना सही। सहस्र-सहस्र जन्म ऐसे ही बीत गये, तब कहीं सत्सङ्ग मिला और उससे सद्‌बुद्धि आई। समस्त लोक व्यवहार—सबकी अपेक्षा त्यागकर मैंने परमात्माकी शरण ली। तब कहीं यह मायाका भ्रम मिटा। अब यह मेरा अन्तिम जन्म है। तुम अपने कल्याणके लिए अपनी बुद्धिके अनुरूप प्रश्न करो।'

गुरुने संसारकी असारता, क्लेशरूपता बतलाकर इधरसे सर्वथा वृत्ति हटाने तथा भगवत्शरण-ग्रहणको अनिवार्य तो बतला ही दिया। अब शिष्यने पूछा—'जीवका शरीर कैसे छूटता है ? इस दु:खमय संसारसे मुक्त कैसे हों ? अविद्यासे उत्पन्न शरीरका त्यागकर दूसरे शरीरमें जीव कैसे जाता है ? अपने शुभाशुभ कर्म प्राणी कैसे भोगता है ? शरीरके न रहनेपर उसके कर्म कहाँ रहते हैं ?'

गुरुने संक्षिप्त उत्तर दिया—'कर्म शरीर नहीं करता। शरीर तो जड़ है, यन्त्रके समान। शरीरके माध्यमसे मन कर्म कराता है। कर्मोंके संस्कार अन्त:करणमें ही रहते हैं। जब एक देहका प्रारब्ध पूरा होनेको आता है, कालकी प्रेरणासे मनुष्यकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है। वह इन्द्रियोंकी तृप्तिके पीछे दौड़ता है। बुढ़ापेमें देहके असमर्थ होनेपर भी स्वादादिकी लिप्सा बढ़ जानेसे असंयम करता है। युवावस्थासे ही असंयम, अज्ञानके कारण विषम आहार-विहारसे उसमें रोगके कारण एकत्र होते रहते हैं। बुढ़ापेमें ये सब बढ़कर मृत्युके निमित्त बनते हैं।

मनुष्य ऐसे शुभ या अशुभ कर्म करता है कि उनका फल पाञ्च-भौतिक देहमें सुख या दु:ख भोगना सम्भव नहीं होता तो उनके भोगके लिए स्वर्गादि उत्तम लोकोंमें दिव्यदेह पाकर अथवा नरकोंमें यातना-देह पाकर

जाता है। वहाँसे उन कर्मोंका बहुत कुछ क्षय होनेपर पृथ्वीमें वर्षाके माध्यमसे आता है और फिर जलसे कीट, पतङ्ग, वनस्पति अथवा किसी प्राणीके शरीरमें प्रवेश करके जन्म ग्रहण करता है।

जीवके कर्म-संस्कार उसके अन्तःकरणमें इन्द्रियोंके साथ ही रहते हैं। यह सूक्ष्म शरीर जीवके सदा साथ रहता है। जबतक इसके कारण अविद्याकी निवृत्ति न हो, जीवका यह जन्म-मरण छूटता नहीं।

यह मनकी वासना ही पुनर्जन्मका कारण है। जैसे जो वासनाएँ जागृतमें पूरी नहीं हो पातीं, उनको मन स्वप्नका संसार बनाकर पूरी करता है, वैसे ही इस शरीरके द्वारा जो वासनाएँ पूरी नहीं हो पातीं, उनको पूरा करनेके लिए मन दूसरा शरीर धारण करता है।

कर्म शुभ हो या अशुभ—उसका फल कर्ताको भोगना ही पड़ता है। जो धर्मका आश्रय लेकर शुभ कर्ममें लगे रहते हैं, संयम-सदाचारका पालन करते हैं, उन्हें देह त्यागकर दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती। जन्मान्तरमें भी वे सुख प्राप्त करते हैं।

केवल शुद्धान्तःकरण विवेकी पुरुषको इस लोक तथा परलोकके भोगोंसे वैराग्य होता है और तब वह तत्वज्ञ पुरुषकी शरण लेकर आत्माके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान अविद्याको निवृत्त करके उसे जन्म-मरणसे मुक्त कर देता है।

जितेन्द्रिय, मनोनिग्रहमें समर्थ, शान्त, विवेकी पुरुष संसारके मोहको त्यागकर एकान्तमें रहकर अपने मनको परमात्मामें लगाते हैं। ऐसे यम-नियम-सम्पन्न साधक ध्यानयोगके द्वारा समाहित होकर आत्म-साक्षात्कार करते हैं।

शम-दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान-सम्पन्न साधक, विवेक, वैराग्ययुक्त होकर जब आत्मज्ञानी पुरुषसे तत्त्वका श्रवण करता है, तब मननसे उसके मनका सन्देह मिट जाता है और निदिध्यासनसे विक्षेप निवृत्ति हो जानेपर उसकी वृत्तियाँ स्वतः आत्माकार ग्रहण करके शान्त हो जाती हैं।

बिना विवेकके वैराग्य नहीं होता और बिना तीव्रतम वैराग्य तथा सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रहके त्यागके केवल बौद्धिक चिन्तनसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती।

बिना यम-नियमका सम्पूर्ण पालन किये योगमें केवल तपस्या अथवा ध्यानसे निर्विकल्प स्थिति प्राप्त नहीं होती। यम-नियममें जब किञ्चित भी त्रुटि नहीं रहती तो तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान प्राणीके अहङ्कारका नाश करके उसे परमात्मामें स्थित करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और परमात्माकी भक्ति -- संसार-सागरसे पार होनेके उत्सुक सभीके लिए अनिवार्य हैं। जीवनमें इनकी पूरी प्रतिष्ठा हुए बिना कोई साधन पूर्णता नहीं पाता। इनको ठीक-ठीक सदा पालन करते रहनेपर तप, शौच, तितिक्षा, स्वाध्यायमें परिस्थिति-वश हुई कुछ च्युति भी बाधक नहीं होती।

आत्मज्ञानके पथिकको एकाकी, निष्परिग्रह, परिव्रजनशील होना चाहिए। उसे जन-समूहसे पृथक विविक्त देशमें आत्मचिन्तन करना चाहिए। स्थान तथा पदार्थका मोह उसका प्रतिबन्धक बनता है।

योगके साधकको सर्वथा निर्जन, निरुपद्रव स्थानमें ध्यान करना चाहिए। वह पर्यटनशील नहीं हो सकता ; किन्तु उसे अपने मनको सब ओरसे हटाकर बार-बार ध्यानमें ही एकाग्र करना चाहिए।

एक वेदज्ञ, तत्त्वज्ञानी निवृत्ति-निरत गृहस्थ ब्राह्मणकी पतिव्रता, शीलवती पत्नीने पतिसे कहा—'सुना है कि स्त्रियाँ पतिके कर्मानुसार लोकोंको प्राप्त होती हैं। आप तो कर्म त्यागकर चुप बैठे रहते हैं तो मेरी क्या गति होगी ?'

ब्राह्मणने कहा—'देवि ! इसमें सन्देह नहीं कि जिसकी आसक्ति जिसमें होगी, वह उसीके साथ जायगा। अतः जो शुभाशुभ कर्मोंमें लगे लोग हैं, उनमें आसक्ति रखनेवाली स्त्री हो या पुरुष, उन लोगोंको प्राप्त होने वाले शुभ या अशुभ स्थानोंको जायँगे। लेकिन जिसके समस्त कर्म क्षय हो गये हैं, जो त्रिगुणोंसे अतीत है, उस तत्त्वज्ञ पुरुषमें आसक्त होनेवाले की भी वही गति होगी जो उस तत्त्वज्ञानी की। तत्त्वज्ञ तो मुक्त ही है, अतः उसमें आसक्तकी भी मुक्ति निश्चित है।

ये इन्द्रियाँ विषय-सेवन करती हैं तो विषयोंकी इन्द्रियोंमें आहुति ही तो पड़ती है। इन्द्रियाँ स्वयं किसी भोगको नहीं लेतीं, वे मनको भोग देती हैं, अतः इन्द्रियाँ मनमें भोगोंकी आहुति दे रही हैं। यह यज्ञ चल रहा है। इस यज्ञका जो भोक्ता स्वयं नहीं बनता, यज्ञका द्रष्टा रहता है, वही सच्चा याज्ञिक है। वह यज्ञ-पुरुषसे एक हो जाता है।

शरीरकी चेष्टा, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, इन पाँच प्राणोंसे होती है। इनमें प्रधान कौन? यह विवाद व्यर्थ है। प्रजापति ब्रह्माने इन्हें उपदेश किया कि ये सब समान महत्त्वके हैं। इनमेंसे प्राण-अपान, व्यान-समान तथा व्यान-उदान परस्पराश्रित हैं।

देहकी सब क्रियाएँ ये प्राण करते हैं। अन्तर्यामी इनका प्रकाशक है। उसीके लिए इनकी चेष्टा है। वही प्रधान है और वह ब्रह्म है—व्यापक है। सब इन्द्रियाँ, सब वृत्तियाँ उस तक पहुँच नहीं पातीं। वह सबसे परे, सर्वाधार है। उस चिन्मय-चिन्मात्रको जानकर ही यह अविद्याका मोह निवृत्त होता है।

वह आत्मा इस समस्त दृश्यका उपादान होनेपर भी इससे सर्वथा निर्लिप्त है। इसकी निर्लिप्तता समझानेके लिए कृतवीर्यके पुत्र सहस्रबाहु अर्जुनके अपराधसे क्रुद्ध होकर क्षत्रियोंके बार-बार संहारमें लगे परशुरामजी-को आकाशवाणीने रोका और अलर्कका दृष्टान्त दिया—

'महाराज अलर्कने अपने धनुषके बलपर सम्पूर्ण पृथ्वीको जीत लिया; किन्तु उससे शान्ति नहीं मिली तो अपने भीतर अशान्तिका कारण ढूंढ़ने लगे। इन्द्रियाँ तथा मन अशान्ति दे रहे थे; किन्तु इनमेंसे किसी पर उनका बाण काम नहीं कर सकता था। इससे तो वे स्वयं आहत होते। अतः शस्त्र त्यागकर उन्होंने ध्यानके द्वारा मन-इन्द्रियोंका निग्रह किया। इससे उन्होंने इनको जीतकर शान्ति प्राप्त की।'

सत्त्व, रज तथा तम ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। इनमेंसे सत्त्वगुणके हर्ष, प्रीति और आनन्द, रजोगुणके—तृष्णा-क्रोध-अभिनिवेश तथा तमोगुणके श्रम-तन्द्रा-मोह, ये तीन-तीन कार्य हैं। शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, आलस्यहीन पुरुष, शम-दम द्वारा इनका उच्छेद करके त्रिगुणोंपर विजय पाते हैं।

परमभक्त राजा अम्बरीषने जब राज्य सम्हाला तो विचार किया—'मैंने सब दोषोंपर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु अभी सबसे बड़ा दोष तो बचा ही है। वह नष्ट कर देने योग्य है; क्योंकि वैराग्यका वही बाधक है। वही सब नीच कर्म कराता है। वह दोष है लोभ। लोभसे तृष्णा और उससे चिन्ता होती है। लोभ ही नाना अपकर्मोंमें लगाकर देह-बन्धनमें जकड़ता है। अतः लोभका समूलोन्मूलन किये बिना आत्मराज्यपर अधिकार नहीं हो सकता।'

एक बार महाराज जनकने एक अपराधी ब्राह्मणको अपने राज्यसे निकल जानेका दण्ड सुनाया तो ब्राह्मणने उनसे उनके राज्यकी सीमा पूछी।

जनकने सोचकर कहा—'आप ठीक पूछते हैं। पृथ्वीमें कहीं भी मेरा राज्य नहीं है अथवा सर्वत्र मेरा ही राज्य है। अतः आप चाहे जहाँ रहें।'

ब्राह्मणने इसका स्पष्टीकरण चाहा। जनकने कहा—'विचार करने पर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं मिलती, जिसे मैं अपनी कह सकूँ। सब प्रकृतिके गुणोंका निर्माण है और प्रजापतिकी सृष्टि है। लेकिन मैं अपनी नासिकामें पहुँची गन्धको भी अपने लिए नहीं ग्रहण करता, अतः पृथ्वीको मैंने जीत लिया है। यही अवस्था रस, रूप, स्पर्श, शब्द की भी है। अतः मैं जल, अग्नि, वायु, आकाशसे भी अपराजित इनका द्रष्टा, साक्षी हूँ। इसलिए सर्वत्र मेरा ही राज्य है।'

'मैं धर्म हूँ।' उस ब्राह्मणने कहा—'तुम्हारी परीक्षा लेने आया था। तुमने धर्मका तत्त्व ठीक समझा है।' ब्राह्मण यह कहकर अदृश्य हो गया।

उस ब्राह्मणने पत्नीसे कहा—'तुम मुझे देहाभिमानी जानकर ही आक्षेप करती हो; किन्तु मैं तो सर्वस्वरूप हूँ। सम्पूर्ण प्रपञ्च मुझसे ही व्याप्त है। ज्ञान ही मेरा धन है। यह धन शरीरकी क्रियासे नहीं पाया जाता, तुम परलोकके विषयमें चिन्ता मत करो। मेरे साथ अपने तादात्म्यका चिन्तन करो।'

अर्जुनने श्रीकृष्णसे यह सुनकर परमब्रह्मके स्वरूपकी जिज्ञासा की। श्रीकृष्णने गुरु-शिष्यके सम्वादकी परिकल्पना करके गुरुके रूपमें सुनाया—

एक बार प्रजापति दक्ष, शुक, शुक्र, वशिष्ठादि ऋषि जब अपने कर्मों द्वारा प्राप्त मार्गोंमें भटकते-भटकते थक गये तो परम वृद्ध महर्षि अङ्गिराको आगे करके प्रजापति ब्रह्माजीके पास गये और उनसे प्रणाम करके अपने कल्याणका उपाय पूछा।

ब्रह्माजीने कहा—'सम्पूर्ण भूतोंका जन्म सत्यसे हुआ है। ब्रह्म सत्य है। तप सत्य है। मैं प्रजापति सत्य हूँ। अतः सत्यका आश्रय लो।'

उस परम सत्यका प्रतिपादन तो सम्भव नहीं है। मन-वाणी-बुद्धि वहाँ तक पहुँचती नहीं। अतः उसका वर्णन करनेके लिए पहिले उसमें सृष्टिका आरोप करते हैं और फिर उसका अपवाद कर देते हैं। ब्रह्माजीने भी इसी पद्धतिका सहारा लिया।

ब्रह्माजीने तमोगुण, रजोगुण, सत्वगुणके कार्योंका वर्णन किया। ये सब गुण परस्पर मिश्रित रहते हैं और इनमें कभी एकका और कभी दूसरेका

प्राबल्य हो जाता है, यह बतलाकर कहा कि सृष्टिके समस्त कार्य एवं पदार्थ इन गुणोंसे ही बने तथा सञ्चालित हैं। गुण ही गुणोंमें व्यवहार कर रहे हैं, यह जिसकी दृष्टि स्थिर है, वह कहीं संसक्त नहीं होता। वह समत्व-में स्थित ही परम सत्यको समझता है।

प्रजापति ब्रह्माने अहङ्कारसे पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ तथा इनके अधि-देवताओंकी उत्पत्तिका वर्णन किया। धर्मके लक्षण बतलाये। बिषयोंकी अनुभूति कैसे इन्द्रियोंके द्वारा मनमें होती है और क्षेत्रज्ञ इन सबसे विलक्षण है, यह समझाया।

धर्मके वर्णनमें कहा कि सब पदार्थ विकारी, अनित्य, आदि-अन्तवान हैं। ज्ञान ही नित्य है। फिर गृहस्थ-धर्म, वानप्रस्थ धर्म, ब्रह्मचारीके धर्म और संन्यासीके धर्मका बिस्तारपूर्वक बर्णन किया।

यह अध्यारोप किया गया था। धर्मके पालनसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जानेपर—मलकी निवृत्ति होनेपर ही तत्त्व-श्रवण अर्थात् अपवादका अधिकार प्राप्त होता है। प्रजापतिने कहा—'महर्षियो! जिनके मनका मल मिट गया है, वे धर्मात्मा, निर्मल अन्तःकरण पुरुष, तपस्या और ज्ञानके द्वारा परमात्माको प्राप्त करते हैं। जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें परिपूर्ण आत्म-तत्त्वको जान लेता है, वह किसी वस्तुकी कामना नहीं करता, न किसीकी अवहेलना ही करता है। वह न उद्विग्न होता, न शोक करता, न भय करता है। वह ममता और अहङ्कारसे सर्वथा मुक्त हो जाता है।

यह शरीर एक वृक्ष है। अज्ञान इसका मूल है। इन्द्रियाँ कोटर हैं, पञ्चमहाभूत विशाख स्कन्ध हैं, इसमें सङ्कल्परूपी पत्ते निकलते रहते हैं और कर्मरूपी फूल लगते हैं। सुख-दुःख इसके फल हैं। यह प्रवाह रूपसे नित्य बना रहता है। तत्त्वज्ञान-रूपी कुठारसे ही यह कटता है। अतः सत्त्वगुणमें स्थित रहते हुए तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका ही प्रयत्न जीवनकी सफलता है।

श्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त धर्मका अपने अधिकारके अनुसार आचरण करनेवाला पुरुष अन्तःकरणको निर्मल कर पाता है। निर्मल अन्तःकरणमें ही सत्य दृष्टिका उदय होता है। तब व्यक्तिका विवेक जागता है। वह जान पाता है कि समस्त दृश्य विषय है। विषय द्वन्द्वयुक्त तथा विनाशी है। इसका जो जाननेवाला, प्रकाशक है, वह द्वन्द्वातीत, निष्कल, नित्य, निर्विकार,

निर्गुण है। यही क्षेत्रज्ञ पुरुष है। बुद्धिमान पुरुष इस क्षेत्रज्ञको आत्मरूपसे जानकर साधनोंकी ममता भी त्याग देते हैं।

समस्त सृष्टिके कारणरूपमें त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी कल्पनाकी जाती है। उसे प्रधान या अव्यक्त कहते हैं। वह सदसत् भिन्न होनेसे अनिर्वचनीय माया ही है। मायामें आवरण तथा विक्षेप शक्ति होनेसे प्रकृतिकी जब साम्यावस्था विक्षेप शक्ति भङ्ग करती है तो अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। इसका कार्य है अहङ्कार। अहङ्कारसे पञ्चमहाभूतोंको प्रकट करनेवाले गुण उत्पन्न हुए।

प्रकृति केवल कारण रूपा है। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रायें तथा ये कारण कार्य दोनों हैं। लेकिन पञ्चमहाभूत केवल कार्य हैं। इनके परस्पर मिलनेसे सृष्टि बनती है। इनमें विकार होकर कुछ नहीं बनता।

अहङ्कारसे ही बुद्धि मन तथा इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, मन ही इन्द्रियोंका नियामक तथा संचालक है। बुद्धि यदि सबल, सतेज हो तो वह मन पर नियन्त्रण रखती है। दुर्बल बुद्धि मनका समर्थन करने लगती है और मन इन्द्रियोंके पीछे लग जाता है। तब इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर ले जाकर पतनके गर्तमें डाल देती हैं।

अतः इन्द्रियोंका संयम तथा बुद्धिका विवेक परम आवश्यक है। बुद्धिमें विवेक जागृत हो तथा बलपूर्वक इन्द्रियोंको विषयोंसे रोक दिया जाय तो दोनोंके मध्यमें पड़कर मनकी वासनायें मर जाती हैं। वासनायें ही पुनर्जन्मका हेतु हैं अतः वासनाओंके मिट जानेपर निर्मल, विक्षेप-रहित अन्तःकरणमें आत्मतत्त्व प्रकाशित हो जाता है।

'मम' इसे मृत्यु समझो और 'न मम' यह भाव सनातन ब्रह्मपद प्राप्त कराने वाला है। शरीरकी आसक्ति, इसका अभिमान तथा इससे सब सम्बन्धितका ममत्व त्यागकर ब्रह्मपदकी प्राप्ति होती है।

आत्मा नित्य, ज्ञानस्वरूप है। वह सनातन, अक्षर है। उसे जानकर ही मृत्यु-बन्धनसे छुटकारा होता है।' इस प्रकार प्रजापति ब्रह्माने महर्षियोंको उपदेश किया।

श्रीकृष्णने अर्जुनको यह उपदेश करके अन्तमें कहा— सब साधनोंसे जो प्राप्त होता है, वह मनुष्य मेरी शरण होकर मेरे स्मरणसे सहज ही

प्राप्त कर लेता है। मैं अपने शरणागत अनन्य भावसे भजन करनेवालेको सब सङ्कटोंसे बचाता हूँ और समस्त श्रेयकी प्राप्ति कराता हूँ।'

श्रीकृष्णका उपदेश सुनकर अर्जुनने उनके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया। वहाँसे दोनों सखा हस्तिनापुर आये। अर्जुनने ही युधिष्ठिरसे कहा— 'वासुदेव द्वारिका जाना चाहते हैं। उन्हें अब अनुमति देना उचित होगा।'

कौन चाहता है अपने परमप्रियसे वियुक्त होना ; किंतु कर्तव्य तथा प्रारब्धका विधान बहुत निष्ठुर है। बुआ कुन्तीको प्रणाम करके, सब प्रिय-जनोंसे मिलकर श्रीकृष्णचन्द्र सात्यकिके साथ रथमें बैठे।

धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंके साथ तीन योजन तक श्रीकृष्णके साथ उनके ही रथपर बैठे, उनको छत्र, चामरादि लगाये विदा करने गये। हस्तिनापुर जैसे उन अकेलेके न रहनेसे सूना हो गया। वे ही तो जीवनके जीवन, प्राणोंके प्राण हैं। लेकिन वे श्रीद्वारिकाधीश द्वारिका भी तो जाते ही।



कृष्णार्जुन-युद्ध

अर्जुनके परम-मित्र गन्धर्वराज चित्रसेन स्त्रियोंके साथ गङ्गा-जलमें जल-विहार कर रहे थे। प्रमाद पुण्यात्माओंके लिए भी प्रतिषिद्ध है। वह उनके भी पतनका कारण हो जाता है। यह ठीक है कि गन्धर्व देवयोनिके लोग हैं। वे मनुष्य नहीं हैं कि उन्हें पाप-पुण्यका भागी होना पड़े। वे तो भोगयोनिमें हैं और अपने पुण्योंका ही भोग उन्हें भोगना है ; किंतु फिर भी मनुष्य लोकमें आकर उन्हें यहाँकी मर्यादाका मान रखना चाहिए। परम-पावन सुरसरिमें, हिमालयके पवित्र क्षेत्रमें, रात्रिके समय स्त्रियोंके साथ जल-विहार उचित नहीं था। इस अनुचित कर्मने ही चित्रसेनके चित्तमें प्रमाद उत्पन्न किया।

चित्रसेन रात्रिमें जल-विहार करके ब्रह्म-मुहूर्तमें स्त्रियोंके साथ स्वर्ग जाने लगे थे। आकाशमें पहुँचकर बिना नीचेका ध्यान रखे ही उन्होंने पानकी पीक थूक दी। उस समय अरुणोदय हो रहा था। महर्षि गालव गङ्गाजीमें स्नान करके सन्ध्या कर चुके थे और अञ्जलिमें जल लेकर अर्घ्य

देनेको उद्यत थे। वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि सूर्य-बिम्ब क्षितिजसे उठता दीखते ही अर्घ्य अर्पित करें। चित्रसेनकी पीक जाकर महर्षिकी अञ्जलिमें गिरी। महर्षिने चौंककर ऊपर देखा और क्रोधसे उनके नेत्र लाल हो उठे।

महर्षि गालव उस समय भी गन्धर्वराजको शाप दे सकते थे ; किंतु शाप देनेसे अपने तपका नाश होता है। उन्होंने अञ्जलिका जल फेंककर फिर डुबकी लगायी। पवित्र होकर सूर्यको अर्घ्य दिया और वहाँसे आकाश मार्गसे सीधे द्वारिका पहुँचे।

'आपने धर्मकी रक्षा और साधुओंके उद्धारके लिए अवतार लिया है।' गालवने आते ही क्रोध भरे स्वरमें उपालम्भ देना प्रारम्भ किया— 'आपके धरापर रहते ही हम ऋषियोंकी अर्घ्यको उठी अञ्जलिमें थूक दिया जाता है तो आगे कलियुग आनेपर पता नहीं क्या होगा।'

'किसने यह साहस किया है?' श्रीकृष्णकी भौहें टेढ़ी हो गयीं। ललाटपर आकुञ्चन आया। नेत्र अरुण हो उठे—'वह कोई भी हो, कल सूर्यास्तसे पहिले मैं उसे अवश्य मार दूंगा!'

प्रतिज्ञा करके, बहुत विनयपूर्वक श्रीद्वारिकानाथने महर्षि गालवको आसन दिया। उनकी पूजा की। महर्षिको उन्होंने अपने सदनमें ही कलतक रुकनेका आग्रह किया।

देवर्षि नारद आ पहुँचे इतनेमें। उन्होंने भी आते ही पूछा—'आज आपके नित्य प्रसन्न श्रीमुखपर रोषकी रेखाएं क्यों देख रहा हूँ?'

'अब गन्धर्वोंमें भी आसुर भाव आ गया है।' भगवान जनार्दनने देवर्षिको सुना दिया। वैसे वे गन्धर्वराज चित्रसेनको मारनेकी प्रतिज्ञा करके प्रसन्न नहीं थे।

'बहुत अनुचित बात है!' देवर्षि नारदने कह तो दिया ; किन्तु वे भगवानके साक्षात् मन हैं। निरपराध गन्धर्वराजको तनिकसे प्रमादके कारण प्राणदण्ड मिले, यह उन्हें सहन नहीं हुआ। चित्रसेन भगवद्भक्त हैं। श्रीकृष्णके प्रिय सखा अर्जुनके मित्र हैं और देवर्षिके साथ अनेक बार वीणा लेकर श्रीहरिका गुणगान करते तन्मय होते रहे हैं। देवर्षि वैसे भी दयामय हैं और वे भक्ताचार्य ही भक्तोंपर आई विपत्तिको बचानेको सचिन्त नहीं होंगे तो होगा कौन।

'आपने प्रतिज्ञा तो कर ही ली है।' बहुत शिथिल उत्साहहीन स्वरमें नारदजीने कहा। मन ही मन श्रीकृष्णके चरणोंकी ओर देखते बोले—'मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि उस गन्धर्वकी रक्षा न कर सकूँ तो आपका भक्त नहीं। फिर इस वीणाका स्पर्श भी नहीं करूँगा।'

'आज मुझे कुछ शीघ्रता है।' नारदजीने श्रीकृष्णचन्द्रसे विदा ली। वे लीलामय इनको जाते देखते रहे और जब देवर्षि आकाशमें अदृश्य हो गये तब श्रीकृष्णने अपने आप मानो उन्हें वरदान दिया हो, इस प्रकार कहा—'एवमस्तु!'

मनोवेग देवर्षिको गन्धर्वलोक पहुँचनेमें कितनी देर लगनी थी। चित्रसेन उन्हें देखते ही उठे तो देवर्षिने कहा—'पूजा-प्रणाम पीछे। पहिले अपने सिरपर उतरनेको उद्यत कालदण्डका उपाय करो!'

घबड़ाकर चित्रसेनने इधर-उधर और ऊपर देखा। स्मरण आया कि यमराजका दण्ड तो अदृश्य रहता है। अतः बोला—'प्रभो! संयमिनीके स्वामीका तो मैंने कोई अपराध नहीं किया। वे मुझपर क्यों क्रुद्ध हो गये हैं?'

'यमराज नहीं रुष्ट हैं।' देवर्षिने कहा—'रुष्ट हैं महर्षि गालव तुम्हारे प्रमादसे और उनके कारण यमराजकी स्वसाके स्वामी रुष्ट हो गये हैं। श्रीकृष्णने कल सूर्यास्तसे पूर्व तुम्हें मार देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है।'

गन्धर्वराज सिर पकड़कर बैठ गये। उनके नेत्रोंसे अश्रु-प्रवाह चल पड़ा। शरीर काँपने लगा। मुख श्रीहीन पीला पड़ गया।

गन्धर्वराज चित्रसेनकी यह दशा देखकर—देवर्षिका हृदय अत्यन्त दुःखी हो उठा। वे दयालु बोले—'तुम तो अभीसे निष्प्राण हुए जा रहे हो। कलके सूर्यास्तको बहुत समय है। अपनी रक्षाका प्रयत्न करो!'

'मैं क्या प्रयत्न करूँ?' रोते-रोते चित्रसेनने देवर्षिके चरण पकड़ लिये—'जिन चक्रपाणिकी भ्रूभङ्गसे महाकाल भी काँपता है, उनके अपराधीको भला त्रिभुवनमें शरण देनेका साहस कौन करेगा। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली है तो चित्रसेनको अब बचानेवाला कौन है। अब तो आप कृपा करके कुछ ऐसा उपदेश करो कि मेरी मृत्यु तो सुधर जाय।'

'तुम इतने हताश मत हो! तुम्हें शरण प्राप्त हो सकती है—समर्थकी शरण!' देवर्षिने दृढ़ता-पूर्वक कहा—'तुम यदि मेरी बात ठीक प्रकारसे सुनो और उसका पूरा पालन करो तो तुम्हारी प्राण-रक्षामें कोई सन्देह नहीं है।'

'आप अवश्य ऐसा कर सकते हैं दयामय!' चित्रसेनने अधिक दृढ़तासे देवर्षिके चरण पकड़े—'भगवानकी प्रतिज्ञाको भी असफल करनेमें केवल आप जैसे उनके भक्त ही समर्थ हैं। मैं आपकी शरण हूँ दयामय! मेरी रक्षा कीजिये!'

'अच्छी बात!' देवर्षि तो पहिलेसे ही रक्षा करनेको कटिबद्ध आये थे। बोले—'मैं जो कहता हूँ, उसका पालन करो!'

'आज्ञा करें प्रभु!' गन्धर्वने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते कहा—'मैं आपके आदेशका अक्षरशः अवश्य पालन करूँगा।'

'आज अर्धरात्रिमें इन्द्रप्रस्थके पास यमुना-तटपर अकेले चले जाओ!' देवर्षि बोले—'वहीं रुदन-क्रन्दन करते रहो। एक स्त्री आवेगी वहाँ तुम्हारे समीप; किन्तु वह जब तुम्हारी रक्षाका वचन दे दे, तभी अपने रुदनका कारण बतलाना।'

नारदजीने चित्रसेनको बोलनेका भी फिर समय नहीं दिया। वे वहाँसे सीधे इन्द्रप्रस्थके राजसदनमें अर्जुनके अन्तःपुरमें उतरे और पुकारा—'भद्रे!'

'ओह, देवर्षि!' सुभद्रा हड़बड़ाकर उठीं और उलाहना भरे स्वरमें बोलीं—'पर आप मुझे भाभीके नामसे क्यों पुकारते हैं?'

देवर्षि नारदकी सुभद्राजी बचपनसे बहुत वात्सल्य-भाजना हैं। इनसे बालिका थीं तबसे रूठनेका स्वत्व प्राप्त है उन्हें। करोंमें अञ्चल लेकर भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम किया।

'एक ही श्रीकृष्णसे तुम और तुम्हारी भाभी सम्बन्धित हो' आसन-पर बैठते-बैठते हँसकर कहा नारदजीने—'अतः मैं भद्रा और सुभद्राके नामों-का भेद भूल जाता हूँ। वैसे भी इस समय तुम्हारे भैयाके ही स्मरणमें चित्त लगा था।'

'आप तो भैयाके यहाँ ही चक्कर काटते रहते हैं।' सुभद्राजीने उलाहना दिया—'अपनी इस बच्चीको तो पता नहीं कैसे आज स्मरण किया है।'

'तुम्हें एक बहुत पुण्यपर्व बतलाने आया हूँ।' देवर्षि बोले—'पूजा रहने दो, पहिले सुन लो। अन्यथा मैं भूल जाऊँगा। मुझे भागनेकी शीघ्रता सदा रहती है, यह तुम जानती ही हो।'

'कौन-सा पुण्य पर्व ?' सुभद्राने पूछा ।

'वह आज ही आधी रातको है ।' देवर्षिने कहा—'कोई नारी आज आधी रातको यमुना स्नान करके किसी आर्तप्राणीको अभय दान करे तो उसके अतिशय प्रियकी आयु अक्षय हो जायगी ; किन्तु उसके साथ कोई पुरुष नहीं होना चाहिए । योग ऐसे ही हैं और ऐसे योग अत्यन्त दुर्लभ होते हैं ।'

देवर्षि इतना कहकर विदा हो गये । उनका काम हो गया । वे जानते हैं कि सुभद्राके अतिशय प्रिय हैं उसके भाई श्रीकृष्ण । उनका मंगल होता हो तो यह पुण्यप्राणा असम्भवको भी सम्भव बना छोड़ेगी ।

'मैं अकेली कैसे जाऊँगी ?' सुभद्राने केवल मुखमें ही कहा था ।

'मैं साथ चलूँगा ।' देवर्षि जाते-जाते कह गये—'मैं तो मनुष्य नहीं हूँ । अतः मेरी उपस्थिति किसी मानव-पुरुषकी उपस्थिति नहीं होती ।'

देवर्षि जैसे समर्थ साथ हों तो किसीको, कहीं भी, कभी भी जानेमें भला क्या हिचक हो सकती है । वह दिन सुभद्राने सायङ्कालकी प्रतीक्षामें बिताया और रात्रिका पूर्वार्ध अर्धरात्रिकी प्रतीक्षामें । देवर्षि समयपर आ गये । सुभद्राने केवल एक दासी साथ लिया और यमुना-स्नानको चल पड़ीं ।

गन्धर्वराज चित्रसेनको कहाँ चैन । जिसे मृत्युदण्ड सुनाया जा चुका हो, उसकी दशा क्या होगी । उन्हें तो अपने प्राण बचनेका कोई भरोसा नहीं था । देवर्षिका निर्दिष्ट उपाय भी उन्हें तिनकेका सहारा ही दीखता था । श्रीकृष्णचन्द्रके कोपसे कोई स्त्री बचा लेगी, यह बात उन्हें किञ्चित भी भरोसा नहीं देती थी ; किंतु दूसरा तो कोई उपाय नहीं था । वे अर्ध-रात्रिसे पहिले ही आ गये इन्द्रप्रस्थ और यमुना-तटपर बैठ गये । फूट-फूटकर रोनेके अतिरिक्त और अब उन्हें सूझना क्या था ।

सुभद्राकी भी एक समस्या थी । वे उधेड़बुनमें थीं कि अर्धरात्रिमें यमुना तटपर वे आर्तप्राणी कहाँ पावेंगी कि उसे अभयदान देंगी । उन्होंने सोचा था कि सर्वज्ञ देवर्षि साथ हैं ही । स्नान करके इन्हींसे पूछेंगी कि कहाँ कौन आर्त है और इनके द्वारा ही उसे अभयदानका आश्वासन दे देंगी । यमुना तटपर पहुँचते ही जब किसीका रुदन सुनाई पड़ा तो सुभद्राको प्रसन्नता ही हुई । उन्होंने शीघ्रतापूर्वक स्नान किया और वस्त्र बदले कि वह दुःखी कहीं चला न जाय ।

'कौन हो तुम ? क्यों रो रहे हो ? क्या दुःख है तुम्हें ?' उन महिमामयीने स्नानसे निवृत्त होकर रोते-बिलखते गन्धर्वको शीघ्र ढूंढ़ लिया। उसके सम्मुख खड़ी होकर वे साम्राज्ञीके गौरवके अनुरूप बोलीं।

'मैं सृष्टिका सबसे अभागा प्राणी।' गन्धर्वराज अत्यधिक व्याकुल होकर फूट पड़े—'क्या लाभ अपनी विपत्ति किसीको सुनानेसे, जब कोई उसे दूर करनेवाला ही नहीं है।'

'कोई दूर करनेवाला नहीं क्यों है ! क्या है तुम्हारी विपत्ति ?' सुभद्राने साग्रह पूछा।

'नहीं देवि' गन्धर्वका रुदन बढ़ता जा रहा था। पृथ्वीमें सिर पटककर वह बोला—'मुझ भयातुरका भय कोई दूर नहीं कर सकता।'

'मैं दूर कर दूंगी तुम्हारा भय।' सुभद्राका स्वर उत्तेजित हो गया—'गाण्डीवधन्वाकी अर्धाङ्गिनी और श्रीकृष्णकी स्वसा सुभद्रा तुम्हें अभय देती है। ऐसा क्या भय है तुम्हें !'

'देवि ! सचमुच आप मुझे अभय देनेका वचन देती हैं ?' अब चित्रसेनको भी भरोसा हो गया। वह हाथ जोड़कर, घुटनोंके बल बैठकर बोला।

'मैंने वचन दिया है।' सुभद्राने कहा—'दो बार मुझे कहनेकी आवश्यकता नहीं होती। तुम अपनी विपत्ति बतलाओ।'

'आपके उन चक्रपाणि अग्रजने ही मुझे कल सूर्यास्तसे पहिले मार देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है।' जब गन्धर्वराजने यह कहा तो किसीको उस अन्धकारमें नहीं दीखा कि सुभद्राका मुख भी पीला पड़ गया। उनके नेत्र भी भर आये। चित्रसेनसे पूरी बात सुनकर अपनेको स्थिर करके वे बोलीं—'तुमको मैंने वचन दिया है। तुम निर्भय जा सकते हो।'

चित्रसेन उनकी पद-रज मस्तकपर लगाकर चला गया। सुभद्रा पतिसे पूछकर ही आई थीं। लौटकर अर्जुनके समीप पहुँचीं तो उनका अश्रुसिक्त मुख देखकर धनञ्जयने कारण पूछा। रोते-रोते सुभद्राने सब सुना दिया। सुनकर गाण्डीवधन्वा अत्यन्त गम्भीर हो गये। उन्होंने कह दिया—'तुमने प्रतिज्ञा कर ली है तो वह मेरी ही प्रतिज्ञा है। मैं चित्रसेनकी कल प्राण देकर भी रक्षा करूँगा।'

देवर्षि नारद द्वारिका दौड़े। उन्होंने सन्ध्यासे निवृत्त होते ही श्रीकृष्णको समाचार दिया—'गन्धर्वराज चित्रसेनको सुभद्राने अभय दे दिया है। अर्जुनने उसकी रक्षाकी प्रतिज्ञा करके उसे अपने यहाँ बुलाकर आश्रय दे दिया है।'

श्रीकृष्ण जानते ही थे कि यह सब किसकी योजना है; किन्तु देवर्षिसे कहा—'आप मेरी ओरसे जाकर युधिष्ठिरसे कहें कि अर्जुनको वे इस बचपनेसे रोकें। मैंने एक ऋषिके सम्मुख प्रतिज्ञा की है। इस अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिए मुझे कोई बहुत ही अप्रिय कार्य करना पड़ा तो वह भी मैं करूँगा।'

देवर्षि हस्तिनापुर पहुँचे। श्रीकृष्णका सन्देश सुनकर युधिष्ठिर तो चकित रह गये। अर्जुनको उन्होंने बुलवा लिया। युधिष्ठिरने, दूसरे भाइयोंने तथा धृतराष्ट्र-गान्धारीने भी अर्जुनको समझाया। केवल विदुरजी मौन बने रहे। उन्होंने कुछ भी कहना उचित नहीं माना।

अर्जुनका उत्तर था—'श्रीकृष्ण ही मेरे बल हैं। वे ही मेरी आत्मा हैं। वे मेरे सर्वस्व हैं। मुझे केवल उन्हींका आश्रय है। लेकिन मार देनेकी अपेक्षा रक्षा करनेका प्रण महान है। मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूंगा। वे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ सकते हैं।'

जिस अभयदानसे भैयाकी आयु अक्षय होती है, वह अभयदान भङ्ग करनेको सुभद्रा भला कैसे मान लें और वे न मानें तो अर्जुन मान ही कैसे सकते हैं। कोई भी अर्जुनको भला श्रीकृष्णकी महिमा क्या समझावेगा। यह दो अत्यन्त प्रिय सखाओंका विवाद-दूसरोंको तो इसमें तटस्थ ही रहना था।

देवर्षि नारदने जाकर द्वारिका यह समाचार भी दे दिया कि अर्जुन किसी प्रकार माननेवाले नहीं हैं। वे कहते हैं—'गन्धर्वराजको जो दण्ड देना है, वह श्रीकृष्ण मुझे दे दें। मैं सहर्ष उसे स्वीकार कर लूंगा।'

इस विवादमें श्रीकृष्ण किसीको भी द्वारिकासे साथ नहीं ले सकते थे। अर्जुनके पक्षमें भी कोई श्रीकृष्णके विरुद्ध खड़ा होनेवाला नहीं था। द्वारिकासे दारुकने रथ सजाया तो अकेले श्रीकृष्ण उसपर बैठे। इन्द्रप्रस्थसे भी अकेले अर्जुन निकले अपने रथपर। सभी पाण्डव और दूसरे लोग तो इस युद्धके द्रष्टा थे ही, स्वयं सुभद्रा गन्धर्वराज चित्रसेनको लेकर वहाँ ऐसे आ गयीं जैसे माता अपने पुत्रकी रक्षा करने आई हो। देवर्षि नारद तथा

महर्षि गालव भी आये थे। गगनमें सभी दिव्य महर्षिगण इस युद्धको देखने आ गये।

शारङ्गधन्वा और गाण्डीवधन्वाका, नारायणका नरके साथ यह अद्भुत युद्ध। साधारण शर और शस्त्रोंका भला यहाँ क्या काम। पाञ्चजन्य और देवदत्त शंखोंकी ध्वनि समाप्त हुई तो अर्जुनने पाँच बाण मारकर श्रीकृष्णके चरणोंमें अभिवादन किया। सखाको ऐसा ही उत्तर देकर श्रीकृष्ण दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करने लगे। ऐसे दिव्यास्त्र जिनका लोगोंने नाम तक कठिनतासे सुने थे ; किन्तु अव्यग्र अर्जुन अपने दिव्यास्त्रोंसे उन्हें शान्त करते चले गये।

जैसे अलौकिक अमित महिमावाले दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन चल रहा हो। महाभारतके पूरे युद्धमें भी दोनों पक्षोंने मिलकर इतने दिव्यास्त्रोंका उपयोग नहीं किया था। युद्ध कुछ ही देरमें अपने चरम बिन्दुपर जा पहुँचा जब श्रीकृष्णने झल्लाकर चक्र उठा लिया। अर्जुनने केवल मस्तक झुकाया और उनके धनुषपर भगवान पुरारिका अमोघास्त्र पाशुपत पहुँच गया।

सहसा महर्षियोंका समूह गगनसे धरापर दोनों रथोंके मध्य उतर आया। भगवान शङ्कर प्रगट हो गये। उन्होंने दोनों अमोघास्त्रोंको हाथ उठाकर शान्त कर दिया। ऋषियोंने पुकारा—'पार्थ! पाशुपत धनुषसे उतार लो। अभी प्रलयका समय नहीं आया है। यह त्रिभुवनको भस्म कर देगा।'

अर्जुनने मस्तक झुकाकर कहा—'भगवन्! मैं प्रहार नहीं कर रहा हूँ। केवल प्रयुक्त होनेवाले अमोघास्त्रका प्रतिकार कर रहा हूँ।'

बात सच थी। आप कोई भी हों; किन्तु किसीको आप अपनी प्राण-रक्षाका प्रयत्न करनेसे रोक कैसे सकते हैं?

महर्षियोंने श्रीकृष्णकी स्तुति की। भगवान महेश्वरने कहा—'यह क्या लीला है लीलामय? आप तो सदासे भक्त-व्रत-रक्षक रहे हैं। आपको कबसे अपनी प्रतिज्ञा प्रिय हो गयी? भीष्मके लिए भी तो आपने अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग की थी। अर्जुनकी प्रतिज्ञाकी रक्षा कीजिये! यह आपका चक्र अर्जुनपर चल सकेगा? चक्र चिन्मय है और वह भक्त भयहारी है, यह मर्यादा मिटा देनेसे प्रतिज्ञा छोड़ देना अधिक उत्तम है भक्तवत्सल!'

भगवान शङ्कर इतना कहकर अदृश्य हो गये । चक्रमें तो आरम्भसे ही ज्वाला नहीं उठी थी । वह केवल श्रीकृष्णकी तर्जनीमें घूम रहा था । इसी समय सुभद्रा आगे आ गयीं—'भैया ! चित्रसेनको मैंने शरण दी है । बहिनने जिसे शरण दी है, उसे तुम अपनाओगे नहीं ?'

श्रीकृष्ण रथसे कूद पड़े और अर्जुन भी कूदे धनुष रखकर । अपने पदोंमें प्रणत होते पार्थको उन पुरुषोत्तमने भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया । सखासे पृथक हुए तो सुभद्राके संकेतपर चित्रसेन आकर चरणोंपर गिर पड़ा । श्रीकृष्णका अभय कर उसके मस्तकपर पहुँचा—'तुम्हारा मङ्गल हो ।'

'मेरे अपमानका कोई महत्त्व नहीं ?' महर्षि गालव यह सब देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे । उन्होंने कमण्डलुसे जल लिया अपने हाथमें शाप देनेके लिए और बोले—'मैं तुम सबको देख लूँगा ।'

कोई भी महर्षिसे कुछ कहे, इससे पहिले ही सुभद्राके नेत्रोंमें अद्भुत ज्योति जागी । वे सरोष बोलीं—'ब्राह्मणोंका भूषण क्षमा है । तपस्वीको अहङ्कार शोभा नहीं देता । आप निश्चय ही महान् तपः तेज रखते हैं ; किंतु मैं यदि पतिव्रता हूँ और सच्चे मनसे श्रीकृष्णकी अनुगता हूँ तो यह शापका जल आपके हाथसे पृथ्वीपर कभी नहीं गिरेगा । यह आपके हाथपर ही सूख जायगा ।'

अत्यन्त तप्त तवेपर पड़ी पानीकी बूंदके समान गालवके हाथका जल सूख गया और उनका वह हाथ मानों बहुत अधिक जल गया हो, इस प्रकार काला पड़ गया । गालवने अपने हाथकी ओर देखा और फिर सुभद्राकी ओर दृष्टि की तो काँपने लगे । ओह ! उन्होंने यह किसका अपराध कर लिया है ? उनके सम्मुख ये महाशक्ति अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विधात्री संरोष खड़ी हैं ?

'अम्ब क्षमा !' गालव सुभद्राके चरणोंपर गिर पड़े । सङ्कोचपूर्वक सुभद्राने उनसे क्षमा माँगी । सब लोग वहाँसे इन्द्रप्रस्थ पहुँचे और श्रीकृष्ण कुछ दिन रुककर, अर्जुन तथा युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर बहिन सुभद्राके साथ द्वारिका जानेको विदा हुए । युधिष्ठिरने तथा अन्य भाइयोंने बार-बार अर्जुनकी धृष्टताके लिए क्षमा माँगी ; किन्तु श्रीकृष्णने तो अर्जनकी प्रशंसा ही की ।

परीक्षितको पुनर्जीवन

युधिष्ठिर अत्यन्त धर्मनिष्ठ थे। अतः उनका हृदय इस व्यथासे बहुत व्याकुल रहता था कि उनके कारण युद्ध हुआ और इतना अधिक नर-संहार हुआ। श्रीकृष्ण और भीष्मके समझानेपर भी उन्हें सन्तोष नहीं हो रहा था। भगवान व्यासने भी बार-बार समझाया। अन्तमें कहा—'युधि-ष्ठिर ! यदि अब भी तुम्हारा हृदय सन्तुष्ट नहीं होता है तो जो मारे जा चुके, उनको जीवित तो किया नहीं जा सकता। शास्त्रोंने सभी अपकर्मोंका प्रायश्चित्त बतलाया है। युद्धके महानाशका प्रायश्चित्त अश्वमेध यज्ञ है। इन्द्रने वृत्रवधके प्रायश्चित्तमें यही किया था। तुम्हारे पूर्वपुरुषोंने भी यही किया है। अतः तुम भी यही करो।'

धर्मपुरुषार्थीकी आस्था अपने कर्ममें होती है। धर्मराज युधिष्ठिरको यह उपाय उपयुक्त लगा ; किंतु इससे वे अधिक खिन्न होकर बोले—'भगवन् ! आपका बताया मार्ग निश्चय कल्याणकारी है ; परंतु अश्वमेध यज्ञके लिए बहुत धन चाहिए। मैं इस समय कङ्गाल हो रहा हूँ। वनसे लौटनेपर हमारे पास तो सम्पत्ति थी ही नहीं। दुर्योधनने हमारा सब धन द्यूतमें ले लिया था, और भी बहुत अधिक सम्पत्ति उसने एकत्र की थी ; किंतु युद्ध बहुत अधिक व्यय कराता है। वह सब धन युद्धमें व्यय हो गया। बहुत-सा नष्ट हो गया।

लाख-लाख नारियाँ इस महासंहारमें विधवा हुईं। असंख्य बच्चे अनाथ हो गये। अब इन सबके पालन-पोषण-संरक्षणका भार राज्यपर आ पड़ा है। उन्हें उनके स्वजनोंका अभाव तो है ही। अब यदि आर्थिक असुविधा भी हो तो उनका कष्ट बहुत बढ़ जायगा। अतः उनकी सुख-सुविधा की पूर्ति हमारा प्रथम कर्तव्य हो गया।

'युद्धमें अभिमन्युसे भी छोटी वय तकके कुमार आ गये थे। अब जो राज्योंके सिंहासनोंपर हैं, वे अनुभव हीन अबोध बालक हैं। उनके मन्त्री, विधवा माताएँ अथवा अत्यन्त वृद्ध सम्बन्धी ही उनकी सहायता शासनमें

कर रहे हैं। ऐसे बालक शासकोंसे कर माँगना नितान्त निष्ठुर कार्य है। उन्हें तो सहायता तथा संरक्षण हमसे मिलना चाहिए। अतः यज्ञके लिए कहींसे भी धन पानेका कोई मार्ग नहीं है।'

भगवान व्यासने युधिष्ठिरकी सदाशयताकी प्रशंसा की। उन्होंने विस्तारपूर्वक राजा मरुत्‌के यज्ञकी कथा सुनाकर बतलाया कि 'उस यज्ञमें इतना अपार धन आया था, इतना सोना एकत्र हुआ था कि ब्राह्मणोंके लिए उसे ले जाना सम्भव नहीं था। वैसे भी उस यज्ञमें विरक्त ब्राह्मण आये थे। वे सब धन वहीं छोड़ गये। वह अतिशय विशाल यज्ञ-मण्डप तथा सब पात्र स्वर्णके बने थे। वह स्वर्ण वहीं भूमिमें दबा पड़ा है। तुम उसे ले आओ।'

युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ उस धनको लेने हिमालयके उस दुर्गम प्रदेशमें गये, जहाँ भगवान व्यासने मरुत्‌के यज्ञका स्थान बतलाया था। महाराज धृतराष्ट्र विदुरकी सहायतासे शासनका सञ्चालन करनेको छोड़ दिये गये थे। इस समय राजधानीको आक्रान्त करनेवाला कोई रहा ही नहीं था कि उसकी चिन्ता की जाय। लाखों हाथी, घोड़े, खच्चर, छकड़े तथा भारवाही मनुष्योंका समुदाय पाण्डव अपने साथ वह धन ढोकर लानेके लिए ले गये थे।

जब कोई धन पृथ्वीमें देरतक दबा रह जाता है तो धनाध्यक्ष कुबेरके सेवक यक्ष उसको अधिकृत कर लेते हैं। उनकी अनुज्ञाके बिना केवल खोदकर वह धन नहीं पाया जा सकता। वे यक्ष उसे अदृश्य रहकर भूमिके नीचे ही स्थानान्तरित कर सकते हैं अथवा दूसरा कोई भी उपद्रव कर सकते हैं।

पाण्डवोंको भगवान व्यासकी कृपा प्राप्त थी। धनञ्जयपर भगवान शिव सुप्रसन्न थे, अतः शङ्करजीके अनुचर कुबेर असन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। युधिष्ठिरने वहाँ पहिले विधिपूर्वक भगवान शिव की, धनाध्यक्ष कुबेरकी तथा क्षेत्रपालकी पूजा की। उनको भेंट अर्पित करके, उनकी स्तुति करके ही भूमि खोदना प्रारम्भ किया, अतः उन्हें कोई कठिनाई वह धन पानेमें नहीं हुई।

पाण्डवोंको वहाँ इतनी अधिक स्वर्णराशि मिली की तीन अश्वमेध यज्ञ करके भी वह पूरी समाप्त नहीं हुई। उस अपार धनको युधिष्ठिरके साथ गया समुदाय बहुत कठिनाईसे ही उठा सका और मार्गमें थोड़ी-थोड़ी

दूरीपर विश्राम करते हुए पाण्डवोंको हस्तिनापुर लौटनेमें पर्याप्त विलम्ब हुआ।

पाण्डव अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले हैं, यह समाचार देवर्षि नारदने द्वारिका पहुँचा दिया था। श्रीकृष्णचन्द्रको हस्तिनापुर आनेके लिए किसी आमन्त्रणकी अपेक्षा तो थी नहीं। वे अपने पुत्रों तथा पत्नियोंके साथ यज्ञमें सम्मिलित होने चल पड़े और पाण्डवोंके हस्तिनापुर पहुँचनेसे पर्याप्त पहिले ही वहाँ जा पहुँचे। विदुर तथा धृतराष्ट्रने श्रीकृष्णका आगमन सुनकर नगरसे बाहर आकर उनका स्वागत किया था।

श्रीकृष्णचन्द्र सात्यकिको लेकर सपरिवार आ गये तो हस्तिनापुरमें मानो जीवन आ गया। पाण्डवोंको अपार धन मिला है और वे उसे लेकर लौट रहे हैं, यह समाचार भी पहुँच ही गया था। हस्तिनापुरमें आनन्दोत्सव चलने लगा था। कुन्ती देवी, द्रौपदी, सुभद्रादि सभी द्वारिकासे आई महारानियोंके साथ अत्यन्त प्रसन्न थीं।

विराट् राजकुमारी अभिमन्युकी पत्नी उत्तराके प्रसव-कालका समय आ गया था। अचानक राजभवनसे मङ्गल वाद्य गूँजा और तत्काल ही वह बन्द भी हो गया। शोक-सूचक तुरही बोलने लगी। श्रीकृष्णने सुना तो तत्काल सात्यकिको लेकर पाण्डवोंके अन्त:पुरमें पहुँचे।

'श्रीकृष्ण! वासुदेव, दौड़ो! दौड़ो द्वारिकानाथ!' पुकारती हुई वृद्धा कुन्ती देवी खुले मस्तक अत्यन्त व्याकुल भागती सामनेसे आती मिलीं। द्रौपदी, सुभद्रादि सभी कुरुकुलकी महिलाएँ उनके साथ दौड़ी आ रही थीं।

'वासुदेव! हमारे आश्रम, हमारे आधार तुम्हीं हो।' देवी कुन्तीने श्रीकृष्णको देखते ही अत्यन्त दीन भावसे रोते-रोते कहना प्रारम्भ किया— 'इस कुलके तुम्हीं रक्षक हो। तुम्हारे भागिनेय अभिमन्युका पुत्र मरा हुआ उत्पन्न हुआ है। अश्वत्थामाका ब्रह्मास्त्र उसे मारनेमें सफल हो गया; किन्तु तुमने तो अश्वत्थामासे कहा था कि तुम इसे जीवित कर दोगे। अब इसपर अमृत दृष्टि डालो और इस वंशके बुझ गये दीपको फिर जला दो जनार्दन! यह बालक नहीं रहा तो मैं जीवित नहीं रहूँगी। मेरे कोई पुत्र जीवित नहीं रहेंगे। मेरे श्वसुरका पिण्डलोप हो रहा है, उसे बचा लो वासुदेव! बेचारी विधवा बालिका उत्तरासे कभी अभिमन्युने कहा होगा— 'कल्याणी! तुम्हारा पुत्र मेरे मामाके यहाँ जाकर मेरे भाई प्रद्युम्नसे

सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा तथा दिव्यास्त्र प्राप्त करेगा।' उत्तरा इसे बार-बार दुहराती रही है। अपने दिवंगत भागिनेयकी यह बात सत्य कर दो श्रीकृष्ण!'

कुन्ती देवी यह कहते-कहते भूमिपर गिर पड़ीं। श्रीकृष्णने उन्हें सहारा देकर बैठाया और बोले—'बुआजी! व्याकुल मत हो।'

इतनेमें सुभद्रा सामने आ गयीं। उन्होंने कहा—'भैया! मेरा एक मात्र पुत्र अभिमन्यु युद्धमें मारा गया तो मैंने सन्तोष कर लिया कि उसने तुम्हारी सेवा की है, तुम्हारा स्नेह पाया है। उसका मङ्गल तुम उचित सोचते हो; किंतु उसकी अबोध विधवा पत्नी उत्तराकी व्यथा मुझसे नहीं देखी जाती। अभिमन्युका पुत्र तुम्हारे श्रीचरणोंका दर्शन भी न पा सके और मर जाय, इतना अपयश सह लेना मेरे वशमें नहीं है।

तुम्हारे सब सखा प्रवासमें गये हैं। वे सुनेंगे कि तुम्हारे यहाँ होते अश्वत्थामाका ब्रह्मास्त्र विजयी हो गया तो उन्हें कितना धक्का लगेगा? वे कैसे सह पावेंगे अपने कुलका समाप्त हो जाना।

मैं तुम्हारे पौरुषसे परिचित हूँ। ऐसा कुछ नहीं है जो तुम कर न सकते हो। ये मेरी पूजनीया सास तथा तुम्हारी सखी पाञ्चाली तुम्हारे पदोंमें पड़ी रो रही हैं। मैंने कभी तुमसे कुछ नहीं माँगा है। आज हाथ जोड़कर भिक्षुकीके समान माँगती हूँ—अपनी इस पुत्रहीना बहिनके इस पुत्रको जीवन-दान दे दो!'

भैया! तुमने इस शिशुको जीवित कर देनेकी प्रतिज्ञा की है सबके सामने। अब यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा सत्य नहीं करते तो सुभद्रा तुम्हारा अयश सह नहीं सकेगी। वह तुम्हारे पैरोंपर मस्तक रखकर आज ही प्राण-त्याग देगी। मैं तुम्हारा प्रभाव जानती हूँ। तुम सम्पूर्ण लोकोंको भी जीवन दे सकते हो—दे रहे हो, अतः इस शिशुको जीवित करो।'

श्रीकृष्णने बहिनकी ओर अपने विशाल नेत्र उठाये और कहा—'तुम भी निराश और व्याकुल होती हो! चलो, मैं उस शिशुको देखना चाहता हूँ।'

श्रीकृष्णका यह स्वर मानो देवी कुन्ती, द्रौपदी आदि सबमें सुधा-सञ्चार कर गया। सबका शोक दूर हो गया। सात्यकिको वहीं छोड़कर श्रीकृष्ण सुभद्राके साथ सूतिका-गृहमें पहुँचे और एक बार चारों ओर देखा।

वह गृह श्वेत पुष्पोंसे सजाया गया था। चारों ओर जल-पूर्ण कलश रखे थे। तिन्दुक (तेंदू) काष्ठकी अग्नि घृताहुतिसे प्रज्वलित थी। लौह, पीत सर्षपादि सब अनिष्ट-निवारक द्रव्य थे वहाँ और निपुण चिकित्सिकाएँ मस्तक झुकाये उपस्थित थीं।

उत्तरा मूर्छित पड़ी थीं। द्रौपदीने उसके समीप शीघ्रतासे पहुँच कर कहा—'बहू! तुम्हारे श्वसुर तुल्य अमित प्रभाव भगवान मधुसूदन तुम्हारे समीप आ रहे हैं।'

उत्तराने अपने वस्त्र सम्हाले। द्रौपदीने उसकी सहायता की और उसे उठकर बैठनेसे रोका। वह तपस्विनी व्यथित बालिका लेटे-लेटे ही हाथ जोड़कर रोते-रोते बोली—'आप आ गये जनार्दन! अब मैं आपका दर्शन करते-करते शान्तिसे मर सकूँगी। आपके भागिनेय तो मुझ अभागिनीको त्यागकर पहिले ही परलोक चले गये थे। उनकी धरोहर भी बची नहीं। उनका वंश समाप्त हो गया। अब उत्तरा क्यों जीवित रहे?'

'तुम अभिमन्युके शिशुका पालन करनेके लिए जीवित रहोगी।' श्रीकृष्ण बोल न उठते तो उत्तरा कदाचित उसी क्षण प्राण-त्याग देती।

उसमें आश्वासनने शक्ति दी। कातर कण्ठसे कहने लगी—'बड़ी साध थी कि इसे अङ्कमें लेकर आपके पावन पदोंमें प्रणाम करूँगी; किन्तु सबपर अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रने पानी फेर दिया। अब आप मुझे अपने स्वामीके समीप जानेसे क्यों रोकते हैं? मैं इसका पालन करूँगी—आपकी आज्ञा कौन अस्वीकार कर सकता है, परन्तु इसे जीवन-दान दीजिये!'

उत्तरा इतना कहकर मूर्छित हो गई। द्रौपदी तथा चिकित्सक नारियाँ उसे सम्हालनेमें लग गयीं। उसे चेतना प्राप्त हुई तो उन्मादिनीके समान अपने शिशुके शवकी ओर देखकर बोली—'वत्स! तू तो धर्मज्ञ पिताका पुत्र है। तेरे समीपमें सर्वेश्वर तेरे पिताके भी पूज्य पुरुषोत्तम खड़े हैं, तू इन्हें प्रणाम क्यों नहीं करता? उठ और इनके चरणोंमें मस्तक रख-कर प्रणाम कर!'

श्रीकृष्णने द्रौपदीसे संकेतके द्वारा ही जल माँगा और वहीं आचमन करके मृत शिशुके शवके समीप बैठ गये।

अश्वत्थामाका ब्रह्मास्त्र उत्तराके गर्भमें पूरे नौ महीने इस शिशुके आस-पास घूमता रहा था। वह अमोघ अस्त्र प्रयोक्ताके सङ्कल्पको पूरा किये बिना तो शान्त होता नहीं ; किन्तु गर्भमें वह शिशुतक पहुँचनेमें सफल नहीं हो सका। वहाँ ये चतुर्भुज कमल-लोचन श्रीकृष्ण अंगुष्ठ-परिमाण रूप धरे नौ महीने प्रज्वलित गदा घुमाते शिशुके चारों ओर सुरक्षाके लिए सावधान रहे थे। इनके गदाके अखण्ड-मण्डलाकार तेजका भेदन करनेमें ब्रह्मशिरास्त्र भी असमर्थ रहा था।

जब बालकके प्रसबका समय आया, गर्भमेंसे श्रीकृष्ण तिरोहित हो गये। शिशुके भूमि-स्पर्शके क्षणमें ही ब्रह्मास्त्रको समय मिला और उसने शिशुको निष्प्राण कर दिया। अब भी वह अस्त्र अदृश्य रूपसे वहीं था और उसके तेजसे शिशुका शरीर दग्ध होकर काला पड़ता जा रहा था।

श्रीकृष्णने आचमन करके ब्रह्मास्त्रको करके संकेतसे शान्त कर दिया। वह अस्त्र वहाँसे ब्रह्मलोक चला गया। शिशुका शरीर जो काला पड़ता जा रहा था, सहसा कान्तिमान होने लगा। उसमें मानों जीवनका तेज लौटनेवाला हो।

श्रीकृष्णने उस शिशुके शरीरपर अपना कर-स्पर्श करके कहा—'यदि मुझे धर्म और ब्राह्मण विशेष प्रिय हों, यदि मैंने धृतराष्ट्र और पाण्डुके पुत्रोंको सदा समान समझा हो, यदि मुझमें शाश्वत सत्य प्रतिष्ठित हो तो यह अभिमन्युका पुत्र जीवन-प्राप्त करे ! यदि मैंने केशी और कंसको भी धर्म-पूर्वक मारा हो तो यह उत्तराका पुत्र जीवित हो जाय। यदि मेरे मनमें शत्रुओंके प्रति भी सदा स्नेह ही रहा हो तो यह शिशु जीवित हो जाय !'

श्रीकृष्णको इतनी शपथ करनेकी आवश्यकता नहीं थी। शिशुमें तो उनके कर-स्पर्शके साथ जीवन लौट आया था। उसके हृदयने धड़कना प्रारम्भ कर दिया था। श्रीकृष्णके शपथ समाप्त करनेके साथ तो शिशुने नेत्र खोल दिये और अपलक उन्हींकी ओर देखने लगा था। उसने अपने सुकुमार दोनों नन्हें कर उठा लिये थे।

'धन्य हो ! केशव तुम धन्य हो !' आकाशवाणी गूंज उठी। सूतिकागार और शीघ्र ही राजसदन तथा पूरा नगर मङ्गल वाद्योंसे गूंजने लगा।

श्रीकृष्णने ब्राह्मणोंको बुलानेका आदेश दिया। पिता अभिमन्यु परलोकवासी हो चुके थे और पितामह अर्जुन नगरमें नहीं थे, अतः श्रीकृष्णने ही इस शिशु के जातकर्म-संस्कार को सम्पन्न किया।

उत्तराने पुत्रको अङ्कमें उठाया। सुभद्रा और द्रौपदीने उसे सहारा दिया। उसने श्रीकृष्णके चरणोंमें सद्योजीवन-प्राप्त शिशु के साथ मस्तक रखा। ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया। श्रीकृष्णने बहुत अधिक रत्न उस बालकको भेंट किए।

'यह अभिमन्युका पुत्र कुरुकुलके परिक्षीण हो जानेपर उत्पन्न हुआ है।' श्रीकृष्णने बालकका नामकरण किया—'अतः इसका नाम 'परिक्षित' होगा।'

सुभद्राने हर्षातिरेकमें कहा—'भैया! इसका नाम तो तुमने ठीक रखा; किन्तु नामका कारण इसकी पितामही मैं ठीक बतलाऊँगी—मेरे भैया पुरुषोत्तमने इस परिक्षीण जीवन पुरु-वंशके प्रदीपको पुनः रक्षित किया है, ये ही इसके परिरक्षक हैं, अतः इसका नाम परिक्षित् है।'

उत्तरा बोल नहीं सकती थी; किंतु वह मनमें ही हँसती कहती थी—'पिता नहीं हैं तो नाम रखनेका स्वत्व मेरा है। गर्भमें ब्रह्मास्त्रसे यह इन परम पुरुषके द्वारा परिरक्षण न पाता रहता तो इतने दिन रहता वहाँ। अतः इसका नाम परिक्षित ही उचित है।'

महर्षि धौम्य पाण्डवोंके कुल-पुरोहित थे; किंतु वे पाण्डवोंके साथ गये थे। लौटनेपर जब नामकरण संस्कारका समय शिशुके सौ दिनका होने पर आया तो उसे अंकमें लेकर देखा और बोले—'यह तो जो भी सामने आता है, उसीको अत्यन्त ध्यानसे देखकर उसकी पहिचान-परीक्षा करता है कि गर्भमें मैंने जो अपना रक्षक-पुरुष देखा था, यह वही है अथवा नहीं, अतः इसका नाम परिक्षित् ही उचित है।' इस प्रकार कारण सबने भिन्न-भिन्न कल्पित किये; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रका किया नामकरण भला बदलनेकी बात कोई कैसे सोचता।



अश्वमेध यज्ञ

पाण्डव हिमालयके उस पावन प्रदेशसे प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त करके लौटे। उनको वंशधर पौत्रकी प्राप्ति हो चुकी थी भगवान पुरुषोत्तमकी कृपासे। सब प्रकार उनका अभ्युदय हो रहा था।

भगवान व्यास हस्तिनापुर पधारे। युधिष्ठिरने उनका पूजन किया। व्यासजीने अब अश्वमेध यज्ञ करनेकी आज्ञा दी। श्रीकृष्णने इसका अनुमोदन किया।

युधिष्ठिरने तो श्रीकृष्णचन्द्रके समीप जाकर कहा था—'पुरुषोत्तम ! भाइयोंके साथ मैं आपका सेवक हूँ। आपके ही प्रभावसे हम उत्तम भोगोंका उपभोग कर रहे हैं। आपने ही अपने पराक्रमसे पूरी पृथ्वीपर विजय प्राप्त की है। अतः आप ही यज्ञकी दीक्षा लेकर इसे आरम्भ करें। आप ही यज्ञ-पुरुष, अक्षर, सर्वरूप तथा सबकी गति हैं। आप यज्ञ करेंगे तो उसमें सेवा करके हम सबके सभी पाप निश्चय नष्ट हो जायँगे। मेरी आन्तरिक इच्छा है कि आप यज्ञ करें।'

श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'महाराज ! आपका यह कथन आपके ही अनुरूप है। आप सम्पूर्ण प्राणियोंके पालक हैं। धर्म आपमें प्रतिष्ठित है। आप मेरे सम्मान्य हैं। आप यज्ञका अनुष्ठान करें, यह मेरी इच्छा है। हम सबको आप जो आदेश करेंगे, हम उसका पालन करेंगे।'

युधिष्ठिरने भगवान व्यासको यज्ञका आचार्य वरण किया। उनकी आज्ञासे यज्ञके लिए आवश्यक सामग्री एकत्र की गई। उत्तम मुहूर्तमें यज्ञीय अश्व छोड़ा गया और ससैन्य अर्जुन उस अश्वके रक्षक नियुक्त हुए।

भीमसेन और नकुल नगर-रक्षापर नियुक्त हुए। सहदेवको कुटुम्ब-पालनका कार्य देकर राजा युधिष्ठिरने यज्ञकी दीक्षा ग्रहण की।

महर्षि याज्ञवल्क्यके एक शिष्य गुरुकी आज्ञासे विघ्न-शान्तिके लिए अर्जुनके साथ हो गये। दूसरे भी वेदवेत्ता ब्राह्मण धर्मराजके आदेशसे साथ

गये। प्रजाकी शुभकामना तथा ब्राह्मणों एवं वृद्धोंका आशीर्वाद लेकर अर्जुन अश्वके पीछे हस्तिनापुरसे चले।

अर्जुनको बहुत अधिक स्थानोंपर युद्ध करना पड़ा। यद्यपि युधिष्ठिरने चलते समय उनसे कहा था कि प्रयत्न ऐसा ही करना कि जहाँतक बन सके युद्ध न करना पड़े ; किंतु जिनके बन्धु-बान्धव महाभारत-युद्धमें मारे गये थे, पाण्डवों द्वारा जो किरात, यवन, म्लेच्छादि पराजित किये गये थे, वे सब अर्जुनका सामना करने आये। इस प्रकार विभिन्न देशोंमें अर्जुनको युद्ध करना पड़ा।

त्रिगर्त देशके संसप्तकोंके सम्बन्धी और सन्तति तो अर्जुनसे बैर बाँधे ही थे। पाण्डवोंका यज्ञीय अश्व उनके देशकी सीमामें पहुँचा तो वे अश्वको पकड़नेका प्रयत्न करने लगे। अर्जुनने उन्हें रोका और जब वे नहीं माने तो युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्धमें अपने अठारह प्रधान महारथियोंके मारे जानेपर त्रिगर्तके लोगोंने हथियार डाल दिया और पाण्डवोंका शासन स्वीकार कर लिया।

प्राग्ज्योतिषपुरमें भगदत्तके पुत्र वज्रदत्तसे घोर युद्ध करना पड़ा अर्जुनको ; किंतु जब वज्रदत्तका हाथी मारा गया और वह स्वयं भी भूमिमें गिर पड़ा तो गाण्डीवधन्वाने उसे अभय दिया। उसने अश्वमेध यज्ञमें आना स्वीकार कर लिया।

बड़ा विकट युद्ध छिड़ा सिन्धु देशमें। यहाँके राजा जयद्रथको अर्जुनने प्रतिज्ञा करके महाभारतके युद्धमें मारा था। इससे वहाँके लोग अत्यन्त क्रोधमें भरकर अर्जुनको घेरकर उनपर आक्रमण कर रहे थे। सव्यसाची भी आहत होकर क्रुद्ध हो उठे थे और उनके धनुषसे मेघकी झड़ीके समान बाण-वर्षा हो रही थी।

अन्तमें दुर्योधनकी बहिन दुःशला अपने पुत्र सुरथके बालकको रथमें बैठाकर रणभूमिमें आई। अर्जुनके समीप जाकर वह रोने लगी। अर्जुनने उसका सत्कार किया। धृतराष्ट्र तथा पाण्डुकी सन्तानोंमें एक ही कन्या थी दुःशला। अतः पाण्डव भी अपनी इस बहिनसे बहुत प्रेम करते थे। दुःशलाने बालककी ओर संकेत करके कहा—'भैया ! अपनी विधवा बहिनके इस पौत्रकी ओर देखो !'

'इसके पिता कहाँ हैं ?' अर्जुनने पूछा।

दुःशलाने जो कुछ सुनाया—वह बहुत दुःखद था। उसने कहा—'मेरे पुत्र सुरथने सुन रखा था कि उसके पिताकी मृत्यु तुम्हारे ही हाथों हुई। वह तभीसे तुम्हारा नाम सुनकर काँपने लगता था। उसने जब सुना कि तुम अश्वके पीछे सेना लेकर यहाँ आ पहुँचे हो तो आतङ्कके कारण पृथ्वीपर गिर पड़ा और उसके प्राण चले गये। मैं उसका शव छोड़कर अबोध पौत्रको लेकर शरण ढूंढ़ती तुम्हारे पास आयी हूँ।'

दुःशला विलाप करने लगी—'भैया! मन्दबुद्धि दुर्योधन और उसके अधम बहनोईको भूल जाओ। अभिमन्युके पुत्र परिक्षित्के समान ही यह तुम्हारा पौत्र है। इस शिशुपर कृपा करो। सब योद्धा शान्त हो जायँ और तुम भी क्रोधका त्याग करो।'

दुःशलाके राजसदन जाकर अर्जुनने उसके पुत्रकी अन्त्येष्टिमें योग दिया। वहाँसे अश्व आगे बढ़ा। असंख्य छोटे-बड़े युद्ध हुए; किंतु उनमें उल्लेखनीय है मणिपुरका महायुद्ध। मणिपुरका नरेश वभ्रुवाहन अर्जुनका ही पुत्र था। वह चित्राङ्गदाका पुत्र पिताके आगमनका समाचार पाकर ब्राह्मणोंके सङ्ग बहुत-सा धन लेकर स्वागत करने आया।

धनञ्जयने पुत्रका स्वागत स्वीकार करनेके स्थानपर उसे धिक्कारा—'दुर्मति! तू क्षत्रिय-धर्मसे बहिष्कृत क्यों हो रहा है? मैं राजा युधिष्ठिरके यज्ञीय अश्वकी रक्षा करता तेरे राज्यमें आया हूँ और तू अपनेको पराधीन बनाने आयेको पिता मानकर उसका स्वागत करने चला है! धिक्कार है तुझे! मैं अस्त्र रखकर पुत्रसे मिलने आता तो तेरा स्वागत करना उचित होता। मैं तो युद्ध करने निकला हूँ और तुझमें कोई पौरुष नहीं है?'

अर्जुनका आगमन जानकर उनकी पत्नी नागकन्या उलूपी भी पति-दर्शन करने नागलोकसे आ गई थी। उसे धनञ्जयका पुत्रको धिक्कारना सहा नहीं गया। उसने वभ्रुवाहनको युद्धके लिए उत्तेजित किया।

वभ्रुवाहन स्वागत-सम्भार लिए नगरमें लौट गया। वहाँसे युद्धकी सज्जा करके लौटा और अश्व उसके सेवकोंने पकड़ लिया। पिता-पुत्रमें युद्ध प्रारम्भ हो गया। ऐसा युद्ध अर्जुनको भी कभी नहीं करना पड़ा था। इस युद्धमें उनका सब युद्ध-कौशल समाप्त हो गया और वभ्रवाहनके द्वारा

उनका वक्षस्थल विदीर्ण हो गया। अर्जन युद्धभूमिमें गिरे और दूसरी ओर अत्यन्त आहत बभ्रुवाहन भी मूर्छित होकर गिरा।

पति-पुत्र दोनों मारे गये, यह समाचार पाकर मणिपुर राज्यकी राजमाता चित्राङ्गदा शोक-विह्वल रणाङ्गणमें आयीं। उन्होंने सौत उलूपी-को कठोर उलाहना दिया—'नागिन! तूने पतिको और मेरे पुत्रको भी डँस लिया। अब तो तेरा हृदय शीतल हुआ?'

उलूपीने बुरा नहीं माना। उसने कहा—'बहिन! मैं भी सती हूँ। सहमरण ही करना पड़े तो मैं पतिके शरीरके साथ तुम्हारे सङ्ग चितामें चढ़ूँगी; किंतु नागिनमें विष होता है तो अमृत भी उसके नागलोकमें रहता है। तुम्हारी इस सौतके समीप अमृतमणि भी है। वह पति-पुत्र दोनोंको जीवित करेगी।'

उलूपीने बभ्रुवाहन तथा अर्जुन दोनोंको अपने नागमणिके प्रभावसे जीवित कर दिया। पिताने पराक्रमी पुत्रको गले लगाया। अर्जुनका वहाँ भरपूर सत्कार हुआ।

वहाँसे अर्जुन अनेक देशोंमें अश्वके पीछे गये। सर्वत्र विजयश्रीने उनका वरण किया। वे अन्तमें अश्वके साथ हस्तिनापुर लौटे। श्रीकृष्णने ही अर्जुनके लौटनेका समाचार दिया युधिष्ठिरको। वे धनञ्जयकी यात्राका पूरा पता बराबर रखते थे। उन्होंने धर्मराजसे कहा—'महाराज! मेरे पास द्वारिकावासी एक विश्वासपात्र व्यक्ति आया था। अर्जुनको उसने अपनी आँखों देखा है। वे अनेक स्थानोंपर युद्ध करनेके कारण बहुत दुर्बल हो गये हैं। अब वे निकट आ पहुँचे हैं।'

द्वारिकावासी विश्वास-पात्र व्यक्ति अचानक नहीं आ गया था। ऐसे अनेक विश्वास-पात्र सेवक श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ भेजे थे और वे स्थान-स्थानसे आकर अपने स्वामीको समाचार देते रहते थे।

श्रीकृष्णके स्वभावमें ही किसीको अपना स्वीकार करके फिर उसे त्यागना अथवा विस्मृत कर देना नहीं है। उन्हें कोई भले भूला रहे, एक बार जिसे उन्होंने अपना लिया, उसकी क्षण-क्षणकी सुध वे सदा रखते हैं। अपनी यात्रामें युद्ध-व्यस्त अर्जुनने अपने इन हृषीकेश सखाको कभी स्मरण किया अथवा नहीं, कहना कठिन है; किंतु श्रीकृष्णने अर्जुनका समाचार बराबर रखा था।

अर्जुन अश्वके साथ आये तो उनका स्वागत करने गरुड़ध्वज रथ ही सबसे आगे बढ़ा। वैसे तो अश्व साक्षात् यज्ञमूर्ति होता है। आचार्यों, ऋषियों तथा आगत सभी राजाओंके साथ आगे जाकर युधिष्ठिरने अश्वका स्वागत किया।

अश्वमेध-यज्ञ सविधि सम्पन्न हुआ। जहाँ श्रीकृष्ण संरक्षक हों और योगीश्वर याज्ञवल्क्यके साथ भगवान व्यास आचार्य हों, वहाँ निर्विघ्न यज्ञके सम्पन्न होनेमें सन्देह ही नहीं था। धर्मराजने दान-दक्षिणा देकर आगत ऋषियों, ब्राह्मणों तथा कला-जीवियों, याचकोंको भी परम सन्तुष्ट कर दिया। आगत राजाओं तथा अन्य वर्णके लोगोंका भी पूरे उत्साहसे उपहार देकर सत्कार किया।

पहिली बार अर्जुनकी दोनों पत्नियाँ उलूपी और चित्राङ्गदा आयी थीं हस्तिनापुर और बभ्रुवाहन तो सबके अत्यन्त स्नेहभाजन थे; क्योंकि अब वे अकेले पाण्डवोंके पुत्रोंमें बचे थे। भले वे अपने नानाके उत्तराधिकारी होकर मणिपुरमें रहनेवाले थे और उनसे नानाका गोत्र चलनेवाला था; किंतु द्रौपदी, सुभद्रा आदि सबको वे अपने ही पुत्र लगते थे। सबका वात्सल्य पाकर वे अत्यन्त प्रसन्न थे।

अवभृथ स्नानके पश्चात् जब ऋषि-मुनि विदा हो गये, धीरे-धीरे राजाओंने भी युधिष्ठिरसे अनुमति ली अपने राज्यमें लौटने की। सबसे अन्तमें बभ्रुवाहनको उनकी माता चित्राङ्गदा तथा विमाता उलूपीके साथ पाण्डवोंने बहुत सत्कृत करके विदा किया।



शूरभक्त सुधन्वा

धर्मराज युधिष्ठिरके तीसरे अश्वमेधयज्ञका अश्व छूटा था। अश्व-रक्षाका दायित्व पहिली दो बारके समान अर्जुनपर ही था। इस बार उनके साथ प्रद्युम्न, कृतवर्मा, सात्यकि जैसे प्रधान वृष्णिवंशी महारथी भी थे।

अश्वमेधयज्ञका अश्व सभी राज्योंमें जाय, यह आवश्यक नहीं है। उस मन्त्रपूत अश्वको कोई कहीं हाँककर तो ले नहीं जाता। वह स्वेच्छा-पूर्वक चलता है और रक्षक-समूह उसका अनुगमन करता है। एक वर्षमें अश्वका लौट आना आवश्यक माना जाता है। जो नरेश अश्वको रोकनेमें समर्थ हैं, प्रायः अश्व वहीं जाता है। मार्गके राज्य तो मार्गमें सहज ही आते हैं।

राजसूय यज्ञमें दिग्विजय करना आवश्यक होता है; किंतु बहुत छोटे राज्य उस समय भी छोड़ दिये जाते हैं; क्योंकि किसीको अपमानित करना अथवा कहीं व्यर्थ संहार करना किसी धर्मात्माको प्रिय नहीं होता। जो बहुत छोटे राज्य हैं, उनके शासक मानधनी हुए, अपने सम्मानकी रक्षा-के लिए ही युद्ध करनेपर उतर आये तो व्यर्थ हत्याके अतिरिक्त क्या हाथ लगेगा। अतः जो बहुत प्रख्यात वीर हैं, दिग्विजयके समय उनका कर दे देना ही आवश्यक माना जाता है। छोटोंकी उपेक्षाको दोष नहीं माना जाता।

चम्पकपुरी (चम्पा) छोटा-सा पर्वतीय राज्य था। समृद्ध था और वहाँके शासक बहुत शान्तिप्रिय थे। वहाँके राजा हंसध्वजकी कोई कामना राज्य-विस्तारकी नहीं थी। अपनी प्रजा प्रसन्न है, सुखी-सन्तुष्ट है और धार्मिक है, यह उनके लिए पर्याप्त था।

इस छोटे पर्वतोंके द्वारा सुरक्षित राज्यकी ओर आँख उठानेका लोभ किसीको नहीं हुआ। मगधराज जरासन्ध जैसा दुर्दम एवं असहिष्णु भी इधर नहीं आया तो दूसरा कोई क्यों आता। युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके लिए उनके

भाइयोंने जो दिग्विजय-यात्रा की, उसमें इस राज्यकी उन्होंने उपेक्षा कर दी। दुर्गम वन तथा पर्वतोंमें बसे छोटे-छोटे राज्यों को विजय करनेमें व्यर्थ श्रम, सैनिक तथा समय कौन लगाता। इससे कोई लाभ नहीं था। बहुत कठिन यात्रा करके सफल हो जानेपर भी कोई बड़ा सुयश मिलनेकी सम्भावना नहीं थी।

इस राज्यमें महाराज उग्रसेनके राजसूय यज्ञकी दिग्विजय-यात्रामें प्रद्युम्न नहीं आये थे और न उनके अश्वमेधके समय अश्वके पीछे अनिरुद्ध ही पहुँचे थे।* महाराज युधिष्ठिरके भी दो अश्वमेध यज्ञ हो चुके थे; किंतु उनका अश्व यहाँ नहीं आया था।

चम्पकपुरी-नरेश राजा हंसध्वज परम धार्मिक थे। भगवद्भक्त थे और उनके मनमें श्रीकृष्ण-दर्शनकी उत्कट अभिलाषा थी; किंतु उनका निश्चय था – 'राजा जब सम्पूर्ण प्रजासे कर लेता है, सबके पाप-पुण्यमें भाग पाता है तो उसको अकेले अपने कल्याणकी चिन्ता क्यों करनी चाहिए। समस्त प्रजाको जो प्राप्त नहीं हो सकता, उसको पानेकी इच्छा मैं कैसे कर सकता हूँ। भक्तवत्सल, अनन्त करुणावरुणालय प्रभु जब पृथ्वीपर पधारे हैं परमधामसे तो यदि इस अपने अत्यन्त उपेक्षणीय क्षुद्र दासपर दया करना चाहेंगे तो यहीं आवेंगे। प्रजाके साथ ही मैं उनके भुवन-पावन पदोंके दर्शन करूँगा।'

'राजा कालस्य कारणम्।' शासक यदि सद्धर्मका पालक है तो प्रजा स्वयं धर्माचरणमें लगेगी। जो नरेश प्रजाके बिना अपने आराध्य श्रीहरिका भी दर्शन नहीं करना चाहते, उनकी इच्छाके पीछे प्रजाका बच्चा-बच्चा प्राण देनेको सदा समुत्सुक रहेगा ही। फलतः पूरे राज्यमें सब आबाल वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सदाचारी, धर्मात्मा और भगवद्भक्त थे। सब पुरुष एक पत्नी-व्रतका पालन करते थे। सब स्त्रियाँ परमसती थीं।

ब्राह्मण वेदज्ञ, तपस्वी, सन्तोषी, याज्ञिक थे। क्षत्रिय प्रचण्ड धनुर्धर शूर थे। वैश्य विनयी, परसेवी उदार, ईमानदार व्यापारी थे और शूद्र सेवाको अपना सौभाग्य मानते थे। पर्वतीय राज्य होनेसे सब श्रमशील थे। सुन्दर थे और धर्माचरणने सबको सुखी, सम्पन्न, सन्तुष्ट बनाया था।

---

* 'श्रीद्वारिकाधीश'में इन यज्ञोंका विस्तारसे वर्णन है।

महाराज हंसध्वजने सुना कि धर्मराज युधिष्ठिरका अश्वमेधीय अश्व इस बार उनको राज्य-सीमामें आ गया है तो उन्हें लगा कि उनके अन्तर्यामी आराध्यने उनके हृदयकी पुकार सुन ली है ! यज्ञीय अश्व तो स्वयं यज्ञपुरुषका स्वरूप होता है। वे यज्ञपुरुष भगवान नारायण इस रूपमें अनुकम्पा करने ही पधारे हैं।

'अश्वको पकड़ लो और बहुत आदरपूर्वक लाकर सावधानीसे उसकी सेवा करो !' महाराज हंसध्वजने अपने पुत्रोंको आज्ञा दी—'धर्मराज युधिष्ठिर अखिलेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके सहारे ही यज्ञ करते हैं। अतः यदि दूसरे अश्वको हमसे लेनेमें असमर्थ हो जायँ तो भगवान वासुदेवको स्वयं आना पड़ेगा। वे जनार्दन पधारें, इस प्रयत्नमें उनके पुत्र, परिजन अथवा सखा पाण्डवोंके बाणसे हममें सबको ही समर-शय्या प्राप्त हो जाय तो भी सद्गति हमारा स्वत्व है और कहीं हम सफल हो गये तब तो उन पुरुषोत्तमके पादपद्मोंसे यह भूमि पवित्र हो ही जायगी। हमें उनकी अर्चाका अवसर मिलेगा।'

स्मृतिकार, प्रसिद्ध विद्वान्, वेदवेत्ता, कर्मके कुशल रहस्यज्ञाता, ऋषियोंसे सम्मानित राजपुरोहित मुनिवर्य शङ्ख और लिखित दोनों भाइयोंने महाराज हंसध्वजकी प्रशंसा की। दोनोंने राजाकी योजनाको अनुमति दे दी।

अश्वमेधीय अश्व इस प्रदेशमें आकर दौड़ पड़ा था। जैसे वह यहाँसे पूर्व परिचित हो। उसके रक्षक पीछे रह गये। चम्पकपुरीके राजकुमारोंने अश्व पकड़ा तो वह उनके साथ बड़े प्रेमसे चल पड़ा। उसने हिनहिनाकर भी किसीको सूचना नहीं दी और न बाँधे जानेका विरोध किया।

अर्जुन तथा उनके साथियोंको आश्चर्य हुआ था, जब अश्व पर्वतीय प्रदेशकी ओर चल पड़ा था। कोई प्रसिद्ध राज्य इधर नहीं था। साथ आये महर्षि याज्ञवल्क्यके शिष्यने ध्यानस्थ होनेके पश्चात् बतलाया था—'अश्वको अवरुद्ध करनेवाला कोई पराक्रमी वीर इधर है। अश्व अकारण इस अपने सञ्चरणके अयोग्य दुर्गम प्रदेशमें नहीं बढ़ रहा है। अतः आप सबको सावधान रहना चाहिए।'

पर्वतोंके पथ सङ्कीर्ण होते हैं। वैसे अश्वमेधयज्ञके अश्व-रक्षक सब प्रकारकी परिस्थितिका सामना करनेको प्रस्तुत होकर ही चलते हैं; किंतु

अश्व जब सहसा तीव्र गतिसे दौड़ चला तो सब पिछड़ गये। आगे आनेपर पता लगा कि अश्वको पकड़ लिया गया है।

चम्पकपुरी जैसे बहुत छोटे राज्यके शासकने अश्वको पकड़वाया है, यह जानकर सबको आश्चर्य हुआ। अर्जुनने सन्देश भेजा कि ऐसी धृष्टता-का परिणाम बहुत भयङ्कर होगा। अतः अश्वको लौटा देनेकी बुद्धिमानी करनी चाहिए।

महाराज हंसध्वजका उत्तर स्पष्ट था—'संसारमें गाण्डीवधन्वासे अपरिचित भला कौन होगा। हमको पता है कि इस समय उनके साथ उनके अपराजित शिष्य सात्यकि, द्वारिकाकी नारायणी सेनाके उपसेनापति कृतवर्मा तथा श्रीहरिके ज्येष्ठ पुत्र सुरेन्द्रजयी शम्बरको भी मार देनेवाले प्रद्युम्न हैं, किंतु हम पर्वतीय लोगोंको भी धनुष पकड़ना आता है। पार्थ चाहें तो अश्वके मस्तकपर बँधा स्वर्ण-पत्रमें अङ्कित घोषणा-पत्र खोलकर अश्व ले जा सकते हैं। अन्यथा हम प्राण रहते अश्वार्पण नहीं करेंगे।'

युद्ध अनिवार्य हो गया। सायंकाल हो चुका था, अतः अर्जुनको सेनाके साथ नगरसे दूर शिविरकी स्थापना करनी पड़ी। उधर चम्पकपुरी नगरमें राजाज्ञा प्रसारित हो रही थी—'कल प्रातः सूर्योदयके पश्चात् एक घटीके भीतर जो युद्धकी आयुका क्षत्रिय शस्त्रसज्ज राजद्वारपर उपस्थित नहीं हो जायगा, उसे खौलते हुए तैलपूर्ण कढ़ाहमें डाल दिया जायगा।'

महाराज हंसध्वजके मनका भाव पूरी प्रजाकी वाणीमें बोलने लगा था—'हमने चतुष्पाद हरि (अश्व) बाँध लिया है। अब इसके द्वारा साक्षात् पधारे श्रीहरिकी अर्चा करके रहेंगे। अर्जुन उनके इतने प्रिय सखा हैं कि ये प्राण-सङ्कटमें पड़े तो वे मयूर-मुकुटी प्रकट हुए बिना रह नहीं सकते। हमें कभी-न-कभी मरना तो है ही। पार्थके बाणोंसे मरे हमारे शरीरपर भी उन पार्थ-सारथिकी दृष्टि पड़ गयी तो कृतकृत्य हो गए हम।'

रात्रि, युद्धकी सज्जा, समरकी चर्चा और प्रियजनोंसे अन्तिम विदा लेनेमें व्यतीत हो गयी। प्रातः सूर्योदयसे पूर्व सदाकी भाँति सबने स्नान-सन्ध्या किया और भगवान भास्करको अर्घ्य देकर कवच धारण किया। महाराज हंसध्वजके द्वारपर आह्वान-तूर्यका घोष होनेसे पूर्व ही अधिकांश क्षत्रिय-तरुण आचुके थे। सब शस्त्र-सज्ज, सबके वाहन सन्नद्ध। सब दृढ़-प्रतिज्ञ प्राण-त्यागको।

'सब आ गये ?' महाराज हंसध्वज अपने दोनों राजपुरोहितों तथा मन्त्रियोंके साथ पधारे। उन्होंने मन्त्रीसे पूछा। तैल भरा कढ़ाह अग्निपर चढ़ा था। तैल खौल रहा था। दण्डकी घोषणा की गयी तो उसके उपकरण-को प्रस्तुत रहना ही चाहिए।

मन्त्रीने आगे बढ़कर एकत्र पंक्तिबद्ध समूहके दल-नायकोंसे पूछा और लौट आये। महाराजके सम्मुख आकर मस्तक भुकाकर कुछ शिथिल स्वरमें निवेदन किया—'सब आ गये। आपके राजकुमार सुबल, सुरथ, सम, सुदर्शन भी उपस्थित हैं; किंतु···।'

मन्त्रीसे आगे बोला नहीं गया। महाराजका स्वर उग्र हुआ—'किंतु क्या? कौन नहीं आया? तुमने छोटे राजकुमार सुधन्वाका नाम नहीं लिया, वह उपस्थित नहीं है?'

मन्त्रीने सखेद कहा—'मैं उनको नहीं देख सका।'

'उसे बन्दी बनाकर ले आओ!' राजा बहुत क्रुद्ध हो उठे थे—'उसने राजाज्ञा सुनकर भी अवहेलनाका साहस कैसे किया? ऐसे परम दुर्लभ अवसरपर भी प्रमाद!'

एक सेनानायक कुछ सैनिकोंके साथ चल पड़े। राजकुमार सुधन्वा उन्हें अपने सदनके द्वारपर कवच पहिने रथमें चढ़नेको उद्यत ही मिले; किंतु राजाज्ञा थी। वे बन्दी बनाये गये। उनकी परम सती पत्नी प्रभावती अभी पतिको तिलक करके मुड़ी ही थी। उसने पतिको बन्दी बनाये जाते देखा और दौड़कर आराधना-कक्षमें पहुँचकर गिर पड़ी।

प्रभावतीके प्राण क्रन्दन कर उठे—'मेरे अपराधसे स्वामी बन्दी हुए! मैंने उन्हें विलम्बित किया। सर्वेश्वर! सर्वसाक्षी! आप धर्मके प्रभु हो! पुरुषोत्तम! यदि मैंने धर्मका अपमान नहीं किया है, यदि मैं सती हूँ, यदि आपके श्रीचरणोंमें मेरी श्रद्धा है तो मेरे स्वामीको राजदण्डसे बचाइये! मेरे इन सर्वस्वके पौरुषसे प्रसन्न होनेका अवसर उपस्थित होने दीजिये और आपका दर्शन इनके प्रसादसे चम्पकपुरीको प्राप्त हुआ, यह सुयश दीजिये!'

वह सती अत्यन्त आर्त पुकार करती एकाग्र हो गयी। उसे शरीरकी, संसार की, संग्राम की कोई सुधि नहीं रही। उसे तो पूरे दिन वाह्य चेतना नहीं आयी।

सुधन्वाने ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर स्नान-सन्ध्या कर लिया था। कवच पहिन कर, शस्त्र-सज्ज होकर उन्होंने मातासे आशीर्वाद प्राप्त किया। बहिन कुबलाने उनके ललाटपर कुंकुम लगाकर अक्षत लगाया। अन्तमें पत्नीसे बिदा लेने पहुँचे तो वह बालिका हठ करने लगी—'स्त्रीकी सफलता स्वामीसे सन्तान पानेमें है और मुझे आपका अङ्ग-स्पर्श भी नहीं मिला है। यह असन्दिग्ध है कि श्रीहरिके सम्मुख जाकर आपको लौटना नहीं है। मेरा ऋतुकाल सफल करके आप पधारें। मैं आपके सफल-काम होनेमें सार्थक होऊँगी।'

पत्नीकी प्रार्थना धर्म-सङ्गत थी। उसे अभी पतिगृह आनेके पश्चात् मिलनेका भी अवसर नहीं मिला था। इतना विषम समय न होता तो वह बोल भी नहीं पातीं। रात्रिमें युद्ध-चर्चामें उससे मिलना स्मरण नही रहा ; किंतु अब उसकी विनयको अस्वीकार करना अधर्म था। युद्धसे सचमुच लौटनेकी सम्भावना नहीं थी। जिसका अग्निकी साक्षीमें पाणि-ग्रहण किया और श्रुति-मन्त्रोंसे जिसे अपने धर्ममें सहचरी बनानेकी शपथ ली, उसकी जीवनके इस विकट अवसरमें पहिली और सम्भवतः अन्तिम प्रार्थना भी अस्वीकार कर देना किसी भी प्रकार उचित नहीं था।

सुधन्वाको कवच तथा शस्त्र उतारने पड़े। वे पत्नीकी प्रार्थना पूर्ण करके, आगमन करके पुनः कवच धारण करके रथपर बैठने ही जा रहे थे कि बन्दी बना लिए गये। उन्हें विलम्ब हो चुका था।

महाराज हंसध्वजने पुत्रके विलम्बका कारण सुना तो अत्यधिक क्रुद्ध होकर बोले—'कुलांगार ! श्रीहरिके स्वागतका अवसर सम्मुख देखकर भी तुझे काम सूझता है ! धिक्कार है तुझे !'

'इसका क्या किया जाना चाहिए ?' महाराजने राजपुरोहितसे पूछा।

प्रश्न सुनते ही महामुनि शङ्ख और लिखित दोनों क्रोधमें भरकर बोले—'दूसरा कोई होता तो उसे राजाज्ञाके अनुसार दण्ड देते आप और अपना पुत्र है तो हमसे विधान पूछते हैं ? मोहवश पुत्रके कारण धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले अधर्मीके राज्यमें हम नहीं रह सकते !'

दोनों वहाँसे जाने लगे तो रथसे कूदकर राजाने दोनोंके चरण पकड़ कर क्षमा माँगी। अनुनय करके उन्हें रोका। सुधन्वाको खौलते तैलके कढ़ाहमें डाल देनेकी आज्ञा दे दी।

राजकुमार सुधन्वा अत्यन्त उदार और सर्वप्रिय थे। उनको यह दण्ड सुनकर सब रो पड़े। कोई भी सैनिक उन्हें उस कढ़ाहमें उठाकर डालने आगे नहीं बढ़ा; किंतु सुधन्वाने स्वयं शिरस्त्राण, कवच तथा आभूषण उतार दिये। शस्त्र दूर रख दिया। वे उस कढ़ाहके समीप पहुँचे।

हाथ जोड़कर रोते हुए सुधन्वा प्रार्थना कर रहे थे—'अन्तर्यामी! आप जानते ही हैं कि मैं आज प्राण-त्यागको प्रस्तुत होकर ही आया हूँ; किंतु सब लोग सदा कहेंगे कि 'सुधन्वा विषयी था। तप्त तैलमें जलकर उसकी अपमृत्यु हुई।' इस कलङ्कसे मेरी रक्षा कर लो मेरे सर्वस्व। आपके श्रीमुखका दर्शन करते हुए अर्जुनके बाणसे उड़ा मेरा सिर आपके पावन पदोंमें पड़े, यह मेरी अभिलाषा पूर्ण कर दो प्रणतपाल! बहुत बड़ी बाहें हैं आपकी ब्रजेन्द्र-नन्दन! इस अपने शरणागतकी सुन लो! कभी आपने प्रह्लादकी भी रक्षा की है, आज सुधन्वाको भी बचा लो!'

सुधन्वा प्रार्थना करते हुए उस कढ़ाहकी परिक्रमा कर रहे थे। उन्होंने तीन परिक्रमा पूरीकी और 'भक्तवत्सल भगवानकी जय!' कहकर कढ़ाहमें कूद पड़े।

'भगवानकी जय! भक्त सुधन्वाकी जय!' सहसा सम्पूर्ण उपस्थित समुदाय पुकार उठा। सुधन्वा उस कढ़ाहके खौलते तैलमें मजेसे बैठे थे और नेत्र बन्द किये—'प्रणतपाल गोपाल! गिरिधारी नन्दलाला' की ध्वनिमें तन्मय हो रहे थे।

'यह क्या जादू है?' शङ्ख-लिखित दोनों नैष्ठिक कर्म-तत्पर धर्मात्मा थे। दोनों उस कढ़ाहके पास पहुँचे। उन्होंने पहिली पूछताछ प्रारम्भ की—'सुधन्वाने शरीरमें कोई ताप-रोधक औषधि मली है? किसी मन्त्रका जप किया है अग्नि-स्तम्भनके लिए? इसे कोई सिद्धि है?'

सबको यह पूछताछ अखर गयी। सेनापति समीप आकर हाथ जोड़कर बोले; किंतु उनका स्वर रूक्ष था—'राजकुमारसे आप दोनों भली प्रकार परिचित हैं। वे आपके सम्मुख ही कवच उतारकर कढ़ाहमें कूदे हैं। वे जिस मन्त्रका जप कर रहे हैं, वह तो आप दोनों भी सुन ही रहे हैं।'

दोनोंको लगा कि उन्होंने अनावश्यक प्रश्न किया है। दूसरा सन्देह किया—'कढ़ाहका तैल उष्ण नहीं है।'

'आप परीक्षा कर लें !' सेनापति अलग गये ; किंतु दोनोंने परीक्षा करनेका निश्चय किया। नारियल मंगवाया उन्होंने और उसे कढ़ाहके तेलमें डाल दिया। बिना फोड़े नारियल खौलते तेलमें पड़ा तो बड़े शब्दके साथ फूटा और दो टुकड़े उसके हो गये। दोनों टुकड़े उछले। एक शङ्खके सिरमें लगा, दूसरा लिखितके सिरपर पड़ाकसे पड़ा।

नारियलके टुकड़ोंके लगनेकी जो चोट लगी, वह तो लगी ही, खौलते तेलमें भीगे नारियलके टुकड़े लगे तो लगभग मुखका पूरा वह भाग भस्म होकर भुर्ता हो गया। वहाँ मांस लटक आया। भली प्रकार पता लग गया कि तैल कितना उष्ण है।

'धिक्कार है हमारे धर्मज्ञानको !' नारियलका टुकड़ा सिरमें लगते ही महामुनि शङ्खकी प्रज्ञा प्रबुद्ध हो गयी—'हमने भक्तापराध किया है। इसका प्रायश्चित है अविलम्ब प्राणोत्सर्ग।'

शङ्ख वैसे ही कूद पड़े उसी कढ़ाहमें। उन्हें लगा कि जो दण्ड सुधन्वाको उन्होंने दिलवाया, उसे स्वयं स्वीकार करके ही अपराध-मुक्त होंगे। उनके भाई लिखित भी कूदते ; किंतु सुधन्वाने शङ्खको पकड़ लिया था भुजाएँ बढ़ाकर और उस भक्तके स्पर्शसे शङ्खके लिए भी कढ़ाहका तैल शीतल हो गया था। वे भी उसके समीप स्वस्थ खड़े थे।

अब शङ्खने कहा—'वत्स ! अब तुम यहाँसे निकलो ! तुम्हारे पिताकी आज्ञा पूरी हो गयी और तुम्हारे जैसा पुत्र पाकर वे धन्य हो गये। हम सब तुम्हारे दर्शनसे कृतकृत्य हुए।'

सुधन्वाने साग्रह पहिले शङ्खको निकाला और फिर स्वयं निकले। शङ्ख हाथ पकड़कर सुधन्वाको राजाके समीप ले गये। सब लोग जय-ध्वनि कर रहे थे। महाराज हंसध्वजने पुत्रको हृदयसे लगाकर गद्‌गद स्वरमें कहा—'पुत्र ! मुझे विश्वास हो गया कि तुम्हारी भक्ति श्रीकृष्णको यहाँ आनेको अवश्य बाध्य कर देगी। तुम हमारे प्रधान-सेनापति। अब ऐसा करो कि पार्थ प्राण-सङ्कटमें पड़कर अपने सखाको पुकारनेके लिए विवश हो जायँ।'

सुधन्वाने पिताको प्रणाम करके कवच धारण किया। वे रथारूढ़ हुए और शङ्ख ध्वनिकी उन्होंने। चम्पकपुरीकी पूरी सेना उनके साथ हो गयी।

अर्जुनको आशा नहीं थी कि उनके सम्मुख कोई अल्पवयस्क बालक युद्ध करने आवेगा। सुधन्वाको देखकर उन्होंने कहा—'बच्चे! अभी तो तुम खेलने योग्य हो। युद्ध ही करना है तो किसी वीरको आगे करो। तुम नगरमें चले जाओ। मैं बच्चोंका वध नहीं करता।'

सुधन्वाने कहा—'आप भूल ही गये कि आपके बाल पुत्र बभ्रुवाहनने आपको मार ही दिया था। वीरोंकी आयु नहीं देखी जाती, यह भी आपको स्मरण नहीं।'

अर्जुन समझते थे कि इस पर्वतीय सुन्दर युवकको दो-चार बाण लगेंगे तो यह भाग जायगा। वे उपेक्षापूर्वक ही युद्धमें प्रवृत्त हुए; किंतु शीघ्र समझ गये कि पूरी सावधानी यदि उन्होंने नहीं रखी तो यहाँ उलटे उन्हींको पराजित होना पड़ेगा।

चम्पकपुरीके लोग प्राणपर खेलकर लड़ रहे थे। कृतवर्मा, सात्यकि, प्रद्युम्न आदिमेंसे कोई भी अवसर नहीं पा सका कि वह अर्जुनकी सहायताको आगे बढ़ सके और सचमुच सुधन्वाकी बाण-वृष्टिने गाण्डीव-धन्वाको सङ्कटकी स्थितिमें शीघ्र पहुँचा दिया। उनके दिव्यास्त्रोंका भी प्रयोग उनके किसी काम नहीं आ सका।

धर्मयुद्धका एक नियम है। भले प्राण-सङ्कट उपस्थित हो; किंतु प्रतिपक्षीको जिस दिव्यास्त्रका ज्ञान नहीं है, उसका उपयोग नहीं किया जायगा। अर्जुनने पूरे महाभारत युद्धमें पाशुपतास्त्रका उपयोग नहीं किया था। इस समय भी वे ब्रह्मास्त्र अथवा अन्य किसी असाधारण दिव्यास्त्रका उपयोग नहीं कर सकते थे। उन्हें साधारण बाणोंसे ही युद्ध करना था। उनके जैसे प्रसिद्ध धनुर्धरके लिए यही लज्जाकी बात थी कि एक साधारण पर्वतीय युवक साधारण बाणोंसे उनके साथ युद्ध कर रहा था और वे उसे पराजित नहीं कर पा रहे थे।

यह सङ्कट तब बहुत बढ़ गया, जब सुधन्वाने अर्जुनके सारथिको मार दिया। अर्जुनको स्वयं अपने रथकी रश्मि दाँतोंमें दबाकर युद्ध करनेको विवश होना पड़ा। दूसरा सारथि उनकी सेनाके लोग उनतक पहुँचानेमें सफल नहीं हो रहे थे। इससे अर्जुन बहुत विषम स्थितिमें पड़ गये।

सुधन्वाने अपनी बाण-वर्षा और बढ़ाते हुए कहा—'पार्थ! अपने नित्य सारथिको छोड़कर आपने अच्छा नहीं किया। मरणधर्मा सारथि

आपका कबतक साथ दे सकता था। अब भी अपने उस सारथिका स्मरण करो, अन्यथा अश्व ले जाता तो दूर प्राण-बचाना भी कठिन हो जायगा आज।'

अर्जुनके शरीरमें सुधन्वाके पैने बाण बराबर प्रवेश कर रहे थे। रथ-रश्मि दाँतोंमें लेकर धनुष चलाते हुए सव्यसाची किसी भी प्रकार सुधन्वाके सब बाणोंको काट नहीं पा रहे थे। इस सङ्कटमें उन्हें श्रीकृष्णका स्मरण हुआ। मन-ही-मन उन्होंने पुकारा—'वासुदेव ! अब तो सचमुच तुम्हीं मुझे बचा सकते हो।'

कैसे, कहाँसे श्रीकृष्ण आये, यह प्रश्न व्यर्थ है। उन सर्वव्यापीको कहीं भी प्रकट होनेमें क्या बाधा है। अचानक आकर उन्होंने अर्जुनके रथकी रश्मि उनके मुखसे झपट ली और बोले—'धनञ्जय ! तुम अब युद्धकी ओर पूरा ध्यान दो।'

सुधन्वाने अर्जुनके रथपर आगे रथ-रश्मि करमें सम्हाले उन मयूर-मुकुटी, नवघनसुन्दर, वनमाली श्रीकृष्णको देखा। मस्तक झुकाकर उसने प्रणाम किया और अर्जुनको ललकारा—'गाण्डीवधन्वा ! अब तो तुम्हारे सर्वसमर्थ सखा आ गये तुम्हारे समीप। अब तुम मेरे जैसे उद्यतके वधकी कोई प्रतिज्ञा कर सकते हो।'

बहुत आहत हो गये थे अर्जुन। बड़ा क्रोध आया उन्हें। कृतकृत्य सुधन्वाके स्वरमें जो जीवनको धन्य कर लेनेके पश्चात् मरणको पुनीत करनेकी त्वरा थी, इसे वे पहिचान नहीं सके। इसे उन्होंने अपने पौरुषको चुनौती मान लिया। अपने त्रोणमेंसे तीन दिव्य बाण निकालकर दिखलाते हुए बोले—'यदि मैं इन तीन बाणोंसे ही तेरा सुन्दर मस्तक न काट दूँ तो मेरे पूर्वज उत्तम लोकोंसे पतित हों और मैं भी पुण्यात्माओंका कोई लोक न प्राप्त कर सकूँ।'

अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर सुधन्वाने एक बार उनको और श्रीकृष्णको भी देखा। उसने भी प्रतिज्ञा करते पुकार कर कहा—'सव्यसाची ! तुम्हारे रथके ये सारथि ही मेरे भी सर्वस्व हैं। मैं इन्हींके बलपर इनके सम्मुख कह रहा हूँ कि यदि मैं तुम्हारे इन तीनों ही बाणोंको काट न दूँ तो मुझे कभी इनके श्रीचरणोंकी प्राप्ति न हो।'

श्रीकृष्णचन्द्रने दोनोंकी प्रतिज्ञा सुनकर अर्जुनसे कहा—'विजय ! बहुत बुरी बात है कि मेरे समीप रहते तुम मुझसे पूछे बिना ही प्रतिज्ञा कर बैठे हो। इस राज्यमें सबके सब पुरुष एकपत्नी व्रती हैं। हम तुम दोनों इस विषयमें बहुत दुर्बल हैं। तुमको सब ओर सोचकर कोई शपथ करनी चाहिए। पहिले भी तुम शपथ करके बहुत बड़ा सङ्कट बुला चुके हो।'

अब शपथ तो की जा चुकी थी। अर्जुनने सखाके उपालम्भका इतना ही उत्तर दिया—'आप सर्वसमर्थ समीप हो तो मुझे चिन्ता क्या है।'

शपथ-पूर्तिका भार श्रीकृष्णपर है, यह सूचित करके अर्जुनने उन तीन बाणोंमेंसे एक धनुषपर चढ़ाया। श्रीकृष्णने स्पष्ट स्वरमें सङ्कल्प किया—'मैंने गोवर्धन धारण करके गायों, गोपोंकी रक्षाका जो पुण्य किया था—वह तुम्हारे इस बाणको प्रदान किया।'

बाण धनुषसे छूटते ही अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा। सुधन्वा पहिलेसे धनुषपर बाण चढ़ाये प्रस्तुत था। उसने कहा—'जय गोविन्द !' और बाण छोड़ दिया।

भगवानका पुण्य भी उनके नामसे प्रबल तो नहीं हो सकता। अर्जुनका वह बाण जो सुर-असुर सबके लिए असह्य था, सुधन्वाके बाणसे कटकर गिर पड़ा। पृथ्वी काँपने लगी और दिशाओंमें आतङ्क छा गया। स्वयं पार्थके मस्तकपर पसीनेकी बड़ी-बड़ी बूँदें झलकने लगीं।

अर्जुनको अब लगा कि प्रतिज्ञा करके उन्होंने सचमुच भूल की है ; किंतु सुधन्वाकी ललकार सुनाई पड़ी—'गुडाकेश ! दूसरा बाण भी सन्धान कर देखो। मैं श्रीकृष्णका तुच्छ सेवक उसे भी काट दूंगा।'

अर्जुनने दूसरा बाण धनुषपर चढ़ाया तो श्रीहरिने सङ्कल्प किया—'मैं अपने रामावतारका समस्त पुण्य पार्थ इस बाणको देता हूँ।'

'राम !' केवल एक शब्द निकला सुधन्वाके मुखसे और उसके बाणने इस बार भी अर्जुनके बाणको काट फेंका। पृथ्वी और आकाशमें सब ओर अग्निकी लपटें उठने लगीं। देवताओंके लोकतक अस्त-व्यस्त हो उठे। सब अलक्ष्य सिद्ध हाहाकार कर उठे।

अर्जुनका पूरा शरीर पसीनेसे भीग गया। वे लड़खड़ा उठे। किसी प्रकार रथका डण्डा पकड़कर अपनेको उन्होंने सम्हाला। 'ओह ! अब केवल

एक बाण बचा और सुधन्वा हँसता स्वस्थ सम्मुख खड़ा उस शरको भी उठानेको ललकार रहा है ।'

बहुत व्याकुल होकर बाण उठाते हुए अर्जुनने श्रीकृष्णकी ओर देखा । उनके नेत्रोंमें कातर प्रार्थना प्रत्यक्ष थी । श्रीकृष्णने एक बार पलकें बन्द कीं । उन्होंने बाणके पुच्छ भागमें प्रजापति ब्रह्माको, मध्यमें कालको स्थापित किया और बाणकी नोकपर स्वयं बैठे ।

'धनञ्जय तुम धन्य हो !' सुधन्वाने पुकारा । भक्त भगवानका मर्मज्ञ हो जाता है । उस भक्तको जो कुछ हो रहा था, प्रत्यक्ष दीख रहा था । उसने कहा—'तुम्हारे बाणको ये सर्वेश्वरेश्वर अपना पुण्य ही नहीं देते, स्वयं उसपर विराजमान होते हैं । मैं सनाथ हुआ कि तुम्हारे शराग्रपर बैठकर ये स्वयं आ रहे हैं मेरा मस्तक लेने ; किंतु अर्जुन सावधान ! सुधन्वा इनके श्रीचरणोंकी कृपासे तुम्हारे इस बाणको भी अवश्य काट देगा !'

'करुणावरुणालय श्रीकृष्णकी जय !' अर्जुनके बाण छोड़ते ही सुधन्वाके कण्ठसे गूँजा और उसका बाण भी छूट गया । बेचारा बाणके मध्य बैठा काल प्राण बचाकर भाग खड़ा हुआ । उसमें भक्तके भगवन्नाम घोषको सहन करनेकी शक्ति अथवा साहस कभी नहीं आवेगा । वह जानता था कि वह रुके तो सुधन्वाका बाण उसे अवश्य काट फेंकेगा । काल तो भाग गया ; किंतु सुधन्वाके बाणने अर्जुनके बाणको वहीं मध्यसे काट दिया ।

अर्जुनके हाथसे गाण्डीव छूटकर गिर पड़ा और स्वयं वे रथमें मूर्छित होकर गिरे, जैसे ही उनका यह तीसरा बाण कटकर गिरा । सुधन्वाकी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी । भले ब्रह्मलोकतक प्रलयका हाहाकार गूँज उठा और पातालतक प्रकम्पित हो गया । दिक्पालोंके लिए भी अपने स्थानोंपर बने रहना बहुत कठिन हो गया । पृथ्वीमें कितना विध्वंस हुआ उस प्रचण्ड भूकम्पसे, कोई गणना नहीं ।

सुधन्वाकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई थी । अब अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूरी होनी थी । उनके कटकर गिरे बाणका अग्रभाग ऊपरको उछला और सुधन्वाके कण्ठमें लगा । सुधन्वाका सिर कटकर सीधे अर्जुनके रथमें बैठे श्रीकृष्णके चरणोंपर ही गिरा । रथ-रश्मि छोड़कर श्रीकृष्णने दोनों हाथोंसे वह मस्तक उठा लिया । उसी समय उस सिरसे एक ज्योति निकली और वह श्रीकृष्णके मुखमें प्रवेश कर गयी ।

अर्जुनको कुछ क्षण लगे सचेत होनेमें। 'श्रीकृष्णचन्द्र आ गये!' इस समाचारको सुनते ही चम्पकपुरी नरेश महाराज हंसध्वजने अपनी सेनाको युद्ध रोकनेका आदेश दे दिया था। उनकी ओर श्वेत झण्डा उड़ा दिया गया था। वे अपने आराध्यसे युद्ध नहीं करना चाहते थे। इन श्रीद्वारिकाधीशके दर्शन करके इनकी अर्चा करनेको ही वे उत्सुक थे। श्रीकृष्णके आते ही सुधन्वाने अर्जुनको उत्तेजित न कर दिया होता तो यह परमगति पानेका अवसर उसे मिलना नहीं था।

'भगवान वासुदेवकी जय! भक्त-वत्सल गोविन्दकी जय!' पुकारते महाराज हंसध्वज सेना सहित शस्त्र त्यागकर पैदल आ रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्र रथसे उतरकर सुधन्वाका सिर दोनों हाथोंमें लिए सिर झुकाये अपराधीकी भाँति अपने विशाल दृगोंसे अश्रु-विमोचन करते खड़े थे। अर्जुन तथा उनके साथके सब लोग आ गये थे और रथोंका त्याग करके शान्त खड़े हो गये थे। किसीकी भी समझमें नहीं आ रहा था कि क्या होनेवाला है।

'मेरे स्वामी! यह तो धन्य-धन्य हो गया!' महाराज हंसध्वजने समीप आकर कहा—'आपके सम्मुख शरीर छोड़ा इसने और आपके श्रीकरोंमें इसका सिर है, ऐसी सद्गति किसे मिलती है। इसने तो मेरे पूरे कुलको पवित्र कर दिया। अब आप सङ्कोच त्यागकर इस मृत्तिका मुण्डको फेंक दें और नगरमें पधारें। हम सबको आपके चरणार्चनका सौभाग्य प्राप्त होना चाहिए!'

पुत्रका कटा सिर जैसे कुछ अर्थ ही नहीं रखता हो, इस उत्साहसे महाराज हंसध्वज कह रहे थे—'मैं अर्जुनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे हमारी धृष्टता क्षमा करें! हम सम्राट् युधिष्ठिरके अनुचर हैं। सेना सहित नगरमें चलकर सम्राट्के प्रतिनिधि हमारा आतिथ्य स्वीकार करें। अश्व ही नहीं, यह राज्य और इसकी सब सम्पत्ति उन्हींकी है। हम केवल उनकी सेवा करके सनाथ होना चाहते हैं।'

अर्जुनके मुखसे एक शब्द नहीं निकला। सुधन्वाका शव यहाँ पड़ा रहे और वे आतिथ्य स्वीकार करने नगरमें जायँ, यह कैसे उचित हो सकता था। महाराज हंसध्वजने तो पुत्रके शरीरकी ओर देखा भी नहीं।

'महाराज! हम सब आपका आतिथ्य स्वीकार करनेको उत्सुक हैं।' श्रीकृष्णने ही कहा—'किन्तु यह मेरे अत्यन्त प्रियजनका मस्तक है। मैं

अनुरोध करता हूँ कि आप पहिले इसकी उत्तर क्रिया करनेमें मेरी सहायता करें।'

'भक्त-वत्सल ! इसके चार भाई हैं।' हंसध्वजने कहा—'वे इसकी उत्तर क्रिया कर देंगे। आप सङ्कोचका त्याग करके इस मस्तकको विर्सजित करें और राजसदन पधारें।'

'इसे मैं अपने हाथों अग्निदेवको अर्पित किये बिना दूसरा कुछ कर नहीं सकूँगा महाराज !' श्रीकृष्णका स्वर भरा हुआ था—'यह मेरा भी भाई ही है। इसकी उत्तर क्रियाकी आप मुझे दया करके अनुमति दें।'

अर्जुनको इतनी ग्लानि, इतनी लज्जा जीवनमें कभी नहीं हुई थी। महाभारतके युद्धमें किसी भी प्रबल शत्रुका संहार होनेपर श्रीकृष्णने उन्हें हृदयसे लगाकर उनकी प्रशंसा की थी ; किंतु आज सुधन्वाका सिर करोंमें लेकर वे कमल-लोचन रो रहे थे। उनके सम्मुख जानेका साहस नहीं था अर्जुनमें। महाराज हंसध्वज जैसा ममता रहित परम भागवत भी पहिली बार उन्होंने देखा था।

हंसध्वजने पुत्रोंको आदेश दे दिया। सुधन्वाका शरीर सरित तटपर पहुँचाया गया। कवच, आभूषण आदि उतारकर उसे स्नान कराया गया। श्रीकृष्णचन्द्र उसका मस्तक अपने करोंमें ही उठाये पैदल चलते आये। वहाँ तक तो अर्जुन तथा उनके सब सैनिकोंको भी अनुगमन ही करना था। चितामें शरीरके साथ सिरको सावधानीसे सटाकर श्रीकृष्णने रखा।

विश्वमें सम्पूर्ण श्रद्धा और सैनिक सम्मानके साथ अनेक शूरोंकी अन्तिम क्रिया सम्पन्न हुई है ; किंतु सुधन्वाकी समता न हुई और न हो सकती। जब वह चिता बुझ गई, उसे सबने जलाञ्जलि दी। स्नान करके और तब सब वहाँसे राजसदन एक साथ आये।

श्रीकृष्णके साथ अर्जुनकी पूरी सेनाका वहाँ बहुत आदरपूर्वक सत्कार हुआ। वहाँसे श्रीकृष्ण हस्तिनापुर लौटे और अर्जुन अश्वके सङ्ग गये। अब कोई अश्वको पकड़नेवाला नहीं था।

अश्व सर्वत्र घूमकर लौटा। धर्मराजका अश्वमेधयज्ञ सविधि समाप्त हुआ।



युधिष्ठिरको धर्मोपदेश

अश्वमेधयज्ञ पूरा हो गया। अवभृथ-स्नानके अनन्तर अतिथि विदा हो गये। एक दिन धर्मराज युधिष्ठिरने श्रीकृष्णचन्द्रसे पूछा—'भगवन् ! समस्त पापी-महापापी भी जिस धर्मका श्रवणमात्र करनेसे पापोंसे छूट जाते हैं, उस भागवत धर्मका मैं आपके श्रीमुखसे श्रवण करना चाहता हूं। यदि मैं उसके श्रवणका अधिकारी तथा आपका अनुग्रह भाजन होऊँ तो आप भागवत धर्मका सरहस्य वर्णन करें।'

युधिष्ठिरने यह निवेदन कर दिया कि उन्होंने मनु, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, पराशर प्रभृति महात्माओंके द्वारा निर्दिष्ट धर्मोंका भली प्रकार श्रवण किया है।

प्रायः सभी स्मृतिकारोंका युधिष्ठिरने नामोल्लेख किया। इसका स्पष्ट अर्थ था कि वे श्रुति अनुगामी स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित धर्मको जानते हैं। स्मार्त धर्मके वे स्वयं विद्वान हैं ; किंतु स्मृति प्रतिपादित धर्म तो अनुष्ठान करनेसे कल्याण करता है। उसके केवल सुन लेनेसे कोई निष्पाप नहीं हो सकता। स्मार्त धर्म श्रद्धा सहित कर्मानुष्ठानको आवश्यक बतलाता है। किस कर्मका कब कौन अधिकारी है, किसके लिए कौन-सा कर्म कब करणीय या अकरणीय है, कौन-सा कर्म शुभ और कौन-सा अशुभ है, यह कर्मोंका वर्गीकरण तथा अधिकारी-निर्णय स्मृतियोंका विषय है। केवल मनुष्य ही कर्मयोनिका प्राणी होनेसे स्मार्त धर्ममें मनुष्यका ही अधिकार है।

भागवत धर्म प्राणिमात्रका अधिकार मानता है भगवानकी शरणागतिमें। बिना शुभ-अशुभका विभाग किये सर्वकर्मार्पण करनेकी प्रेरणा भागवत धर्म देता है। कर्मको भगवानके अर्पित करके कर्ता स्वयंको भी समर्पित कर दे, यह भागवत धर्म। भागवत धर्म श्रवणमात्रसे मनुष्यको पवित्र करता है।

युधिष्ठिरने इसीलिए भागवत धर्मको जानना चाहा। भगवानसे उत्तम वक्ता भागवत धर्मका कहाँ मिलता। श्रीकृष्णने प्रारम्भ किया—'धर्म ही जीवका पिता-माता, रक्षक, सुहृद-सखा, भाई और स्वामी है। विशुद्ध धर्म-का सेवन महान भयसे रक्षा करता है।

मनुष्यका जब पाप भोगसे नष्ट हो जाता है, तभी उसकी बुद्धि धर्माचरणमें लगती है। लाखों योनियोंमें भटकनेके पश्चात् मनुष्ययोनि प्राप्त होती है। इसमें जो धर्मका अनुष्ठान नहीं करता, वह महान लाभसे वंचित होता है। दरिद्रता, अपयश, कुरूपता, रोग प्रभृति पूर्वजन्मके अधर्माचरणके परिणाम हैं। दीर्घजीवन, शौर्य, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, सुयश, विद्या, बुद्धि, सौन्दर्य, सद्बान्धव, सत्कुलमें जन्मादि ये पूर्वकृत धर्माचरणके पुरस्कार हैं।

परमधर्म-भागवतधर्म है और वह है मुझमें भक्ति। मुझ सर्वभूतमय, सर्वेश्वरको जो नहीं जानते वे जन्म-मरणके चक्रमें भटकते हैं। मैंने अपनी योगमायाके आश्रयसे मनुष्य रूपमें अवतार लिया है। इस शरीरमें ही सीमित मुझे मानकर जो मेरी अवहेलना करते हैं, वे अज्ञानी अधःपतित होते हैं।

जो सदा मेरा ही आश्रय रखकर मुझमें मन लगाते हैं, वे मेरे भक्त मेरे परमधामको प्राप्त होते हैं। मेरे भक्त शीघ्र निष्पाप हो जाते हैं। मेरा आश्रय लेनेवालेका नाश नहीं होता। जब सहस्रों जन्मोंके व्रत, तप आदिका पुण्योदय होता है तब मनुष्यके मनमें मेरी भक्तिका उदय होता है।

वैसे तो संसारके समस्त प्राणी अपनी सब क्रियासे और भोगोंसे मेरी ही अर्चना करते हैं ; क्योंकि सबके स्वके रूपमें मैं ही उपस्थित हूँ ; किन्तु यह न जाननेके कारण सब दुःख भोगते हैं। जो अपने अन्तर्यामी रूपसे मुझे जान लेता है और अपने सब कर्मोंको मुझे समर्पित देखता है, वह उत्तम भक्त है। ऐसे मनुष्यका जीवन ही सफल है।

जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, संहारका मैं ही कारण हूँ। समस्त देवता मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मासे कीट पर्यन्त सबमें मैं व्याप्त हूँ। यह सम्पूर्ण दृश्य विराट् मेरा शरीर है और इसे व्याप्त करके भी मैं इससे दस अंगुल ऊपर परे स्थित हूँ। मैं अचिन्त्य, अप्रमेय, अविकारी, निर्गुण, निष्कल हूँ तथा मैं ही सर्वस्वरूप, सर्वगुणगणाकर हूँ। भूत, भविष्य और वर्तमानमें जो कुछ है, सब मैं हूँ। मुझे ऐसा समझकर मनुष्यको अपनी प्रीति मुझमें लगानी चाहिये।'

श्रीकृष्ण धर्मोपदेश कर रहे हैं, यह जानकर सभी देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, तत्त्वदर्शी योगी, बालखिल्यादि मुनि वहाँ पधारे। युधिष्ठिरने उन सबका सत्कार किया। उनको आसन देकर उनकी पूजा की।

एक अन्तर आ गया इतने श्रोताओंके आ जानेपर। जब एक ही जिज्ञासु होता है तब वक्ता उसके कल्याणके लिए उसके अधिकारके अनुरूप साधन ऐसे ढङ्गसे समझाता है कि वह ठीक उसे हृदयङ्गम कर ले। लेकिन जब बहुत श्रोता होते हैं तब सबका ध्यान रखकर सामान्य ढङ्गकी बात श्रोताओंके स्तरको देखते हुए कहनी पड़ती है। उसमें किसी एकके अधिकारका ही साधन-निरूपित नहीं होता।

जिज्ञासुको भी जब बहुत श्रोता हों तो केवल अपनी रुचि, अपनी जानकारीके लिए नहीं पूछना चाहिए। उसे भी सबकी रुचि एवं उपयोगकी बातका विचार करके ही प्रश्न करना चाहिए।

समूहमें कही गई बात प्रचारित होगी और उसका अनधिकारी कोई ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं जो अभीष्ट न हो तथा अनर्थकारी हो। इस ओरसे भी वक्ताको सावधान रहना ही पड़ता है।

देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि योगीगण आ गये तो बातका महत्त्व बहुत बढ़ गया। ये सब कारक पुरुष लोकमें धर्मकी स्थापना करते घूमते हैं। इनके द्वारा सद्धर्मका समय-समयपर उपदेश होता है। ये स्वयं कृतकृत्य हैं, अतः इनको स्वयंके लिए किसी उपदेश-श्रवणकी आवश्यकता नहीं। सामान्य समाजके कल्याणका साधन ही इनके सम्मुख सुनाया जाना चाहिए।

एक बड़ी कठिनाई है सामान्य व्यक्तिकी कि वह कर्तव्यके अभिमानसे युक्त होता है। वह कुछ करेगा तब कुछ होगा, यह उसकी बद्धमूल धारणा है। अतः स्मृति-शास्त्र उसे करणीय-अकरणीयका उपदेश करते हैं। भागवत-धर्म इस कर्तृत्वके अभिमानका ही उत्सर्ग माँगता है। उसका प्रारम्भ ही कर्तृत्वभिमानके उच्छेदसे–समर्पणसे होता है। अतः बहुत अल्प अधिकारी उसे ठीक हृदयङ्गम कर पाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर स्वयं धर्ममूर्ति थे। स्मृति-प्रतिपादित धर्मके मर्मज्ञ थे। धर्माधर्मका अधिकारी व्यक्ति अर्थात् कर्ता होता है। इस कर्तृत्वके आग्रहके कारण ही बार-बार युधिष्ठिरको युद्धमें हुए संहारमें अपने निमित्त

होनेसे वेदना होती थी। अब इतने कारक पुरुषोंको आया देखकर वे सामान्य समाजके लिए—कर्तृत्व भावापन्न प्राणीके लिए कर्तव्याकर्तव्यका ध्यान रखकर पूछने लगे।

युधिष्ठिरने चारों वर्णोंके कर्म तथा उनका फल पूछा। धर्मकी बुद्धि तथा पाप-क्षय होनेके उपाय पूछे।

सात्विकादि दानके भेद जानने चाहे। दानके योग्यपात्रका स्वरूप पूछा। जल दान, अन्न दान तथा अतिथि-सत्कारका फल पूछा। भूमिदान प्रभृति विविध प्रकारके दानोंके सम्बन्धमें जिज्ञासाकी यह दानोंका वर्णन इसलिए आरम्भ हुआ ; क्योंकि युधिष्ठिरने यमलोकके मार्गके कष्ट और यमलोककी यातनाके विषयमें पूछ लिया था। उसके कष्टोंको सुनकर उससे छूटनेके लिए उपायके रूपमें दानका फल वे जानना चाहते थे।

पञ्चमहायज्ञके वर्णनमें स्नान, स्नानके अङ्गभूत कर्म, पूजन तथा पूजनोपयोगी पुष्पों एवं निषिद्ध पुष्पोंका वर्णन भी पूछा गया।

पुण्योंमें सबसे प्रधान गोदान, गोपूजन। अतः गौका, कपिला गौका स्वरूप, माहात्म्य आदि भी पूछा गया। शौचाचार तथा अतिथि-सत्कारके सम्बन्धमें भी जिज्ञासा की गयी।

धर्मराजने भोजनकी विधि, गायोंको घास डालनेकी विधितक पूछी। ब्राह्मणोंके लिए निषिद्ध व्यापार पूछा। आपद्धर्म, मानवधर्मका सार तथा श्राद्धका उत्तम काल जानना चाहा।

अग्निके स्वरूप, अग्निहोत्रकी विधि, चान्द्रायणकी विधि एवं महिमा, द्वादशी-व्रत विधि, ग्रहणादिमें दानकी विधि तथा महिमा, पीपलका महत्त्व पूछा। उत्तम पवित्र करनेवाले गुण पूछे। उत्तम प्रायश्चित पूछे। भक्त, गौ, ब्राह्मणकी महिमा पूछी। किसीका शरीर कहीं अज्ञात देशमें छूट जाय तो उसकी प्रेत क्रियाका विधान पूछा।

श्रीकृष्णने बहुत स्पष्ट और विस्तारसे युधिष्ठिरके प्रश्नोंका उत्तर दिया। अन्तमें फिर भागवत-धर्मका उपदेश किया—

'युधिष्ठिर कोई किसी वर्णका हो, जो मुझे भक्तिपूर्वक पत्र-पुष्प, फल अथवा जल अर्पित करता है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

कोई सम्पूर्ण पापोंसे युक्त होनेपर भी मेरा स्मरण करता है तो वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है।

जो दान, तप, यज्ञ, हवन और अतिथि-सत्कारमें लगा शुद्ध सदाचारी होनेपर भी मेरा भक्त नहीं है, उसके ये सब उत्तम कर्म व्यर्थ हैं, क्योंकि ये उसे स्वर्ग ही ले जायँगे। ये जन्म-मरणसे मुक्तिके हेतु नहीं हो सकते।

मनुष्य जब समस्त प्राणियोंमें—मित्र-शत्रु, पापी-पुण्यात्मा सबमें समान दृष्टि कर लेता है, तब मेरा सच्चा भक्त होता है।

क्रूरताका अभाव, अहिंसा, सत्य, सरलता तथा अद्रोह यह मेरे भक्तोंका व्रत है।

मेरे भक्तको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करनेवाला अधम मनुष्य भी उत्तम लोक पाता है।

मैं ही सब देवता, सिद्धोंका आश्रय हूँ। मेरा एकमात्र आश्रय लेने वाले भक्तोंकी समता बहुत वर्षोंतक तपस्या या योग करनेवालोंसे भी नहीं की जा सकती।

मेरी भक्तिका, मेरे भक्तोंका माहात्म्य श्रवण मात्र महापापीको भी तत्काल पवित्र कर देता है।'

श्रीकृष्णने अपने उपदेशको समाप्त किया। वहाँ जो देवता, ऋषि, तपस्वी, योगी आदि भगवानका उपदेश श्रवण करने आये थे, सबने श्रीकृष्णको प्रणाम किया और पाण्डवोंके सौभाग्यकी प्रशंसा की। युधिष्ठिरसे पूजित होकर, श्रीकृष्णकी अनुमति लेकर वे अपने स्थानोंको गये।

युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया। वे अत्यन्त भावविभोर हो रहे थे। हाथ जोड़कर उन्होंने स्तुतिकी और पूजा की।

श्रीकृष्णचन्द्रने स्नेहपूर्वक युधिष्ठिरसे कहा—'महाराज! आप मेरे सम्मान्य हैं। अतः आप मुझे सङ्कोचमें क्यों डालते हैं। मैं तो सदा आपकी सेवाके लिए उत्सुक रहता हूं। मेरे सब स्वजन, सम्बन्धी आपके सेवक हैं।'

'आप सदासे अपने भक्तोंके वशमें रहनेवाले हैं।' युधिष्ठिर हाथ जोड़कर बोले—'मुझ जैसे भक्तिहीनपर भी आप अकारण कृपालु अहैतुकी कृपा रखते हैं। आपके श्रीचरणोंमें चित्त लगा रहे, अब यही अनुकम्पा आप करें।

द्वारिका-गमन

श्रीकृष्णचन्द्रके लिए हस्तिनापुरसे द्वारिका जाना अथवा द्वारिकासे हस्तिनापुर आना इतना सहज स्वाभाविक हो गया था कि इसके लिए किसी विशेष निमित्तकी आवश्यकता नहीं थी ; किंतु दोनों स्थानोंके ही सुहृदोंके लिए उनका वियोग बहुत दुःखद था। वे जब भी जानेकी बात कहते थे, कोई बाधा तो नहीं देता था ; किंतु द्वारिका हो या हस्तिनापुर, वहाँके लोग बहुत उदास, दुःखी हो जाते थे। बड़े समारोहसे जैसे आनेपर उनका स्वागत होता था, वैसे ही सब बहुत दूरतक पहुँचा कर उन्हें विदा करते थे।

जो नित्य नूतन हैं, जिनके स्मरणमें प्रतिक्षण नवनवायमान आनन्द उल्लसित होता रहता है, वे भले कितनी भी बार मिले हों, आते हैं तो लगता है कि जीवनमें प्रथम बार ही उनका आगमन हो रहा है और जाते हैं तो लगता है कि जाने फिर उनके दर्शन जीवनमें होंगे भी या नहीं होंगे।

श्रीकृष्णचन्द्रने द्वारिका जानेकी इच्छा व्यक्त की। सात्यकि सहित दारुकको स्मरण किया तो पाण्डवोंका मुख उदास हो गया। इस बार जैसे हृदय बैठा जा रहा था। कौन जानता था कि अब इन कमल-लोचनके श्रीचरण इस अवतारमें तो यहाँ नहीं आने हैं।

सारथि दारुकने निवेदन किया—'प्रभु ! अपने अश्व आहारि करके स्वस्थ, सबल हैं और रथ प्रस्तुत है।'

श्रीकृष्णचन्द्रने महाराज धृतराष्ट्र, महात्मा विदुर, देवी गान्धारी, बुआ कुन्ती, द्रौपदी आदि सबसे यथोचित रूपमें मिलकर विदा ली। सुभद्रा तथा उत्तराकी पीठपर हाथ फेरकर उन्हें समझाया। शिशु परीक्षितका सिर सूँघकर स्नेह किया। भगवान व्यास तथा अन्य महर्षियोंके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया। वे राजभवनके द्वारपर आये तो सब उनके पीछे आ गये।

शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक उनके चारों अश्वोंने हिनहिनाकर अपने स्वामीका स्वागत किया। दारुकके हाथका सहारा लेकर

श्रीकृष्ण अपने गरुड़ध्वज रथपर बैठे। बहिन सुभद्रा दूसरे रथपर विराजीं।

सम्राट् युधिष्ठिर भी सहसा उस रथपर चढ़ आये और दारुकके स्थानपर बैठकर उन्होंने स्वयं रथ-रश्मि अपने हाथोंमें ले ली। भीमसेनने रथपर आकर श्रीकृष्णके पीछे खड़े होकर उनपर वैदूर्यमणिके दण्डसे सुशोभित मुक्तामालाओं वाला विशाल श्वेत छत्र लगाया। अर्जुन दाहिने ओर चामर लेकर खड़े हुए। नकुल वाम भागमें चामरधारी बने और सहदेव व्यजन लेकर पीछे भीमसेनके समीप खड़े हो गये।

सम्पूर्ण नगरके पुरुष राजपथके दोनों ओर आ गये थे और भवनोंके छज्जोंपरसे नारियाँ श्वेतपुष्प, लाजा, चन्दन, दूर्वांकुरकी वर्षा कर रही थीं। ब्राह्मण स्वस्ति-पाठ करके आशीर्वाद दे रहे थे। शङ्ख ध्वनि हो रही थी।

किसी भी प्रियजनके जाते समय अश्रु आना उसके लिए मार्गमें अमङ्गलका सूचक हो सकता है, अतः सब बहुत कठिनाईसे अपने अश्रु रोक रहे थे। मङ्गलमय श्रीकृष्णकी यात्रा सुखद हो, मङ्गलपूर्ण हो, यह आशीर्वाद सब दे रहे थे।

स्नेह बहुत शङ्कालु होता है। जो त्रिभुवनकी रक्षा करते हैं, जिन समर्थने पाण्डवोंकी सभी सङ्कटोंमें रक्षाकी है, उनकी सुरक्षाके लिए युधिष्ठिरने उनके रोकनेपर भी चतुरङ्गिणी सेना साथ कर दी थी।

धर्मराजने चलते समय सेनाको आदेश दिया था कि वह सात्यकिके आदेशका पालन करे और मार्गमें पूरी सावधानी रखे। सात्यकिका यह कहना नहीं सुना गया कि—'सेना अनावश्यक है। इस समय कोई ऐसा प्रबल शत्रु कहीं रहा ही नहीं है कि उसके आक्रमणकी आशङ्का की जाय। सब विरोधी समाप्त हो गये हैं। मार्गके राज्योंके सिंहासनपर तो इस समय कृपाकांक्षी शिशु हैं। असुर अब धरापर बचे ही नहीं हैं और सुर सदासे श्रीकृष्णके समर्थक तथा उनकी कृपाकी कामना रखनेवाले हैं।'

धर्मराज युधिष्ठिर इस परिस्थितिसे अनभिज्ञ नहीं थे; किंतु उनकी चल पाती तो वे पाँचों भाई पहुँचाने द्वारिकातक जाते। उन्हें तो बहुत दिनों तक यही खेद रहा कि उन्होंने भीमसेनको भी क्यों नहीं भेज दिया। अर्जुनको तो उन्होंने भेजा ही और इतने समर्थ सावधान शूर भाईसे भी कई बार पूछा—'तुमने अपने सब दिव्यास्त्र सम्हालकर साथ तो ले लिए हैं?'

उन्होंने अर्जुनको आदेश दिया था—'तुम निद्राजयी हो गुडाकेश ! अतः मार्गमें विश्राम स्थानपर रात्रिमें विशेष सावधान रहना ; किंतु श्रीकृष्णको इसका पता मत लगने देना कि तुम सोये नहीं हो। अन्यथा ये स्नेह-सिन्धु तुम्हें जागते नहीं रहने देंगे।'

मार्गमें पड़नेवाली सरिताओंपर, नालोंपर सेतु बनवा दिये गये थे। पूरा मार्ग स्वच्छ करा दिया गया था और पर्याप्त बड़ा अग्रचर दल आगे भेज दिया गया था। जहां कहीं भी विश्राम करना था, वहाँ पशुओंके चारेकी तथा मनुष्योंके जलपान, भोजन तथा आवासकी व्यवस्था कर दी गयी थी।

धर्मराज युधिष्ठिर जानते थे कि इसमेंसे कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। मार्गमें पड़नेवाले नगरवासीगण तथा नरेश ही नहीं, अरण्यवासी लोग भी श्रीकृष्णके दर्शन एवं स्वागतको उत्सुक थे। वे मार्ग-सज्जित करने, स्वागत करने, जलपानादि प्रस्तुत करनेमें इतने उत्साहसे लगे थे कि श्रीकृष्ण-चन्द्रको बहुत धीरे-धीरे उनका स्वागत स्वीकार करते, बहुत अधिक स्थानों पर विश्राम करते बढ़ना था।

भाइयोंके साथ युधिष्ठिरको बार-बार लौटनेको भगवान वासुदेवने कहा। बहुत अनुरोध किया। दारुक आकर युधिष्ठिरके समीप बैठ गया और उसने बहुत बार विनयपूर्वक रथ-रश्मि धर्मराजके करोंसे लेनेका प्रयत्न किया। तब कहीं तीन योजनतक पहुँचाकर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके अनुरोध-पर दारुकको सारथिका स्थान दिया।

युधिष्ठिर तथा भीमसेनको श्रीकृष्णने प्रणाम किया। दोनोंने उन्हें हृदयसे लगाया। अपने पदोंमें प्रणत नकुल सहदेवको उन हृषीकेशने आलिंगन दिया। अब श्वेत छत्र सात्यकिने सम्हाल लिया था। चामर, व्यजन दूसरे प्रधान वीरोंने उठा लिया। युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव श्रीकृष्णके रथसे उतरकर भी अपने रथपर नहीं बैठ सके। वे तबतक भूमिपर खड़े रहे, एकटक देखते रहे, जबतक गरुड़ध्वज रथकी ध्वजा अथवा उस रथसे उड़ती धूलि भी दीखती रही।

श्रीकृष्णचन्द्रको द्वारिकाके लिए विदा करके, अर्जुनको उनके साथ भेजकर युधिष्ठिर अपने तीनों भाइयोंके साथ उन मधुसूदनकी ही चर्चा करते हस्तिनापुर लौटे। उन उत्तम श्लोककी चर्चा तो हस्तिनापुरके घर-घर, जन-जनका जीवन बन चुकी थी। वह चर्चा ही तो अब सबकी प्रमुख दिनचर्या थी। ●

उपसंहार

अचानक धृतराष्ट्रने राजा युधिष्ठिरसे धन लिया और भीष्मादि सबका श्राद्ध किया। फिर वल्कल वस्त्र धारण करके कार्तिक पूर्णिमाको तपस्याका निश्चय करके भवनसे निकल पड़े। उन्होंने धन देकर भृत्योंका भलीभाँति सत्कार कर दिया था और ब्राह्मणोंको सत्कृत कर दिया था।

पाण्डवोंके दुःखका पार नहीं था ; क्योंकि देवी गान्धारी तो जा ही रही थीं, उनकी माता कुन्ती तथा विदुरजी भी तप करनेका निश्चय करके उनके साथ ही जा रहे थे।

अन्तिम वयमें वनमें जाकर तप करनेकी आज्ञा शास्त्रने दी है। श्रीमद्भागवतका सन्देश है—

'गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः॥'

भागवत १.१३.२५

स्वजनोंसे घिरे हुए, शरीर और सम्बन्धियोंकी चिन्ता लेकर मरना श्रेयस्कर नहीं है। जब शारीरिक शक्ति शिथिल पड़ने लगती है, तृष्णा और मोह प्रबल होनेका भय होता है। अतः जब शरीर समर्थ नहीं रहा, वह सांसारिक-पारमार्थिक किसी कामके योग्य नहीं रहा, न भोग ही भोगने योग्य रहा, न योगकी ही साधना सम्भव रही, तब इस क्षीण सत्व रोगी-जर्जर देहका ममत्व भी क्या। इससे विरक्त होकर अहंता-ममताके बन्धन तोड़कर जो इसे ऐसे छोड़ सके कि किसीको पता न लगे कि देह कहाँ गिर गया, वह धीर पुरुष है।

अपने स्वजन, सम्बन्धी श्रेष्ठ कार्य करें, श्लाध्य पथपर पैर रखें, यह गौरवकी बात है ; किंतु मनुष्यकी ममता बहुत प्रबल है। सन्मार्गपर जाने-

वालेका भी शारीरिक सान्निध्य छूटने लगता है तो बड़ा दुःख होता है। बहुत वेदना होती है।

सबसे आगे थीं देवी कुन्ती। उनके कन्धेपर गान्धारीने हाथ रखा था ; क्योंकि वे तो नेत्रोंपर पट्टी बाँधे थीं। गान्धारीके कन्धेपर धृतराष्ट्रने हाथ रखा था।

पाण्डव, विदुर, कृपाचार्य, महर्षि धौम्य, युयुत्सु तथा बहुतसे ब्राह्मण साथ थे। सब रो रहे थे। केवल वन जानेवाले चारों शान्त थे। द्रौपदी, पुत्रके साथ उत्तरा तथा अन्य कुरुकुलकी स्त्रियोंने भी रोते-रोते बहुत दूर तक—नगरसे बाहरतक अनुगमन किया।

देवी कुन्तीने समझाकर द्रौपदी आदि वधुओंको लौटाया। अपने पुत्रोंको लौटानेमें उनको बहुत कठिनाई हुई। किसी प्रकार वे उन रोते-बिलखते पुत्रोंको लौटा सकीं। सब पुत्र उनके धर्मात्मा थे, विद्वान थे। सब माताकी यह बात समझते थे कि—'पिताके साथ वे केवल इसलिए सती नहीं हो सकीं ; क्योंकि सब पुत्र शिशु थे। फिर पुत्रोंपर सङ्कट ही आते रहे। अब सब सङ्कट श्रीकृष्णकी कृपासे कट गये और पुत्र समर्थ हो गये तो उन्हें तप करके परलोकमें पतिकी सेवामें उपस्थित होना चाहिए।'

बात चाहे जितनी उचित हो और बुद्धि उसे स्वीकार कर ले ; किंतु माताका वन जाना मनको व्यथित न करे, यह कैसे सम्भव था। पुत्रोंको अन्ततः माताको विदा देनी पड़ी। उनमेंसे प्रत्येकका आग्रह कि वह साथ चलेगा, सुना जाने योग्य नहीं था ; क्योंकि वह तपस्यामें बाधक बनने वाला था।

युधिष्ठिर बहुत दुःखी लौटे तो देवर्षि आ गये। उन्होंने एक नवीन सूचना दे दी—'अब भगवान काल यहाँसे पुरानी पीढ़ीके विसर्जनके पक्षमें हो गये हैं। जबतक श्रीकृष्ण धरापर हैं, तभीतक पाण्डवोंके भी रहने योग्य पृथ्वी रहेगी।'

धर्मराज युधिष्ठिरको नाना प्रकारके अपशकुन दीखने लगे। लोगोंमें अब अकारण लोभ, संग्रहकी प्रवृत्ति लक्षित होने लगी। सत्पुरुष भी साधारण बातोंमें रुष्ट होने लगे। सेवक अब सत्य-भाषणमें सावधानी नहीं रखते थे। यह देखकर धर्मराजका अन्तःकरण आकुल हो उठा—'ये सब लक्षण तो

कहते हैं कि कलिके अपावन पदोंने पृथ्वीका स्पर्श कर लिया; किंतु धर्मके परमाश्रय श्रीकृष्णके धरापर रहते यह कैसे सम्भव है। तब क्या श्रीकृष्ण ......।'

बहुत व्याकुलता होती थी आगे कुछ भी सोचनेमें ; किंतु यह प्रश्न तो और भी मनको मथित कर रहा था—'श्रीकृष्णके समीपसे अर्जुन अबतक क्यों नहीं लौटे ? उनका कोई भी समाचार क्यों नहीं आ रहा है ?'

इन्हीं आशङ्काओंमें निमग्न थे कि अर्जुन आ गये। अत्यन्त कृश, कान्तिहीन अर्जुन—ऐसे अशान्त, उदास व्याकुल अर्जुन भी हो सकते हैं, यह कल्पना भी किसीने नहीं की होगी। वे आये और बड़े भाईके पैरोंपर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगे।

'क्या हुआ तुम्हें ? द्वारिकामें हमारे सब स्वजन तो सकुशल हैं ?' युधिष्ठिर द्वारिकाके एक-एक जनोंका नाम लेकर पूछ गये ; किंतु अर्जुन रोते रहे। उनके कण्ठसे शब्द ही नहीं निकलते थे।

'आप जिनके सम्बन्धमें पूछते हैं, वे सब अब कथाके पात्र हो गये।' किसी प्रकार अर्जुनने हिचकते हुए कहना प्रारम्भ किया—'राजन् ! जिनके प्रभावसे मैंने महाराज द्रुपदकी सभामें मत्स्यवेध करके पाञ्चालीको प्राप्त किया, जिनके एक शाकपत्र खा लेनेसे त्रिभुवनके समस्त प्राणियोंका पेट भर गया और महर्षि दुर्वासाका सङ्कट हम सबपरसे टल गया, जिनकी कृपा-कटाक्षसे अनुगृहीत मैंने इन्द्रको भी देवताओंके साथ विफल मनोरथ करके अग्निको खाण्डव वन भेंट किया, जिनके प्रभावसे मैंने युद्धमें भगवान पुरारिको भी सन्तुष्ट किया, जिनकी अनुग्रह दृष्टिने मुझे इस योग्य बनाया कि सुरोंने अपने शत्रु असुरोंको जीतनेकी प्रार्थना की और इसी शरीरसे मैं स्वर्ग जाकर सुरेन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठ सका, मुझ दुर्बुद्धिने उन्हें अपना सारथि बनाया।

त्रिपुर-निर्माण समर्थ दानवेन्द्र मय शरण ! शरण ! पुकारते आये और आपके लिए अद्‌भुत सभा-भवन बनाकर अपनेको ही आभारी मानते रहे, यह श्रीकृष्णकी ही कृपा थी।

यह श्रीकृष्णकी कृपा थी कि संग्राममें भीष्म, द्रोण, कर्णके—अश्वत्थामाके अमोघ, अमित महिमाशाली अस्त्रोंने मेरा स्पर्श भी नहीं किया।

यह श्रीकृष्णका प्रभाव था कि मैं व्यूहबद्ध शत्रु-सेनाके मध्य भूमिपर खड़ा रहा और मुझे कोई मार नहीं सका।

मैं जयद्रथको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सका, यह श्रीकृष्णका प्रभाव था।

श्रीकृष्ण कृपा न करते, हम सचमुच युद्ध करके कौरवोंपर विजय प्राप्त कर सकते थे ?

श्रीकृष्ण कृपा न करते, भाई भीमसेन जरासन्ध या दुर्योधनको मरा पाते ?

श्रीकृष्ण कृपा न करते, अश्वत्थामाके ब्रह्मशिरास्त्रसे हम बचते अथवा हमारे वंशका बीज पुनरुज्जीवित होता ?

वे सर्वेश्वरेश्वर सर्वसमर्थ मुझे सखा कहते थे, मेरा सम्मान रखते थे और मैं दुर्बुद्धि उनके प्रभावको न जानकर उनके साथ एक आसनपर बैठता था, परिहासमें उनकी हँसीतक उड़ा लेता था।

उन अनन्त करुणामूर्तिने मेरा मन रखा, मान रखा और माताके समान मेरे सब अपराध सहकर सदा मुझे स्नेहदान करते रहे।

झूठी बात है कि अर्जुन अमित पराक्रमी है। झूठी बात है कि मेरे पास अमोघास्त्र हैं। झूठी बात है कि मेरे त्रोण अक्षय हैं और गाण्डीवमें अपार शक्ति है। यह सब सत्य था जबतक श्रीकृष्णने अपनी शक्ति दे रखी थी। अन्यथा यह वही आपका भाई अर्जुन है, वही गाण्डीव-धनुष है, वही बाण हैं, जिनका आतङ्क त्रिभुवनको कम्पित करता था ; किंतु श्रीकृष्ण नहीं रहे तो उनकी रानियोंको द्वारिकासे सुरक्षित लानेमें अर्जुन असमर्थ हो गया। मार्गमें गोपोंने इसे पराजित किया और पीटकर छोड़ दिया।'

कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण—कृष्णका चिन्तन—कृष्णकी कृपाका स्मरण—प्रगाढ़ सौहार्द्रके साथ स्मरण चला तो अर्जुनका अन्तःकरण निर्मल हो गया। हृदयमें जो कालक्रमसे तमस-रजस आया था, ध्वस्त हो गया। प्रतिबन्धके निवृत्त होते ही युद्धारम्भमें जो श्रीकृष्णके श्रीमुखसे गीताका उपदेश अर्जुनने श्रवण किया था, हृदयमें प्रकाशित हो उठा और उसके प्रकाशसे वे शोकहीन, स्थिर, शान्त हो गये। अपने शरीरमें तथा संसारमें भी सर्वत्र उन्हें केवल श्रीकृष्ण दीखने लगे।

युधिष्ठिर धर्मराज थे। मोह और शोक तबतक होता है, जबतक अपने शरीरको बनाये रखनेकी स्पृहा होती है। शरीरसे व्यक्तिके निरपेक्ष होते ही सब शोक मोह समाप्त हो जाते हैं। युधिष्ठिरने सुना द्वारिकाका समाचार और उनको अपने शरीरके प्रति भी स्पृहा छूट गयी। वे व्याकुल होनेके स्थानपर अत्यन्त गम्भीर हो गये।

महर्षि धौम्यको बुलवाकर उन्होंने अर्जुनके पौत्र परीक्षितके राज-तिलककी घोषणा की। आपत्कालके समान मुहूर्त्तका निश्चय किया गया। इसीके अनुसार सामग्री संग्रह की गयी। किसीको इस सम्बन्धमें कुछ पूछने-कहनेका साहस नहीं हुआ धर्मराजकी गम्भीर मुद्रा देखकर। द्वारिकाके समाचारने सबको ही स्तब्ध कर दिया था।

परीक्षितका राजतिलक करनेके साथ वहीं अर्जुनके साथ द्वारिकासे आये अनिरुद्धके पुत्र वज्रनाभका मथुरा-मण्डलके राज्यपर राजतिलक किया युधिष्ठिरने।

राजतिलक बिना किसी विशेष समारोहके साधारण रीतिसे हुआ। केवल आवश्यक शास्त्रीय-विधियाँ सम्पन्न की गयीं। यह हो चुका तो युधिष्ठिरने मुकुट, आभूषण उतार दिये। बहुमूल्य वस्त्रोंके स्थानपर बल्कल पहिन लिया और राजभवनसे निकल पड़े।

किसीसे एक शब्द कहा नहीं। किसीके रोने, पुकारने, चिल्लानेको जैसे सुनते ही न हों। वज्रबधिरके समान, गूंगेके समान मौन और नेत्र उठाकर भी किसीको ओर देखते नहीं। प्रजा, परिवार, परिजनके लोग पीछे आते हैं, पुकारते हैं, रोते हैं—जैसे यह सब स्वप्न हो। एकाकी, मौन, केवल वल्कलकी कौपीन मात्र, खुले बिखरे केश युधिष्ठिर पैदल चल पड़े।

भाइयोंने कुछ नहीं कहा। विरोध करना उन्होंने सीखा नहीं था। बड़े भाईका उन्होंने सदा अनुगमन किया था। इस समय भी उन्होंने अनुगमन किया। उन्होंने भी वस्त्राभरण उतारे और वल्कलकी कौपीन लगाकर वैसे ही पैदल बड़े भाईके पीछे चल पड़े। देवी द्रौपदीने आभूषण उतार दिये और वे भी वल्कलधारिणी होकर चल पड़ीं। इन सबको उत्तराखण्डका सत्पथ पुकार रहा था।

हस्तिनापुरमें रह गये दो युवक—परीक्षित और वज्रनाभ। दोनों अनुभवरहित और पदमें भले परीक्षित चाचा होते हों, वयमें वज्रनाभसे बड़े नहीं थे। महर्षि मार्कण्डेयने परीक्षितको शास्त्र-ज्ञान एवं शस्त्र-ज्ञानके शिक्षणका भार उठाया।

परीक्षितने गर्भमें ही श्रीकृष्णका साक्षात् किया था। श्रीकृष्णने उनके मृत शरीरमें अपना जीवन सञ्चारित किया था। उन्हें वे अन्तमें भी श्रीव्यासनन्दन शुकदेवके रूपमें आकर श्रीमद्भागवतरूपी अपनी वाङ्मय मूर्ति प्रदान करनेवाले थे।

जगद्गुरु पार्थ-सारथिके परम कृपा-पात्र परीक्षित। श्रीकृष्णका तत्त्व-ज्ञान परीक्षितके माध्यमसे संसारको सुलभ हुआ।

वज्रनाभ तो श्रीकृष्णकी साक्षात् परम्परा ही हैं। भले वे व्रज आकर उन श्रीनन्दनके पाद-पद्मोंमें अपना स्थान प्राप्त कर लें; किंतु व्रजभूमिकी श्रीकृष्ण-विहार भूमियोंका दर्शन-परिचय संसारको उनके अनुग्रहसे ही प्राप्त हुआ।

परीक्षितने श्रीकृष्णका ज्ञान दिया संसारको और वज्रनाभने उन लीलामयके धामका सम्पर्क सुलभ कराया।



श्रीकृष्ण - सन्देश

(आध्यात्मिक मासिक पत्र)

—इसका वर्ष जनवरीसे प्रारम्भ होता है।

—'श्रीकृष्ण-सन्देश' में प्रतिमास ८० पृष्ठ पाठ्य सामग्री होती है।

—श्री'चक्र' द्वारा लिखित श्रीकृष्ण - चरित प्रति अंक ३२ पृष्ठ तथा श्रीरामचरित ३२ पृष्ठ जा रहा है।

—वार्षिक शुल्क १०) रुपये मात्र।

—आजीवन शुल्क १५१) रुपये मात्र।

—सम्भव हो तो आजीवन ग्राहक बनें क्योंकि—

(क) जबतक 'श्रीकृष्ण - सन्देश' प्रकाशित होता रहेगा, आपके जीवनके बाद भी, जिसे आप उत्तराधिकारी बनायेंगे उसके नाममें और बादमें उसके द्वारा बनाये गये उत्तराधिकारीके नाममें 'श्रीकृष्ण - सन्देश' जाता ही रहेगा।

(ख) श्रीकृष्ण जन्मस्थान द्वारा प्रकाशित साहित्यपर आजीवन ग्राहकोंको २० प्रतिशत छूट दी जाती है।

—व्यवस्थापक

श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ

मथुरा - २८१००१

पार्थ - सारथि

अनुक्रमणिका





कपोत शान्तिका प्रतीक ? बहुत दीन, दुर्बल शान्ति होगी वह। शान्तिका स्वस्थ प्रतीक वृषभ है जो धर्मका भी प्रतीक है। शान्त, गम्भीर ; किन्तु धृष्टता की जाय तो प्रतिकार सक्षम।

